मुन्शी अभिनन्दन ग्रन्थ

गरवा चित्रकार—सुशील सेन
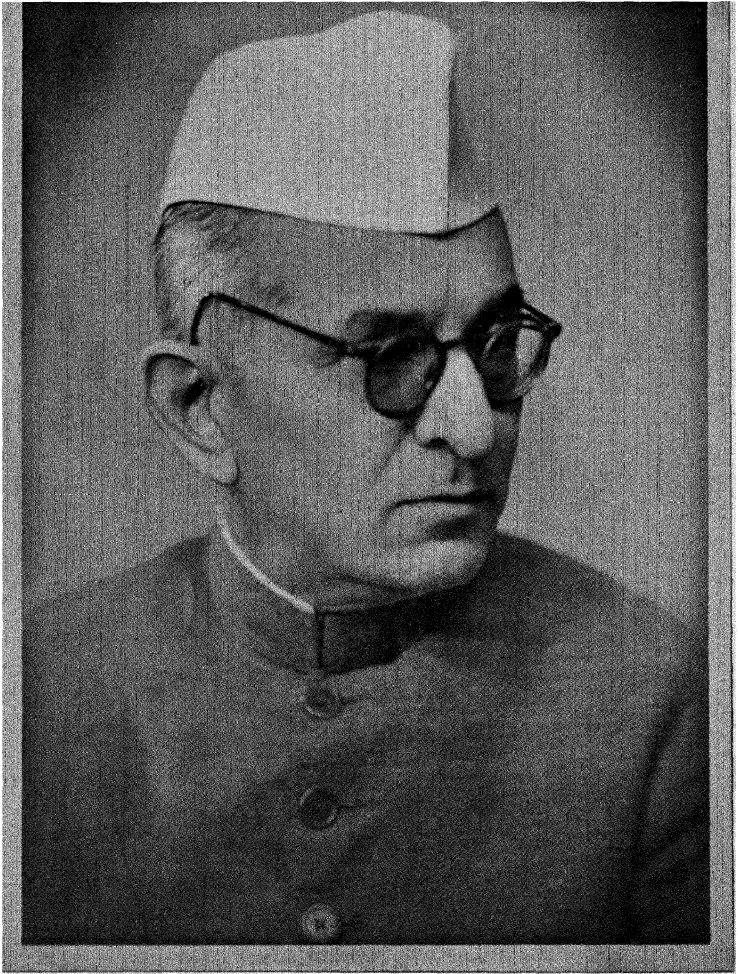
मुन्शी अभिनन्दन ग्रन्थ

मुन्शी अभिनन्दन ग्रन्थ समिति
नई दिल्ली

प्रकाशक—
मुन्शी अभिनन्दन ग्रन्थ समिति के लिये
राजकमल प्रकाशन
१, फैज बाजार, दिल्ली

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के ६३ वें जन्मदिवस
के उपलक्ष्य में प्रकाशित
पौष पूर्णिमा सम्वत २००६ वि०
४ जनवरी, सन् १९५०
मूल्य १५)

मुद्रक—
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
२७, शिवाश्रम, क्वीन्स रोड, दिल्ली।

'मुन्शी अभिनन्दन ग्रन्थ की मूल योजना का श्रीगणेश जनवरी १९४७ में हुआ था जब बम्बई में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी की साठवीं वर्ष-गाँठ के उपलक्ष्य में 'श्री मुन्शी हीरक महोत्सव समिति' की ओर से अंग्रेज़ी में 'मुन्शी : हिज़ आर्ट एंड वर्क' का प्रकाशन किया गया। यह उचित ही था कि मुन्शीजी के कुछ हिन्दी प्रेमियों को भी अपने उत्तरदायित्व का ध्यान आता, क्योंकि मुन्शीजी न केवल १९३५ में स्व० प्रेमचन्द द्वारा सम्पादित 'हंस' को अन्तर्प्रान्तीय साहित्य के अग्रदूत के रूप में बम्बई से प्रकाशित करने का महान् कार्य अपने हाथ में लेकर हिन्दी की बहुमुखी शक्तियों में अगाध विश्वास प्रकट कर चुके थे, बल्कि सन् १९४६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन के सभापति के रूप में भी यह घोषणा कर चुके थे कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा है। जिन महानुभावों ने 'मुन्शी अभिनन्दन ग्रन्थ' के संयोजना-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे उनमें डा० राजेन्द्र प्रसाद का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

आज हिन्दी जगत् के सम्मुख यह ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए हम यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि जिस धरती से भारतीय साहित्य का जन्म होता है वह इस देश में हियालय से कन्याकुमारी तक और सौराष्ट्र से पंजाब तक फैली हुई है। सर्वत्र एक ही संस्कृति का दिग्दर्शन होता है जो युग-युग से भारतीय साहित्य में एकसूत्रता स्थापित करती आई है। प्रान्त-प्रान्त की सीमाएं भारतीय साहित्य की विशालता मे कभी बाधक नहीं हो सकतीं। आज सभी भाषाएं अपनी साहित्य-थाती को बड़े गर्व से राष्ट्रीय मंच पर समर्पित करती हैं और सच तो यह है कि इस देश मे अन्तर्प्रान्तीय-साहित्य-अध्ययन के राष्ट्रीय महत्व पर अधिक से अधिक ज़ोर देने वाले व्यक्तियों में मुन्शीजी प्रमुख स्थान रखते हैं। अतः हम यह आशा कर सकते हैं कि केवल हिन्दी भाषी प्रान्तों में ही नहीं बल्कि देश के अनेक प्रान्तों में जहाँ हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में अपनी स्नेहमयी भुजाएं फैला रही है, इस ग्रन्थ का अध्ययन एक देश-व्यापी राष्ट्रीय-प्रयत्न के रूप में किया जायेगा।

देखने में मुन्शीजी एक व्यक्ति है, पर जब हम उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा की अभिव्यक्ति पर विचार करते हैं तो हम उन्हें एक संस्था के रूप में पाते है। साहित्य और

कला को तो वे अविभाज्य मानते ही हैं उनका विश्वास है कि जीवन और संस्कृति भी अविभाज्य है। राष्ट्रीयता के निर्माण, रूपसंस्कार और विकास के लिए वे प्रान्तीय भाषाओं की गति-विधि मे किसी भी बाधा को सहन नहीं कर सकते। साथ ही वे मुक्त कंठ से यह भी कहते है कि हिन्दी की परम्परा मे ही देश व्यापी संस्कृति और एकता के तत्व विद्यमान है।

इस दृष्टि से मुन्शीजी राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं, और इस ग्रन्थ के प्रकाशन द्वारा हम केवल मुन्शीजी का ही नही इस राष्ट्रीय चेतना का अभिनन्दन करने जा रहे है। आधुनिक जीवन को वे आर्य संस्कृति के पुनरुत्थान के स्वरों से स्पंदित देखना चाहते हैं। प्राचीन संस्कृति का पुनर्जीवन ही हमे वर्तमान युग के ऊहापोह से बचा सकता है—इस पर वे विशेष ज़ोर देते है।

जहाँ एक ओर मुन्शीजी के व्यक्तित्व और प्रतिभा की विवेचना प्रस्तुत करने की ओर हमारा ध्यान रहा, वहां दूसरी ओर इस ग्रन्थ मे कला, संस्कृति, विवेचना, लोक-साहित्य, यात्रा, योजना, संस्मरण, नाटक और काव्य सम्बन्धी सामग्री भी प्रस्तुत की जा रही है। हमारा यह दावा बिलकुल नहीं कि इससे अधिक सुन्दर ग्रन्थ का प्रकाशन असम्भव था। पर हमने यही उपयुक्त समझा कि हमें जहां से जो सहयोग प्राप्त होना है हमें अपना ध्यान उसी पर केन्द्रित रखना चाहिये। कुछ लेख अंग्रेज़ी में प्राप्त हुए थे अतः उनके हिन्दी अनुवाद की व्यवस्था की गई। 'मुन्शी : हिज़ आर्ट एंड वर्क' में प्रकाशित कुछ सामग्री का हिन्दी रूपान्तर भी इस ग्रन्थ मे सम्मिलित किया गया है जिसके लिए हम उस ग्रन्थ के सम्पादकों के आभारी है। ग्रन्थ के प्रकाशन में भले ही आशातीत विलम्ब हुआ, हमें इतना तो सन्तोष है कि हम इस ग्रन्थ को वह रूप दे पाये जिसके लिए हम वस्तुतः बहुत उत्सुक थे। हम उन सभी लेखकों के आभारी हैं जिनकी रचनाएं इस ग्रन्थ में सम्मिलित की गई है। इसके अतिरिक्त हम सर्वश्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, मौलिचन्द्र शर्मा, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, नगेन्द्र, रामधन शर्मा, बाबूराम पालीवाल, शम्भुनाथ 'शेष' ठाकुर राजबहादुरसिह के विशेष रूप से आभारी है जिनके सक्रिय-सहयोग से ही इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका। साथ ही 'राजकमल प्रकाशन' के मन्त्री श्री देवराज का धन्यवाद भी आवश्यक है।

श्री सुशील सरकार ने इस ग्रन्थ का आवरण चित्र प्रस्तुत किया है। हम उनके भी कृतज्ञ हैं।

नई दिल्ली

—सम्पादक

सूची

अभिनन्दन

: १ :

व्यक्तित्व

: २ :

प्रतिभा

स्नेहांजलि

: १ :

कला

: २ :

संस्कृति

: ३ :

विवेचना

: ४ :

लोक-साहित्य

: ५ :

यात्रा, योजना और संस्मरण

: ६ :

नाटक

: ७ :

काव्य

१. अन्तर्प्रान्तीय

२. राष्ट्रभाषा

परिशिष्ट

इस ग्रन्थ के लेखक

राजेन्द्र प्रसाद : विधान परिषद् के अध्यक्ष; हिन्दी में आत्मकथा प्रस्तुत कर चुके हैं।

नानालाल चमनलाल मेहता : भारतीय चित्रकला के सुविख्यात आलोचक; कला और संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन किया है। आजकल हिमाचल प्रदेश के चीफ कमिश्नर हैं।

कृष्णलाल श्रीधराणी : 'ए वारनिंग टू दि वेस्ट' और 'माई इण्डिया, माई अमेरिका' के सुप्रसिद्ध लेखक; गुजराती में कविता और नाटक भी लिखते हैं।

गुरुदयाल मल्लिक : शान्तिकेतन के पुराने अध्यापक, एक साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गांधीजी के निकट सम्पर्क में आये। प्रायः अंग्रेजी में लिखते हैं।

मौलिचन्द्र शर्मा : हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री। संस्मरण लिखने की ओर विशेष रुचि रखते हैं।

धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी : लखनऊ विश्वविद्यालय में समाज-शास्त्र के अध्यापक, भारतीय संगीत और संस्कृति पर अध्ययनपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर चुके हैं।

बलवन्त भट्ट : संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ, 'मुन्शी हिज़ आर्ट ऐण्ड वर्क' के सम्पादक-मण्डल में थे। मुन्शी-साहित्य का हिन्दी रूपान्तर इन्हीं के निरीक्षण में हो रहा है, आजकल आल इण्डिया रेडियो, दिल्ली के स्टेशन डायरेक्टर हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी : लोकगीत संग्रहकर्ता, कहानी-लेखक, निबन्धकार और कवि; हिन्दी मासिक 'आजकल' के सम्पादक हैं।

वी० एन० भूषण : अंग्रेजी में कविता लिखते हैं। बम्बई में 'भारतीय विद्या भवन' के अन्तर्गत मेघजी मथुरादास आर्ट्सकालिज के प्रिन्सपिल हैं।

एम० एन० पण्ड्या : बम्बई के एक कालिज में अध्यापक हैं; अंग्रेजी और गुजराती साहित्य का विशेष अध्ययन किया है।

उदयशंकर भट्ट : प्रसिद्ध हिन्दी कवि और नाट्यकार; अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

के० आर० श्रीनिवास आयंगर : भारतीयों द्वारा प्रस्तुत किये गये अंग्रेजी साहित्य का विशेष अध्ययन किया है।

रंगनाथ दिवाकर : कन्नड़ भाषा के सुप्रसिद्ध पत्रकार और चिन्तनशील लेखक; स्वतन्त्रता आन्दोलन में गान्धीजी के निकट सम्पर्क में आये। आजकल भारत सरकार के इन्फर्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग सचिवालय के राजमन्त्री हैं।

मोतीचन्द्र : साहित्य और संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन किया है। प्रिन्स आव वेल्ज म्यूज़ियम बम्बई के क्यूरेटर हैं।

महेन्द्रसिंह रन्धावा : वनस्पति शास्त्र और कला का तुलनात्मक अध्ययन किया है। पूर्वी पंजाब सरकार के पुनर्वास विभाग के डायरेक्टर-जनरल हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा : प्रसिद्ध हिन्दी उपन्यासकार, कला में विशेष रुचि रखते हैं।

क्षितिमोहन सेन : सन्त-साहित्य के महान अन्वेषक और आलोचक; रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निकट सम्पर्क में आये। अनेक वर्षों से 'विश्व-भारती' (शान्ति-निकेतन) में 'विद्या-भवन' के आचार्य हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी : सुप्रसिद्ध हिन्दी आलोचक और निबन्धकार; 'विश्व-भारती' में हिन्दी भवन के अध्यक्ष हैं।

रघुवीर : भाषा-विज्ञान के सुविख्यात आचार्य; संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के महान् समर्थक हैं। 'दि ग्रेट एन्ग्लो इण्डियन डिक्शनरी के प्रधान सम्पादक हैं।

गुलाबराय : वयोवृद्ध हिन्दी आलोचक और निबन्धकार; हिन्दी गद्य पर विशेष अधिकार रखते हैं।

इन्द्र विद्यावाचस्पति : गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी के मुख्याधिष्ठाता और हिन्दी दैनिक और साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' दिल्ली के संचालक, अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रीकृष्णदत्त पालीवाल : संयुक्त प्रान्तीय सरकार के भूतपूर्व मन्त्री और कर्मठ नेता; आगरा से प्रकाशित होने वाले हिन्दी साप्ताहिक 'सैनिक' के संचालक हैं।

वासुदेवशरण अग्रवाल : पुरातत्त्व और साहित्य के मर्मज्ञ; ' सेन्ट्रल एशियन एन्टिक्विटीज़ म्यूज़ियम नई दिल्ली के क्यूरेटर हैं।

नगेन्द्र : प्रसिद्ध हिन्दी आलोचक और कवि, अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

राकेश गुप्त :हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में अध्यापक हैं।

विनयमोहन शर्मा : नागपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष।

दिवाकर साहु 'समीर' : सन्थाल संस्कृति का विवेचनात्मक अध्ययन किया है।

राहुल सांकृत्यायन ; हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भूतपूर्व सभापति और अनेक भाषाओं के विद्वान्; अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

बनारसीदास चतुर्वेदी : 'विशाल-भारत' के भूतपूर्व सम्पादक और कर्मठ पत्रकार; हिन्दी गद्य पर विशेष अधिकार रखते हैं।

यशवन्त पण्ड्या : गुजराती के सामाजिक और बालोपयोगी नाट्यकार; संस्मरण भी लिखते हैं।

गोविन्ददास : हिन्दी के प्रसिद्ध नाट्यकार; हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति ; विधान परिषद् के सदस्य के रूप में हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित कराने में संलग्न रहे।

चन्द्रवदन महेता : अग्रगण्य गुजराती कवि और नाट्यकार; आल इण्डिया रेडियो बम्बई के असिस्टेंट स्टेशन डायरेक्टर हैं।

दिलीपकुमार राय : सुप्रसिद्ध बंगला नाट्यकार स्व० द्विजेन्द्रलाल राय के सुपुत्र और

अंग्रेजी भाषा के कवि ;अनेक वर्षों से पाण्डिचरी में श्री अरविन्द घोष के निकट सम्पर्क में रहते हैं।

उमाशंकर जोशी : सुविख्यात दार्शनिक और गुजरातीकवि, कहानी लेखक; अहमदाबाद से प्रकाशित होने वाली गुजराती पत्रिका 'संस्कृति' के सम्पादक हैं।

अमृता प्रीतम : पंजाबी भाषा की महान् कवियित्री; अनेक कविता-संग्रह प्रकाशित हुये हैं

मैथिलीशरण गुप्त : हिन्दी के वयोवृद्ध राष्ट्र कवि; अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त : आधुनिक हिन्दी कविता के प्रवर्त्तक; प्रयाग में 'लोकायन' संस्कृति-केन्द्र स्थापित करने में संलग्न हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि; विधान परिषद् में हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित कराने में संलग्न रहे।

श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' : कवि और व्यंग्यकार,संयुक्त प्रान्तीय शिक्षा-विभाग में अनेक वर्ष बिताने के पश्चात् पिछले दिनों आल इण्डिया रेडियो के डिप्टी डायरेक्टर-जनरल रहे।

रामकुमार वर्मा : सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि और नाट्यकार; इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हैं।

सोहनलाल द्विवेदी : राष्ट्रीय भावनाओं के प्रमुख हिन्दी कवि; अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

'अंचल' : कवि और आलोचक; अध्यापन-कार्य करते हैं।

'बच्चन' : 'मधुशाला' के प्रसिद्ध हिन्दी कवि; इधर अनेक कविताएं पहले रंग से हट कर लिखी हैं।

चिरंजीत : 'मनोरंजन' के भूतपूर्व सम्पादक; एक कविता-संग्रह 'चिलमन' प्रकाशित हो चुका है।

बाबूराम पालीवाल : भावुक हिन्दी कवि, 'कनक किरण' और 'चेतना' दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

'शेष' : नई पीढ़ी के सफल हिन्दी कवि;एक कविता-संग्रह 'उन्मीलिका' प्रकाशित हो चुका है।

सर्वतोमुखी प्रतिभा

राजेन्द्र प्रसाद

श्री कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी सर्वतोमुखी प्रतिभा के व्यक्ति हैं और आपके कार्यों का क्षेत्र भी बड़ा व्यापक है। आपकी इन विशेषताओं के फलस्वरूप कितनी ही संस्थाओं को जन्म मिला है जिनके साथ आपका सम्बन्ध बड़ा गहरा है। आप एक बड़े ही ख्यातनामा वकील हैं। बहुतों को आश्चर्य होता है कि इतने विविध कार्यों को सम्पादित करने का, और खूबी के साथ सम्पादित करने का, आखिर इनको अवकाश कैसे मिल पाता है।

मुझे खुद तो गुजराती साहित्य की कोई जानकारी नहीं है, पर जिन्हें उसकी पूरी जानकारी है और जो लोग इसके सम्बन्ध में राय देने का अधिकार रखते हैं उनसे मैंने सुना है कि गुजराती साहित्य में श्री मुन्शी की देन बहुत ही बड़ी है और उच्च कोटि की है। "भारतीय विद्या भवन" के सम्बन्ध में आपके जो कार्य हैं और उसके प्रकाशनों में जो आपकी देन है उनसे आपके गम्भीर पांडित्य तथा कला और साहित्य सम्बन्धी सुरुचि का पूरा परिचय मिल जाता है।

आप एक सफल पत्रकार रह चुके हैं और पत्रकार की हैसियत से आपने सदा ही मौलिक विचार और कार्यक्रम पेश किये हैं। आप एक जबर्दस्त समाज सुधारक हैं। बहुत से लोग जिन सुधारों को केवल उपदेशों तक ही सीमित रख पाते हैं उन्हें आपने अमली रूप दिया है। ब्राह्मण होते हुए भी आपने अपूर्व साहस दिखा कर वणिक जाति के एक महिला-रत्न को अपनी अर्धांगिनी बनाया है। उनकी पत्नी न केवल उनके कार्यों में ही मदद देने की क्षमता रखती हैं बल्कि अपनी योग्यता और क्रियाशीलता के आधार पर अपने सार्वजनिक जीवन में एक बड़ा ही समादृत स्थान प्राप्त कर लिया है जो हमारे देश की विशिष्ट महिलाओं को ही प्राप्त है।

अगर मैं भूल नहीं रहा हूँ तो एक नरमदलवादी के रूप में श्री मुंशी ने भारतीय राजनीति में पदार्पण किया था। परन्तु बाद में आप पर महात्माजी का जादू पड़ा और बारदोली सत्याग्रह के समय आप गांधीजी के आध्यात्मिक-नैतिक-राजनैतिक एवं सामाजिक

आन्दोलन के जबर्दस्त प्रवाह में कूद पड़े। तब से आप बराबर कांग्रेस के एक स्तम्भ हो गये हैं। देश की आज़ादी के लिये आपने काफी यातनायें सही हैं।

१९३७-३८ में जब पहली बार देश में कांग्रेस मंत्रिमंडल कायम हुये, उस समय बम्बई प्रान्त में गृहमंत्री की हैसियत से आपने जिस खूबी के साथ काम किया उसकी समस्त देश ने मुक्तकंठ से सराहना की। जटिल से जटिल समस्याओं के समाधान में सदा एक व्यावहारिक और सही दृष्टिकोण अपनाने की क्षमता आप में खूब है और इसका प्रमाण हमें हैदराबाद के सम्बन्ध में अभी मिल चुका है।

विधान परिषद् के सदस्य के रूप में आपने जो कार्य किये हैं उनसे पता चलता है कि कानून और विधान का कितना गहन ज्ञान आपको है और उसका कितना लाभप्रद उपयोग आप कर सकते हैं। देश को इस योग्य बनाने के लिये कि वह अपनी आकांक्षाओं को पूरा कर सके और अपने आदर्श को मूर्तिमान रूप दे सके हमें अभी बहुत कुछ करना है। सुतरां भावी भारत के निर्माण में श्री मुंशी को अभी जबर्दस्त हाथ बटाना है। परमात्मा आपको दीर्घायु रखे।

अभिनन्दन

: १ :

व्यक्तित्व

वसन्त के पक्षी

नानालाल चमनलाल मेहता

मैं गत पचीस वर्षों से श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी से परिचित हूँ। मुझे याद नहीं आ रहा है कि उनसे मेरा परिचय कैसे हुआ। कदाचित् इस कथन में थोड़ा-बहुत सत्य अवश्य है कि पूर्व-जन्म के संस्कारों से ही हम एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। जो हो, मुझ जैसा व्यक्ति भी, जो सत्रह वर्ष की अवस्था से पूर्व ही गुजरात से बाहर चला आया, और जिसके जीवन के लगभग तीस वर्ष गुजरात से बाहर ही बीते, एक ऐसे साहित्यकार के सम्पर्क में रहा है जिसके व्यक्तित्व में एक विचित्र आकर्षण है, जिसकी मुखाकृति सदैव आह्लाद बिखेरती रहती है और जो सदैव नव-नव योजनाएं प्रस्तुत करता रहता है, जैसे यह बात उसके स्वभाव में रच गई हो।

मुन्शीजी का जन्म सन् १८८७में भड़ोच में हुआ था। यह स्थान आज एक आकर्षण-हीन जिला-केन्द्र है, पर किसी समय यह एक वैभवशाली बन्दरगाह रहा है। अब तो उस बन्दरगाह के स्मृति-शेष-मात्र रह गए हैं।

मुन्शीजी अपने को आधुनिक कहते हैं, पर वे अपने ब्राह्मण-वंश की परम्पराओं को विस्मृत नहीं कर सकते, जो अनुचित अहम्मन्यता और अनन्त कलह-क्षमता में ही अपना गौरव समझता था। वस्तुतः उन बातों से यदि मुन्शीजी का सम्पर्क न होता तो उनके उल्लेख की आवश्यकता न रहती। यह आश्चर्य की बात है कि सम्पूर्ण संसार में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने पर भी—और हमारा गतिहीन समाज संसार से पृथक् नहीं है—हम में से बहुतों की चेतना प्राचीन सामाजिक रूढ़ियों से प्रभावित होती रहती है। सम्भवतः यह अतीत के अस्तित्व का ही अनिवार्य दण्ड है।

मातृभूमि की भावना कुछ अंश तक तत्त्वगत ही है, क्योंकि यह कलात्मक एवं साहित्यिक मस्तिष्क के स्वर पर सदैव विद्यमान रहती है। देश और उसकी भाषा एवं तज्जन्य असंख्य स्मृतियों से कल्पना और दर्शन की वह धारा बह निकलती है जिसके प्रभाव से मानव-समाज मातृभूमि की सेवा में अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए अनुप्रेरित हो उठता है। भारत की सांस्कृतिक एकता और प्रादेशिक विशेषताओं के होते हुए भी उसकी विशालता एवं

विस्तारजन्य शक्ति और निर्बलता, दोनों का बहुत प्राचीन काल से अनुभव किया गया है और उनकी आलोचना भी की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात की प्रान्तीयता आधुनिक नहीं है, वरन् अत्यधिक प्राचीन है। समय की गति के साथ-साथ गुजरात-वासियों को अपने अतीत पर ही गर्व नहीं रहा, बल्कि अपने निकट-भविष्य पर भी विश्वास रहा है। यद्यपि गत पचीस वर्षों में गुजरात में इतनी सांस्कृतिक जागृति दृष्टिगोचर हुई है कि गुजरातियों की एकाग्रनिष्ठा और व्यवहार-कौशल से अभिज्ञ व्यक्ति भी उसकी आशा नहीं करते थे, यह निर्विवाद है कि अहिंसात्मक राजनीति और क्रियात्मक आर्थिक क्षेत्र में गुजरात ने प्रगाढ़ आत्म-विश्वास एवं सराहनीय उद्यम के द्वारा स्तुत्य सफलता प्राप्त की है। पर कला और साहित्य के क्षेत्र में आधुनिक गुजरात की देन ऐसी नहीं थी जिसे श्रेष्ठ अथवा गम्भीर कहा जा सके।

सम्भवतः मुन्शीजी ही गुजरात के सर्वप्रथम आधुनिक लेखक हैं—आधुनिक इस अर्थ में कि सांस्कृतिक दृष्टि से बाल्यावस्था में ही उन पर पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव पड़ा था। वे पश्चिम के साहित्य एवं विचार-धारा में जिसे भी महत्वपूर्ण समझते हैं उसे ग्रहण करने में हिचकते नहीं। वे न तो पश्चिम की वस्तु ग्रहण करने में अपनी अप्रतिष्ठा समझते हैं और न अपनी संस्कृति और देश की श्रेष्ठ परम्परा के सम्बन्ध में ही स्वयं को हेय मानते हैं। उनका जन्म एक परम्पराप्रिय हिन्दू-परिवार में हुआ और बचपन गुजरात के एक ऐसे ग्राम में बीता जो सभी बातों में पिछड़ा हुआ था। फिर वे ऐसे वातावरण में पले जहां अहम्मन्यता, अन्ध-विश्वास एवं रूढ़ियों का साम्राज्य था, और प्राचीनता के प्रति एक विशेष आकर्षण था। वस्तुतः यह जीवन वास्तविक सामाजिक जीवन से पृथक् और बहुत कुछ कल्पनामय था। आज से पचास वर्ष पूर्व के कट्टर भारत के सामाजिक जीवन में कोई अधिक रोमांचकारी विशेषता न थी। यह एक स्थिर पृष्ठभूमि थी जो समय के प्रभाव से धूमिल दिखाई पड़ती थी, फिर भी इसने भारत के सामाजिक जीवन को एक सूत्र में बांध रखा था और इससे जनसाधारण में संतोष की भावना जागरूक रहती थी, जो उसे सहज जीवन से च्युत नहीं होने देती थी। उस वातावरण में जीविकोपार्जन के बाद साधारण द्वेष, ईर्ष्या और समाज के एक छोटे समूह में एक दूसरे का व्यर्थ छिद्रान्वेषण करना ही सम्भव था, जो विशेषकर स्त्रियों और वृद्धों तक सीमित था। जीवन की गतिशीलता को रोक देनेवाली यह स्थिरता इस कारण सह्य थी कि समय-समय पर पर्वों और धार्मिक कृत्यों के अवसरों पर जनता की आन्तरिक भावनाओं की तृप्ति हो जाती थी। न तो किसी प्रकार के उद्यम के लिए ही पर्याप्त क्षेत्र था और न किसी प्रकार के परिवर्तन की ही सम्भावना थी। पर लोगों में संतोष बनाये रखने के लिए परलोक की आशा अवश्य विद्यमान थी।

मानव-जीवन की धारा उस स्तर पर पहुंच चुकी थी जहां से वह बड़ी-बड़ी कठिनाइयों और बाधाओं को पार कर अपने लक्ष्य पर पहुंचने में समर्थ नहीं थी।

यही वह वातावरण था जिसमें मुन्शीजी ने बचपन में अपने भार्गव-वंश की उस परम्परा के स्वरूप को देखा, जिसके अधिष्ठाता परशुराम ने विश्व से सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति का संहार कर दिया था। उनके हृदय में प्रेम का स्रोत उमड़ रहा था और वे ऐसे मित्र की

आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे जो उनकी सौन्दर्य-भावना में सहयोग दे सके और उनके साहित्यिक कार्यों में हाथ बटाने के अतिरिक्त कल्पना की उड़ानों का समर्थन करते हुए उस दिव्य-ज्योति को भी अनुप्राणित कर सके जिसका वे अनुभव करना चाहते थे। वैसे तो उनका जीवन मध्यवर्ग के साधारण व्यक्ति के जीवन से भिन्न न था, पर माता के सम्बन्ध में वे बड़े ही भाग्यशाली थे। उनकी माता विलक्षण सहानुभूति एवं विकसित विचार की महिला थीं, जो एक युवक के मस्तिष्क के विकास को भली प्रकार समझती थीं। मुन्शीजी के जीवन में उनकी माता का स्थान उस केन्द्र के समान था जिससे उन्हें सदैव शक्ति और सहायता मिला करती थी। इस प्रकार की माताओं को इस देश के अनेक महापुरुषों के जीवन-निर्माण का बहुत बड़ा श्रेय प्राप्त है। यद्यपि उनका दृष्टिकोण परिमित था तथापि आत्म-प्रेरणा के रूप में उन्हें ऐसी शक्ति का अनुभव होता था जिसका शुभ प्रभाव उनके बालकों के जीवन पर पड़ता था। वे स्वयं तो परम्पराप्रिय थीं, पर आवश्यकता पड़ने पर अपने बच्चों की भलाई के लिए नवीन दृष्टिकोण को भी अपना लेती थीं।

मुन्शीजी ने कई स्थानों पर अपनी गुणवती माता के प्रति सम्मान और कृतज्ञता प्रकट की है।

श्री मुन्शीजी के पिता डिप्टी कलक्टर थे। आज से अर्द्ध शती पूर्व डिप्टी कलक्टर एक महत्वपूर्ण अफसर समझा जाता था। किन्तु सन् १९०८ के लगभग अल्पायु में ही उनका स्वर्गवास हो गया। उन्हें इतना अवकाश ही न मिला कि अपने आश्रितों के लिए सम्पत्ति छोड़ जाते। अब मुन्शीजी की माता पर परिवार की प्रतिष्ठा बनाये रखने और बालक मुन्शी तथा बालिकाओं की शिक्षा आदि का पूरा भार आ पड़ा था। उन्होंने धैर्य और साहस के साथ अपने कर्तव्य का पालन किया।

सन् १९३६ में बयासी वर्ष की अवस्था प्राप्त होने पर मुन्शीजी की माता इहलोक को छोड़ परलोक को चली गईं। पर उन्हें अपने जीवन-काल में ही अपने सुकुमार पुत्र को एक प्रसिद्ध और सुदृढ़ युवक के रूप में देखने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका था। पुरानी परिपाटी की महिला होते हुए भी उन्होंने अपने एकमात्र पुत्र के मनोनुकूल उसका दूसरा विवाह किया। तत्कालीन समाज में दूसरा विवाह करने के लिए अत्यधिक नैतिक साहस अपेक्षित था। किन्तु भारतीय महिलाओं की यह मुख्य विशेषता है कि वे परिस्थितियों के प्रति जागरूक होते हुए भी किसी रूप में भी परम्परागत नैतिक तंतु को छिन्न-भिन्न नहीं होने देतीं।

मुन्शीजी को विद्या-प्राप्ति की बड़ी लगन थी। उन्हें पौराणिक कथाओं द्वारा आरम्भिक शिक्षा दी गई थी। उन दिनों बहुत से पंडित स्थान-स्थान पर जाकर रामायण और महाभारत की कथाएं सुनाकर जनता को शिक्षा दिया करते थे। उनकी कथाएं प्रायः सप्ताह भर तक होती थीं और जनता रात-रात भर जागकर प्रेमपूर्वक उनको सुनती थी। ये पंडित जनता के सम्मुख भारत के प्राचीन गौरव का चित्र उपस्थित करते थे और उन्हें नैतिक शिक्षा का उपदेश देते थे। वे ऐसे लोगों का पथ-प्रदर्शन भी करते थे, जिनमें प्राचीन वीरों की भांति वीर बनने की क्षमता होती थी। यह स्वाभाविक था कि मुन्शीजी भी स्वयं एक ऐसे प्राचीन

आदर्श वीर के रूप में दिखाई देते थे, जो समय आने पर अपनी बुद्धि और पराक्रम से विश्व पर विजय प्राप्त कर सके।

मुन्शीजी ने जब अंग्रेजी शिक्षा आरम्भ की तो उन पर ड्यूमा, विक्टर ह्यूगो, मेरी कौरेली तथा पश्चिम के अन्य कलाकारों की कथाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य कथाओं के प्रति मुन्शीजी और उस काल के लोगों का विशेष आकर्षण था और वह इस लिए कि कथाएं कथनीय थीं। भारतीय कथाएं भी थीं, पर वे लम्बी, आलंकारिक और नैतिक उक्तियों से भरी होती थीं। प्राचीन काल की उन कथाओं का युग बीत रहा था। वे पुरानी पड़ चुकी थीं और आधुनिक युग के जीवन से उनका विशेष सम्पर्क नहीं रह गया था। इसके अतिरिक्त उनमें रोमांच और साहस के लिए बहुत कम स्थान था। जीवन एकमात्र परम्परागत नैतिकता अथवा प्रणय-लीला के ढांचे में ढला हुआ था। अतः पाश्चात्य कथाओं का मुन्शीजी के कथाकार जीवन पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा। यह अनुमान लगाना कठिन है कि स्पष्ट एवं आकर्षक शैली में सफल कथा लिखने के लिए मुन्शीजी पाश्चात्य विद्वानों के कितने ऋणी हैं। वे अपनी कथा, उपन्यास आदि में शब्दाडम्बर लाने का प्रयत्न नहीं करते जो अधिकांश भारतीय कथाकारों का भारी दोष है। उनकी कथा-शैली प्रभावशाली, गतिशील एवं वर्णनात्मक है। कथाओं का अन्त सीधा और तर्क-संगत होता है। मुन्शीजी ने जिन पात्रों की रचना की है, उन्हें कुछ ही अंशों में पाश्चात्य पात्रों की प्रतिमूर्ति कहा जा सकता है। इसका प्रधान कारण यह है कि मुन्शीजी परम्परा-प्रिय ब्राह्मण-परिवार में पले थे और पश्चिम की सभ्यता से अधिक परिचित न होने के कारण वे पात्रों को भारतीय सांचे में ही ढाल सकते थे। उनके उपन्यासों में जो पात्र मिलते हैं वे वस्तुतः ऐसे व्यक्ति की कल्पना से उद्भूत हुए हैं जिसका सम्पूर्ण जीवन विभिन्न सभ्यताओं से प्रभावित होते हुए भी मूलतः भारत की परम्परागत संस्कृति पर ही आधारित था।

मुन्शीजी ने किसी प्रकार भी अपने विषय में मौन अथवा वाक्-संयम से काम नहीं लिया। उन्होंने सन् १९३० में नासिक के कारावास-जीवन में 'शिशु अने सखी' नामक प्रख्यात् पुस्तक का प्रणयन लगभग १० दिन में ही किया था। इस पुस्तक की शैली असाधारण है और कदाचित् इसी कारण यह शैली एक अत्यधिक भावुक एवं उथल-पुथल से परिपूर्ण मस्तिष्क की कहानी लिखने के लिए उपयुक्त है। मुन्शीजी ने संक्षिप्त एवं काव्यपूर्ण ढंग से अपनी प्रतिभा के विकास एवं रोमांचमय विवाह का वर्णन किया है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि गुजराती साहित्य में यह पुस्तक अनुपम है। इसमें लेखक ने बहुत ही संयत रूप में अपने जीवन पर प्रकाश डाला है। इस पुस्तक के कुछ अनुच्छेदों में पाठक का मन उद्विग्न-सा हो उठता है, विशेष रूप से उस स्थल पर जहां लेखक ने एक अल्पवयस्क एवं अशिक्षित द्वादश-वर्षीया बालिका के साथ विवाह हो जाने पर अपने भाव प्रकट किये हैं। निस्सन्देह यह बालिका-बधू पूर्णतया अशिक्षित थी और दार्शनिक विचारवाले जीवन के राग-रंग के प्रति उदासीन थी। उसके माता-पिता ने उसे शिक्षा से वंचित रखा था। उसके जीवन का एकमात्र केन्द्र-बिन्दु उसके पतिदेव और उनकी कुशलता थी। उसे तो सदैव पतिदेव की सेवा में तल्लीन रहने की

ही शिक्षा मिली थी। पति के हित और अहित तक ही उसकी दृष्टि सीमित थी। उसके बौद्धिक विकास की सीमा थी घरेलू वार्ता और कथाएं। उसकी अभिरुचि मध्यम श्रेणी के परिवार से आगे नहीं बढ़ी थी। मुन्शीजी पर इस पुराण-पन्थी विवाह का गहरा प्रभाव पड़ा। इससे छुटकारा पाने के लिए उन्होंने आत्महत्या की कल्पना से भी संकोच नहीं किया था, क्योंकि उन्हें जिस सहचरी की आकांक्षा थी, उसकी पूर्ति इस संगिनी से सम्भव नहीं थी। यह विषमता भारतीय जीवन की कोई अनहोनी घटना नहीं है। पर मुन्शीजी वस्तुतः गांधीजी नहीं थे; वे तो एक रोमान्सप्रिय व्यक्ति थे—ऐसे रोमांसप्रिय जिसे सौन्दर्य के वास्तविक जगत् में परिभ्रमण की इच्छा रहती है जहां उसकी कल्पनाएं मूर्त रूप धारण कर सकें। पर समय स्वयं अपना उपचार है। वह नवबधू मुन्शी-परिवार का एक अविच्छिन्न अंग बन गई। यह सब कुछ हो जाने पर भी मुन्शीजी के हृदय-मन्दिर में वह अधिष्ठित तो न हो सकी, पर अधिष्ठित होनेवाली मूर्तियां स्थिर नहीं होतीं और कदाचित् पार्थिव दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखतीं। अतः अब वह एक प्रसन्नवदना पूर्ण युवती थी। उसने पतिके साथ आरम्भिक जीवन के कष्टों को तो भोगा ही, पर एक ऐसे सम्पन्न परिवार का भी आनन्द लिया, जिसे उन्हीं दिनों ही वैभव प्राप्त हुआ था। अब उसके पति को वकील, लेखक तथा वक्ता का सम्मान मिल चुका था। यह युवती एक माता बन गई थी। मुन्शीजी ने लिखा है—"एक छोटी-सी परी उत्पन्न हो गई है जिसने हम दो पृथक् व्यक्तियों को स्वर्ण-तंतु में आबद्ध कर दिया है।" मुन्शीजी भी अब वयःप्राप्त और प्रौढ़ थे। उनका रोमांस समय के प्रभाव से पराभूत हो गया था। उनकी कल्पनाएँ और इच्छाएं बहुत अंशों में साहित्य के माध्यम से तृप्त और व्यक्त भी हो चुकी थीं।

मुन्शीजी के जीवन-पट पर अकस्मात् ही विशिष्ट व्यक्तित्ववाली एक ऐसी महिला का आगमन हुआ जो अपने प्रथम परिणय से प्रसन्न न थी। वह सर्वप्रथम मुन्शीजी की सहकर्मिणी के रूप में, फिर मित्र और जीवन-संगिनी के रूप में आई। यह मुन्शीजी के जीवन का वह अंश है जिसे उन्होंने स्वयं स्पष्टता और भावुकता के साथ सदा स्वीकार किया है।

मैं भावुकता के उस अन्तर्द्वन्द्व की चर्चा नहीं करना चाहता जिसमें से होकर मुन्शीजी को गुज़रना पड़ा। मैं सविस्तार मुन्शीजी और उनकी नई सहधर्मिणी लीलावती की ख्याति-लब्ध गाथा का वर्णन नहीं करना चाहता। साहित्य में ही नहीं, देश के सार्वजनिक जीवन में भी मुन्शी-दम्पति को ख्याति प्राप्त हुई।

यहां गुजराती महिलाओं की थोड़ी चर्चा अनावश्यक न होगी। भारत के किसी अन्य प्रान्त की महिलाओं की अपेक्षा गुजरात की महिलाएं अधिक स्वतन्त्र हैं, क्योंकि उनमें कुछ विशेष गुण विकसित हो गए हैं। इसका कारण यह है कि उन्हें सदैव ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में रहने के अवसर मिलते रहे हैं जो पूर्ण व्यावहारिक होते हैं और जीवन का मूल्यांकन पार्थिव मान से करते हैं। वस्तुतः ऐन्द्रिय सुखों के प्रति परम्परागत उदासीनता की भावना के होते हुए भी वे भावुक और जागरूक होती हैं। इन महिलाओं ने गुजरात के जीवन में, चाहे वह पारिवारिक हो या सामाजिक अथवा राजनीतिक, बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया है और अब भी ले रही हैं। महिला-समाज गुजरात का केन्द्र-बिन्दु है। महिलाओं के सुख-दुःख का प्रभाव

गुजरात के सामाजिक जीवन पर समान रूप से पड़ता है। भारत का शायद ही कोई ऐसा प्रदेश हो जहां के जीवन में वहां की महिलाओं ने इस प्रकार पूर्ण विश्वास के साथ इतना महत्वपूर्ण भाग लिया हो जितना गुजरात की महिलाओं ने लिया है। वे अनेक कठिनाइयों के बीच, जो भारत की महिलाओं के लिए साधारण बात हैं, पुरुष-समाज के साथ-साथ चली हैं, और उन्होंने इसे अपना अधिकार माना है। इसका प्रभाव केवल गुजरात के सामाजिक जीवन के विकास पर ही नहीं, बल्कि समस्त भारत के सामाजिक जीवन के विकास पर भी पड़ा है। यह एक विचित्र बात है कि प्राचीन लेखकों ने भी गुजरात की इन विशेषताओं का उल्लेख किया है, और उनकी आलोचना भी की है। गुजरात के वर्तमान जीवन को देखते हुए इन प्राचीन लेखकों के निर्णय को उचित ही मानना पड़ेगा। गुजरात की महिलाओं में दक्षिण—मुख्यरूप से मालाबार की महिलाओं—जैसी सादगी और निपुणता नहीं है। उनमें पंजाब अथवा काश्मीर की सुडौल महिलाओं जैसी चातुरी नहीं पाई जाती। न तो वे महाराष्ट्र की नवयुवतियों के समान शान्त ही होती हैं और न बंगाली युवतियों जैसी स्वप्नमयी ही; पर वे राजपूतनियों की भांति दृढ़ एवं शांतिप्रिय होती हैं। वे काव्यमयी न होते हुए भी भावुक हैं। वे भाग्य की विषमताओं को सहने के लिए तत्पर और सदैव सक्रिय एवं सचेष्ट रहती हैं। गुजराती स्त्रियों में जीवन की अन्तिम अवस्था तक अपने स्त्रीत्व को बनाये रखने की क्षमता पाई जाती है। वे वृद्धावस्था प्राप्त करने पर सांसारिक जीवन से विमुख हो जाती हैं, पर लोक-सेवा का कार्य करती रहती हैं।

यह बात कोई आकस्मिक अथवा आश्चर्यजनक नहीं है कि कस्तूरबा एक आदर्श महिला थीं। यह गुण, पूर्ण रूप में कस्तूरबा को गान्धीजी के सम्पर्क से ही नहीं मिला था, बल्कि वह गुजरात की उन अगणित माताओं की प्रतिनिधिस्वरूप थीं, जिन्होंने गुजरात के गौरव की प्रतिष्ठा की है। निस्सन्देह गुजरात के पुरुष भावुक होते हैं; वे बाह्य जीवन की वस्तुओं से प्रेम करते हैं और एक सुन्दर सहचरी की कल्पना में लीन रहते हैं। इससे उन्हें सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए बहुत उत्साह मिलता है जो एक व्यावहारिक जाति की समृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

वही मुन्शीजी जिनके नेत्रों से अश्रु बहा करते थे, जिन्होंने एक बार आत्महत्या की भी कल्पना की थी, अब इच्छानुकूल कल्पना-लोक की सहचरी को पाकर वस्तुतः धन्य हो उठे। इसे उन्होंने बहुत ही विनम्र और उदार शब्दों में स्वीकार भी किया है। पर वे इस बात को स्वीकार नहीं कर सके कि लीलावती मुन्शी को, जब से उन्हें मुन्शी-परिवार का प्रबन्ध सौंपा गया, अपनी उस विशिष्ट लेखन-कला और रेखाचित्र प्रस्तुत करने की क्षमता का बलिदान करना पड़ा जिसके लिए वे प्रसिद्ध थीं। साहित्य-सृजन की दो धाराएं जो विशिष्ट और विभिन्न थीं मिलकर एक हो गईं और फलस्वरूप शेष रह गए कन्हैयालाल मुन्शी। कम-से-कम साहित्य के क्षेत्र में तो यही सत्य है। मुन्शीजी ने लीलावती के व्यक्तित्व के चारों ओर रोमांचकारी सौन्दर्य का पट बुन रखा था, फिर भी वे सदैव यथार्थवादी, व्यावहारिक और कुशल गृहिणी ही बनी रहीं। वे अपने पति की भांति महत्वाकांक्षी हैं और उनमें संगठन करने की अद्भुत क्षमता भी

है। मुन्शीजी सदा रोमांसप्रिय थे, किन्तु यह कहना भूल होगी कि मुन्शी या लीलावती सदैव ही कल्पना-जगत् में विचरते रहते हैं।

मुन्शीजी एक ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न हुए थे जो गौरव-सम्पन्न तो था, किन्तु वैभवशाली नहीं था। उधर लीलावती का लालन-पालन एक ऐसे परिवार में हुआ था, जो विद्या और आदर्शों की बजाय धन-वैभव को अधिक महत्व देता था। दोनों का जीवन ऐसे वातावरण में आरम्भ हुआ जो उनके अनुकूल नहीं था। परन्तु यह बहुत ही ठीक हुआ कि दोनों साहित्य-तन्तु द्वारा एक दूसरे से बंध गये। गुजरात की कला, साहित्य और मुख्यरूप से बम्बई के सार्वजनिक जीवन की दृष्टि से इन दोनों का संयोग बहुत ही सुखद हुआ। वैवाहिक जीवन आरम्भ होने से लीलावती मुन्शी का साहित्यिक जीवन तो समाप्त हो गया, पर उनकी शक्ति अब नागरिक जीवन के अधिक रचनात्मक कार्यों में लग गई और वे अपनी कुशलता एवं प्रखर बुद्धि से बम्बई के जीवन में प्रविष्ट हो गईं। काव्य-भावना से प्रेरित होकर लीलावती ने भ्रमण करना आरम्भ किया। इससे वे परम्परागत जीवन के बन्धन से बहुत कुछ बची रहीं। उन्होंने गुजराती शिल्प और नृत्य-कला के विकास में सहयोग दिया जिस पर गुजरात को सदा गर्व रहा है। लीलावती म्युनिसिपल कमेटी और प्रान्तीय ऐसेम्बली के कामों में अधिक दिलचस्पी लेती थीं, किन्तु वे मुन्शीजी को एक सफल वकील, परिश्रमी और महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञ एवं संगठनकर्त्ता होने में भी प्रेरणा देती रहीं।

म्युनिसिपैलिटी और राजनीति के कार्यों में अधिक व्यस्त रहने के कारण लीलावती इधर कुछ वर्षों से साहित्य-रचना नहीं कर रही हैं। यह एक दुर्भाग्य की बात है, क्योंकि साहित्य में उनकी अपनी एक विशेष शैली है। वे सामाजिक समस्याओं की ओर ध्यान खींचती हैं और भारतीय समस्याओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित करती हैं। वर्तमान युग में गुजरात में बहुत थोड़े ही लेखकों को यह गौरव प्राप्त हुआ है। सन् १९३२ में संकलित 'जीवन माँथी जड़ेली' (जीवन कथा) में प्रमुख रूप से भारतीय समाज की अभागी नारी का चित्रण किया गया है।

लीलावती ने अन्य कई नाटकों की रचना भी की है। 'कुमारदेवी' में प्रख्यात चन्द्रगुप्त की राज-महिषी का चरित्र उपस्थित किया गया है, जिसका चन्द्रगुप्त द्वितीय के जीवन में प्रमुख भाग था। इस नाटक की विशेषता नाट्य-कला के कारण नहीं है वरन उस साहसिकता के कारण है जिसके साथ लेखिका ने भारतीय इतिहास के एक शक्तिशाली, गतिशील, निर्द्वन्द्व किन्तु नारीत्व से पूर्ण चरित्र का चित्रण किया है। लीलावती की लेखन-शैली की विशेषता यह है कि वह सरल और ऋजु होती है। कभी-कभी उसमें स्वभाव-वैचित्र्य प्रदर्शित हुआ है, पर सूक्ष्म नियन्त्रण तो सर्वत्र मिलता है। इसके अतिरिक्त यह शैली सर्वथा निरलंकृत है। मनुष्य के विचारों का विश्लेषण करने में, नर-नारी के आन्तरिक रूप को अंकित करने में लीलावती को विशेष आनन्द आता है। इस सम्बन्ध में लीलावती की लेखन-शैली कन्हैयालाल की शैली से नितान्त भिन्न है।

मुन्शीजी ने अनेक गल्पों का प्रणयन किया है, जिनमें कुछ ऐतिहासिक हैं और कुछ

सामाजिक। पर वे न तो प्राचीन तत्त्ववेत्ता होने का दावा करते हैं, न महान् विद्वान् इतिहासकार होने का। वे एक कल्पना-रमण लेखक हैं और एक कवि की भावदीप्त दृष्टि से प्राचीन भारत के अतीत का चित्र देखते हैं। वे एक निपुण राजनीतिज्ञ और पत्रकार हैं अतः वर्तमान घटनाओं से अप्रभावित रहना उनके लिए कठिन है। इसलिए उनके चरित्रों में एक प्रकार से थोड़ा-बहुत काल-दोष पाया जाता है। लेखक के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह अपने आस-पास के वातावरण से अछूता रह कर अतीत के गर्त में ही विस्मृति-विभोर रहे और अपने व्यक्तिगत स्वप्नों और आदर्शों को भूल जाय। मुन्शीजी भारत के गौरव का चित्रण करने से कभी भी नहीं घबराते, और यह ऐतिहासिक दृष्टि से ही सत्य नहीं किन्तु संसार के हित की दृष्टि से भी उचित है। यह कहना पर्याप्त होगा कि मुन्शीजी को अपने देश की अद्भुत सभ्यता और उसकी गत्यात्मक अविच्छिन्न परम्परा से अत्यन्त मोह है। प्रायः उनकी कथाओं आदि के चरित्र वेदों से लिये गये हैं और उन्हें भारत के स्वर्ण-युग के चित्रण में विशेष गर्व का अनुभव होता है। ऐसे प्रसंग में किसी प्रकार की भविष्यवाणी करना विशेष अर्थ नहीं रखता; परन्तु मेरी धारणा है कि इन ग्रन्थों का महत्व उनकी धूमिल-पुरातन पृष्ठभूमि के कारण ही रहेगा—उनका अपना आन्तरिक मूल्य शायद उतना न हो। इसका कारण साहित्यिक गुणों का अभाव नहीं है। इसका मूल कारण थोड़ी गहराई में जाकर मिलेगा। भारत एक ऐसे ऐतिहासिक परिवर्तन के युग से गुज़र रहा है जब कि सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन की गति इतनी तीव्र है कि आनेवाले युग के स्वरूप की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यही कहा जा सकता है कि वेदों के देवता अब नहीं रह गये हैं। प्राचीन परम्पराओं के होते हुए भी भारत आज आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है। इस समय जीवन की समस्याओं को सुलझाने की आवश्यकता है न कि अतीत का स्मरण करने की।

मुन्शीजी ने अतीत भारत का चित्रण करने में अनेक वर्ष व्यतीत किये हैं। उनकी सबसे बड़ी पुस्तक 'परशुराम' है। मुन्शीजी का कथन है कि आर्य सभ्यता में ऐसी कुछ विशेष बातें हैं जो आगे भी बनी रहेंगी। अतः उन्होंने पुराणों अथवा प्राचीन कथाओं के आधार पर ऐसे चरित्रों का चित्रण किया है जो अतीत के गौरव को व्यक्त करते हैं। इसका परिणाम लेखक के श्रम और उत्साह के अनुरूप नहीं हुआ। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि एक व्यस्त वकील, चतुर राजनीतिज्ञ और कर्मठ पत्रकार होते हुए भी उन्हें इतना अवकाश मिल सका कि वे साहित्य की ऐसी बड़ी-बड़ी रचनाएं कर सके। उनके चित्रण का क्षेत्र परिमित है—पर यह कुछ अंश में तो उनके मस्तिष्क की बनावट और कुछ अंशों में भारत की वर्तमान स्थिति के कारण है। मुन्शीजी एक प्रकार से भारत की परस्पर-विरोधी बौद्धिक धाराओं के प्रतिनिधि-माध्यम कहे जा सकते हैं—जिसमें अतीत और वर्त्तमान, विज्ञान और रूढ़ि, आदर्श और यथार्थ का विचित्र संग्रह है।

अतीत के अत्यधिक पुजारी होते हुए भी मुन्शीजी ने गुजरात के मध्ययुग का चित्रण किया है। अभी तक जिन व्यक्तियों को कोई महत्त्व नहीं दिया जा रहा था, उन्हें वीरता के ऐसे सांचे में ढाला गया है कि वे सुदृढ़, स्वतंत्र, प्रसन्न और आधुनिक युग के प्रतीक बन गये हैं।

इनमें से कुछ चरित्र मुन्शीजी की अपनी मनःस्थितियों के भी प्रतीक हैं। मुन्शीजी का व्यक्तित्व उनके मानसिक नाटक में प्रमुख स्थान ग्रहण करने से कभी पीछे नहीं रहता। परिणाम-स्वरूप हमारे सामने ऐसे पात्र उपस्थित होते हैं जिनके आदर्शवाद, मानसिक द्वन्द्व और प्रबल जीवन-प्रेम का हम पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इस प्रसंग में केवल मुंजाल और मिनल देवी, काक और मंजरी का स्मरण ही पर्याप्त होगा। इन ग्रन्थों में गुजरात का इतिहास सबसे पहली बार जीवित रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसमें ऐसे लोगों की चर्चा की गई है जो किसी भी देश के गौरव बन सकते थे और आज की सन्तान के लिये स्वप्न और कल्पना की सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं। मुन्शीजी ने इस बात का अधिक प्रयास नहीं किया है कि ऐसे चरित्र ऐतिहासिक सत्य की कसौटी पर खरे उतरते हैं या नहीं। उन्होंने ऐसे व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण किया है जिन्हें या तो उन्होंने कल्पना-जगत मे देखा है या वास्तविक जगत में। मुन्शीजी में आदर्शवादी और यथार्थवादी का समन्वय मिलता है। जहां एक ओर वह महात्मा गांधी के अनुसरण की शपथ लेते हैं वहां वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे ऐसे कार्यों में भी अनुरत हो सकते हैं जिनम जीवन इतना कठोर अनुशासन सहन नहीं कर सकता। मुन्शीजी ने अपने जीवन में अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त किये हैं। उन्होंने हठयोग की भी साधना की है। दिव्य-दर्शन का भी अनुभव किया है। उधर वे आत्माओं के बुलाने और भूत और भविष्य की बातें जानने के फेर में भी पड़ चुके हैं। संक्षेप में उन्होंने अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त किये हैं। उनके नाटकों के मंजरी, काक, मुंजाल और मिनल देवी सरीखे चरित्रों में उनके जीवन-सम्बन्धी विचार स्पष्ट रूप से मिलते हैं। ये ऐसे चरित्र हैं जिन पर परिस्थितियों का प्रभाव नहीं पड़ता, सभी परिस्थितियों में जीवन के झंझावात का सामना करना ही उनका स्वभाव है, ये परिस्थितियां राजनीतिक, मानसिक आदि किसी भी प्रकार की ही क्यों न हों। उन्होंने अपने जीवन भर यह अनुभव किया कि भारतीय समाज में सब से बड़ी कमी इस बात की है कि लोग वैसे तो केवल सिद्धांत की बातें बनाते रहते हैं पर व्यवहार मे वे क्षण-क्षण पर ऐसी बातों को सहन करते रहते हैं जो सिद्धांतों से सर्वथा दूर हैं। अतः उनकी रचना में ऐसे प्रत्येक स्थल पर विद्रोह की भावना दिखाई पड़ती है जहां कहीं भी किसी व्यक्ति को परम्परागत नैतिक या सामाजिक नियमों के प्रति आवाज उठाने की आवश्यकता हुई है। भारतीय जीवन में प्रत्येक साहसिक अथवा सजीव भाव का दमन अथवा तिरस्कार करके एक प्रकार की निर्जीव एक-स्तरता स्थापित की गई है। अतिशय प्रबल, अथवा अपवाद-रूप व्यक्तियों के अतिरिक्त और सभी के लिये वैयक्तिक स्वतंत्रता का निषेध कर दिया गया है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि इधर तो सामाजिक जीवन सर्वथा कुण्ठित और स्फूर्तिहीन हो गया है और उधर साहित्य की बड़ी क्षति हुई है। उसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वह या तो निरर्थक शब्द-क्रीड़ा रह गया है या फिर अश्लील और अतिरंजित तथा-कथित दिव्य लीलाओं का संकलनमात्र। ग्यारहवीं शती के पश्चात् भारतीय साहित्य मे जो एकरूपता और विषय-संकोच पाया जाता है उसका कारण उस समय का जीवन ही है, क्योंकि साहित्य मानव के मन और मस्तिष्क का दर्पण ही तो है।

मुन्शीजी के अनुसार गुजरात का स्वर्ण-युग आठवीं शती से बारहवीं शती तक था। उन्होंने अपनी इस ऐतिहासिक रचनाओं में गुजरात का गौरव-गान किया है। प्रत्येक रचना गुजरात पर ही केन्द्रित है, जिसमें गुजरात की सम्पत्ति, गृह-राजनीति और निकटवर्ती राज्यों से अभिसन्धि और संघर्ष आदि के साथ-साथ सांस्कृतिक जीवन का चित्रण किया गया है। मुन्शीजी एक जन्मना राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ की भांति ऐसी अनेक परिस्थितियों का कौशल के साथ निर्वाह करते हैं। प्रायः ऐसा होता है कि उनका रंगमंच प्रान्तीय सीमा को पार कर अनायास ही विस्तृत हो जाता है।

मुन्शीजी अपनी मुख्य कथावस्तु के विकास के लिये छोटे-मोटे कूटचक्रों का उपयोग कुशलता से करते हैं। इनके द्वारा उनको प्रमुख चरित्रों के उद्घाटन में बड़ी सहायता मिलती है।

वस्तुतः गुजराती साहित्य के लिये मुन्शीजी की सबसे बड़ी देन है उनकी कथा-वर्णन की अद्भुत क्षमता। वे अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से—सदा मतलब की बात करते हुए—कथा का वर्णन करते हैं—और अपने सभी पात्रों को एक साथ बड़े साहस के साथ मंच पर लाकर खड़ा कर देते हैं। उनकी कथा-ऋजु सरल गति से आगे बढ़ती है—अतीत अथवा गौण परिस्थितियों के उलझे वर्णन उसका गतिरोध नहीं करते।

मुन्शीजी की लेखन-शैली की चर्चा भी यहां असंगत न होगी। प्रायः सभी भारतीय भाषाओं का गद्य-साहित्य बहुत प्राचीन नहीं है। गद्य-साहित्य का आविर्भाव उन्नीसवीं शती के प्रथमांश में हुआ है। इस काल में गद्य की जो रचनाएं हुईं उनकी शैली संस्कृत के कथानकों-जैसी थी। उसमें बोल-चाल की भाषा का प्रयोग नहीं होता था। वह संस्कृत-गर्भित, अलंकृत और बोझल होती थी। परिणाम यह होता था कि कथा शब्द-जाल में उलझ जाती थी अथवा उसकी एक क्षीण रेखा शेष रह जाती थी। यह शैली संस्कृत महाकाव्यों की शैली का अवशेष थी और वर्त्तमान युग के कथा-साहित्य की गति के अनुरूप नहीं थी।

मुन्शीजी को आधुनिक गुजराती कथा-साहित्य का प्रथम महत्त्वपूर्ण लेखक कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। चल-चित्रों के निर्माण के पहले ही उन्होंने अपने उपन्यासों के चरित्रों को आजकल के फिल्मी पात्रों जैसी गति प्रदान की है। मुन्शीजी की भाषा बहुत सरल है। उनके वाक्य छोटे हैं, किन्तु उनमें जीवन होता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मुन्शीजी अवसर आने पर वर्णनयुक्त ललित वाक्यों का विस्तार कर ही नहीं सकते। परन्तु वे अपने पात्रों के कार्यों में और घटनाओं के विन्यास में इतने अधिक अनुरत रहते हैं कि वर्णन-चमत्कार पर अधिक परिश्रम करने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता, यद्यपि इस प्रकार के ललित अलंकृत वाक्य ही हमारे देश में गद्य-शैली का आदर्श रहे हैं।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मुन्शीजीने पद्य की रचना नहीं की, यद्यपि भारत के साहित्यिकों के लिये यह साधारण-सी बात है। सम्भवतः मुन्शीजी की बुद्धि कल्पना से कहीं ठोस थी। लेकिन अपनी बुद्धि को उन्हें साहित्य अथवा अन्य कार्यों पर केन्द्रित करने का अवसर मिला है। मुन्शीजी में यह विशेष प्रतिभा है कि वे एक कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य को

उसी दृढ़ता और निपुणता के साथ कर सकते हैं। वे अपनी आयु के बासठ वर्ष लाँघ चुके हैं, फिर भी वे युवा प्रतीत होते हैं। गुजरात की एकता और गुजराती-साहित्य के भविष्य के प्रति उनकी प्रगाढ़ आस्था है और मुझे पूर्ण आशा है कि अभी बहुत वर्षों तक वे गुजराती-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इसी उत्साह से कार्य करते रहेंगे।

इसमें सन्देह नहीं कि गुजराती-साहित्य मे मुन्शीजी का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे एक सफल उपन्यासकार, नाट्यकार, इतिहास-लेखक, निबन्धकार, शिक्षाविज्ञ, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, वक्ता और धारा-शास्त्री हैं। उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन का बहुत बड़ा अंश गुजरात और उसके साहित्य की सेवा में अर्पित किया है। उन्होंने पर्याप्त मात्रा में साहित्यिक रचना की है। साहित्य का कौनसा ऐसा अंश है जिस पर उनकी लेखनी सफलता के साथ न उठी हो। फिर भी मेरी धारणा है कि उनकी स्थायी देन मध्ययुगीय गुजरात का चित्रण करनेवाले ऐतिहासिक उपन्यास, गुजरात देश और गुजराती संस्कृति की अखण्डता का प्रबल समर्थन, नरसी मेहता पर लिखे हुए सुन्दर निबन्ध, और कुछ छोटे-छोटे नाटक ही हैं जिनमें उन्होंने हमारे समाज के दोषों का सफलता के साथ उद्घाटन किया है। मुन्शीजी का हास्य अत्यन्त तीव्र और अचूक होता है जो कभी-कभी हमारे रूढ़िवादी समाज के बाह्याडम्बर और उसके पीछे छिपी हुई विडम्बना पर निर्भय प्रहार करता है। मुन्शीजी का जीवन सभी रूपों में अत्यन्त पूर्ण रहा है। उनका साहित्यिक जीवन अत्यन्त समृद्ध और सक्रिय रहा है—अपने व्यावहारिक जीवन में उन्हें सफलता और समाज में गौरव प्राप्त हुआ है। आधुनिक गुजरात के निर्माताओं मे उनका स्थान असंदिग्ध है।

मुन्शीजी के साहित्यिक व्यक्तित्व की किसी भी चर्चा मे लीलावती का प्रसंग तो आयेगा ही, क्योंकि जैसा मैं पहले कह चुका हूँ दोनों की प्रतिभा-धारा मिलकर एक ही हो गई है। मुन्शीजी अपने सफल दाम्पत्य जीवन की चर्चा करते हुए आज भी कह उठते हैं—"हम तो वसन्त के पक्षी हैं।"

गतिशीलता का प्रतीक

कृष्णलाल श्रीधराणी

यह एक सन्ध्या की बात है, जब विधान-परिषद् की आरम्भिक बैठक के दिनों में मैं मुन्शीजी के साथ मोटर में बैठकर बिड़ला-भवन पहुँचा। मेरा विचार था कि मुन्शीजी के साथ उनके राजधानी के अस्थायी निवास-स्थान पर एक शान्तिपूर्ण संध्या बिताऊं और उनके साथ टहलूं और वार्तालाप करूं। हम बारह वर्ष बाद मिले थे। इसलिए हमें बहुत-कुछ बातें करनी थीं।

पर इससे पूर्व कि बात शुरू करें, सिक्खों का एक शिष्ट-मण्डल आ पहुँचा जो भारत के नये विधान के 'सेक्शन बी' में वर्णित सिक्खों की स्थिति पर मुन्शीजी से विचार-विमर्श करना चाहता था। उत्तर के हृष्ट-पुष्ट दाढ़ीवाले सिंह एक लघु आकार के शाकाहारी गुजराती से भेंट करने आये थे, क्योंकि उनका एक ही सपना था—अखण्ड हिन्दुस्तान का सपना। पाकिस्तान के निर्माण में सिक्खों को अपनी जाति की मृत्यु दिखाई देती थी और यह ब्राह्मण पाकिस्तान के बनने पर हिन्दुओं की परम्परा और उनकी प्राचीनतम क्रमागत सभ्यता का विनाश देख रहा था।

इस छोटे-से शिष्टमण्डल ने यह सिद्ध किया कि पाकिस्तान के प्रति घृणा ने एक प्रकार के विचित्र सहवासियों की सृष्टि कर दी है। एक ओर सिक्ख थे, साफा बाँधे, उत्तर भारत की वेश-भूषा से सुसज्जित, मानो महान् शारीरिक शक्ति धीरे-धीरे हिल रही हो, और दूसरी ओर काली ऐनक लगाये और मुन्शी फैशन की गान्धी टोपी पहने मैदान का निवासी एक छोटे कद का वकील था, जिसके चंचल शरीर में सर्वतोमुखी प्रतिभा नेवले के समान गतिशील कौशल प्रदर्शित कर रही थी। पर इससे पहले कि वह एक अच्छे वकील की हैसियत से तर्क, द्वारा समस्त बातों का समाधान कर सके, टेलीफोन की घंटी बजी...

सर एन० गोपालास्वामी आयंगर टेलीफोन पर थे। यह छोटे कद का विद्युत शक्ति वाला व्यक्ति उछला। नरेशों से बातचीत करनेवाली समिति ने एक नया समाधान खोज निकाला था। वे आधे घन्टे तक टेलीफोन पर बातचीत करते रहे। इस बीच मुन्शीजी मुझे भी भूल गये और उन सिक्खों को भी। यह एक नई बात थी, और ऐसे वातावरण में

विकसित हुई थीं, जिससे नई परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती थीं, और इसके लिए कुछ-न-कुछ शीघ्र ही करना था। सरदार वल्लभभाई पटेल से सम्पर्क स्थापित करना था......

सिक्ख-शिष्टमण्डल ने प्रस्थान किया ही था कि एक दूसरा दल आगया जो मुन्शीजी से अपने मुकदमे की पैरवी करने के लिए अनुरोध करने आया था। फिर मुझे भुला दिया गया, सिक्खों को भी, नरेशों से बातचीत करनेवाली समिति को भी, और सर एन० गोपालास्वामी तथा विधान-परिषद् आदि सभी को। अब मुन्शीजी मुकदमे में तल्लीन हो गये। इस बीच मुन्शीजी एक बार फिर उठे और टेलीफोन पर जाकर उन्होंने अगले दिन की शाम का भोजन किसी महाराजा के साथ करने का आमन्त्रण स्वीकार किया।

बाद में मुन्शीजी ने मुझे विश्वास दिलाया कि सोने से पूर्व वे अभी एक कहानी लिखने के लिये बैठेंगे। मैं इस अमरीकी नैपुण्य के नाटक से बहुत प्रभावित हुआ जो एक ऐसे देश में हो रहा था जहां के लोग अन्तहीन वार्तालाप के लिए बैठ जाने पर प्रायः उठने का नाम नहीं लेते। मैं उनकी इस योग्यता पर मुग्ध हो रहा था कि वे इच्छानुसार अपनी एकाग्रता-शक्ति को खाई के जल के समान इधर-से-उधर घुमा-फिरा रहे थे। मैंने सोचा कि यदि मैं उन्हें स्थायी रूप से हानि पहुँचाये बिना उनके मस्तिष्क को खोल सकूं तो उसमें मुझे शहद के छत्ते के सदृश ऐसे-ऐसे छिद्र दृष्टिगोचर होंगे जिनमें कबूतरों के दड़बे के से प्रत्येक खाने में विभिन्न अभिरुचियां पृथक्-पृथक् भरी हुई मिलेंगी।

मुन्शीजी ने मुझे बताया कि जिस आसानी के साथ वे एक क्षण में एक विषय से दूसरे विषय में तल्लीन हो जाते हैं, वह उन्हें बड़ी कठिनता से प्राप्त हुई है। किशोरावस्था से ही उन्होंने ध्यान के यौगिक अभ्यास द्वारा एकाग्रता की शक्तियां विकसित करने के लिये कठोर श्रम किया है। बाल्यकाल से ही वे ऋषियों तथा महर्षियों की गाथायें सुनकर उनकी ओर आकर्षित हुये थे, और चेतन तथा उपचेतन प्रयत्नों द्वारा वैसा ही बन जाने की अभिलाषा करते रहे थे। किन्तु वे प्राचीन ऋषियों की विचारधारा को बीसवीं शताब्दी की आवश्यकताओं के अनुकूल प्रवाहित करना चाहते थे। वे कुछ समय तक आत्मवाद से खेलते रहे, फिर उन्होंने उसे इसलिए छोड़ दिया कि मोक्ष के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। वह ध्यानशक्ति को इसलिए प्राप्त करना चाहते थे जिससे वे अधिक कार्यकुशल बन सकें और तत्काल अपने ध्येय तक पहुंच जायँ।

जब मैं मुन्शीजी के उन उपन्यासों पर विचार करता हूँ, जिन्हें मैं पढ़ चुका हूँ, तो अनुभव करता हूँ कि उनमें से अधिकांश में ऋषियों की कथाएं एक तार में पिरोई हुई हैं। एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति शक्ति-वृद्धि के लिये चमत्कारपूर्ण नुस्खे ढूँढ़ता है; पर मुन्शीजी की इस ऋषि बनने के नुस्खे की व्यस्तता पर उनके सामाजिक और व्यक्तिगत प्रसंगों की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। यह स्पष्ट है कि मुन्शीजी की भावनाओं की अन्तर्वस्तु वैदिक आर्यावर्त से प्राप्त हुई है। वे भारत के अतीत के उसी गौरव की पुनर्रचना करना चाहते हैं।

एक स्वाभिमानी और एक अहंकारी व्यक्ति में यह अन्तर है कि स्वाभिमानी अपने आप पर गर्व करता है, जबकि अहंकारी उस बात के लिये गर्व करता है जो वस्तुतः उसमें

नहीं है। मुन्शीजो को उस बात के लिए गर्व है जो उनमें मुख्य रूप से विद्यमान है। मुन्शीजी एक ब्राह्मण हैं और आर्यावर्त के सच्चे विश्वास-भाजन हैं। वे एक गुजराती हैं और महागुजरात की प्रशंसा के गीत गाते हैं। गुजरात के प्रति उनकी भक्ति को एक दूसरी प्रकार यों भी कहा जा सकता है। जिस प्रकार एक गाय को खूँटे से बाँधने के लिए रस्सी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता की परिधि को नापने के लिए उन्होंने गुजरात को केन्द्र बनाया। उनके प्रारम्भिक उपन्यास और बाद के ऐतिहासिक निबन्धों ने गुजरात की सांस्कृतिक धारणा को फिर से जन्म दिया है जिसके अन्तर्गत राजस्थान भी सम्मिलित है। महात्मा गांधी ने गुजरात की धूलि से अनेक वीरों को खड़ा कर दिखाया और इस प्रकार वर्तमान गुजरात को गौरवान्वित किया, और मुंशीजी ने पुरातत्व की धूलि के नीचे से गुजरात के वीरों को निकाल कर उसके अतीत को गौरवमय बनाया है।

मुझे स्मरण आ रहा है कि जब मैं भावनगर राज्य में दक्षिणामूर्त्ति के हाई स्कूल में विद्यार्थी था, मैंने मुन्शीजी के उपन्यासों को गुजराती के अन्य उपन्यासकारों की कृतियों की अपेक्षा अधिक उत्सुकता और उत्तेजना से पढ़ा था। इसका एक कारण तो यह है कि मुन्शीजी कहानी सुनाना खूब जानते हैं। दूसरा कारण यह है कि उनके पात्र बेलोच और लकीर के फ़कीर नहीं हैं, और सूफी विचारधारा से ओतप्रोत उपन्यासों और कविताओं के नायक-नायिकाओं के समान गुम-सुम रहने और गुनगुनाने की बजाय सदैव कुछ-न-कुछ किया करते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते नज़र आते हैं। मुंशीजी के पात्र संसार में उथल-पुथल मचा देना चाहते हैं, और वे तो उस पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, जबकि इसके विपरीत गुजराती मनोभाव में अनासक्ति, तप और त्याग की प्रधानता है। मुन्शीजी के पात्र तो हू-ब-हू वैसे ही हैं जैसे कि इस पीढ़ी के युवक बनना चाहते हैं।

मैंने इन्हीं कारणों से मुंशीजी के सभी उपन्यास पढ़े। पर मैंने उन्हें इसलिए भी पढ़ा कि उनके लेखक का नाम गुजरात में हर किसी की जिह्वा पर था और उसने मुझे भी मंत्र-मुग्ध कर लिया था। दूसरे शब्दों में यह कहना उपयुक्त होगा कि मैंने ये उपन्यास उनकी कथावस्तु और उनके कथाकार दोनों ही से परिचित होने के लिए पढ़े। मुन्शीजी जिस कारण गुजरात में इतने सर्वप्रिय हो गये वह अब मेरे लिए आश्चर्य की बात नहीं रही, क्योंकि मैं भारत के अनेक शिक्षा-केन्द्रों को और अमेरिका में अपने बारह वर्ष के बनवास में पश्चिमी संसार को भी जोश दिलाने का अनुभव प्राप्त कर चुका हूँ। किन्तु उन दिनों मुझे यह बहुत बड़ी बात प्रतीत होती थी। मुन्शीजी अपने जीवन में अपने ही किसी उपन्यास के नायक प्रतीत होते हैं और इस प्रकार उन्होंने उस पुरानी सूक्ति को सत्य सिद्ध कर दिखाया कि उपन्यास अपने रचयिता की आत्मकथा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते।

मैं इसे और भी यथार्थ रूप में कहना चाहूँगा। मुन्शीजी के पात्रों की स्पष्ट स्वाभाविक प्रवृत्ति-प्रेम और शक्ति की ओर प्रवाहित होती है। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि मुन्शीजी के व्यक्तित्व के प्रभुत्व का निर्माण प्रेम और शक्ति की प्रवृत्तियों द्वारा हुआ है। शक्ति-प्रवृत्ति के परिणाम स्पष्ट हैं। किसी समय का अज्ञात और अकिंचन गुजराती

वकील आज एक अखिल भारतीय व्यक्तित्व बनता जा रहा है, और अभी यहीं तो यात्रा का अन्त नहीं है। प्रेम-प्रवृत्ति ने उन्हें गुजराती-साहित्य का जन्मसिद्ध लेखक ही नहीं बनाया, बल्कि इसी ने उन्हें प्रेम-विवाह का मार्ग दिखाया।

इस प्रेम-विवाह के प्रसंग-द्वारा मुन्शीजी समस्त गुजरात के लिए चर्चा का विषय बन गये। इस विवाह के कारण गुजराती युवकों ने मुन्शीजी को अपनी उस गुप्त लालसा के प्रतीक के रूप में देखा जो उन दिनों ऐसे अनमेल विवाहों की समस्या सुलझाने में व्यस्त था, और शायद आज भी व्यस्त है, जिसका एक मात्र कारण था माता-पिताओं द्वारा शिक्षित वर और अशिक्षित वधू का चुनाव। उस समय के गुजराती उपन्यासों-कहानियों और कविताओं को देख कर यह विश्वास होते देर नहीं लगती कि जब मुन्शीजी ने साहसपूर्वक अपने व्यक्तिगत जीवन में इस प्रमुख सामाजिक समस्या को हल कर दिखाया तो वस्तुतः लज्जालु व्यक्तियों को तो भारी धक्का लगा, पर इसके कारण उन्होंने मुन्शीजी की कृतियों के अध्ययन और उनकी चर्चा से हाथ नहीं धो लिये थे। बल्कि इससे तो उनकी लालसा और भी बढ़ गई, क्योंकि हम सदैव ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा करते हैं जो उन कार्यों को कर दिखाता है जिन्हें करने का हम कभी साहस नहीं कर सकते।

मुन्शीजी का व्यक्तित्व पुरातन और नूतन का, प्रान्तीयता और सार्वभौमिकता का विचित्र सम्मिश्रण है। गुजरात और प्राचीन आर्यावर्त की गौरव-गाथा उनकी सृजनशीलता का मूलस्रोत है। पर इसके साथ-साथ पश्चिमी और आधुनिकतम सामाजिक सम्बन्ध उनके व्यवहार के अंग बन गये हैं। यही कारण है कि परम्परा के अनुयायी देशी नरेश और धनी-मानी मुन्शीजी के सुधार-आन्दोलन में भी एक प्रकार की आत्मरक्षा देखते हैं और यही कारण है कि गुजरात का सुधारवादी युवक भी मुन्शीजी को अपने पक्ष का समर्थक समझता है।

वार्तालाप में मुन्शीजी अत्यन्त कुशल हैं, किसी भी दल में अपना प्रभुत्व जमाने में पटु हैं, और उन्हें उन व्यक्तियों का सम्पर्क अत्यन्त प्रिय है जो स्वयं वार्तालाप में चतुर हैं। अनेक अवसरों पर वे बाजी मार ले जाते हैं, और इस प्रकार न केवल उन्हें अपने मन पर पूर्ण अधिकार रहता है, बल्कि कभी-कभी तो वे एकदम झपट पड़ते हैं। पर मुझे कुछ आशंका-सी होती है कि कहीं उनकी यह व्यवहार-प्रणाली उनकी आन्तरिक लज्जाशीलता का आवरण मात्र न हो। जब भी वे किसी विख्यात व्यक्ति से मिलते हैं तो कुछ क्षणों के लिए तो उन पर आतंक-सा छा जाता है। पर थोड़े-से क्षण बीत जाने दीजिए और उन्हें इस झटके से मुक्त हो लेने दीजिए,......फिर तो मुन्शीजी का ही सिक्का चलता है।

एक तीर्थयात्री

गुरुदयाल मल्लिक

श्री कन्हैयालाल मुन्शी से मेरी सर्वप्रथम भेंट केवल कुछ वर्ष पहले हुई है। मैं प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के दिनों से ही यह सुन चुका था कि वे एक उच्चतम गुजराती उपन्यासकार हैं। यह उन दिनों की बात है जब मैं बम्बई के एक कालेज में विद्यार्थी था।

मुन्शीजी से मेरी यह भेंट पहलगाँव के एक होटल में हुई जब वे अपने स्वास्थ्य-सुधार के लिये काश्मीर पधारे थे। वे अनेक प्रकार की क्रियाशीलताओं के भार से दबे हुए से थे। वह साँझ मुझे कभी नहीं भूलेगी जब मैं बम्बई के एक प्रमुख वकील के साथ पहलगाँव के इस होटल में मुन्शीजी से मिलने गया। उस समय वे होटल की सब से ऊंची मंज़िल के एक कमरे की खिड़की से बाहर की ओर नगाधिराज हिमालय के शृंगों की उच्चता और सुन्दरता के जादू को निरख रहे थे। हम दबे पाँवों ही उनके पास गये जिससे उनकी तन्मयता में बाधा न पड़े, क्योंकि हम जानते थे कि वे एक राजनीतिज्ञ ही नहीं, बल्कि एक सौन्दर्य-द्रष्टा और कलाकार भी हैं।

संयोगवश मुन्शीजी ने हमारी ओर देखा और तुरन्त हाथ जोड़ कर प्रेमपूर्ण नेत्रों से हमारा अभिवादन किया और हमें बैठने के लिए कहा।

"आपको यहाँ कैसा लग रहा है ?" मुन्शीजी कह उठे।

फिर उन्होंने हिमालय की ओर संकेत करते हुए कहा—"प्रकृति के इस चिरनवीन सौन्दर्य के सम्मुख बम्बई की बातें किसे सुहायेंगी ? इधर मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं। जाने यह कैसे है ! बीमारी तो कुरूपता ही है। राजनीति भी कुरूपता है। प्रकृति का यह सौन्दर्य ही जीवन का सार हो सकता है।"

मैंने झट यह समझ लिया कि हिमालय की बरफों ने और इन चोटियों के कलामय घुमावों ने इस तीर्थ-यात्री को भी मोह लिया।

'तीर्थयात्री' का प्रयोग मैंने जान-बूझ कर किया है, क्योंकि मुन्शीजी इस बात से अवगत हों या नहीं, पर वे मुख्य रूप में तीर्थ-यात्री ही हैं। उनकी बहुमुखी प्रतिभा को, उसके अनेक प्रकाशित रूपों में, मैं एक ऐसी कसौटी मानता आया हूँ जिस पर वे अनन्तकालीन

प्रकृति और उसके उल्लास की परख करते आये हैं। वे चाहे मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में कुछ कहें या इतिहास, समाजशास्त्र, कला, राजनीति, अर्थशास्त्र, विधान या अन्य किसी विषय पर—क्योंकि वे प्रायः संसार के सभी विषयों का रहस्य अपनी चकित कर देनेवाली मेधा-द्वारा प्रस्तुत कर चुके हैं—उनमें कुछ ऐसी सूक्ष्म आत्मिक उत्कण्ठा-सी प्रकट होती है जो उन्हें सदैव प्रगति-पथ पर अग्रसर रहने की प्रेरणा देती रही है। इस प्रकार का आन्तरिक भाव और चाव एक तीर्थ-यात्री अपनी यात्रा पूरी करने के लिए तब तक नहीं अनुभव कर पाता जब तक कि वह अनन्त की प्रामाणिकता प्राप्त नहीं कर लेता। इसीलिए मैं सोचता हूँ मुन्शीजी को याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी की भाँति यह प्रश्न अपने-आप से करना पड़ता होगा—"मैं अपनी इन आकांक्षाओं और अर्जित गुणों को लेकर क्या करूं जब ये सब मुझे अमर नहीं बना सकते?" मुझे तो एक दिन यह सुनकर भी कोई आश्चर्य नहीं होगा कि मुन्शीजी ने अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए अपनी समस्त क्रियाशीलता से मुख मोड़ लिया है, क्योंकि यह तो मनुष्यमात्र का जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह सदैव आत्मा की आज्ञा का पालन करे।

एक मूल्यांकन

मौलिचन्द्र शर्मा

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी एक असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी और उर्वर है। उनका चिन्तन निस्सीम और फलत: उनका कार्य-क्षेत्र भी निस्सीम है। किसी भी देश के नेताओं में ऐसे सर्वतोमुखी क्रियाशील विद्वान् किसी भी काल में कम ही होते हैं। हमारे प्रतिभा सम्पन्न देश में भी ऐसे व्यक्ति अनेक नहीं हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि मुन्शीजी भारत के अग्रगण्य पहली पंक्ति के धाराशास्त्रियों में से एक हैं। मैंने वकील न कहकर धाराशास्त्री इसलिये कहा कि वे केवल वकील ही नहीं, कानून और विधान-शास्त्र के पारंगत धुरन्धर विद्वान् भी हैं और यदि अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग किया जाय तो यों कहेंगे कि वे एक उत्तम एडवोकेट ही नहीं ज्यूरिस्ट भी हैं। भारत के लिए जो विधान आजकल निर्माण किया जा रहा है उसमें आपका कितना भाग है, यह छिपा नहीं है। इस महान् निर्माण के इतिहास में उनकी गणना सदैव प्रमुख निर्माताओं में की जायगी।

जब विधान-परिषद् का आरम्भ हो ही रहा था, तो मुझे मुन्शीजी से देशी राज्यों के विषय में कुछ चर्चा करने का अवसर मिला। मैं चकित हुआ जब मैंने देखा कि मुन्शीजी सर्वथा एक नया तर्क, जो प्रायः अकाट्य था, उपस्थित कर सारी स्थिति को दूसरे धरातल पर ले जा रहे हैं। यह चर्चा बढ़ी तो मैंने सन्तोष से देखा कि वे एक नोटबुक लाये हैं जिसमें भारत को विधान-सम्बन्धी प्रायः सारी रचनायें विशद रूप से उन्होंने पहले ही लिख डाली थीं, और उनके सम्मुख एक पूरा चित्र मौजूद था।

धाराशास्त्र उनकी आजीविका का प्रधान अवलम्बन भले ही हो, परन्तु उनके जीवन का प्रधान अंग वह बिल्कुल नहीं है।

मुन्शीजी के राजनीतिक जीवन से सभी परिचित हैं। राष्ट्रवादियों में उनका ऊंचा स्थान है। सत्याग्रह, जेल और मिनिस्ट्री इन सभी राजनीतिक उतार-चढ़ावों का वे पूरा अनुभव प्राप्त कर चुके हैं। अग्रगामी राजनीतिज्ञों की परम्परा के अनुसार उन्होंने भी जेल में पुस्तकें

लिखीं। परन्तु बहुत कम व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जिन्होंने राजमंत्री का काम करते हुए भी साहित्य का निर्माण किया हो।

मुन्शीजी की राजनीतिक प्रवृत्तियों में अखंड भारत का आन्दोलन एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति है। एक शुद्ध राष्ट्रीय मनस्तल पर पाकिस्तान के निर्माण की देश-द्रोहात्मक मांग का ही इस आन्दोलन-द्वारा उत्तर देने का यत्न किया गया था। इस आंदोलन-द्वारा मुन्शीजी ने भारत के राष्ट्रवादियों के गूढ़ मनस्ताप का और तज्जन्य भारत की अखंडता की रक्षा के संकल्प का, तेजस्वितापूर्ण प्रतिनिधित्व किया था।

पर मुन्शीजी एक राजनीतिक से कहीं अधिक एक संस्कारी पुरुष हैं। सहस्रों वर्षों से इस देश के मनीषियों ने जो-कुछ सोचा और अनुभव किया है उस सब की गूढ़ सांस्कृतिक अनुभूति से उनका शिष्ट हृदय आर्द्र बना है और पुरखाओं की ऐतिहासिक भूलों के कारण आपन्न इस लम्बे पराधीनता-काल के कठोर आघातों से उनका मन वज्र-सा कठोर बन गया है। वे शत्रुकर्षण हैं, मित्रनन्दन हैं, राजनीतिज्ञ हैं। वस्तुतः उन विरले नेताओं में से हैं जिनके लिये कहा जा सकता है :

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।

राजनीति में कठोर होते हुए भी मुन्शीजी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में कुसुम से भी कोमल हैं। उनकी साहित्यिक कृतियों ने उन्हें चिर-स्मरणीय बना दिया है। उनके ग्रंथों की संख्या पचपन से ऊपर है और इसमें जहां उपन्यास, निबन्ध, कहानी और नाटक है वहां समाज शास्त्र, राजनीति, ऐतिहासिक अनुसन्धान और वेदान्त भी है। उनकी साहित्य-सृष्टि उनके चिन्तन के समान ही सर्वतोमुखी है।

गुजराती-साहित्य के पत्रकारों में महात्मा गांधी और मुन्शीजी प्रधान निर्माताओं में से हैं। उन्होंने जो शैली प्रस्तुत की है उस पर गुजराती गद्य सदा गर्व करेगा और प्रगति-पथ पर अग्रसर होता रहेगा।

मुन्शी-साहित्य के अनेक पात्र गुजराती-साहित्य में चिर-स्मरणीय रहेंगे। वे पुतलियां मात्र नहीं हैं जो थोडी देर तमाशा दिखाकर तिरोहित हो जायें। वे तो एक महान् साहित्यकार के मानस की शाश्वत प्रतिमाएं हैं। हमारे भारत देश के इतिहास में राजाओं के अतिरिक्त अनेक कलाकारों के नाम गिनाये जा सकते हैं। बाल्मीकि और व्यास की कृतियां यावच्चन्द्रदिवाकरौ जीती रहेंगी। इसीलिये तो कहा गया है—कवि प्रजापतिं वन्दे—अर्थात् प्रजापति, प्रजापति नहीं है, कवि प्रजापति है; उसे मैं नमस्कार करता हूं। मुन्शीजी ने अनेक स्थलों पर गद्य में भी कविता प्रस्तुत की है। वे वस्तुतः प्रजापति से कम नहीं।

शाश्वत साहित्य प्रांतीय नहीं होता, देशीय और राष्ट्रीय भी नहीं होता; वह तो विश्व की थाती होता है। मुन्शीजी की अनेक रचनाएँ विभिन्न भाषाओं में अनूदित हुई हैं। वे प्रांतीय सीमाओं से बद्ध नहीं हैं, वैसे ही उनका साहित्य भी सार्वजनीन है। मुझे मुन्शीजी के निकट-सम्पर्क में आने और उनके मानस की सांस्कृतिक गहराइयों तक पैठने के अनेक अवसर मिले हैं। सदैव मैंने अनुभव किया है कि उन का जीवन रसमय है। वे सौंदर्य-बोध में

विश्वास करते हैं। इसी सौन्दर्य-बोध की अभिव्यक्ति-द्वारा वे महान् साहित्य-सृजन में समर्थ हुए हैं। जीवन के सब व्यापारों के बीच उनकी रसानुभूति कभी क्षीण नहीं होती।

मुन्शीजी ने अपने जीवन में जो कला-साधना की है उसकी पृष्ठभूमि में उनकी अनथक कार्य-शक्ति उभरती है। पंद्रह-सोलह घण्टे काम करने के पश्चात् भी वे प्रति दिन हँसते, ठिठोली करते और नये काम को उठाने के लिये उद्यत रहते हैं। यह क्रियाशीलता उस पीढ़ी के नवोत्थान की प्रतीक है जिसमें मुन्शीजी का जन्म हुआ।

मुन्शीजी-द्वारा स्थापित बम्बई का 'भारतीय विद्या-भवन' एक सांस्कृतिक और साहित्यिक अनुसन्धान-केन्द्र है। प्रायः ५० लाख की सम्पत्ति युक्त यह संस्था अनेक विद्यालयों-द्वारा स्वतन्त्र विद्या के विकास में भारत के इतिहास में एक नये अध्याय की सृष्टि कर रही है।

हिन्दी-जगत से मुन्शीजी का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे भारत की अखंडता के लिये हिन्दी को अनिवार्य मानते हैं। अतीत में जिस प्रकार संस्कृत ने भारत को एक बनाये रखा था, भविष्य में वही काम हिन्दी करेगी। हिन्दी हमारी स्वयंसिद्धा राष्ट्रभाषा है, यह मुन्शीजी की दृढ़ धारणा है।

सन् १९३५ में स्वर्गीय प्रेमचन्द के सहयोग से उन्होंने जब 'हंस' को अन्तर्प्रान्तीय साहित्य के अग्रदूत के रूप में बम्बई से प्रकाशित करना आरम्भ किया, तो सचमुच हिन्दी-साहित्य की गतिविधि में एक नई हलचल-सी मच गई थी, क्योंकि इससे पूर्व 'हंस' केवल कहानियों की पत्रिका थी।

मुन्शीजी बासठ वर्ष के हो चुके हैं, पर मैं तो वस्तुतः उन्हें चिरयुवा मानता हूँ। उनके लिये वर्षों का आवागमन अधिक कार्य का सन्देश लाता है; विश्राम का नहीं। अभी तो हमें उनसे बहुत-सी आशाएं हैं। उनकी छकाती हुई हँसी, उनके गूंजते हुए कहकहे, उनकी जागरूक आँखें, उनका गतिशील साहित्य-सृजन—यह सब आज भी मेरे सम्मुख है। इस कला-द्रष्टा और साहित्य-स्रष्टा को मेरा प्रणाम !

युग-चेतना की अभिव्यक्ति

धूर्जटीप्रसाद मुकर्जी

गंभीरतापूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी अपने व्यक्तित्व और सफलताओं में एक जाग्रत पुरुष हैं।

प्रत्येक जागृति-काल में एक ऐसा आदर्श पुरुष सामने आता है जिसके गुण और दोष उसे साधारण तथा अवनति-काल में प्रौढ़ हुये व्यक्तियों से बिल्कुल अलग कर देते हैं। साधारण व्यक्ति में अपने आसपास के पूर्ण जीवन द्वारा प्रभावित होने के बाह्य आनन्द के अतिरिक्त और कोई भी लक्षण दिखाई नहीं देते, आदर्श व्यक्ति उस जीवन में गम्भीरतापूर्वक भाग लेता है। वह अपने आपको उस जीवन के किसी भी रूप से पृथक नहीं रखना चाहता। अशेष या अभाव उसका आदर्श वाक्य है। उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उसके सारे ज्ञानतन्तु गतिशील रहते हैं। उसमें देवशक्ति प्रतीत होती है और उसका आवेश अमानवीय लगता है, क्योंकि वह पूर्णत: सजग होता है। दूसरी ओर वह व्यक्ति असमान, अस्थिर तथा पक्षपाती होता है। उसकी अपनी हलचलें ही उसे आराम करने का अवसर नहीं मिलने देतीं। जब महत्त्वपूर्ण बातों पर विचार किया जाता है, विचारों को एक पद्धति का रूप दिया जाता है और चिंतन द्वारा आत्मा को शान्ति मिलती है। वह सदैव अन्वेषण में ही लगा रहता है। उसका यह कार्य कभी समाप्त नहीं होता। निरन्तर कठोर परिस्थितियों में से गुजरने के कारण, वह विश्रामप्रिय नहीं होता। जीवन उसके लिये कठोर रहा है, इसलिये वह कभी कोमल नहीं हो सकता। उसके लिये परिपक्वता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, क्योंकि जीवन ही उसका आदि, मध्य और अन्त बन जाता है। वह निरन्तर रसधारा बहाने के लिये समय नहीं निकाल सकता, क्योंकि वह चिनगारियां फैलाने में ही व्यस्त रहता है। उसका धनुष सदैव हाथ में ही रहता है।

इस प्रकार यह सत्य है कि एबेलार्ड अपनी विद्वत्ता से कभी संतुष्ट नहीं होगा, वह सदैव प्रेम का भूखा ही रहेगा; लयोनार्डो 'मास्ट सपर' द्वारा थकेगा नहीं, बल्कि वह इंजीनियर, शिल्पकार, मूर्तिकार, वंशी बजानेवाला, तथा नये प्रयोग करनेवाला बनेगा और फिर भी उस यौवन के स्वप्न देखता रहेगा जिसको उसने प्यार किया था और उसे

'जियोकोंडा' की दुखी प्रतिमा का रूप देगा; ईसाबेल डी'एस्टे, एरिटिनो, इरासमस विश्व को अपनी वस्तु तथा स्वयं को अनन्तज्ञानी समझेंगे; राममोहन तथा राणाडे कोलीसम की भांति पूर्व और पश्चिम दोनों में पग धरेंगे, रवीन्द्रनाथ ठाकुर उपन्यासकार, कहानियां एवं नाटक लिखेंगे, विश्व-भारती की स्थापना करेंगे, राजनीति में भाग लेंगे, उपनिषदों की व्याख्या करेंगे, सहयोग-समितियों का प्रसार करेंगे, समुद्री जहाज़ों का व्यवसाय करेंगे और पटसन तथा बीमा के धन्धों में भी समान रुचि से भाग लेंगे।

मुन्शीजी जागृति-काल के व्यक्ति की उसी महान् परम्परा को छूते हैं। उनके साहित्यिक कार्य, उनकी राजनैतिक हलचलें, एक शासक, शिक्षा-विशेषज्ञ एवं पत्रकार के रूप में तथा कला रूपों, नृत्य-प्रदर्शनों और नाटकों के संगठनकर्त्ता के रूप में उनकी प्रतिभाशालिता तक ही उनकी रुचियों का अन्त नहीं हो जाता, उनमें और भी अनेकों विशेषतायें हैं। उनकी शक्ति प्रचुरता से फूट पड़ती है। वे भारत के निर्माण में पूरी शक्ति से लगे हुये हैं।

इस प्रकार के जागृति-काल में अनेक विरोधी बातें सुगमता से हल हो जाती हैं। उनमें से कुछ तो क्रिया से नष्ट हो जाती है और कुछ को वास्तविकता लुप्त कर देती है। तो भी कुछ बातें रह जाती हैं और वे ऐसी होती हैं जिनका जन्म दोयुगीय प्रवृत्तियों के द्वन्द्व से होता है। उदगामी प्रतिभा का श्रेय प्लेटो को और ईसाई आध्यात्मवाद का श्रेय अरस्तू को मिलना चाहिये। यहां पर उपनिषदों की व्याख्या का श्रेय सुधारवादी के उत्कट उत्साह को दिया जाना चाहिये। एक पहाड़ी पुल पर या एक गतिशील वायुयान में संतुलन बनाये रखना कोई सुगम कार्य नहीं है। अनेकों पीछे गिरते रहे हैं और अनेकों ही धक्के से आगे की ओर बढ़ते रहे हैं। जो फिर भी खड़े रह सकते हैं, वे अपनी निजी शक्ति और उत्साह के आधार पर ही ऐसा कर सकते हैं। भारत में भगवदगीता प्रत्येक के लिये सुलभ है। यह जागृति-काल का दर्शनशास्त्र है। गांधी, तिलक और मुन्शी को इसी ग्रन्थ से प्रेरणा मिली। जिन्हें इसका ज्ञान नहीं है वे प्रजातन्त्रीय समाजवाद से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। जवाहरलाल गीता नहीं पढ़ते, फिर भी वह अपने आपको जीवन के इसी स्तर पर मिलायेंगे। पर जागृति-काल के पुरुष में परम्परा से उपस्थित अवशेष द्वन्द्व धरातल पर बहुत कम दिखाई देता है। वह सामान्यतः प्रवाह में ही खोया हुआ रहता है। जल की गहराई में नीचे तल से आलिंगन करती हुई सीप के पर्त में भीतर छिपे हुये कण की भांति वह व्यक्ति मोती बनाता रहता है, पर बहुमूल्य मोती कभी भी शुद्ध नहीं होते। मुन्शीजी ने महात्माजी का अनुसरण किया है और उनका उल्लंघन भी किया है। महात्माजी सदैव उन्हें प्यार करते रहे।

यह प्रायः पूर्ण संश्लेषण, श्रद्धा और ज्ञान के धरातलों पर प्रकट होता है। जब अध्यात्म-ज्ञान द्वारा श्रद्धा के पतले-पतले भाग कर दिये जाते हैं तो जागृत-प्रवृत्ति मनुष्य में तथा उसके भविष्य में विश्वास द्वारा उसका संकलन करती है। यदि विशिष्ट धर्मों द्वारा ज्ञान के अनेक टुकड़े कर दिये जाते हैं तो जाग्रत व्यक्ति उन्हें ज्ञान की इकाई द्वारा एकत्र करता है। जीवन के प्रकरण में मनुष्य और ज्ञान द्वारा संस्कृति का निर्माण होता है। मुन्शीजी सुसंस्कृत व्यक्ति हैं। क्या वे एक महान् पंडित हैं? नहीं। तो भी उनका पांडित्य

उनकी संस्कृति, महत्वों के प्रति उनका ज्ञान, समग्र के प्रति उनके बोध-द्वारा प्रमाणित है। क्या वे एक पूर्ण व्यक्ति हैं? नहीं। तो भी उनकी अपूर्णताओं को अपना आश्रय संश्लेषण के प्रति उनके अन्वेषण से मिलता है। क्या वे संस्कृति के समस्त रूपों के पूर्ण ज्ञाता हैं? नहीं। परन्तु वे संस्कृति को सबसे अधिक महत्व देते हैं। क्या वे एक शुद्ध ब्राह्मणीय जीवन व्यतीत करने के अर्थ में एक शुद्ध भारतीय हैं? नहीं। तो भी उनके विचार से भारत का चरम लक्ष्य भारतीय संस्कृति की प्राप्ति होना चाहिये। जो उन्हें जानता है, वह इससे आश्चर्यान्वित नहीं होगा। सामान्य रूप से मुन्शीजी एक सुसंस्कृत व्यक्ति की भांति जीवन व्यतीत करते हैं, विचार करते हैं और कार्य करते हैं।

ज्योतिर्धर

बलवन्त भट्ट

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी आधुनिक भारत के महान् विचारकों और सृजन्-शील कलाकारों में से हैं जो वर्त्तमान जड़ता के विरुद्ध अविराम युद्ध कर रहे हैं। उनके विचार जीवन के असत्य-दर्शन के विरुद्ध, जिसने हमें अपनी भारतीय परम्परा से दूर भटका दिया है, आदर्श प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिये उनकी कृतियां अपने प्रकार की एक ही हैं। वे हम को आध्यात्मिक स्थिरता से ऊँचा उठाते हैं जिसमें हम दीर्घकाल से डूबे हुये हैं, और पाश्चात्य देशों के निष्फल अविश्वास तथा आनन्दवाद से, जिसको वे पाश्चात्यवाद के नाम से पुकारते हैं, आर्य संस्कृति के महान् तथा स्थायी महत्वों के प्रति हमारी श्रद्धा बढ़ाते हैं।

आर्य संस्कृति की आधारभूत बातों को पुनः हमारे सम्मुख लाने के लिये मुन्शीजी द्वारा किये गये अथक प्रयत्न हमारे संस्कृति के इतिहास के लिये महान् देन हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि जीवन की सृजनशील कला के बिना, जिसको भारत ने अतीत में चरम कोटि तक पहुँचा दिया था, हम देश को पुनरुत्थान के पथ पर अग्रसर नहीं कर सकते। उनके लिये भारतीय संस्कृति केवल एक सभ्यता, एक धार्मिक या सामाजिक पद्धति और एक दर्शनमात्र ही नहीं है। वे इसको अनादि काल से प्रवाहित होनेवाले केन्द्रीय विचार के आन्दोलन के रूप में देखते हैं, जो विदेशी प्रभावों को अपने में लीन करता रहा और कभी-कभी अदृश्य होकर बहता रहा, पर यह व्यक्तियों और आन्दोलनों को सदैव इस बात के लिये प्रोत्साहित करता रहा कि वे उसको अपने समय की परिवर्त्तित परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यक्त करें। वे कहते हैं—"प्रत्येक काल में इस केन्द्रीय विचार ने हमारे महान् पुरुषों के जीवन में, हमारी कला और साहित्य के सृजन में हमारी आवश्यक समस्याओं के हल में स्वयं अपने को व्यक्त किया है। यह केन्द्रीय विचार एक जीवित तथ्य है। लोगों ने इसके अनुसार जीवन व्यतीत करके अति आनन्द प्राप्त किया है। इसे प्रत्येक काल के नये आवरणों में से होकर गुज़रना पड़ा है। हमारे आधुनिक विद्वानों ने इन्हीं आवरणों एवं जीर्ण कवचों को अन्वेषण का विषय बनाया है। पर गतिशील यथार्थता प्रत्येक युग में महापुरुषों को उछालती हुई और आन्दोलनों की पुनरावृत्ति

करती हुई एक आवरण के पश्चात् दूसरे आवरण में होकर गुज़रती रही है। इस यथार्थता का अध्ययन समय-समय पर आनेवाली शक्तियों, आन्दोलनों, लक्ष्यों तथा विचारों में करना चाहिये। आनेवाली प्रत्येक सन्तान को इसकी पुनः खोज करनी चाहिये और उसे जीवन में स्थान देना चाहिये।"

यद्यपि मुन्शीजी पर पाश्चात्य संस्कृति का बड़ा प्रभाव पड़ा है, पर वास्तविक रूप में वे मौलिक आर्य हैं। उन्होंने यूरोपीय साहित्य, यूनानी फ्रांसीसी तथा अंग्रेज़ी साहित्य के स्रोत में से गहरे घूँट भरे हैं। पर उनके रचनात्मक स्वप्न का पोषण वेद, महाभारत तथा आर्यावर्त के प्राचीन इतिहास द्वारा हुआ है। योगसूत्र और गीता का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उनकी सारी कृतियों में उनकी शिक्षाओं की एक अदृश्य धारा बहती है। महाभारत के विषय में वे कहते हैं—"महाभारत एक महाकाव्यमात्र नहीं है। यह भारतीय संस्कृति के रूप की रचना करने में सब से बड़ा रचनात्मक तत्व है। इसके नायक और नायिकायें शताब्दियों से जनता की कल्पना में जीवित हैं। इसके सम्पर्क से लोगों के दृष्टिकोण का निर्माण हुआ है। इसकी लोकोक्तियां और अलंकार सभी भारतीय भाषाओं में प्रवेश कर गये हैं। इसमें जीवन की प्रत्येक अवस्था और कार्यक्षेत्र पर प्रकाश डाला गया है। इसके प्रसंग, इसकी स्थितियां, आदर्श और विवेक वास्तविक जीवन से इतने अधिक मिलते-जुलते हैं कि परिवर्त्तन उनकी सुन्दरता और योग्यता पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। प्रत्येक कला, साहित्य एवं विचार को तथा प्रत्येक पीढ़ी में उपस्थित विश्वास को इनसे बड़ी प्रेरणा मिली है।"

मुन्शीजी के अनुसार आधुनिक कही जानेवाली शिक्षा ने मस्तिष्क की चेतना शक्ति को क्षीण कर दिया है, विचारों की मौलिकता को नष्ट कर दिया है और पश्चिम का बौद्धिक दास बना दिया है। हमारी अधिकांश बौद्धिक बुराइयों को दूर करने का केवल एक ही उपाय है कि हमारी शिक्षा-पद्धति का पुनः संगठन किया जाय। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भांति वे भी विदेशी भाषाओं के अध्ययन के विरोधी नहीं हैं। वे शिक्षा-पद्धति के ढाँचे का आधार यथा-सम्भव भारतीय संस्कृति के आवश्यक तत्त्वों पर रखना चाहते हैं। उन्होंने हमें बताया है कि विश्व-संस्कृति के प्रसंग में भारतीय संस्कृति की क्या स्थिति है। वे कहते हैं—"भारतीय संस्कृति पाश्चात्यवाद के लिये एक चुनौती है। यह तीन आधारभूत और अविच्छेद्य अवस्थाओं को महत्व देती है। प्रथम, प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव या व्यक्तिगत प्रकृति पृथक् होती है, द्वितीय वह केवल स्वधर्म के आधार पर ही आत्मसिद्धि प्राप्त कर सकता है, तृतीय, उसके लिये आत्म-सिद्धि का अर्थ इस स्वधर्म की प्रेरक शक्ति के अन्तर्गत अपनी आन्तरिक शक्ति या सामर्थ्य को आत्म-अनुशासन के मार्ग के साथ सम्बद्ध करना और फिर उसके द्वारा अपनी सारी शक्तियों का, जिनको हम व्यक्तित्व के नाम से पुकारते हैं योग करना।"

इस प्रकार वे बताते हैं कि मानवीय व्यक्तित्व का परम योग क्या है—"वह व्यक्ति परम कहा जाता है जिसने अपनी व्यक्तिगत प्रकृति या स्वभाव की सारी सीमाओं को लुप्त करके एक शक्तिमान व्यक्तित्व का विकास किया हो। इस प्रकार विकसित किये गये व्यक्तित्व में दैवी शक्ति आ जाती है और वह अनन्त सिद्धि की शक्ति का एक प्रभावशाली साधक बन जाता है।"

मुन्शीजी न विज्ञान का विरोध करते हैं, न आदिमकालीन समाज की ओर पुनः लौटने की बात सुनना चाहते हैं, और न वे पुनरुज्जीवन का ही समर्थन करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक पीढ़ी को संस्कृति की मौलिक बातों को नये रूप में ग्रहण करना चाहिये। आधुनिक विज्ञानों की विशद् कलात्मक प्रगति को अपने जीवन में कार्यान्वित करना चाहिये। जैसा कि मुन्शीजी ने एक स्थल पर लिखा है—"शिक्षा यदि आत्म-चित्रण की सृजनशील कला है तो यह सामाजिक सुधार एवं व्यवस्था का साधन भी है। इसीलिये शिक्षित व्यक्तियों को अपने काल की समस्याओं को सुलझाने के लिये आधुनिकतम शिक्षा दी जानी चाहिये। उन्हें अपने ही काल में अपना जीवन बिताना है और सर्वोत्तम प्राप्य साधनों की सहायता से अपने देश तथा विश्व की सेवा करनी है। सृजनशील कला के रूप में शिक्षा मनुष्य को पूर्ण बनाती है। पर सिद्ध पुरुष को भी अपने वातावरण के साथ सम्बन्ध रखना पड़ता है। इस प्रकार वे भी भौतिक साधनों से सम्बन्धित विषयों में अन्य लोगों से पीछे नहीं रह सकते।"

आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता क्या है, इस सम्बन्ध में सूक्ष्म निरीक्षण करने से ज्ञात होगा कि यह एक संगठित हिंसा तथा पशुता है, और शक्ति और धन के मद में उन्मत्त एक जाति है, जिसने मानवीय प्रवृत्ति को पूर्णतः दास बना लिया है। मुन्शीजी के अनुसार मानवीय व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर विकास ही वास्तविक प्रगति है। वे परिवर्तन चाहते हैं; रूपान्तर नहीं। इसीलिये वे परिवर्तन और परम्परा के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते हुये कहते हैं—"प्रथम, परिवर्तन की भावना के लिये किसी भी प्राचीन रूप या भाव का बलिदान नहीं किया जाना चाहिये; द्वितीय, किसी भी ऐसे रूप या भाव को नहीं रहने देना चाहिये जिसके स्थान पर कोई ऐसा रूप या भाव लाया जा सकता है जो पूर्व रूप की अपेक्षा संस्कृति की प्रवृत्ति की अधिक सच्ची और प्रभावशाली अभिव्यक्ति हो।" प्राचीन संसार का अवश्य ही परिवर्तन होना चाहिये, पर नये संसार को भी तो ऐसा नहीं होना चाहिये कि वह हमारी संस्कृति को व्यक्त न कर सके।"

हम चौराहे पर खड़े हैं, या तो अपने स्वप्न को पुनः प्राप्त कर लेंगे या उसके अभाव में नष्ट हो जायेंगे। हमें सदैव भारतीय संस्कृति का जीवित विचार अपने हृदय में रखना चाहिये। हमारी आत्मा के साथ इस विचार का सम्पर्क होना चाहिये और हमारे साहित्य, कला तथा राजनीति पर भी उसकी छाप होनी चाहिये। बिना सांस्कृतिक सम्पर्क के सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक कार्यक्रम असफल ही रहते हैं।

वे अपने सन्देश की दार्शनिक व्याख्या से ही संतुष्ट नहीं हैं, उन्होंने पातंजलि और श्रीकृष्ण की शिक्षा का अध्ययन किया है, और उनके द्वारा बताई गई क्रिया की ओर निर्देश करते हैं जिसके द्वारा यह परम योग, संसिद्धि या आत्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किस प्रकार मनुष्य परम योग की अवस्था तक पहुँच सकता है, इसके लिये वे कहते हैं—

"१. जब एक व्यक्ति अपने आन्तरिक सत्य को प्राप्त करने के लिये अपनी सारी शक्तियों को केन्द्रीभूत करता है।"

जब वह स्वयं को अपने स्वाभाविक सत्य के आधारों के साथ व्यक्त करने के लिये

अपने मन वचन कर्म को एक रूप कर देता है।

"जब वह वचन, कर्म या मौन द्वारा अपने स्वाभाविक सत्य को परिणामों की परवाह न करता हुआ निर्भय होकर और प्राणों तक की बाज़ी लगाकर व्यक्त करने के लिये अपने आपको योग्य बनाता है।

"वह अपनी शक्तियों की संचालक इकाई प्राप्त कर लेता है और योग की अवस्था में पहुँच जाता है।

"२. इस इकाई को प्राप्त करने के पश्चात जब वह अपने प्रत्येक कर्म को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है।

"जब वह फलों को प्राप्त करने की कामना का परित्याग कर देता है, और न वह विजय की इच्छा करता है तथा न वह पराजय से डरता है।

"जब वह परमात्मा को संकल्प की हुई बलि के रूप अपने मन, बचन, कर्म तथा प्रवृत्ति तक का बलिदान कर देता है।

"जब वह निरन्तर आत्म-अनुशासन द्वारा काम, क्रोध, लोभ तथा भय पर विजय प्राप्त कर लेता है।

"जब वह जीवन में प्रकृति की शक्ति के रूप में अविराम गति से कार्य करता है।

"जब वह ऐसा करने में अपने आपको परमात्मा के हाथों में अर्पण कर देता है और स्वयं उसके एक साधक के रूप में जीवन व्यतीत करता है।

"जब वह परमात्मा को प्रत्येक वस्तु में और प्रत्येक वस्तु को परमात्मा में देखता है।

"वह जीवन का एक महान् कलाकार बन जाता है।"

यह बाह्य शक्तियों को वश में करने तथा उन पर विजय प्राप्त करने का सन्देश है। यह आध्यात्मिक प्रणाली नहीं है। यह निरन्तर आत्म-अनुशासन के लिए किये जाने वाले उसके प्रयत्नों से उत्पन्न एक ज्ञान है, जिसकी एक झलक उसे अपने कार्यों से मिलती है।

मुन्शीजी की शिक्षायें और उनका जीवन उसी प्रगतिशील संचालक इकाई के रूप हैं जिसको वे जीवन की घटनाओं के साथ लागू की गई यौगिक विधियों के अभ्यास द्वारा जीवन में पाने का यत्न कर रहे हैं। पर वे अपनी न्यूनताओं को पूर्णतः अनुभव करते है। वे जानते हैं कि वे अभी तक सिद्धि के निचले शिखरों तक भी नहीं पहुँच पाये हैं। उनकी भाँति कोई भी अपनी न्यूनताओं के सम्बन्ध में इतना सतर्क नहीं रहा और न किसी लेखक ने अपनी कृतियों में इतनी स्पष्टता से व्यक्त किया है।

पर सिद्धि का स्वप्न मुन्शीजी की आँखों के सम्मुख सन् १९३० से घूमता आ रहा है और उनके जीवन के रूप का निर्माण करता रहा है। वे कठोर, निपुण, सक्रिय वकील एवं राजनीतिज्ञ एक रहस्यवादी व्यक्ति हैं। वे श्री अरविन्द और महात्मा गान्धी को उनकी सफलताओं के कारण नहीं, बल्कि उनके द्वारा अपने आपको परमात्मा के हाथों में अर्पण कर देने के कारण सिद्ध पुरुष समझते हैं।

यही बातें हैं जो उन्हें इतना प्रसन्न रखती हैं। वे प्रशंसा और दोषारोपण दोनों को

उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। जो उलझनें हम सब को कष्ट पहुंचाती हैं, उनकी वे परवाह भी नहीं करते। पचीस वर्ष पूर्व उन्होंने जीवन के आनन्द को आधुनिक जीवन का प्रबल स्वर बनाया था। स्वस्थ और अस्वस्थ अवस्था में, जनप्रियता और सामाजिक अप्रियता की दशा में, सत्ताधारी के रूप में और सत्ता अस्वीकार करने के समय सदैव प्रसन्न रहे हैं।

इस प्रकार वे नैतिक कारणभूत विधान की रचना करते हैं जिसका अनुसरण किये बिना संचालक इकाई निष्फल संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

अतः वे कहते हैं—"शक्ति, सफलता, वैभव, बल और जीवन का सत्य रूप, जब पूर्ण और स्थायी रूप में प्राप्त हो जाते हैं, तो उनके मिलने से सिद्ध पुरुष का निर्माण होता है।

"उन्हें केवल उस अमर महान् सिद्धान्त के अनुसार, जो सभी प्राणियों में समस्त युगों और परिस्थितियों में मस्तिष्क और आचरण के मध्य सम्बन्धों की व्यवस्था करता है, प्राप्त किया जाता है।

"यह विधान नीचे लिखी विधि के अनुसार कार्य करता है—

"स्थायी शक्ति केवल उसी को प्राप्त होती है जो सदैव अपने प्रति अर्थात मन, वचन, कर्म से सच्चा रहता है।

"स्थायी वैभव केवल उसी को प्राप्त होता है जो पूर्णतः सच्चा होता है।

"स्थायी बल केवल उसी को प्राप्त होता है जो अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को व्यर्थ में नष्ट नहीं होने देता।

"जीवन का सच्चा रूप केवल उसी को प्राप्त होता है जिसने अपनी सारी सम्पत्ति का त्याग कर दिया हो।

"सामान्य धारणा यह है कि हिंसा से शक्ति प्राप्त होती है, मानसिक शक्तियों की सहायता से सफलता प्राप्त होती है, कपट से धन प्राप्त होता है, भोग से जनन-शक्ति पैदा होती है, और सम्पत्ति से ही जीवन का वास्तविक सुख होता है। यह धारणा मिथ्या तथा आत्म-घातक है। सिद्धान्तों के अनुसार इन सर्व-स्वीकृत साधनों के बलिदान से ही वास्तव में उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकती है।

"सिद्धि की भ्रान्तिमूलक धारणा का जन्म मनुष्य की तीन आधारभूत सीमाओं से होता है जो मोह, भय और घृणा हैं।

"जब इन सीमाओं को पार कर लिया जाता है तो सारे कष्ट और दुर्बलताएँ लुप्त हो जाती हैं, और साधक का व्यक्तित्व पूर्णतः स्थिर बन जाता है। तब सिद्धि प्राप्त हो जाती है।"

यह नैतिक कारणभूत विधान ज्ञान का परिणाम है जो मुन्शीजी को योग और मानवीय प्रकृति के अध्ययन से प्राप्त हुआ है।

योग-शिक्षा में दिये हुए इस सिद्धान्त के स्वरूप का वर्णन करते हुए मुन्शीजी ने नीति-व्यवस्था के लिए एक दृढ़ वैज्ञानिक आधार उपस्थित किया है। यह सिद्धान्त उतना ही

प्राचीन है जितने कि उपनिषद्, इसको हमारे सम्मुख एक ग्राह्य रूप में फिर से उपस्थित किया गया है।

मुन्शीजी ने महापुरुषों के जीवन का सूक्ष्मता-पूर्वक अध्ययन किया है और इस प्रकार उन्होंने उस क्रिया को बताया है जिसके द्वारा उन सभी महापुरुषों ने आत्मसिद्धि प्राप्त की। इस क्रिया की कलाएँ निम्नलिखित हैं—प्रथम, जीवन-शक्ति को एक सक्रिय विचार के अन्तर्गत लाकर फैलने से रोकने में; द्वितीय, लोभ, काम, भय और घृणा को जीतकर और ऐसी पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त करके, जहां दुःख का ज्ञान ही न हो, व्यक्तित्व को स्थिर बनाने में; तृतीय, व्यक्तित्व की पूर्णता में जो विश्व-जीवन की लय में चलती है, लीन करने में।

यही जीवन की कला है। भारतीय संस्कृति इसी का प्रतिनिधित्व करती है और मुन्शीजी ने अपने उपन्यासों, नाटकों, निबन्धों तथा भाषणों एवं गम्भीर साहित्यिक कार्यों द्वारा इसी का उपदेश दिया है—

"यह कला जिसका इन महापुरुषों ने अनुसरण किया और इसके द्वारा प्रतिपादित जीवन का मार्ग सनातन है, क्योंकि यह किसी व्यक्ति तथा युग-विशेष तक ही सीमित नहीं, बल्कि आदि तथा अनिवार्य है। इसके लिये सभी जातियां और देश समान हैं। यह मानवीय प्रकृति कुछ आधारभूत बातों पर आश्रित है। यही धर्म है, क्योंकि व्यक्ति तथा समाज दोनों का सम्पूर्ण अस्तित्व इसी पर आधारित है।

"यह आर्य संस्कृति है।

"प्रथम, इसलिए कि आर्यों ने इसका पता लगाया, इसको एक रूप और एक अर्थ दिया, और अमरशक्ति के एक सन्देश के रूप में इसको छोड़ गये।

"द्वितीय, इसलिए कि सर्वप्रथम आर्यावर्त्त में ही इसे प्रयोग में लाया गया और पूर्ण रूप दिया गया।

"यह भारतीय संस्कृति है क्योंकि भारतवर्ष आर्यावर्त्त है जहां इसका जन्म और विकास हुआ, और जहां इसे सुरक्षित रखा गया। यहीं इसके जीवन तथा सामाजिक हलचलों को रूप दिया गया है। यहीं उन महान् पुरुषों ने उसी के अनुसार जीवन बिताया है और उसी के प्रकाश में सामूहिक इच्छा को ढालकर उसे व्यक्त किया और इस प्रकार सर्वोत्तम आत्मसिद्धि प्राप्त की।

"कला, जिसको इन महापुरुषों ने उत्पन्न किया, भारतीय इस अर्थ में है कि उन सभी महापुरुषों ने भारतवर्ष में जन्म लिया, आर्य संस्कृति की आधारभूत बातों से उन्हें प्रेरणा मिली और वे समकालीन भारत की संस्कृति और जीवन को गढ़नेवाले शिल्पकार थे। यह भारतीय है, क्योंकि बिना इसको व्यक्त किये भारत के भविष्य का निर्माण हो ही नहीं सकता। पर अन्य जो-कोई भी इसे सीखना चाहते हैं उनके लिये इस कला का द्वार खुला हुआ है।"

मुन्शीजी अपनी कला में आदि से अन्त तक नये युग के भविष्यवक्ता रहे हैं। कविता के अतिरिक्त, यद्यपि उनके जीवन ने गीत का सौन्दर्य और लय प्राप्त कर लिये थे,

उन्होंने गद्य के किसी क्षेत्र को अछूता नहीं रखा। लगभग पचपन कृतियों में उन्होंने शक्ति और सौन्दर्य की उपासना की है। उन्होंने साहसपूर्वक लौकिक कला को चुनौती दी और 'संडे स्कूल' की नैतिकता, मिथ्याडम्बर और सभी प्रकार के पाखंडों के विरुद्ध जो वास्तव में नैतिक कायरता है, विद्रोह को जन्म दिया। उनकी सारी कृतियों से मूर्तिमन्तता की ध्वनि निकलती है। उनकी प्रकृतियां वास्तव में आकर्षक हैं और भारतीय संस्कृति की प्रवृत्ति तथा स्वप्नों का सजीव रूप है। उनके उपन्यास या इतिहास किसी को भी उठाकर देखिये, उनमें प्राचीन आर्यावर्त्त का स्वप्न सजीव और जागृत रूप में उपस्थित है। वह स्वप्न भूतकाल का नहीं बल्कि वर्तमान का है जो भविष्य में और भी विकसित होता चला जायगा।

मुन्शीजी ने अमर सौन्दर्य और रुचिपूर्ण कृतियों की रचना की है, पर वे अपनी कृतियों की अपेक्षा कहीं अधिक महान् हैं। उन्होंने 'करने की अपेक्षा होना अधिक महान् है' की बार-बार प्रशंसा की है। वे हममें से उन लोगों के लिये, जो उनसे निकट से परिचित हैं, अपनी सर्वोच्च सफलताओं की अपेक्षा कहीं अधिक महान् हैं। वे उन महान् ब्राह्मणों की दीर्घ परम्परा में से हैं जिन्होंने अनन्त काल से संस्कृति और ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिये निरन्तर परिश्रम करते हुये पुरोहित-पद का निर्माण किया। तरुण, गम्भीर, निर्भय और मर्मज्ञ मुन्शीजी भारतीय विद्या की आत्मा के स्वरूप हैं।

'मुन्शीजी ६२ वर्ष के हैं' इस पर विश्वास नहीं होता। उनके प्रभावशाली विचार सभी रूढ़िगत तथा सुधार-विरोधी शक्तियों के विरुद्ध क्रान्ति के द्योतक हैं और जीवन के उत्तमतर रूपों को बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। उन्होंने स्वयं भारतीय संस्कृति का गम्भीर अध्ययन किया है और वे उसी की भांति सदैव सजीव और लोचयुक्त बने रहेंगे। मनुष्यता, सहानुभूति, कोमलता, और अपने सम्पन्न तथा स्पष्ट व्यक्तित्व का ज्ञान उनके प्रेम और आनन्द को और भी जगमगा देते हैं। जो लोग उनके निकट आये हैं उन सबके लिये वे साहित्यिक और सांस्कृतिक मामलों में एक शक्ति, एक आदर्श विचार, एक प्रेरणा और एक निधि के रूप में रहे हैं। 'भारतीय विद्या भवन' जो सांस्कृतिक सुधार का प्रचार करता है, कदाचित मुन्शीजी की सर्वश्रेष्ठ सफलता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शान्ति-निकेतन, मालवीयजी का हिन्दू विश्वविद्यालय और मुन्शीजी का भारतीय विद्या-भवन समान आदर्शों के लिये, एक नई भारतीय संस्कृति के विकास के लिये और आधुनिक बौद्धिक उमंगों तथा प्राचीन ज्ञान का संयोग करने के लिये कार्य कर रहे हैं।

वे पुनर्सङ्कलन की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

"सांस्कृतिक पुनर्सङ्कलन की क्रिया पोषण की क्रिया की भांति है जो दिन-प्रतिदिन सजीव तन्तुओं को पुनः उत्पन्न करती है। संस्कृति का विद्यार्थी प्रथम इसका अध्ययन करता है और ग्रहण-केन्द्र बन जाता है। यदि संस्कृति विदेशी नहीं है तो इसके पश्चात् वह उसके सर्वोत्तम तत्वों का शोषण करता है। इस प्रकार वह अपने प्रति अपने देश तथा अपनी संस्कृति के प्रति सच्चा बन जाता है। इसके पश्चात् वह अपने युग की परिस्थितियों के अन्तर्गत, उनके अनुसार

जीवन बिताने का प्रयत्न करता है। जैसे ही वह ऐसा करता है, वह अनुरूपण का सक्रिय केन्द्र बन जाता है। वह अपनी संस्कृति के स्थायी महत्वों को प्रकाशमान कर देता है, अपने आसपास के वातावरण को प्रभावित करता है, और विदेशी प्रभावों के साथ सम्पर्क स्थापित करके स्वस्थ जागृति उत्पन्न करता है।

"इस प्रकार उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली बन जाता है, और संस्कृति उस विद्यार्थी के व्यक्तिगत स्वभाव की कुठाली में होकर गुज़रने से अपनी प्राचीन शक्ति के कारण दृढ़ तथा शक्तिशाली और नये जीवन के कारण नवीन सजीव रूप धारण कर लेती है। इसी को पुनर्संकलन कहते हैं।"

दो महिलाओं के उद्धरण के बिना, जिन्होंने मुन्शीजी के व्यक्तित्व, बौद्धिक तथा सृजनशील जीवन को अत्यन्त प्रभावित किया है, कोई अभिनन्दन पूर्ण नहीं माना जा सकता। ये दो महिलाएँ हैं उनकी श्रद्धामयी माता तथा उनकी पत्नी। मुन्शीजी ने अपनी आत्म-कथा में अपनी माता जीजीमां के विषय में स्पष्ट रूप से लिखा है कि उन्होंने ही अपने एकमात्र पुत्र के स्वप्नों तथा गुणों का पोषण और पालन किया। वे उनके लिये, तथा उन सबके के लिये जो उनके पास आते थे, एक आश्चर्यजनक आत्मा, एक मित्र, दार्शनिक तथा पथप्रदर्शक थीं। मुन्शीजी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कुछ रूपों का—जैसे रूढ़िवादी के लिये उनकी चुनौती, साहस, सहनशीलता, कर्त्तव्यनिष्ठा और सबसे बढ़कर आर्य संस्कृति के प्रति उनका प्रेम-निर्माण उनकी माता जीजीमां द्वारा किया गया।

'शिशु अने सखी' मुन्शीजी की सबसे सुन्दर कृतियों में से एक है जो आत्म-कथा में एक अद्वितीय प्रयोग है। यह एक गद्य-काव्य है, जिसकी ध्वनि की लय और शब्दों का जादू मिलकर महान् प्रेम और सौन्दर्य की गाथा रचते हैं। मुन्शीजी ने इस सुपरिचित विषय को अत्यन्त सच्चाई और सुन्दरता से निभाया है। श्रीमती लीलावती ने, जिनमें उन्होंने युगल आत्मा को पाया, उनके मस्तिष्क, कला, और जीवन को प्रचुरता से प्रभावित किया है। मुन्शीजी लिखते हैं कि उन दोनों में एक अविभक्त आत्मा का निवास है, उसी के कारण उन्होंने कला की कुछ अति सुन्दर कृतियों की रचना की है। 'शिशु अने सखी' एक साहित्यिक ताजमहल है, जो मुन्शी-परिवार का अति मूल्यवान्, बोलता-सा, रंगीन तथा महान् मूर्तिमान् रूप है। मुन्शीजी ने इसका वर्णन अत्यन्त भावुक शब्दों में इस प्रकार किया है—"यदि हमारा दुःखद अन्त हो गया होता और विवाह द्वारा एक सूत्र में न बांधे गये होते तो कवियों ने उनके सम्बन्ध में कविता लिखी होती। पर एक भद्दे प्रकार से रचे गये नाटक के अन्त के सदृश यह आनन्ददायक अन्त भी अचानक ही हुआ।" और लेखकों के लिये जो कविता की सामग्री होता, वह आज जीवन में कविता और पारस्परिक प्रशंसा, प्रेम तथा आत्मसमर्पण की एक ज्योति, और सौन्दर्य की एक वस्तु बन गया है—"मैं अपने अस्थि, मांस, चर्म, तथा आत्मा को तुम्हारे अस्थि, मांस, चर्म तथा आत्मा से बांधता हूं।" मुन्शी-दम्पति के सम्बन्ध में गृह्यसूत्र एक सूत्रमात्र ही नहीं है, बल्कि एक जीवित और वास्तविक तथ्य है तथा सक्रिय दाम्पत्य जीवन के इस अद्वितीय अनुभव और क्रियात्मक साझेदारी से उन्होंने आधुनिक

संसार को उसके घरेलू सदाचार के साथ-साथ आशा का एक नया संदेश दिया है।

"मैं ब्रह्मचर्य के इस रूप की प्रशंसा नहीं कर सकता। यदि पुरुष तथा स्त्रियों को सृजनशील शक्ति के विकास द्वारा ही पूर्णता या सिद्धि की ओर बढ़ना है तो पुरुष तथा स्त्री के लिये अलग-अलग रहकर इन्द्रिय-दमन करना उचित नहीं कहा जा सकता। भूतकाल में मनुष्य तथा स्त्री ने अपनी-अपनी व्यक्तिगत पूर्णता को प्राप्त किया था। भविष्य में विवाह का अर्थ अविभाजित पूर्णता या पूर्ण सिद्धि की चोटियों तक पहुँचने के लिये एक सामान्य प्रयत्न होना चाहिये।

"पाराशर गृह्यसूत्र ने, जब उसने पति और पत्नी की पूर्ण एकता का समर्थन किया है तो इस इकाई का कोई खण्डन नहीं किया। यदि दान्ते अपनी इन्द्रियों का दमन कर सकता है और यदि मीरा अपना सारा जीवन ईश्वर की आराधना में बिता सकती है तो फिर कोई कारण नहीं कि पुरुष और स्त्री, जब वे एक दूसरे के साथ प्रेम करने लगते हैं, तो शरीरों को प्रोत्साहित करनेवाली एक अविभक्त आत्मा की ओर एकाग्रचित्त होकर सम्मिलित रूप से अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सकें। यदि वे अपने सम्पर्क के प्रारम्भ काल में प्रेम की संयुक्त धाराओं को पारस्परिक अविभक्त अनन्त स्वरूपता की ओर घुमा दें तो उनके द्वारा की जानेवाली एकता की खोज विवाह के पश्चात समाप्त नहीं होती, बल्कि आरम्भ होती है। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि स्त्री और पुरुष की विभिन्न रुचि, विचार, विभिन्न आदर्शों को विभिन्न मानवीय शरीरों में निवास करनेवाली गतिशील और अविभक्त अन्तरात्मा के दबाव के अन्तर्गत एक रूप में ढाला जाय।

"मैं जानता हूँ कि कुछ लोग इसे कविता समझेंगे। लेकिन क्या बीट्राइस के प्रति दान्ते का प्रेम आदर्श प्रेम नहीं था जो कि असभ्य और नीच के लिये मूर्खता से भरा हुआ है। इन्द्रियों को वश में करना अकेले व्यक्ति के लिये सुगम कार्य नहीं है। पुरुष और स्त्री को अलग-अलग रहकर दिन और रात इस ब्रह्मचर्य की साधना करना अत्यन्त कठिन सिद्ध होगा। पर अलग-अलग रहकर ब्रह्मचर्य-व्रत पालने के दिन बीत गये। अब स्त्रियों को और अधिक समय तक 'नरक-द्वार' के रूप में घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। अत्यन्त विकसित शक्तिवाले आधुनिक पुरुषों और स्त्रियों के लिये, यदि वे इन्द्रियों को वश में करना चाहते हैं तो केवल यही एक मार्ग है। इसके द्वारा उन्हें एक महान् सृजनशील शक्ति प्राप्त होगी। यह केवल सुख की सामान्य इच्छा पर ही निर्भर नहीं है, उनके मामले में ऐसी इच्छा उनकी आत्मा की वश में की हुई चेष्टाओं की एक घटना बन जाती है। भावुक, बौद्धिक तथा उच्च अभिलाषाओं से युक्त सम्बन्ध एकाकी व्यक्तित्व के विकास की ओर ले जाता है जिसके द्वारा संचालक एकता प्राप्त हो जाती है। राधाकृष्ण, सीताराम तथा अर्द्धनारीश्वर की महानता की धारणा को जो सौन्दर्य घेरे हुये है, यह उसी सौन्दर्य की रचना है। इस ब्रह्मचर्य का अर्थ ब्रह्म के मार्ग का अनुसरण करना है।"

महान् भृगु शुक्राचार्य पौराणिक प्रमाणों के आधार पर मुन्शीजी के पूर्वज थे। उनके सम्बन्ध में यह कहा गया था:—

हिमकुंदमृणालाभं दैत्यानाम् परमम् गुरुम्,
सर्वशास्त्रप्रवोक्तारम् भार्गवं प्रणमाम्यहम् ।

संस्कृत कवि के इन शब्दों के अनुरूप कुछ थोड़ा-सा हेरफेर करके हम मुन्शीजी का अभिनन्दन इस प्रकार कर सकते हैं—

इस भृगुपुत्र को,
इस अति प्राचीन तथा आधुनिक ब्राह्मण को,
इस विविध ज्ञानी गुरु को,
कभी, शीतकालीन हिमझंझा के समान भयङ्कर,
कभी, मन्द पवन में अठखेलियां करते फूल के समान
और पुष्प डंडी में उपस्थित नवांकुर जैसे कोमल,
हमको—विलासवादी पश्चिम के मानस-पुत्रों को
आत्मसिद्धि की प्राप्ति का उपदेश करनेवाले
इस महान् गुरु को
मै प्रणाम करता हूँ ।

एक मित्र का रेखाचित्र

देवेन्द्र सत्यार्थी

आधी आयु पार कर जाने पर भी एकदम चिर युवा—इन्हीं शब्दों में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी का चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है। उनके शब्द अब भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं—"मेरा प्रत्येक जन्म-दिन मुझे पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली युवा बनाने को आता है" यह बात उन्होंने मुझ से उस समय कही थी, जब मैं बम्बई में उनके साथ उन्हीं के ड्राइंग रूम में बैठा था।

एक लेखक के रूप में मुन्शीजी की प्रतिभा गुजरात में एक सर्व-सिद्ध वस्तु बन चुकी है। उनका प्रभाव वर्तमान गुजराती साहित्य के सभी अंगों पर है, और इसे प्रथम कोटि के समालोचक ने स्वीकार किया है। वे उपन्यासकार भी हैं और कहानी-लेखक भी; नाटककार भी हैं और निबन्ध-लेखक भी। इसके अतिरिक्त वे जीवनी-लेखक भी हैं, और आत्मकथा—'अद्धे-रस्ते' में भी उन्होंने अपनी लेखनी के प्रयोग किये हैं।

जब कोई किसी लेखक की कृति अनुवाद में पढ़ता है, वह वस्तुतः उस लेखक के मानस-चित्र और रूपक की वास्तविक निकटता का स्पर्श नहीं कर सकता, या वर्जीनिया वुल्फ़ के कथनानुसार—"यदि हमें अनुवादक पर निर्भर करना है तो लेखक की वही अवस्था होगी जो भूकम्प या रेल-दुर्घटना के कारण किसी ऐसे व्यक्ति की हो जाती है जो अपने कपड़े-लत्तों से ही नहीं, अपने व्यवहार और चरित्र की विशिष्ट प्रकृति तक से वंचित हो जाता है।" मुझे यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि मैंने मुन्शीजी की रचनाएँ गुजराती में नहीं पढ़ी हैं, यद्यपि मैं इस भाषा की ध्वनि से परिचित हूँ और यह भी जानता हूँ कि भारत के मानचित्र में इस भाषा को कितना महत्त्व प्राप्त है।

सन् १९३५ में, जब मुन्शीजी ने 'हंस' को नये पथ पर अग्रसर करने के लिये भारतीय साहित्य-परिषद् के तत्त्वावधान में प्रेमचन्दजी का हाथ बंटाया तो मैंने सोचा कि द्वार खुल चुका है और एक महत्त्वपूर्ण आगन्तुक ने भीतर प्रवेश कर लिया है। यह भारत की राष्ट्रभाषा की बढ़ती हुई शक्ति का एक ज्वलन्त प्रमाण था। स्वयं मुन्शीजी ने मुझे उस कार्य में सहयोग देने के लिए आमंत्रित किया था और भारतीय लोकगीतों के सम्बन्ध में विशेष रूप से लिखने

का अनुरोध किया था। बात यहीं तक न रही। उसी वर्ष मुन्शीजी की पुस्तक 'गुजरात और उसका साहित्य' की एक प्रति मिली जो उन्होंने जेल में लिखी थी। मुझे यह देखकर आह्लाद हुआ कि महात्मा गांधी ने इस पुस्तक के आमुख में मेरी लोकगीत-यात्रा का उल्लेख किया है।

सन् १९३६ में मुन्शीजी मुझे फ़ैज़पुर कांग्रेस के अवसर पर मिले और उन्होंने मुझे विशेष रूप से आमंत्रित किया कि मैं बम्बई जाकर उसके यहाँ ठहरूँ।

"क्या आप गाँधीजी से मिले हैं?" उन्होंने उस सम्पर्क-शृंखला का स्मरण दिलाते हुए पूछ लिया।

"एक बार से अधिक", मैंने मुस्कराकर उत्तर दिया। उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मैं गाँधीजी के सम्मुख भारतीय ग्रामों में राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ-साथ पुराने और नये लोकगीतों के सम्बन्ध में चर्चा कर चुका हूँ।

"आप ग्रामों की ओर कब जा रहे हैं जिससे आप यह जान सकें कि वहाँ के निवासी क्या सोच रहे हैं, जिससे आप उनके विचारों को अभिव्यक्त कर सकें?"—मैंने गाँधीजी के आमुख का उल्लेख करते हुए पूछ लिया।

"गाँधीजी ने ठीक ही तो कहा है कि इस देश के मध्यवर्ग के लोगों और जनता के बीच गहरी खाई नज़र आती है," मुन्शीजी ने स्वीकार किया, और उन्होंने रूप से कह दिया कि जनता की भाषा को अभी निश्चित रूप मिलना शेष है। उनका यह कथन भी सत्य है कि भारत के अन्य प्रदेशों के समान गुजरात भी गम्भीर विचार में निमग्न है। भाषा अपना स्वरूप धारण करने में लगी है। लेखकों के लिए पर्याप्त काम पड़ा है......"

"गुजराती संस्कृति के सम्बन्ध में आप क्या कहना चाहेंगे?" मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

वे बोले—"मैंने 'गुजरात और उसका साहित्य' के अन्तिम अध्याय में अपने विचार प्रकट किये हैं। जैसा मैंने वहाँ कहा है, गुजरात, भारत से पृथक् अपना अस्तित्व नहीं बना सकता—नव-गुजरात का एक स्वप्न हमारे सम्मुख है—उस गुजरात का जो स्वतन्त्र, सुदृढ़ और सम्पन्न होगा, और जिसके निवासी नव निर्माण में लगे होंगे। आर्य संस्कृति की प्रकृति यही रही है कि उसने प्रान्तीय सीमाओं को कभी स्वीकार नहीं किया। उसने एकता के लिये संघर्ष किये हैं। आर्य संस्कृति जीवन की प्रयोगशाला का साधारण यन्त्रमात्र नहीं है। न वह केवल पाषाण-मात्र है जिसकी बनी हुई चक्की के दोनों पाटों से वैदिक ऋषि की माता अन्न पीसती थी। वह संस्कृति वह डोंगी भी नहीं है जिस पर राम और सीता सरयू नदी पार किया करते थे और न यह संस्कृति वह चरखा है जिसमें अनेक लोग अपनी प्रवृत्तियों को मूर्तिमान देखते हैं। सभ्यता ने अनेक रूप धारण किये हैं—वह दूसरों से समय-समय पर उधार के रूप में ग्रहण की गई है। हमारे सामाजिक और धार्मिक विश्वास समय के साथ—प्रत्येक युग की सभ्यता के साथ सदा बदलते रहे हैं। हमें संस्कृति को अविच्छिन्नता और निरन्तरता के रूप में जान करना है, या फिर एकता की चेतना में गुजरातियों की प्रत्येक पीढ़ी ने संस्कृति को अपने नवीन रूप में प्राप्त किया है।"

सन् १९३७ के आरम्भ में मैं बम्बई में मुन्शीजी के पास घर पर ठहरा। कोई तीन मास मैं वहीं रहा। वे चुनाव में व्यस्त थे, फिर भी वे कला और संस्कृति के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिये समय निकाल ही लेते थे। उनकी पत्नी लीलावती, जो कहानी, एकांकी और रेखाचित्र लिखने में विख्यात हैं, एक दिन अपने एक निबन्ध की चर्चा करते हुए कह उठीं कि आधुनिक युग का श्रीगणेश तब हुआ है जब पुरुष ने स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्वीकार कर लिया। वे मेरी इस बात से सहमत थीं कि लोकगीतों में भी हम नारी का विद्रोह देख सकते हैं।

मुन्शीजी की सुपुत्रियों ने गुजराती लोकगीत सुनाये, और उस अवसर पर कुछ मित्र भी आमंत्रित किये गये थे। उनके सुपुत्र भी मेरे मित्र बन गये। मेरे साथ घर के ही एक प्राणी का सा व्यवहार किया गया।

एक सन्ध्या को जब हम गुजरात के गरबा नृत्य की चर्चा कर रहे थे, हम सब गरबा के ताल पर नृत्य करने के लिए उठ खड़े हुए और स्वयं मुन्शीजी ने नेतृत्व किया। यह गुजराती संस्कृति की विजय थी। सारे परिवार ने एकस्वर होकर उत्सव का सा आनन्द मनाया, जैसे कि साड़ियों और चोलियों के रंग भी एकस्वर हो रहे थे।

एक सन्ध्या को जब मैं रायल एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय से लौटा तो मुन्शीजी ने मुझ से कहा कि यह सोचना भूल होगी कि गरबा नृत्य गुजरात तक ही सीमित है। इससे पहले भी एक अवसर पर उन्होंने शारंगधर से उद्धरण देकर यह सिद्ध किया था कि शिव पत्नी पार्वती ने बाण की पुत्री उषा को 'लास्य' नृत्य की शिक्षा दी थी और उषा ने, सौराष्ट्र या गुजरात की स्त्रियों को इस कला में पारंगत किया। फिर मुन्शीजी ने अपनी विभिन्न प्रान्तों की यात्राओं की चर्चा करते हुए कहा—"मैंने अपनी आँखों से जो देखा उससे तो यही सिद्ध होता है कि उन दिनों असुर-कन्याएँ आन्ध्र, तामिलनाड और केरल में भी पहुँची थीं और उन्होंने इन प्रदेशों की स्त्रियों को भी गुजरात के गरबा नृत्य से मिलता-जुलता नृत्य सिखा दिया था। हमारा दावा भ्रान्त विचार पर आधारित था। भारत की सामान्य संस्कृति के महासागर की तरंग जब हमारी सीमा में पहुँची तो हमने उसे अपना ही तालाब समझ लिया।"

"गुजरात के गरबा नृत्य में कविता को नृत्य के ताल की सहायता मिलती है," मुन्शीजी की सर्वस्पर्शी एकता की विचार-धारा से प्रभावित न होते हुए मैंने कहा, "मुझे भय है कि हम कहीं गरबा का अस्तित्व ही न खो बैठें। सांस्कृतिक एकता सत्य हो सकती है, पर विभिन्नता के महत्व से भी कौन इन्कार कर सकता है।

"हमारा काम तो यह होना चाहिए," मैंने ज़ोर देकर कहा, "हमें तो किसी भी प्रान्त के विशिष्ट कला-रूप के अधिकतम प्रभाव पर विचार करना होगा। उसका अध्ययन करते समय हमें इसकी सूक्ष्म-से सूक्ष्म गतिविधि पर ध्यान देना होगा, क्योंकि उसे तो विस्मृति के गर्भ में विलीन होने के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है।"

कई बार बंगाल के लोक-संगीत की बात छिड़ जाती। जब मैंने कहा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर बँगला लोकगीतों के स्वरों से बहुत प्रभावित हुए थे और स्वयं उन्होंने भी लोक-संगीत

के स्वरों को प्रभावित किया था, मुन्शीजी ने भी इसे स्वीकार किया। मैंने ज़ोर देकर कहा कि बँगला लोक-संगीत की विशिष्टता यह है कि वह बंगभूमि की अनन्त घुमावदार रेखाओं में भावात्मक मूर्ति के रूप में प्रकट होता है, जहां क्षितिज भी लम्बे व्यवधान में लुप्त हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस संगीत में करुणा के स्वर ही अधिक हैं। वह मानव के भाग्य और आकांक्षा की गाथा सुनाता है।"

मुन्शीजी ने भारतीय लोकवार्ता के तुलनात्मक अध्ययन के विचार को प्रशंसा की। "जनता के इतिहास का सृजन केवल लोक-आकांक्षा, लोक-पराक्रम और लोक-यंत्रणा के प्रकाश में ही किया जा सकता है," मैंने दृढ़ विश्वास के साथ कहा, "हमें लोक-कला और लोक-परम्परा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनमें तो देवताओं को भी मानव के सम्मुख काँपते हुए प्रदर्शित किया गया है।"

मुझे स्मरण है कि मैंने गुजरात साहित्य-परिषद् के उस वार्षिक अधिवेशन में भाग लिया था जिसमें मुन्शीजी ने काठियावाड के वयोवृद्ध चारणों को आमंत्रित करने की विशेष व्यवस्था की थी। दो-दो चारण एक साथ उठकर आमने-सामने खड़े होकर बारी-बारी से अपने-अपने चमत्कारपूर्ण दोहे गाते। एक बात और भी तो थी, दोहों के इस गान का न ओर था न छोर।

"आपको हमारे 'दोहे' कैसे लगे?" परिषद् से लौटने पर मुन्शीजी ने मुझसे पूछ लिया।

"दोहे तो अनेक प्रान्तों में एक-जैसे ही हैं," मैंने कहा, "और वे सर्वत्र विचार और शब्दों की संक्षिप्तता एवं सारगर्भिता के लिए विख्यात हैं।"

"इन दोहा-गायकों में एक का नाम है गोकुलदास रायचुरा, जिसने गुजराती लोक-कविता के ऐसे अनेक रत्नों को लिपिबद्ध कर दिखाया है।" मुन्शीजी ने बड़े राष्ट्रीय गर्व के साथ कहा।

शीघ्र ही मैंने रायचुरा से भेंट की, और मुझे उनसे काठियावाड़ के दोहों का एक संग्रह भी प्राप्त हुआ। जब हम ड्राइंग-रूम में बैठे थे तो यह दोहा-संग्रह एक हाथ से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में जा रहा था। मुन्शीजी की ज्येष्ठ कन्या ने इन गुजराती दोहों में से कुछ की व्याख्या करते हुए बताया कि उनके रंग और शैली में विभिन्नता प्रदर्शित की गई है।

"दोहों में मुक्त भावना का प्रदर्शन हुआ है।" मैंने बलपूर्वक कहा, और मुन्शीजी भी मुझसे सहमत हुए।

मेरे लिए एक पृथक् कमरा था। पर ड्राइंग-रूम में प्रतिदिन नये आगन्तुकों से मेरी भेंट हो जाती थी। मुन्शीजी बहुत व्यस्त रहते थे, फिर भी वे किसी आगन्तुक से मिलने से इन्कार नहीं करते थे। वहां सभी कुछ उत्कृष्ट था। दोपहर और सन्ध्या के भोजन पर मैं नित्य नये आगन्तुक व्यक्तियों को देखता था। प्रतिदिन नये अतिथि भोजन में सम्मिलित होते थे। यह भी गुजराती संस्कृति की विजय थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो मुन्शीजी का काम अतिथियों के बिना चल ही नहीं सकता।

मालाबार हिल पर स्थित मुन्शीजी के निवासस्थान पर जीवन एक आवश्यक ताल का अनुसरण करता प्रतीत होता था। अन्य बातों की अपेक्षा उस पर कला की छाप अधिक थी। प्रत्येक ताल की लय में प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा नवीन राग में तरंगित होती थी। नौकर-चाकर भी स्वतन्त्रता का उपभोग करते थे।

पाँच वर्ष तक मैं बम्बई से विलग रहा, और सन् १६४३ में सिन्ध प्रान्त के अन्तर्गत मोहेंजो-दाड़ो की यात्रा से लौटते हुए मैं मुन्शीजी से फिर उनके मलाबार हिल स्थित निवास-स्थान पर मिला। हमने साथ भोजन किया। उनकी पत्नी लीलावती भी अपने पति के समान ही यौवन-सुलभ उत्साह से ओत-प्रोत थीं, यद्यपि समूचे परिवार में बहुत-कुछ परिवर्तन हो गया था।

मुझे बताया गया कि बड़ी कन्या का विवाह हो गया और अब वह अपने पति के साथ मालाबार हिल के किसी दूसरे भाग में रहने लगी है। मैं उससे भेंट करने गया। वह अपने विशिष्ट ढंग से मुझे मिली। वह सचमुच अपने भाग्य पर गर्व कर सकती थी। एक महान् लेखक की पुत्री जो ठहरी। मुझे आश्चर्य हुआ कि एक कन्या दूसरी की अपेक्षा इतनी जल्दी कैसे बढ जाती है, क्योंकि मुन्शीजी के पड़ोस की दूसरी कन्या को भी मैं पहचानता हूँ। वह बहुत लम्बी हो गयी थी। उसे देखकर मुझे मोहेंजो-दाड़ो म्यूज़ियम की नर्तकी की मूर्ति का स्मरण हो आया। मैं इस बात को मुन्शीजी से भी कहना चाहता था, पर मैं उनके सामने इसकी चर्चा करने में संकोच कर गया।

मैं मैडम सोफिया वाडिया से भी मिला, जो भारतीय पी० इ० एन० की संस्थापिका है। मुझे वह दिन स्मरण है जब गई बार मुन्शीजी ने मैडम वाडिया से मेरा परिचय कराया था।

इस संस्था का सदस्य होने के नाते मुझे उसमें 'ग्रामीण भारत के गान' पर व्याख्यान देने का निमंत्रण मिला जिसे मैंने तत्काल स्वीकार कर लिया।

"पिछली बार तो आपके पी० इ० एन० के व्याख्यान में सरोजिनी नायडू ने अध्यक्ष का पद ग्रहण किया था," मैडम वाडिया ने कहा, "इस बार आप किसकी अध्यक्षता पसन्द करेंगे?"

"क्या हम इसके लिए मुन्शीजी को कष्ट दे सकते हैं?" मैंने तुरन्त पूछा।

"क्यों नहीं?" मैडम वाडिया ने मुस्कराकर कहा, "मैं स्वयं उनसे कहूँगी।"

बात आगे बढ़ी। १६ अप्रैल को रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा में व्याख्यान की बात निश्चित हो गई।

"भारत के साधारण इतिहास हमें सम्राटों और उनकी विजयों, युद्धों और रक्तपातों की गाथा बताते हैं," मैंने अपने भाषण में कहा था, "पर भारत का वास्तविक इतिहास ग्रामीण भारत के उन गीतों में निहित है जो यह बताते हैं कि शताब्दियों से लोग कैसा जीवन व्यतीत करते आये हैं। उन्हींके ताल पर भारत-माता का हृदय स्पन्दित होता है। उन्हींमें वह अपना हृदय हम पर प्रकट करती है। भगवान्, बादल, धरती-माता, जीवन, जन्म-मरण के चक्र, प्रेम, चाह और शोक, मानव के सामाजिक सम्बन्ध आदि के अनन्त प्रकार—वास्तव में

ये मानव प्रकृति के सभी स्थायी तत्वों के लिए सहज आकर्षण बन जाते हैं, और ये स्मारक-चेष्टाएँ हैं, चाहे ये गीत काश्मीर के हों या केरल के, इनमें सास और बहू का सम्बन्ध और पति के वियोग में पत्नी की विरह-भावना आदि विषयों की चर्चा अनेक प्रकार से की गई है।"

जब मैंने गुजरात का एक गीत सुनाया तो मुड़कर देखा कि मुन्शीजी के मुख-मण्डल पर उनकी विशिष्ट मुस्कान दौड़ गई है। वह मुस्कान व्यंग-सूचक नहीं थी, क्योंकि मुझे इस गीत की ठीक-ठीक लय का पता था। उसके पश्चात् मैंने राजस्थान का एक गीत सुनाया। मैं यह बात सरलतापूर्वक सिद्ध कर सका कि अनेक प्रकार के सूक्ष्म हेर-फेर न होते हुए भी गुजराती और राजस्थानी गीतों का विषय और विवरण एक-जैसा था। फिर मैंने कहा कि यही बात भारत के विभिन्न भागों के अधिकांश गीतों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यद्यपि प्रायः स्थानीय प्रभावों का अन्तर उनमें दिखाई दे जाता है, पर उनके विषय और भाव में एक सारपूर्ण एकता उनके विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है और इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि भारतीय जीवन और संस्कृति में मौलिक एकता है।

"यदि कविता सम्पूर्ण हृदय की अभिव्यक्ति है," मैंने आगे चलकर कहा था, "तो लोकगीतों के तो मूल ही में काव्य है।" मेरे यह पूछने पर कि वह कविता क्यों बनाता है, एक किसान ने यह उत्तर दिया था कि जब गान उसके हृदय में भर जाता है तो उसे उसी प्रकार उसे प्रकट करना होता है जिस प्रकार जल से भरे बादलों के लिए बरसना अनिवार्य हो जाता है। पर लोकगीत का वास्तविक जीवन है संगीत। छपे हुए पृष्ठ पर संगीत उसी प्रकार नीरस और निर्जीव है, जैसे वनस्पति-शास्त्री के मेज़ पर सूखी पत्तियाँ। संगीत और ताल तो आवश्यक हैं। इसीलिए लोकगीत-संग्रह-कर्त्ताओं को गीत की मौलिक लयों और स्वरों को पकड़ना होता है; केवल शब्दों को ही नहीं। लोकनृत्य लोकगीतों के साथ ही चलते हैं। मैं जानता हूँ कि हमारे लोगों में कुछ की दृष्टि में लोकगीत अछूतों के समान हैं; वे उन्हें पास नहीं फटकने देना चाहते। प्राचीन भारतीय संस्कृति की इन सुन्दर सजीव वृत्तियों के सजीव आधारों का संकलन कोई महत्त्वशून्य कार्य नहीं है।"

तालियों की गड़गड़ाहट के साथ मुन्शीजी उठे। अपने भाषण के अन्तिम भाग में उन्होंने कहा कि लोक-विचार सर्वत्र एक-जैसे ही हैं; भाषाएँ भले ही भिन्न हों; पर सारे संसार में लोकगीत एक-सदृश ही हैं।

"मैं भाषणकर्त्ता महोदय के इस विचार से असहमत हूँ कि लोकगीतों के साथ अछूतों का-सा व्यवहार किया जाता है," मुन्शीजी ने कहा, "इसके विपरीत उनसे बहुत-सी आधुनिक काव्य-रचनाओं को प्रेरणा प्राप्त हुई है, गुजरात में गरबा नृत्य ने वस्तुतः राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त कर लिया है। तो भी मैं यह कहूँगा कि निरन्तर आर्थिक कष्टों के दबाव से ग्रामों की सुन्दरता और सरलता के स्थान पर दुर्भाग्यपूर्ण और दुःखान्त भविष्य घर करता जा रहा है। मैं उस समय की आशा लगाये हुये हूँ जब ग्रामीण फिर अपना वास्तविक रूप प्राप्त कर लेंगे।

जब कभी मैं अपने अन्तरतम में दृष्टि डालता हूँ तो मित्रों की स्मृति वहाँ नक्षत्र के

समान जगमगाती नज़र आती है। पर उनमें से प्रत्येक का चित्र बाहरी जगत् को नहीं दिखाया जा सकता। कोई तो स्मरणीय रूप के लिए याद किया जा सकता है और कोई शिष्टतम व्यवहार और उच्चारण के लिए; कोई हमें लगभग समानता का सा व्यवहार करने के कारण प्रिय लगता है तो कोई व्यक्ति ऐसा भी हो सकता है कि उसकी बात सुनकर हम आँखें उठाते हुए यह समझते हैं कि जैसे वह सर्वप्रथम अपना परिचय देने जा रहा हो। कबीलों और राष्ट्रों के समान ही व्यक्ति भी अपना रहस्य सरलतापूर्वक प्रकट नहीं करते। ऐसी अवस्था में हम आवश्यक रूप में बहुत समय तक एक-दूसरे से अपरिचित ही बने रहते हैं।

पर मुन्शीजी का चित्र अन्य शतशत चित्रों के साथ मिश्रित नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट है कि मैं उन्हें आंशिक रूप में ही जानता हूँ, फिर भी मैंने उनमें जो कुछ वास्तव में पाया है उसका मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है। मैंने उन्हें तब देखा जब मेरे स्वप्न देखने के दिन थे। उनमें सबसे बड़ी बात यह है कि वे सांस्कृतिक एकता का प्रकाश प्रदान कर सकते हैं। जीवन के समान संस्कृति भी एक होनी चाहिए, यह बात वे ज़ोर देकर कहते हैं। वे यह विश्वास दिलायेंगे कि चित्र की पूर्ति के लिए रंगों को परस्पर एक-दूसरे को सहायता देनी होगी। इसके उत्तर में शायद हमें कहना होगा कि वाक्य पूरा करने के लिए शब्दों में भी एकता स्थापित करनी पड़ती है, और मुन्शीजी यह सुनकर आलिंगन करने के लिए बाँहें फैला देंगे।

इस बात का निर्णय तो डा० तारापोर पर ही छोड़ता हूँ कि सन् १९१२ में जब मुन्शीजी अपना पहला उपन्यास 'वेरनी वसूलात' लेकर गुजराती पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुए तो उन्हें अपने स्वागत के सम्बन्ध में भय था। उस उपन्यास को मुन्शीजी ने 'घनश्याम' से उपनाम से प्रकाशित कराया था। पर इससे तो मुझे अपने मित्र के महत्वपूर्ण चित्र को और भी समीप से देखने का अवसर मिलता है, क्योंकि यद्यपि कृष्ण को 'घनश्याम' कहने की छूट सबको प्राप्त है; पर उसका अर्थ 'श्यामघन' भी हो सकता है जो वृष्टि करने की क्षमता रखते हैं, और मुन्शीजी गुजरात के साहित्यिक क्षेत्र को अधिकतर उर्वर बनाने में सफल हुए हैं। उसी वर्ष मुन्शीजी एक साथ उपन्यासकार और वकील के रूप में जनता के सामने आये। मैं जानता हूँ कि न्यायालयों में उन्होंने सैकड़ों अभियोगों में विजय प्राप्त की है, पर मेरा तो उनके लेखक-जीवन से सम्बन्ध है। सन् १९३० में वे कांग्रेसी बने और उन्होंने जेल-जीवन का भी दो वर्ष का अनुभव प्राप्त किया। सन् १९३७ में वे बम्बई में कानून और शासन-व्यवस्था के मंत्री भी बने। एक और अवसर पर उन्होंने 'अखण्ड भारत' का नारा भी ऊँचा किया जो न्यूनाधिक रूप में उनके सांस्कृतिक एकता के सिद्धान्त में ही केन्द्रीभूत था। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति पद भी मुन्शीजी ने ग्रहण किया। पर मुन्शीजी की वास्तविक विजय तो गुजराती-साहित्य की विजय में ही निहित है।

मैं चाहता हूँ कि मेरा अभिवादन उनको उनके जन्म-दिवस के अवसर पर मिले, जब महिलाएँ और भद्रजन उनके व्यक्तित्व पर विचार कर रहे होंगे। हो सकता है स्थान का

अन्तर बहुत अधिक न हो, फिर भी मुझे विश्वास है कि मेरा स्वर मेरे मित्र तक पहुँच सकेगा। जब मैं अपने अन्तर्तम को देखता हूँ तो आशा के साथ आनन्द का मिलन होजाता है, और मन के कला-भवन में स्थित कलाकार उस चित्र पर तूलिका के सबल स्पर्श देता है! मुझे यह भय नहीं है कि यह चित्र अधूरा रहेगा अथवा यह अन्य चित्रकारों के प्रदर्शन से भिन्न होगा, क्योंकि हम एक ही व्यक्ति को विभिन्न दृष्टिस्थलों से देखते हैं। रेखाओं के अनेक घुमाओं से चित्र में प्राणों का संचार होता है, पर यह उसी समय सम्भव है जब एक-एक रेखा स्वयं बोलने लगे। हाँ, तो एक रेखा उभर कर सामने आती है और कहती है—

'मुझे भी देखो न, याद नहीं वह दिन?

'कौन से दिन की बात कह रही हो रेखा?'

रेखा को सब याद है। वह चुप रहती है। पर जैसे संकेत से ही सब समझा देगी... और हाँ, रेखा, याद आ गई वह बात जिसका तुम ध्यान दिला रही हो। २९ जनवरी १९४८ का दिन था न। गांधीजी की हत्या से एक दिन पूर्व।

'हाँ, हाँ, बिलकुल ठीक'—रेखा अपनी मूक मुद्रा में कह उठती है।

'तो लो सुनो, रेखा, मैं ही कहे देता हूँ। उस दिन सवेरे बिड़ला-भवन में मुन्शीजी से भेंट हुई तो वे बोले—'इतने बड़े भवन में मैं ही मेज़बान हूँ। गांधीजी तो यहाँ बस एक मेहमान हैं। सचमुच बिड़लाजी की अनुपस्थिति में मुझे ही मेज़बान का दायित्व निभाना होता है!'

'वह कैसे?' सबने पूछ लिया।

'तो सुनो', वे बोले, 'एक गुजराती लोककथा है—'

'कहिये, कहिये।'

'एक था सेठ। उसके थे दो बेटे। सेठ ने दोनों बेटों को उपदेश दिया कि तुम दुनिया भर में अपनी कोठियाँ बनाओ। अब एक लडका तो सचमुच जगह-जगह कोठियाँ बनाने लगा। आखिर कहाँ तक कोठियाँ बनाता? वह थक गया। उसका धन भी जवाब दे गया। दूसरा लड़का अधिक बुद्धिमान् था। उसने कोठियाँ बनाने की बजाय जगह-जगह मित्र बनाने आरम्भ किये। इसमें वह ज़रा भी नहीं थका, और अपने भाई से बहुत आगे निकल गया, क्योंकि मित्रों की कोठियों के द्वार खुले रहते थे।''

मुझे याद है कि मैंने उछलकर कहा था—''गुजराती लेखक का तो यह कहिए कि आपने इस को सच कर दिखाया है।'

मुन्शीजी की आँखें चमक उठीं; पर वे अगले ही क्षण कह उठे—'सोचता हूँ अलग निवास का प्रबन्ध करूँ, और आप-जैसे मित्रों का अधिक सत्कार कर सकूँ।' रोज़-रोज़ की मेहमानी से भी तो आदमी तंग आ जाता है।

मैंने हँसकर कहा—'मेहमान तो गाँधी जी हैं। आप तो मेज़बान हैं।'

फिर जब अगले ही दिन गाँधीजी की हत्या कर दी गई, मुझे मुन्शीजी के शब्द रह-

रह कर याद आने लगे—इतने बड़े भवन में मैं ही मेज़बान हूँ, गाँधीजी तो यहां बस एक मेहमान हैं!

रेखाएं तो बहुत हैं, पर इस एक रेखा की बात ही आज अधिक जँचती है। यह रेखा मूक-मूक-सी मेरी ओर देख रही है। कुछ तो बोल, रेखा! तू यही कहना चाहती है न कि जिसके चित्र में तुझे स्थान मिला है वह भविष्यद्रष्टा भी है।

: २ :
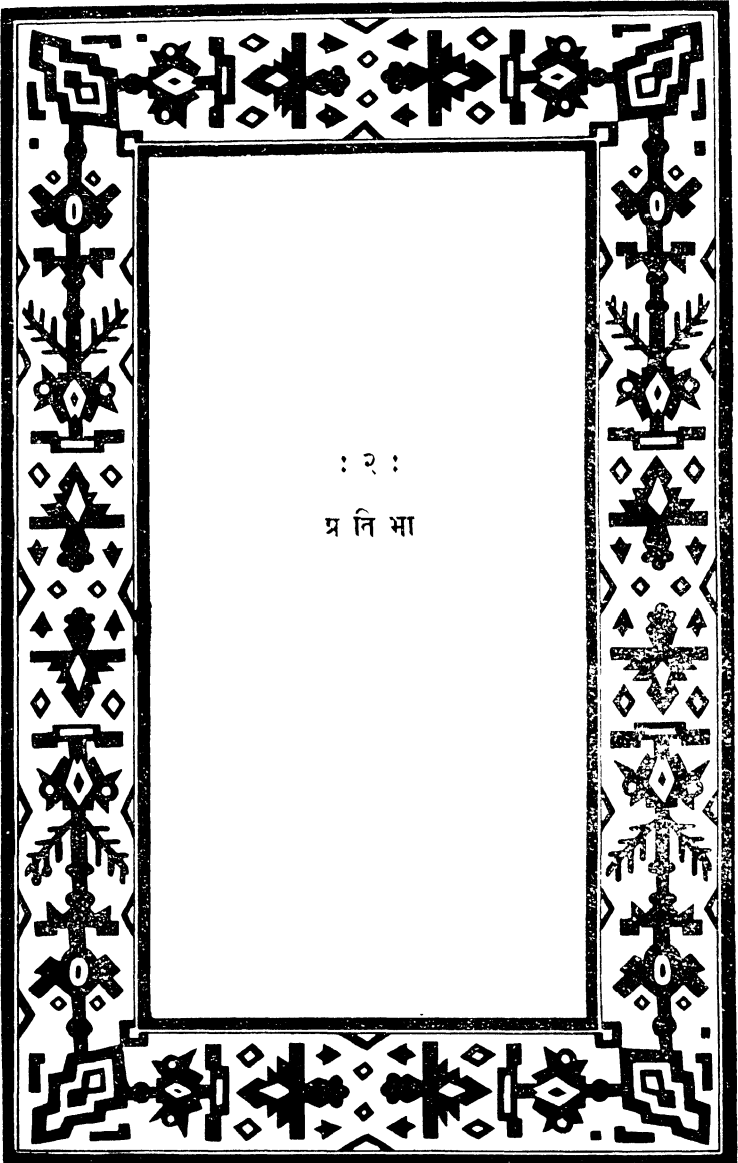
प्र ति भा

आर्यावर्त्त की महागाथा

वी० एन० भूषण

गुजराती साहित्य में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के उन नाटकों और उपन्यासों का स्थान बहुत ऊंचा है जिनका निर्माण भारत की पुरातन गाथाओं के आधार पर हुआ है। ये गाथाएं महाभारत और पुराणों के समय में भी परम्परागत थीं। मुन्शीजी की इन कृतियों में वस्तुतः एक महागाथा का रूप प्रस्तुत किया गया है। यहाँ वैदिक तथा पूर्व-वैदिक काल के विश्रुत वीरों और वीराङ्गनाओं के जीवन एवं अद्‌भुत चरित्रों का वर्णन है। प्रधान कथावस्तु वैदिक ऋषियों के तीन महान् कुलों के चरित्र ही हैं। सर्वप्रथम क्षत्रिय-पुरोहित भृगुओं का कुल है जिनका सम्बन्ध अग्निपूजक अथर्वों से था। ये अपने को भृगु का वंशज कहते थे जिन्होंने सर्वप्रथम मानव को अग्नि के प्रयोग से परिचित कराया। अन्य दो कुलों की उत्पत्ति क्रमशः वशिष्ठ और विश्वामित्र से हुई थी। ये दोनो ही वैदिक ऋषियों में परमविख्यात हैं और ऋग्वेद संहिता में निर्दिष्ट दाशराज युद्ध में इन्होंने भाग लिया था।

कितने ही प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन लेखकों ने इन कुलों के महापुरुषों और स्त्रियों में से किसी न किसी के विषय में थोड़ा-बहुत अवश्य लिखा है और उनके परम्परागत वीरचरित्रों के आधार पर अनेक अभिनव कथाओं की सृष्टि की है। पर मुन्शीजी ने सर्वथा एक नवीन मार्ग का अनुसरण करने का साहस किया है। उन्होंने जैसा कि सामान्यतः किया जाता है, पुराणों में अङ्कित चरित्र और वातावरण का अनुकरण करने की चेष्टा नहीं की है बल्कि ऋग्वेद संहिता में प्रदर्शित आर्यों की शक्ति, चरित्र और परिस्थिति की रचना भी की है। उन्होंने यह साहस भी किया है कि थोड़ी-सी समसामयिक घटनाओं के आधार पर उनमें एकसूत्रता स्थापित करने के लिये कुछ काल्पनिक प्रसंगों की अवतारणा भी की है और इस प्रकार एक ऐसे शृङ्खलाबद्ध काव्य का निर्माण किया है जिसमें ब्राह्मण और महाभारत से पूर्व-युग में पंजाब से नर्मदा तक आर्यों की प्रगति का एक विलक्षण और सर्वाङ्गीण चित्र अद्‌भुत कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद-कालीन इस अपरिचित वातावरण की सृष्टि करने के कारण ये नाटक और उपन्यास कहीं कहीं दुर्बोध प्रतीत होते हैं, किन्तु वैदिक युग का चित्र प्रस्तुत करनेवाले किसी भी कलाकार की

कृति में ऐसा होना सम्भवतः अनिवार्य है।

प्रथम खण्ड में केवल उस विशुद्ध पौराणिक युग का उल्लेख है जब देव, दानव और मानव परस्पर मिलते रहते थे। द्वितीय और तृतीय खण्ड में ऋग्वेद संहिता में निर्दिष्ट वैदिक युग का वर्णन है। ग्रन्थकार ने अपने इस रचना-प्रासाद की आधारभूत अधिकांश सामग्री अपने संशोधनात्मक लेखों में संग्रहीत की थी।

प्रथम खण्ड

पुत्र समोवड़ी

नाटक

: १ :

इस नाटक की पृष्ठभूमि पौराणिक युग का उषाकाल है। मनु की सन्तान (मानव) परस्पर अथवा अधोलोकवासी दानवों के साथ युद्ध में रत हो समस्त भूमण्डल पर विचरण करती है। स्वर्णिम मेरुगिरि के उच्चशिखर पर निवास करनेवाले देदीप्यमान देव भी दानवों के साथ अनवरत युद्ध में संलग्न रहते हैं।

मृतकों को पुनर्जीवित करनेवाली 'सञ्जीवनी' नामक मंत्रविद्या के परम आचार्य प्राचीन महर्षि शुक्र दानवों के पुरोहित हैं। उनकी पुत्री देवयानी स्वर्ण के समान दीप्तिमती, साहसी एवं वीर है। देवों के पुरोहित बृहस्पति का पुत्र कच शुक्र के पास आता है और शरीर पर मृगचर्म धारण किये हुए तथा धनुष-बाण से सुसज्जित देवयानी से उसकी भेंट होती है।

कच देवयानी को सूचित करता है कि वह देवगुरु बृहस्पति का पुत्र है और उसकी इच्छा है कि शुक्र का शिष्य बन जाय। देवयानी के सम्मुख वह देवों के गगनचुम्बी प्रासादों की चर्चा करता है—

कच (मुस्कराते हुए) : तुम हमारे प्रासादों की भव्यता की उस समय तक कल्पना भी नहीं कर सकतीं जब तक उन्हें एक बार देख न लो। हमारे देश में तुम-जैसी सुकुमारियाँ हीरकजटित रथों से नीचे पैर भी नहीं रखतीं।

देवयानी (अवज्ञापूर्वक) : मुझे आश्चर्य है कि तुम्हारे यहाँ की कुमारियों को इस प्रकार का जीवन कैसे रुचिकर है। मैं तो इसे कभी पसन्द न करूं।

कच : पर उन्हें सुखी और प्रसन्न बनाये रखने के लिये हम नृत्य, गीत, वाद्य एवं पुष्पोत्सवों आदि की व्यवस्था करते रहते हैं।

देवयानी (उत्सुकतापूर्वक) : तब तो मैं भी उन प्रासादों को अवश्य देखना चाहूँगी। मैंने एक बार अपने पिताजी से कहा था कि हमें अपने यहाँ भी एक प्रासाद बनवाना चाहिये।

कच : तब ?

देवयानी : पिताजी ने निषेध कर दिया। उन्होंने कहा—स्वतन्त्रता की रक्षा केवल झोंपड़ी में ही हो सकती है। प्रासाद में परतन्त्रता का संचार होता है।

कच तुरन्त देवयानी पर आसक्त हो जाता है, किन्तु प्रतापी शुक्र का सामना करने की भावी आशंका से काँप उठता है। ऋषि के समीप पहुँचने पर जब वह उन्हें देखता है तो कहता है—

> यह वह शरीर है जो वय का उपहास करता है; ये वे केश हैं जो सिंह के अयालों से स्पर्द्धा करते हैं; यह वह मस्तक है जिसमें आकाश की विभुता का प्रतिबिम्ब झलकता है; यह वह शरीर है जो कैलाश पर्वत के सदृश सीधा खड़ा है। मृत्यु के देवता महाभयंकर यमराज भी न इन्हें मार सकते हैं और न भयभीत ही कर सकते हैं। अपितु स्वयं एक भयत्रस्त बालक के समान इनके सामने से चुपके से खिसक जाते हैं।

शुक्र आते हैं और अपने मित्र एवं सहाध्यायी किन्तु प्रतिद्वन्द्वी बृहस्पति के पुत्र कच को अपना शिष्य स्वीकार कर लेते हैं।

दीर्घकाय, श्यामवर्ण एवं वीर दानवों का राजा वृषपर्वा सिर पर मोर-मुकुट धारण किये और हाथ में नग्न खड्ग लिए हुए प्रतापी शुक्र के पास आता है। शुक्र उससे अपने नये शिष्य की चर्चा करते हैं। राजा को अपने घोरतम शत्रु के पुत्र पर सन्देह होता है, किन्तु शुक्र दृढ़ हैं। विद्वानों के संकल्प कठोर होते हैं, वे किसी भी विद्याभिलाषी को विमुख नहीं कर सकते। ऋषि पूछते हैं—

> तुम भयभीत क्यों हो? यह लड़का क्या कर सकता है? और जो शक्ति केवल एक लड़के के द्वारा नष्ट की जा सकती है वह कितने दिन तक टिक सकेगी?

इसके अनन्तर वृषपर्वा पुरोहित को देवाधिपति इन्द्र के द्वारा प्रेषित सन्धिवार्ता की सूचना देता है। वृषपर्वा का पुत्र वृक भी शुक्र से निवेदन करता है कि प्रजा अब इतने लम्बे समय से चले आरहे युद्ध से परिश्रान्त हो गई है। वृद्ध पुरोहित उत्तर देते हैं:—

> "मैं जानता हूँ सन्धिवार्ता से सदा दुर्बलता का सञ्चार होता है। जब इन्द्र का सन्देश आता है तभी तुम युद्ध से श्रान्त होने का अनुभव करते हो, और जैसे ही तुम युद्ध से श्रान्त होने का अनुभव करते हो वैसे ही युद्ध में इन्द्र की विजय होने लगती है। यही पुरानी कथा वर्षों और युगों से चली आ रही है। पर जब तुम संधि-सन्देश भेजते हो तब क्या इन्द्र भी कभी युद्ध से विश्रान्ति चाहता है।"

"किन्तु देवों की बात और है क्योंकि उन्हें वज्र का संरक्षण प्राप्त है।" वृक ने उत्तर दिया। शुक्र उपेक्षा से कहते हैं—"संरक्षण जीवन को श्मशान बना देता है। संरक्षण से उत्पन्न असहायता में उतना भी गौरव नहीं है जितना कि मृत्यु की शान्ति में। वत्स! जब तुम

संरक्षणप्राप्त जीवन की इच्छा करते हो तभी पराजय तुम्हें अपने पाश में जकड़ लेती है। वृषपर्वा को किसके संरक्षण की अपेक्षा है? तुम्हारे पूर्वजों की किसने रक्षा की थी? वर्षों से मेरी रक्षा कौन कर रहा है? पुत्र! संरक्षण की आवश्यकता केवल उन्हीं को ही होती है जिनमें आत्मविश्वास की कमी हो।"

तत्पश्चात शुक्र वृक को बतलाते हैं कि किस प्रकार उसके पूर्वजों का उन्नत अवस्था से अधःपतन हुआ—

> वृक, सुनो, समझो और इसे भूलना नहीं। तुम्हारे पूर्वज किसी समय विशाल पर्वतों की शीतल उपत्यकाओं में सुरम्य वनस्थली की छाया में निवास किया करते थे। सूर्योदय होते ही वे आखेट के लिये चले जाते थे और चन्द्रोदय होने पर असीम उल्लास से नाच उठते थे। वृक! वह जीवन कितना सुखमय था।
>
> जीवन में एक अद्भुत उल्लास था क्योंकि उसमें भय का लेश भी नहीं था। किसी ने भी उन्हें नैतिकता के नाम पर सूक्ष्म भेदों की शिक्षा नहीं दी थी। पुण्यात्माओं के लिये किसी ने स्वर्ग की कल्पना नहीं की थी। अत्याचारी को मन्द-मन्द हास्य से रिझाना कोई नहीं जानता था। 'स्वतंत्रता अधर्म है' ऐसा कोई सोचता भी नहीं था। दुर्बलता को भक्ति कह कर किसी ने भी उसे हृदयहारी नहीं बनाया। किन्तु इसके अनन्तर कूटवाणी के आचार्य बृहस्पति का दूत आया और उसने वाक्छल का मन्त्रमुग्ध करनेवाला जाल फैलाया। तब तुम्हारे निष्कपट-हृदय और सरल-स्वभाव पूर्वजों ने अपनी स्वतंत्रता खो दी और उनका अधःपतन हुआ।
>
> सुरक्षित रहने की अपेक्षा मर जाना श्रेयस्कर है। जो-कुछ मैंने तुमसे कहा है उस पर विचार करो। तुम्हारा मस्तक आकाश-जैसा उन्नत हो। देव तुम्हारी दृष्टि से आतंकित हो उठें। जो झुकता है उसका नाश अवश्यम्भावी है।

इसके पश्चात् देवयानी महर्षि के पास आती है। वह कच से प्रेम करने लगी है। विवेकी शुक्र उसे सचेत करते हैं। देवयानी देखती है कि उसके पिता अप्रसन्न हैं। उनके कोई पुत्र नहीं है इसी से वे सोचते हैं कि उनके पीछे उनके साहस और जीवन के संदेश का उत्तराधिकारी कोई भी न होगा। देवयानी उन्हें तुरन्त विश्वास दिलाती है कि वह उनके लिये पुत्र के समान ही उपयोगी सिद्ध होगी। शुक्र कहीं अधिक बुद्धिमान हैं।

सजल नेत्रों से वे कहते हैं—

> वत्स! कन्या पर पति का अधिकार होता है। जब तुम्हारा पति आयेगा तो पिता फेंक देने योग्य तुच्छ वस्तु के समान व्यर्थ हो जायगा। तुम्हारे पति का सुख-दुःख ही तुम्हारा भी सुख-दुःख होगा। उसकी प्रसन्नता में तुम्हें सुख अनुभव होगा और आपत्ति में दुःख। मेरे जीवन का अवलम्ब नष्ट हो जायगा और संसार के लिये मेरा सन्देश लुप्त हो जायगा।

यह इन मनस्वी सन्तापपूर्ण शब्दों में अपना हृदय खोल कर रख देता है—

जब मैं दुर्बल और असहाय हो जाऊँगा तब मेरा कोई भी पुत्र मेरे अपने ही संदेश द्वारा मुझे अनुप्राणित न कर सकेगा। मेरी मृत्यु के अनन्तर मेरा कोई पुत्र मेरी ध्वजा के नीचे स्वातंत्र्य-युद्ध के लिये संसार को आमंत्रित न कर सकेगा।

देवयानी दीप्तिमय नेत्रों से उत्तर देती है—

नहीं पिताजी! आप मेरे पिता हैं, मेरे शिक्षक हैं और मेरे देवता हैं। आपने बड़े स्नेह से मुझे पाला है, अपने सन्देश से मुझे प्रोत्साहित किया है। आपकी कीर्ति और पराक्रम मेरा अपना है। आपके मित्र मेरे अपने हैं और आपके शत्रुओं को मैं अपना भी शत्रु ही मानूँगी।

वह फिर कहती है—

आगे से आपकी आज्ञा ही मेरा धर्म और आपकी आशा ही मेरा ध्येय होगी। मूर्तिमती स्वतंत्रता—आपके महान् कार्यों की स्मृति ही मेरे जीवन का श्वास होगी।

फिर उन पर्वत-शिखरों की ओर, जिनपर देवगण विश्वास करते हैं, देखकर निरस्कार-पूर्वक पुकार कर कहती है—

हे इन्द्र! सुनो। हे बृहस्पति! सुनो। आज से शुक्र पुत्रहीन नहीं हैं।

कच भय से कम्पित हो दूर से ही इन शब्दों को सुनता है और विवर्णमुख हो जाता है, क्योंकि उसे अपने पिता की आज्ञा थी कि इस कन्या से पाणिग्रहण कर वह उसे स्वर्ग में ले आये। वह कहने लगता है—

हे देवाधिपति! क्या मुझे इस स्त्री को अपनी परिणीता पत्नी बनाना होगा? आकाश फट जायगा, पृथ्वी धँस जायगी और स्वयं स्वर्ग भी शून्यारण्य बन जायगा।

: २ :

देवयानी कच से प्रेम करती है। वृषपर्वा और उसके अनुयायियों ने अपने इस शत्रु के प्रति अपने अविश्वास को उन दोनों के बीच बढ़ने न देकर कच को मार डालने का निश्चय कर लिया है। दैत्य यह जानते थे कि शुक्र अपने सिवाय किसी भी व्यक्ति को जीवित कर कर सकते हैं अतः उन्होंने कच के टुकड़े-टुकडे करके और उन्हें अन्न की भाँति पकाकर स्वयं शुक्र को ही खाने के लिए दे दिया।

देवयानी, जो एक प्रचण्ड नारी है, जब कच को नहीं पाती तो अपने पिता के पास जाकर उनसे उसे जीवित कर देने के लिये आग्रह करती है, किन्तु शुक्र यह कह कर निषेध कर देते हैं कि 'कच मेरे घोर शत्रु का पुत्र है।'

देवयानी पिता को उनकी दुष्टता के लिये धिक्कारती है, क्योंकि वह अपनी प्रिय पुत्री की रक्षा करना भी नहीं चाहता। स्नेही पिता को दया आजाती है और वह अपनी मंत्र-शक्ति से कच को पुकार कर कहते हैं कि वह जहाँ-कहीं भी हो वहीं से उत्तर दे। कच उत्तर देता है कि

वह स्वयं शुक्र के ही उदर में है, और जब तक शुक्र को काटा न जाय तब तक उसका बाहर निकल कर आना असम्भव है। देवयानी क्रोध से आकुल होजाती है। वह चाहती है कि उसके पिता कच को सञ्जीवनी मंत्र—जिससे मृतक को पुनर्जीवित किया जा सकता है—सिखा दें। इस प्रकार कच शुक्र के उदर से उसे मार कर निकल आयेगा और पुनर्जीवित हो जायगा। इसके अनन्तर कच उसी जादू के मंत्र से स्वयं शुक्र को भी जीवित कर देगा। देवयानी प्रचण्ड हो उठती है; पिता को धिक्कारती है और उनके चरणों पर गिरती है। शुक्र वज्र-जैसे कठोर हैं। वे दानवों की अजेयता के एकमात्र आधार सञ्जीवनी विद्या को अपने शत्रु के पुत्र के हाथों सौंप देने के लिये कदापि उद्यत नहीं है। देवयानी कटु बनकर पूछती है—

> विद्यानिधि! आप अपने शिष्य कोशिक्षा देने से डरते हैं, और फिर भी अपने को सच्चा ब्राह्मण कहते हैं। क्या यही आपका अपनी सन्तान के प्रति, अपने शिष्य के प्रति वात्सल्य है? ऐसे पिता की पुत्री होने की अपेक्षा मैं इस पर्वत-शिखर से नीचे गिर कर प्राण दे देना और परलोक में जाकर अपनी माता से भेंट करना श्रेयकर समझूंगी।

शुक्र अपनी प्रिय पुत्री की इच्छा को अधिक समय तक न रोक सके। वे निष्ठुरता से कहते हैं—

> देख, जो तेरी इच्छा हो सो कर और मेरा व मेरे वंश का सर्वनाश कर डाल। शुक्र अपने स्वार्थ के लिये तुझे दुःखी नहीं बनायेगा। जा कुलाङ्गार! मेरी विजय और यश को मेट दे। हे वृहस्पति! मैं स्वयं अपने हाथों तुम्हें विजय प्रदान करता हूं। मैं तुम्हारे पुत्र को पुनर्जीवित करता हूं।"

> तदनन्तर शुक्र कच को सञ्जीवनी मंत्र की शिक्षा देते हैं—
>
> *भय न करो,*
> *पीछे मत हटो,*
> *आत्मसमर्पण न करो।*
> *सदैव संघर्ष करो,*
> *पराजय में, और जय में—*
> *जीवन और मृत्यु में,*
> *इहलोक में, अथवा परलोक में।*

कच मंत्र सीख कर शुक्र का पेट चीर डालता है और बाहर निकल आता है। उसका उद्देश्य अब पूरा हो गया है अतः वह अपने लोक को लौट जाना चाहता है। किन्तु देवयानी सिंहिनी की भाँति उस पर प्रचण्ड हो जाती है और शुक्र को पुनर्जीवित करने के लिये उसे आज्ञा देती है। उसके आनाकानी करने पर वह क्रोध से चिल्ला कर कहती है—"तुम मेरे पिता को पुनर्जीवित करने में आनाकानी करते हो?" कच डर जाता है। देवयानी अपनी आज्ञा पालन कराने के लिये कठोर होकर खड़ी है। अन्त में कच को मानना पड़ता है। कच मंत्र का उच्चारण करता है और शुक्र जीवित हो उठते हैं।

कच कृतज्ञतापूर्वक देवयानी की सहायता के लिए आभार-प्रदर्शन करता है—

देवयानी ! तुम्हीं मेरी सञ्जीवनी हो । तुम्हारे बिना मैं मृत ही रहता ।"

देवयानी उत्तर देती है—

कच ! मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकती । तुम विद्यानिधि बृहस्पति के पुत्र हो, मैं शुक्र की आत्मजा हूँ । तुम वाणी हो, मैं कर्म हूँ । सत्य को शब्दों के व्यर्थ आडम्बर में छिपाने से क्या लाभ ? आओ हम दोनों पिता के पास चलकर विवाह कर लें । हमारा-तुम्हारा यह विवाह स्वर्ग और पृथ्वी का विवाह होगा ।

कच देवयानी से विवाह करने के लिये प्रसन्न है, किन्तु उसे अपनी बधू का यथार्थ परिचय नहीं है । वह देवयानी से एक आज्ञाकारी पत्नी के रूप में उसके साथ देवलोक में जाकर रहने का प्रस्ताव करता है ।

देवयानी आग्नेय नेत्रों से उत्तर देती है—

जाओ तुम देवराज इन्द्र के पास लौट जाओ । क्या तुम मुझे—शुक्र की पुत्री को—बृहस्पति की पुत्रबधू बना कर देवराज की सभा में घसीट ले जाना चाहते हो ? तुमने अब सञ्जीवनी विद्या अधिगत करली है । प्रिय कच ! तुम देवयानी और सञ्जीवनी दोनों को ही अपनी वशवर्ती क्यों नहीं बना लेते ?

कच में इस साहसी और पराक्रमी युवती का सामना करने की क्षमता नहीं है । इसके पश्चात देवयानी कच को नई लालसाओं का प्रलोभन देती है—

देवयानी : प्रियतम आओ ! मैं तुम्हें वह सुख प्रदान करूँगी जो आज तक किसी स्त्री ने किसी पुरुष को नहीं दिया है । मेरे आलिङ्गन में तुम देवलोक को भूल जाओगे । मेरे स्फूर्तिदायक शब्दों को सुनकर तुम्हें गन्धर्वों के गान भी विस्मृत हो जायँगे । तुम शुक्र के प्रधान शिष्य बन जाओगे । तुम वाणी और विद्या दोनों में अपने पिता से भी बढ़ जाओगे ।

कच : देवयानी ! हठ न करो । मैं देवलोक का निवासी हूँ । देवों के पुरोहित मेरे पिता हैं । देवराज मेरे स्वामी हैं ।

देवयानी : देवराज, तुम्हारे स्वामी ! कच, तुम एक उच्च ब्राह्मण हो और हो शुक्र के शिष्य । क्या तुम देवराज को अपनी आत्मा बेचोगे ? क्या तुम स्वतंत्रता के उस सन्देश को भूल जाओगे जो तुम्हारे गुरु ने तुम्हें सिखाया है और क्या तुम इन्द्र के आगे नतमस्तक हो जाओगे ? तुम उन लोगों में अग्रगण्य हो जो न किसी के सामने नत होते हैं और न किसी को नत बनाते हैं— सञ्जीविनी विद्या के आचार्य—अमरों में सर्वश्रेष्ठ जो न किसी की दासता करते हैं और न किसी को अपना दास बनाते हैं, और फिर भी तुम ऐसी बातें कहते हो ?

कच (दृढतापूर्वक) : बृहस्पति का पुत्र अपने पिता का आदेश पालन करेगा और उसी के पद-चिह्नों का अनुसरण करेगा ।

देवयानी : कच ! मेरे प्रियतम । तुम विद्वान् हो और महत्वाकांक्षी भी ।

वहाँ तुम केवल पुरोहित के पुत्र और इन्द्र की सभा के एक रत्न ही बने रहोगे, यहाँ तुम मेरे पति, मेरे पिता का दाहिना हाथ और वृषपर्वा के कुल-पुरोहित बन जाओगे ? क्या अब भी तुम सन्तुष्ट नहीं हो ? अच्छा, मेरे साथ आओ। चलो हम-लोग पिताजी के पास चलें। वह, तुम और मैं तीनों मिल कर ऐसे युद्ध करेंगे जिन्हें संसार ने आज तक कभी नहीं देखा है। हम स्वर्ग की गद्दी को नष्ट कर डालेंगे और देवराज का गर्व चूर कर देंगे। तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर हम नक्षत्रों के मध्य में सदा अमर रहेंगे। अपने जीवन के संदेश से देवों, दानवों और मानवों का उत्थान करेंगे। हम उनके हृदय से भय और कायरता दूर कर देंगे और आत्म-विश्वास भर कर उन्हें स्वाभिमानी बनायेंगे।

अत्यन्त गर्व और तेज से युक्त देवयानी सीधी खड़ी होकर बोल रही है। उसके स्तन उच्छ्वासित हो रहे हैं। इसके अनन्तर बड़ी दृढ़ता और भावपूर्ण चेष्टा से वह कच को अपनी बात मान लेने के लिये कहती है।

कच चकित हो कर देखने लगता है। वह भय से व्याकुल है। इस वीर रमणी के आगे मस्तक झुकाकर वह अपनी पराजय स्वीकार कर लेता है। वह उसके प्रति अपना प्रेम स्वीकार करता है। देवयानी कहे जाती है—

मैंने तुम्हें अपने हृदय का स्वामी बनाया, अपना और अपने पिता के जीवन-सन्देश का अधिपति बनाया।

इसके उत्तर में कच कहता है—

देवयानी ! मुझमें तुम्हारा आमंत्रण स्वीकार करने का साहस नहीं है। तुम नारी नहीं हो। तुम शक्ति की प्रचण्ड देवी हो। मैंने भूल की है, तुम्हारी जाज्वल्यमान देह किसी प्रेमी के लिये नहीं बनी है। इसमें किसी देवी की ज्योति है। तुम्हारी आत्मा उस स्त्री की नहीं है जो अपने पति की सेवा कर सके। यह तो विश्व-संहारिणी विद्युत और अग्नि से निर्मित है। मैं तुम्हें स्वीकार करने का साहस नहीं कर सकता।

देवयानी आहत दर्प के साथ पूछती है—

तब तुम क्या चाहते हो ? क्या पिता को धोखा देने के अतिरिक्त मुझे तुम्हारे साथ विवाह करने के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है ?

फिर कच कहता है —

देवयानी ! तुम चाहो तो मुझे मार डालो। मैं जीवन भर तुम्हारी पूजा करूंगा, किन्तु तुमसे विवाह नहीं कर सकता। मेरे हृदय में अपनी पत्नी को सर्वथा अपनी बनाये रखने की साधारण मनुष्य की शाश्वत् इच्छा विद्यमान है। मैं ऐसी स्त्री को ही अपनी जीवन-संगिनी बनाना चाहता हूँ जो अपना जीवन पूर्णतया मुझ में ही अर्पित कर दे, जो मुझे और मेरे कार्य को ही पूर्णतः स्वीकार करले, जो मेरे सुखी होने पर सुखी रहे और दुःख में मुझे सान्त्वना दे, जो मेरी

पूजा करे और ऐसे बच्चों की माता बने जो मेरा सम्मान करें। जिसे मेरे पिता का, मेरा और उनकी तथा मेरी कीर्ति का प्रबल गर्व हो। तुम बृहस्पति की मनस्विनी पुत्रवधू कैसे बन सकती हो? तुम उनकी आज्ञा को सहर्ष कैसे स्वीकार कर सकती हो? यह कैसे सम्भव है? देवयानी! तुम बृहस्पति की पुत्रवधू कैसे बन सकती हो?

सहसा देवयानी को पुत्र और पुत्री के भेद का आभास हो आता है। वह गर्व से कच की ओर मुड़कर कहती है—

तो मुझे अपनी दयापूर्ण वाणी से बचाओ। पर इतना स्मरण रहे कि अब तुममें शुक्र की कन्या के साथ विवाह करने का साहस नहीं है। जाओ और देवलोक में रहनेवाले सबलोगों से कह देना कि देवयानी अब शुक्र की पुत्री नहीं है। वह उसके लिये पुत्र के समान ही है जिसमें देवों के गर्व को नाश करने की महत्वाकांक्षा है।

अन्त में जब कच स्वर्ग जाने के लिये शुक्र से आज्ञा लेता है तो अपने पिता के समक्ष उसे यह अन्तिम सन्देश देती है:—

जाओ और अपने पिता से कह दो कि तुम-जैसे पुत्र के बदले उनमें शुक्र की पुत्री को पाने की क्षमता नहीं है।

शुक्र गर्वपूर्वक कहते हैं—

और कच! अपने पिता से यह भी कह देना कि शुक्र अब पुत्रविहीन नहीं है।

: ३ :

देवों और दानवों के मध्य युद्ध की अन्तिम स्थिति प्रारम्भ हो जाती है। दानवों का आत्मविश्वास सर्वथा नष्ट हो गया है क्योंकि वे शान्ति के इच्छुक हैं—शुक्र के शब्दों में "शान्ति जो मनुष्यों का नाश कर डालती है, जो वीर पुरुष को एक क्षुद्र कीट के रूप में परिवर्तित कर देती है।"

देवों पर देवयानी के पराक्रम का आतंक पहले से छाया हुआ है। अब उसे मानवों के राजा ययाति की सहायता भी प्राप्त है। दानवों के राजा वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने जब उसे एक कुवें में ढकेल दिया था तो ययाति ने उसे निकाल कर उसकी रक्षा की थी। देवयानी अब स्त्री-सुलभ कला-कौशल के द्वारा उसे आकर्षित करने का निश्चय करती है और इस प्रकार दानवों की सहायता के लिये उसकी अपार सेना प्राप्त कर लेती है।

देवयानी कहती है—

राजन्! मैं एक ऋषि-कन्या हूँ अतः मैं यह नहीं जानती कि मानवकन्या की भाँति किस बात से लज्जा करनी चाहिये। मैं नहीं जानती कि कौन मेरा स्वामी होगा। प्रतिदिन सन्ध्या-समय मैं उस पर्वत-शिखर पर बैठकर विस्तीर्ण जलराशि की ओर देखा करती हूँ जो निरन्तर अपने आनेवाले प्रेमी की प्रतीक्षा में मग्न

हूँ। (फिर अर्द्ध निमीलित नेत्रों से वह कहती है)—मैं अपने प्रेमी को देखती हूँ जो लाखों में एक है, जो कामदेव के तुल्य सुन्दर, स्कन्द के समान पराक्रमी और तुम्हारे पितामह पुरूरवा के सदृश प्रेमी है। पृथ्वी को भी कम्पित कर देनेवाला वह असहायों का सहायक होगा, वह विश्वविजयी तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा करेगा।

इस आश्चर्यमयी रमणी के संसर्ग में उसके इन प्रलोभनपूर्ण प्रचण्ड शब्दों से उत्साहित होकर ययाति में तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा जाग उठती है। शनैः-शनैः देवयानी उसे अपने साथ विवाह करनेके लिये प्रेरित करती है। उत्तर में ययाति कहता है—

प्रियतमे ! इस संसार मे मेरा जन्म हुआ और तब मैंने तुम्हें उपलब्ध किया। अब इन घटनाओं का रहस्य मेरी समझ मे आया। यह सब क्यों हुआ ? केवल इसीलिये कि मैं तीनों लोकों का स्वामी बनने के लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ। तुम्हारे शब्दों ने मेरे जीवन के प्रसुप्त उद्देश्य को जगा दिया है।

देवयानी के सौन्दर्य और वासना से आकर्षित हो ययाति उससे विवाह कर लेता है। किन्तु उसमें एक सामान्य मानव की लालसा थी। वह देवयानी से नन्दनवन में चलकर सुहाग-रात मनाने का प्रस्ताव करता है। देवयानी हृदयहीन है। वह कहती है—"इन्द्रासन प्राप्त किये बिना हम सुखभोग कैसे कर सकते हैं?" वह अपने पति को सुखभोग से दूर रखती है और साथ ही वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा को भी दासी-कन्या के रूप मे अपने साथ ले जाती है। देवयानी ने शर्मिष्ठा को उसे कुवें में ढकेल देने के अपराध मे यह दण्ड दिया है।

: ४ :

पन्द्रह वर्ष बीत जाते हैं। देवयानी की प्रेरणा से ययाति देवों से निरन्तर युद्ध करता चला आरहा है। इस अविश्रान्त युद्ध-प्रवृत्ति में उसका एकमात्र सुख शर्मिष्ठा ही रही है जो प्रेम और शान्ति से पूर्ण एक छोटे से घर में रहती है। बहुधा वह देवयानी से अपरिचित इस स्थान में छिपकर चला आता है। ययाति शर्मिष्ठा से कहता है—

प्रिये, मेरी अशान्त आत्मा के लिये एकमात्र तुम्ही शान्ति का स्वर्ग हो। यहाँ, इस झोंपड़ी म तुम्हारी संगति मे मैं इन्द्रासन के लिये सतत संघर्ष करने-वाला वीर नहीं हूँ। मेरा यह घर छोटा-सा किन्तु शान्तिमय है। यहाँ मेरी प्रतीक्षा मे निरत तुम मेरी प्रियतमा निवास करती हो। यह मेरा शान्तिमय संसार है जो यद्यपि छोटा-सा है, किन्तु इस लोक की तुम अधिष्ठात्री देवी हो।

मानव ययाति युद्ध से श्रान्त होगया है। देवयानी पति की खोज में इस स्थान पर पहुँच जाती है और ययाति को अपनी घृणा की पात्र शर्मिष्ठा एवं उसके पुत्र की संगति मे देखती है। स्वभावतः वह उसके प्रति प्रचण्ड और कठोर हो जाती हैं और शर्मिष्ठा तथा ययाति दोनों को फटकारती है।

शुक्र पहुँच जाते हैं। शर्मिष्ठा उनके पैरों पर गिर पड़ती है और ययाति के जीवन की

रक्षा के लिये प्रार्थना करती है—

> दयामय ! मुझ पर दया कीजिये। इनसे कुछ न कहिये। यदि आपको दण्ड देना है तो मुझे दीजिये। गुरुवर ! मेरे पुत्रों को आप भस्म कर दीजिये, किन्तु इन्हें छोड़ दीजिये। देवयानी ! मैंने तुमसे केवल वही वस्तु ली है जिसका तुमने परित्याग कर दिया है। ये मुक्त रहें और जीवित रहें। मैं आजीवन तुम्हारी ऋणी रहूँगी।

देवयानी अपने पिता से शर्मिष्ठा को शाप देने के लिये कहती है किन्तु वे इससे सहमत नहीं हैं। वे बुद्धिमान् हैं। अतः देवयानी से कहते हैं—"मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं है कि कामासक्त ययाति तुम्हारी क्रूर और सर्वापहारी संगति की अपेक्षा शर्मिष्ठा के शान्तिप्रद प्रेम का अभिलाषी है।" वे शर्मिष्ठा को शाप देना अस्वीकार कर देते हैं। वे केवल ययाति को दण्ड देना चाहते हैं अतः वे उसे शाप देते हैं कि उसका शेष जीवन वृद्धावस्था में परिणत हो जायगा। ययाति अकाल-वृद्धावस्था की आशंका से भयभीत हो किंकर्तव्य-विमूढ हो जाता है। इसके अनन्तर शुक्र शोकाकुल देवयानी से कहते हैं—

> तुम एक ऋषि कन्या हो; तुम युवती हो; तुम्हें अभी अपना लक्ष्य अर्थात् विजय प्राप्त करनी है। तुममें युद्ध करने की आकांक्षा है। यदि तुम भी अपने जीवन में संघर्ष से अभिभूत हो जाओगे तो मुझे प्रेरणा देनेवाला कौन होगा ? कौन इन्द्रासन को समूल नष्ट करेगा ?

ययाति, जो अब वृद्ध होगया है और जिसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग कांपता है, अपनी युवावस्था को फिर पाने का इच्छुक है। अत्यन्त नम्रतापूर्वक वह ऋषि से उसे पुनः युवा बना देने के लिये प्रार्थना करता है—

> मुझे मेरी युवावस्था लौटा दीजिये। मुझे मेरी शक्ति, मेरा पराक्रम, मेरा वेगमय रक्त और मेरा मांसल शरीर लौटा दीजिये। जीवन का रस मुझमें अब भी विद्यमान है। मेरी वासनाओं की अभी तृप्ति नहीं हुई है। मैं यह वृद्धावस्था कैसे सहन कर सकूंगा ?

वह शुक्र के सामने नत होकर उनके पैर पकड़ लेता है। अन्त में शुक्र को दया आ जाती है और वे कहते हैं—"यदि कोई युवा तुम्हारी वृद्धावस्था लेने को तैयार हो तो तुम पुनः युवा हो सकते हो।" देवयानी अपने पति के अधःपतन की इस चरम-सीमा को देखकर अत्यन्त कुपित है। शर्मिष्ठा अपने पुत्र पुरु को अपने पिता की अवस्था ले लेने के लिये अनुरोध करती है और ययाति पुनः युवा हो जाता है।

ययाति अब पुनः युवा है। देवयानी और भी अधिक निर्दय और दुराग्रही बन गई है। ययाति क्रोध से उन्मत्त हो जाता है। देवयानी कहती है—

> राजन् ! तुमने इस लोक पर विजय पाई है, अब तुम्हें तीनों लोकों पर अवश्य विजय प्राप्त करनी चाहिये।

ययाति भीरुता से कहता है—

मैं युवा हुआ नहीं कि फिर वही बात; तीनो लोकों की विजय।

देवयानी उत्तर देती है—

हाँ, आओ, स्वर्ग की अट्टालिकाएँ मुझे बुला रही है और हमारी सेना तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।

ययाति कठोरता से उत्तर देता है—

देवयानी ! दैवी ज्योति ! मैं तुमसे ऊब गया हूँ। तुम न तो स्वयं विश्राम करती हो और न किसी दूसरे को ही विश्राम करने देती हो।

किन्तु साथ ही अन्त में उसे देवयानी के सामने झुकना पड़ता है। ययाति, देवयानी और वृषपर्वा के नेतृत्व मे दानव मानव और देवलोक पर आक्रमण करते है। देवों के स्वामी इन्द्र के सिंहासन पर बैठने का अभिलाषी ययाति इस आक्रमण की प्रशंसा करता है। वह दिव्य सिंहासन के प्राप्त करने की भावी आशा से हर्षोन्मत्त है। देवयानी आकर उसे बतलाती है कि शुक्र क्या चाहते हैं—

इन्द्रासन के टुकड़े-टुकड़े कर डालो और उसका एक-एक टुकड़ा प्रत्येक वीर को दे दो। वज्र को चूर्ण कर उसे धूलि में मिला दो। स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों को मिला कर एक कर दो। देव-दानव और मानव सभी समान और स्वतंत्र होकर साथ-साथ विचरण करें।

ययाति क्रुद्ध हो जाता है। उसने देवत्व के गौरव को विनाश करने के उद्देश्य से इन्द्र पर विजय नहीं पाई है। उसके विचार म गुरु वृद्ध हो गये हैं।

देवयानी उसे शान्त करने का प्रयत्न करती है—

मानवपुत्र, धैर्य रक्खो। अवस्था से परिणत वृद्ध शुक्र पर दोषारोपण न करो। क्या तुम समझते हो कि यह विजय तुमने अपने पराक्रम से प्राप्त की है? वृषपर्वा भी देवों से अपना बदला लेने के लिये अत्यन्त उत्सुक है।

ययाति इन्द्रासन पर बैठने का अभिलाषी है। इस स्थल पर ययाति और देवयानी का वार्तालाप महत्वपूर्ण है—

यदि हम सिंहासन को नष्ट कर देंगे तो बैठेंगे कहाँ?

इस स्वच्छ समतल भूमि पर जहाँ ऊँच और नीच का कोई भेद नहीं है।

क्या हम इस सिंहासन पर नहीं बैठेंगे?

नहीं राजन्! नहीं। इससे क्रूरता और अत्याचार का स्रोत बहता रहता है। जो भी इस पर बैठा है उसने युग-युग से पक्षपात और भ्रष्टाचार को प्रश्रय दिया है; अधीनता और असहायता का प्रचार किया है और त्रास एवं आतंक को जन्म दिया है।

मैंने अपने पराक्रम से इन्द्र का यह आसन प्राप्त किया है। मैं इस पर अवश्य बैठूंगा। मै वज्र को अपने हाथ में ग्रहण करूँगा। तीनों लोक मेरी आराधना करेंगे। यदि तुम इसमें मेरा भागी नहीं बनना चाहती हो तो मैं ऐसा

करने के लिये शर्मिष्ठा को बुला लूँगा और यह भी क्यों, इन्द्र की पत्नी जो है?

देवयानी तिरस्कार-पूर्वक ययाति का उपहास करती है।

वृषपर्वा विजय के फलस्वरूप देवों के लोक पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। किन्तु ययाति विजेता के अधिकार से वृषपर्वा को उसकी अपनी जन्मभूमि अधोलोक में जाकर रहने के लिये आज्ञा देता है। अब ययाति और वृषपर्वा दोनों पुराने मित्रों में कलह होती है और द्वन्द्व-युद्ध में ययाति वृषपर्वा को मार डालता है।

फिर ययाति देवों के सनातन आसन पर बैठता है और मन में सोचता है—

अपनी इच्छा के अनुकूल संसार का शासन करना, अपनी रुचि के अनुसार जीवन को ढालना और करोड़ों व्यक्तियों की श्रद्धा का भाजन बनना—यह गौरव और सम्मान मुझ जैसे भाग्यशाली जन ही प्राप्त कर सकते हैं। पितृगण! आप अपने लोक से इधर दृष्टि डालिये। मेरी कीर्ति आपके वीर चरित्रों को अमर बना देगी।

इन्द्र को बन्दी के रूप में ययाति के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। ययाति अभिमान से भरकर इन्द्र से कहता है—

जाओ अपने देवों को साथ लेकर अधोलोक में वास करो। वृषपर्वा मर गया है अतः अब वहाँ स्थान रिक्त है। तुम मेरी सेवा करना और मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा।

इन्द्र प्रत्युत्तर देता है—

हम सेवा द्वारा संरक्षण पाने की इच्छा नहीं करते। हम अपने सिवा अन्य किसी से रक्षा की आशा नहीं रखते।

ययाति स्वभावतः क्रुद्ध हो जाता है और इन्द्र को नाश करने की धमकी देता है। इस स्थल पर इन्द्र और ययाति का वार्तालाप उल्लेखनीय है—

इन्द्र : तुम मुझे नहीं मार सकते।

ययाति (धमकी के स्वर में) : इन्द्र का यह आसन मेरे अधिकार में है।

इन्द्र : आसन उसी का है जो इस पर बैठता है।

ययाति : यह वज्र मेरा है।

इन्द्र : अस्त्र उसी का है जो निर्भय है।

ययाति (क्रोध से) : क्या मैं भीरु हूं?

इन्द्र ययाति के हाथ से वज्र छीन लेता है। ययाति भयभीत होकर सिंहासन के पीछे छिप जाता है। इन्द्र उसे मार डालने की धमकी देता है—

अभिमानी मनुष्य! क्या तुम यह समझते हो कि हम तुमसे और तुम्हारी सेना से परास्त हुए हैं। मूर्ख! हम उस प्रतापी विजय—गुरु की निर्बाध विजयेच्छा से अभिभूत हुए हैं।

इसके अनन्तर इन्द्र ययाति को पृथ्वी पर फेंक देता है।

: ५ :

अधोलोक की वाटिका में मानव और दानवों के सड़ते हुए शवों के मध्य मृत वृषपर्वा पड़ा हुआ है। ययाति भी मूर्च्छित हो वहीं पड़ा है। देवयानी रणभूमि में शुक्र की शक्ति को स्वीकार न करनेवाले कायरों को शाप देती हुई घूम रही है। वह घृणा से अपने धराशायी पति की ओर देखती है।

ययाति की मूर्च्छा दूर होती है और वह स्वप्न में अपनी भयंकर पत्नी को देखकर भयभीत हो जाता है और बड़बड़ाता है—

नहीं, नहीं, यह स्वप्न है। वह हठी स्त्री तो अपने पिता के पास चली गई है। वह अब लौटकर नहीं आ सकती। इन्द्र! मुझ पर दया करो।

फिर उसे देवयानी की आवाज़ सुनाई देती है—

मैं तुम्हारे पास नहीं आई हूं। इन्द्र ने तुम्हें स्वर्ग से नीचे फेंककर मेरे चरणों में गिरा दिया है। इसमें मेरा क्या वश है? (दुःख से कहती है) राजन्! एक साहसपूर्ण युद्ध की स्मृति मात्र से ही तुम इतने त्रस्त हो। मैं तुमसे अब युद्ध के लिये, अपने पुरुषार्थ को पुनः प्राप्त करने के लिये और अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिये कुछ न कहूंगी। तुम अपने भूलोक को जाओ। आदरणीय होकर भी तुम देवों के सम्मुख विनत बनो। अञ्जलिबद्ध होकर निरन्तर इन्द्र के नाम का जप करो। अश्रु पूर्ण नेत्रों से स्वर्ग के देवता से दया की याचना करो। अपनी आत्मा का सर्वनाश कर डालो जिससे तुममें एक कृमि की भी शक्ति न रहे। तुमने इन्द्रासन पर बैठने की आशा की थी। नीचे तुम्हें अब इन्द्र की कृपा प्राप्त होगी। तुम्हारा वही देवता अब तुम्हें जीवन के लिये पर्याप्त अन्न देगा, सेवा के लिये पर्याप्त शक्ति और केवल उतना ही सुख देगा जिससे तुम आत्महत्या न करलो। और जब वह तुम्हें वह सब कुछ दे दे जिस पर तुम्हारा स्वत्व है तो तुम हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक उसे ग्रहण कर लेना और उसके नाम की सराहना करना कि उसने तुम्हें उससे अधिक दयनीय नहीं बनाया जितना तुम अब तक रहे हो।

ययाति को अब अपनी शक्ति के सम्बन्ध में कोई भ्रान्ति नहीं रह गई है। वह कहता है—

मै अशक्त हूँ। मैं अपने देवता का सेवक हूँ। उसकी कृपा ही केवल मेरी शक्ति है।

इतने में ही इन्द्र आ जाता है और वह अपनी दौहित्री देवयानी को हृदय से लगाना चाहता है। किन्तु देवयानी कठोरता से उससे कहती है—

दूर खड़े रहो। तुम पराधीनों के स्वामी और अधिपति हो। मुझे केवल उसी समय हृदय से लगाने आना जब तुम मेरे अधीनस्थ के रूप में आओ। इस समय तो हम पीड़ितों की स्वतंत्रता की आधारशिला स्थापित कर रहे हैं। तुम

शुक्र की पुत्री का स्पर्श नहीं कर सकते।

चट्टान के पीछे शुक्र आ जाते हैं। इन्द्र उन्हें अपने विजयोत्सव में सम्मिलित होने को निमंत्रण देते हैं। शुक्र हँस देते हैं। दोनों में वार्तालाप होता है—

शुक्र : इन्द्र ! तुम भूल कर रहे हो।

इन्द्र (विनत होकर) : भृगुश्रेष्ठ ! कृपा कीजिये।

शुक्र : वत्स ! क्या मैं तुम्हें यह आशीर्वाद दूं कि तुम्हारा सिंहासन सदा के लिये नष्ट हो जाय और तुम्हारा वज्र खण्ड-खण्ड हो जाय। किन्तु तुम ऐसा नहीं चाहोगे।

इन्द्र गर्व से घोषणा करता है कि त्रिलोकी में ऐसा कोई नहीं है जो उसकी शक्ति का सामना कर सके।

त्रिलोकी में किसी को तुम्हारा सामना करने का साहस नहीं है। इसीलिये तो मैं नहीं आऊंगा। मैं तुम्हारे पास तभी आऊंगा जब तुम अपने वज्र के बल से सिंहासनारूढ़ नहीं होगे। किन्तु उससे पूर्व नहीं।

शुक्र दृढ़ हैं और इन्द्र की विजय से भी अविचलित हैं। दोनों में वार्तालाप होता है।

इन्द्र ! ये लोक जो आज तुम्हारे हैं कल मेरे होंगे। तुमने सब कुछ जीत लिया है, किन्तु मैं अजेय हूँ। जहां मेरा चरण पड़ेगा, वहीं सर्वापहारी शक्ति का उदय होगा। जहाँ मेरी वाणी सुनाई देगी वहीं स्वतन्त्रता की ध्वनि प्रतिध्वनित हो उठेगी।

इन्द्र (विस्मित होकर) : किन्तु आप तो अकेले हैं !

देवयानी कह उठती है—

देवाधिपति ! ज्योति का देवता केवल एक ही है और उत्साह-वर्द्धक आदर्शों का मूल-स्रोत एक ही है।

इन्द्र शुक्र से अनुरोध करता है कि वह उसको दौहित्री देवयानी को उसके साथ जाने की अनुमति दे दें। किन्तु देवयानी अस्वीकार करते हुए कहती है—

मैं उस सर्वश्रेष्ठ योद्धा की सेवा करूँगी। मैं बन्धनों का नाश करनेवाले इस महापुरुष के पास रहूँगी और दासों को विद्रोह करने के लिये, कायरों को लड़ने के लिये और पराधीनों को स्वामी बनने के लिये प्रोत्साहित करूँगी।

इन्द्र अपने हठ पर आरूढ़ है। वह कहता है कि देवयानी ययाति की पत्नी है और उसकी मृत्यु के अनन्तर नारी के नाते वह ययाति के पूर्वजों के लोक में ही जायगी। यह अपने पिता के पूर्वजों के निवास-स्थान में अपने पिता के साथ नहीं रह सकती। इस स्थल पर शुक्र, इन्द्र और देवयानी में वार्तालाप होता है—

शुक्र : तुम ठीक कहती हो।

देवयानी (उद्वेग से) : ये मातामह क्या कहते हैं।

शुक्र : पुत्रि ! तुम्हारे मातामह ठीक कहते हैं। मैं तुम्हें अपने साथ बाँध

कर नहीं रख सकता। जब तुम मरोगी तो तुम्हें अपने पति के पूर्वजों के पास ही जाना होगा न कि मेरे।

देवयानी (क्षुब्ध होकर): पिताजी! क्या मैं आपके और आपके पूर्वजों के साथ नहीं रह सकती?

इन्द्र (विनीत भाव से): गुरुवर! इसे पीछे छोड़ दीजिये।

शुक्र: देवयानी! तुम्हारी क्या इच्छा है?

इन्द्र: इसमें उसकी इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता।

देवयानी (गर्व से मस्तक ऊँचा करके): मातामह! ठहरिये। (ज्योतिर्मय नेत्रों से)—मैं देखूँगी कैसे मेरे पूर्वज मुझे मेरे पिता से पृथक् करेंगे। पिताजी! मैं इहलोक और परलोक दोनों में आपके साथ रहूँगी। (विस्फारित-नेत्रों से) मैं अपने नेत्रों के सम्मुख संसार की स्वतन्त्रता और उल्लास को देख रही हूँ। आओ हम उन्हें सञ्चित करें।

वह शुक्र के कन्धों पर हाथ रख देती है। और शुक्र उसे सान्त्वना देता है—

तो आओ पुत्रि! हम अपनी यात्रा आरम्भ करें। पूर्वज हमें कैसे बन्धन में डाल सकेंगे जबकि त्रिलोकी का कोई भी व्यक्ति हमें भयभीत नहीं कर सकता। और पुत्रि! यदि आवश्यकता हुई तो हम अपने लिये और संसार की स्वतंत्रता के निमित्त कार्य करनेवालों के लिये नये स्वर्ग का निर्माण कर लेंगे।

पिता और उसकी पुत्र-समान पुत्री देवयानी शनैः-शनैः लुप्त हो जाते हैं। चन्द्रमा के प्रकाश में उनकी छाया क्षीण होती है और चारों दिशाएँ संसार के उल्लास की ध्वनि से भर जाती हैं।

: ६ :

पुरन्दर-पराजय

(नाटक)

ग्रन्थकार के नाटकों में सबसे प्रथम 'पुरन्दर-पराजय' अश्विनीकुमारों के साथ सुकन्या के विवाह की पौराणिक कथा को लेकर रचा गया है।

क्षत्रिय-पुरोहित भृगुओं के नायक च्यवन ने देवराज के साथ युद्ध किया। इन्द्र ने महर्षि को शाप दिया जिससे वे युवावस्था में भी वृद्ध और जर्जर हो गये।

इन्द्र और भृगुओं में निरन्तर युद्ध हो रहा है। भृगु कुपित हैं और अपने नायक का उत्तराधिकारी बनाने के लिये वे इस जराग्रस्त महर्षि का सर्याता की कन्या युवती सुकन्या के साथ विवाह करा देते हैं।

उसे इस वृद्ध और संज्ञाहीन च्यवन के साथ रख दिया जाता है। वह भाग जाना

चाहती है किन्तु भृगुओं के इष्टदेव अग्नि उसे रोक लेते हैं।

सुकन्या वासना पर विजय नहीं पा सकती अतः वह अश्विनीकुमारों को उसे अपनी वधू बना कर ले जाने के लिये आमंत्रित करती है। यह आमंत्रण एक कामासक्त युवती की निष्कपट प्रार्थना है। सहसा उसे विवाह-बन्धन की पवित्रता का स्मरण हो आता है और इस बात का भी ध्यान होता है कि देवों ने च्यवन के साथ उसे एकसूत्र में बांध दिया है। सुकन्या के स्वगत संवादों में उसके गर्व, सामाजिक भावना और पतिव्रत धर्म की प्रेरणा का सुन्दर चित्रण किया गया है। यह विचार उसकी पाशविक वृत्ति पर विजय प्राप्त कर लेता है। और दूसरे दिन जब अश्विनीकुमार उससे मिलने आते हैं तो उनके साथ जाना अस्वीकार कर देती है।

अश्विनीकुमार प्रसन्न होकर च्यवन को वृद्धावस्था से मुक्त कर देते हैं। इन्द्र च्यवन के साथ सन्धि कर लेता है!

इस क्षीण प्रसङ्ग को आधुनिक उद्देश्य से परिवर्द्धित किया गया है अर्थात् यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि विवाह एक पवित्र संस्कार है। यह विचार पूर्वेतिहास-काल के प्राचीन और सरल-हृदय मनुष्यों में किस प्रकार उत्पन्न हुआ था।

यह नाटक भारतीय साहित्य में पौराणिक विषयों को उनके परम्परागत वर्णन से मुक्त करने में निश्चय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वातावरण अधिकांश में अथर्ववेद से लिया गया है जिसमें कितनी ही चमत्कारपूर्ण और अद्भुत विधियां हैं।

: ७ :

अविभक्तात्मा

(नाटक)

इस नाटक में वशिष्ठ और अरुन्धती के प्रेम का वर्णन है। वशिष्ठ उन सप्त-ऋषियों में से एक हैं जो अन्त में आकाश में सप्तर्षि नक्षत्रों के रूप में (जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है) परिणत होगये थे। वशिष्ठ की पत्नी अरुन्धती ही एकमात्र ऐसी स्त्री थी जिसने अपने पति वशिष्ठ की एक अविभक्त संगिनी के रूप में वशिष्ठ नक्षत्र के समीप ही स्थान पाया। कितने ही संस्कारों में वशिष्ठ के साथ अरुन्धती की भी उपासना होती है। प्रत्येक विवाहित दम्पति का ध्यान संस्कार के सम्पन्न होने पर तुरन्त ही गृहस्थ-जीवन के इष्टदेवता इन दोनों नक्षत्रों के प्रति आकर्षित किया जाता है। कालिदास के कथनानुसार महादेव शिव भी अपने पति को चिरसंगिनी अरुन्धती के दर्शन करने के कारण ही पार्वती से विवाह करने के लिये प्रवृत्त हुए थे।

अविभक्तात्मा एक नाटक है जिसकी कथावस्तु वशिष्ठ और अरुन्धती का प्रेम है। यद्यपि यह प्रेम सदा आदर्श माना गया है किन्तु भारतीय साहित्य में पहले कभी इसका वर्णन

नहीं किया गया। इस ग्रन्थ में मुन्शीजी ने पति-पत्नी की पूर्ण एकता के अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यही 'अविभक्तात्मा' की कथावस्तु है जिसमें ग्रन्थकार ने अपने परवर्ती कितने ही ग्रन्थों की रूपरेखा निश्चित की है।

इस नाटक में आर्य-जीवन के उषाकाल से सम्बद्ध एक प्रसंग का पुनरुत्थान करने की चेष्टा की गई है। किसी समय आर्य मेरु पर्वत के चतुर्दिक सुवर्णभूमि पर तुषार-पात हुआ। उन्हें अन्य देशों में जाना पड़ा। विवस्वत् के पुत्र मनु ने आर्यों के पांच गणों की रक्षा की जो युगों तक इधर-उधर घूमते रहे। सप्त प्राचीन ऋषि सप्त-नक्षत्रों के रूप में, जिन्हें 'ऋक्ष नक्षत्र मंडल' अथवा 'सप्तर्षि मण्डल' कहते हैं, परिणत होगये। वरुण देवता ने आर्यों को यह वचन दिया कि ये सभी महान सप्तऋषि, जिनसे यह नक्षत्रमण्डल बना है, फिर कभी जीवित ऋषियों के रूप में प्रकट होंगे और जब ऐसा होगा तभी आर्यों को एक ऐसा स्थान प्राप्त होगा जहाँ वे अन्त में सुखपूर्वक रह सकेंगे। छः ऋषियों का जन्म हो चुका था, पर सप्तम का जन्म अभी नहीं हुआ था। आर्य बड़े चिन्तित थे क्योंकि वरुणदेव के वचन में एक प्रतिबन्धक वाक्य भी था। यदि सौवर्ष के भीतर सारे सप्त-महर्षि जीवित ऋषियों के रूप में प्रकट नहीं हुए तो सप्तर्षि नक्षत्रमण्डल में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा और आर्यों का विनाश हो जायगा। वशिष्ठ ऋषि तरुण होते हुए भी विद्या और आत्मसंयम में बड़ी ख्याति प्राप्त कर चुके थे और सप्त-ऋषि के स्थान में, जिसकी कि आर्य लोग प्रतीक्षा कर रहे थे, अग्निदेव के द्वारा उनके चुने जाने की आशा थी। महर्षि मेधातिथि की कन्या अरुन्धती जो स्वयं भी एक तपस्विनी थी, सप्तम ऋषि के माननीय मध्यस्थके रूप में बनने की आकांक्षा रखती थी। उस समय जबकि अग्निदेव ने एक महान् यज्ञ के अवसर पर उस ऋषि के मुख की छाया दिखलाने का निश्चय किया था जिसमें कि यह महान् सप्तम ऋषि अवतरित हुआ था।

प्रथम अङ्क आर्यावर्त में सरस्वती नदी के तट पर स्थित मेधातिथि के आश्रम में प्रारम्भ होता है। वशिष्ठ और अरुन्धती परस्पर प्रेम करते थे। तरुण ऋषि वशिष्ठ, जिनके वैदिक मन्त्रों की ख्याति उनकी अवस्था से अधिक फैल चुकी थी, अरुन्धती से उसके पिता के आश्रम में मिलने आते हैं। जब उसके मन्त्रों की सुन्दरता के लिये उनकी प्रशंसा की गई तो उन्होंने नम्रता-पूर्वक कहा कि ये मन्त्र उनके द्वारा नहीं रचे गये हैं—

> प्रातः अथवा सन्ध्या के समय जब मैं सरस्वती के तट पर अथवा पर्वत-शिखर पर बैठता हूँ तो सहस्राक्ष वरुण, जिनका पथ आकाशगामी भी नहीं जानते, मेरे सम्मुख प्रकट होते हैं। उस समय मैं उनसे बातचीत करता हूँ। वे मुझसे बोलते हैं और मुझ में दैवी प्रेरणा भर देते हैं। उनकी शक्ति से मैं शक्तिशाली बन जाता हूँ और मेरी जिह्वा पर देवी सरस्वती आ बैठती है। मैं बोलने लगता हूँ यद्यपि मेरी ऐसी इच्छा नहीं होती। मन्त्र अनायास ही मुझ में प्रस्फुटित होने लगते हैं। ऋषिवर ! मैं स्वयं कुछ नहीं करता। मैं तो केवल अपने आपको उनके हाथों में सौंप देता हूँ।

इसके अनन्तर जिन ऋषियों के रूप में छः महर्षि प्रकट हुए थे उनमें से क्रतु नामक

एक ऋषि एक दूसरे महर्षि पुलस्त्य के आश्रम में आते हैं। पुलस्त्य की इच्छा एक ऐसा शतवर्षीय यज्ञ करने की थी जिससे कि सप्तम ऋषि का उदय आर्यों के बीच हो।

वशिष्ठ बड़े विनीत भाव से क्रतु की निराशा का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं—

भगवन्! आर्यों की शक्ति अक्षय है। आप इतने निराश क्यों होते हैं?

क्रतु इस महत्वाकांक्षी ऋषि की बात पर हँस देते हैं जो वास्तव में उन्हें एक अभिनव शक्ति का संदेश देना चाहता है। तरुण वशिष्ठ उत्तर देते हैं—मैं जो कुछ देना चाहता हूँ वह शान्ति और स्थिर प्रज्ञता (बुद्धिसाम्य) है। शक्ति के द्वारा जब शान्ति और बुद्धिसाम्य का उदय होता है तब ये दोनों ही विजय और उल्लास का रूप धारण कर लेते हैं। वास्तव में महान् देव वरुण के द्वारा प्रवर्तित इस सृष्टिनिर्माण-नियम पर ही उनकी शक्ति निर्भर है।

द्वितीय अङ्क में वशिष्ठ अरुन्धती से उसके साथ विवाह करने का प्रस्ताव करते हैं।

वशिष्ठ : अरुन्धती! मेरे शिष्य अपनी गुरुपत्नी की प्रतीक्षा करते-करते थक गये हैं और उनके अभाव में मेरी गौएँ भी क्षीण हो रही हैं।

अरुन्धती (सिर हिलाती हुई) : वशिष्ठ! पर मैं यह कैसे ग्रहण कर सकती हूँ?

वशिष्ठ (अपने हाथ एक दूसरे पर रखते हुए और अरुन्धती की ओर ताकते हुए) : क्यों नहीं? अरुन्धती! क्या सरस्वती के तट पर महर्षि पुलस्त्य के आश्रम में हम एक दूसरे के नहीं थे। हम साथ खेलते थे, साथ दौड़ते थे, साथ हँसते थे और साथ ही साथ समिधा और कुशा लाया करते थे। एक दूसरे के हाथ में हाथ डालकर हम दौड़ा करते थे और अपने पैरों के टकराने से गिर पड़ते थे। मुझे तुमसे अधिक प्रिय अन्य कोई स्त्री नहीं है और तुम्हें भी मुझ से अधिक प्रिय अन्य कोई पुरुष नहीं है। अरुन्धती! तुम आकर अपनी उपस्थिति से मेरे आश्रम को पवित्र क्यों नहीं करतीं?

अरुन्धती : वशिष्ठ! विवाह की बात क्यों करते हो? तुम एक तपस्वी हो और मैं भी। हमें शारीरिक बन्धनों की क्या आवश्यकता है। गार्हस्थ्य जीवन मेरे और तुम्हारे लिये नहीं है

वशिष्ठ (ओठ दबाते हुए) : क्यों नहीं? सप्त-सिन्धु के इस विस्तृत-भूभाग में तुम्हारी समता कोई नहीं कर सकता और मेरा पद भी तुच्छ नहीं है। मुझे देखते ही तुम्हारे नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो जाते हैं। और तुम्हें देखते ही मेरा हृदय उन्मत्त हो जाता है। अपना यह अविवेक छोड़ो। आगे, हम दोनों हृदय एक दूसरे के अनुरूप होकर उल्लसित हों। (अरुन्धती को सिर हिलाते देखकर) अरुन्धती! एक बार फिर सोच लो। हम दोनों की जीवन-धाराएं एक-दूसरे से पृथक् क्यों प्रवाहित हों? तुम जैसी स्त्री सहस्रों में कोई एक ही होगी और मुझ जैसा पुरुष भी सहस्रों में कोई एक ही होगा। और यदि होंगे भी तो परस्पर मिलते नहीं। और यदि मिलते भी हैं तो उन्हें एक-दूसरे के संसर्ग में

इतना आनन्द नहीं होता और ऐसा भी हो तो अनेक बाधाएं उन्हें एक-दूसरे से दूर रखती हैं। जो बात युगों से हुई है वह आज हम दोनों में घटित है। सब प्रकार से समान शील और व्यसनवाले स्त्री-पुरुष परस्पर मिलने के लिये लालायित रहते हैं। यदि केवल तुम्हारा हठ बाधक न हो तो हम भी एक हो सकते हैं।

अरुन्धती : वशिष्ठ ! बस कीजिये ! माता सरस्वती तुम्हारी रसना पर निवास करती हैं, किन्तु मैं नहीं चाहती कि मुझे विवश किया जाय। मैं नहीं चाहती कि अपनी आयु के इतने वर्ष, जो मैंने कठोर आत्म-संयम में व्यतीत किये हैं, इस प्रकार व्यर्थ नष्ट कर दूं।

वशिष्ठ : अरुन्धती ! तुम ऐसा क्यों कहती हो ? गृहस्थ में लोगों को जो सुख मिलेगा वह एकान्त में कभी नहीं मिल सकता।

अरुन्धती (उद्विग्न होकर) : वशिष्ठ ! मैं जानती हूँ। किन्तु मैं अन्य स्त्रियों की तरह नहीं हूँ। मैं उस सम्पत्ति की रक्षा करने में भी असमर्थ हूँ जो मुझे अनायास ही प्राप्त है। मैं पागल हो रही हूं।

वशिष्ठ (हाथ एक दूसरे पर मारते हुए) : किन्तु ऐसा क्यों ?

अरुन्धती (उदास होकर) : क्या मुझे बतलाना होगा ? पहली बात तो यह है कि हमारा आत्म-संयम का अन्त हो जायगा।

वशिष्ठ (आश्चर्य से) : क्यों ?

अरुन्धती : वशिष्ठ गार्हस्थ्य-जीवन का सुख हमारे योग्य नहीं है। सांसारिक विषय-भोग का सुख हमें कैसे रुचिकर होगा ?

वशिष्ठ (ऊपर देखते हुए) : क्यों नहीं ? क्या हम मनुष्य नहीं हैं ? क्या हममें शक्ति नही है ? यदि वरुण के नियमों का पालन केवल देह के उपसर्ग से ही हो सकता है तो उसने इसे बनाया ही क्यों है ?

अरुन्धती (कुछ थकी हुई सी) : वशिष्ठ ! अपनी वासनाओं के अधीन होकर हम वरुण के नियमों का पालन कैसे कर सकते हैं ?

वशिष्ठ : क्यों, यह वासना ही क्यों है ? हाँ, यदि हम एक-दूसरे के योग्य न होते, यदि हम एक-दूसरे को चाहते न होते और यदि कुल-धर्म और जाति-धर्म हमारे मार्ग में बाधक होते तो मैं अपने प्रस्ताव को निश्चय ही निन्दनीय समझता, किन्तु हम जैसे दो मनस्वी स्त्री-पुरुष जीवन के दायित्व को ग्रहण नहीं करेंगे तो आर्यों की भविष्य में क्या दशा होगी ?

अरुन्धती (दुःख से) : तुम अपने आत्म-संयम से इतनी बात भी नहीं समझ पाते। क्या संयम वशीभूत है अथवा तृप्ति ? तुम एक सामान्य मनुष्य की तरह बात कर रहे हो।

वशिष्ठ (दृढ़ता से) : मैं बिना विचारे नहीं कहता हूं। मेरा आत्म-संयम

अक्षुण्ण है। यदि मैं कामवासना, अथवा तुम्हारे सौन्दर्य अथवा तुम्हारी संगति के सुख से मोहित होकर तुमसे विवाह की याचना करता तो मेरा आत्म-संयम नष्ट होगया होता और मैं ऋषि-पद से च्युत होगया होता। किन्तु मैं तुम्हारी आकृति अथवा सौन्दर्य की लालसा नहीं करता। यदि तुम्हारा सौन्दर्य नष्ट हो जाय तो मैं और भी अधिक तुम्हारी पूजा करूंगा। यदि तुम पंगु हो जाओ तो मैं तुम्हें अपनी पीठ पर लाद कर ले चलूंगा। यदि तुम्हारी मृत्यु हो जाय तो मैं तुम्हारी भस्म का लेप करूंगा। मैं केवल तुम्हें चाहता हूं और कुछ नहीं।

जब अरुन्धती तप से उत्पन्न शक्ति की चर्चा करती है तो वशिष्ठ कहते हैं—

क्या यह ऐसी शक्ति है जो उस स्त्री को मुझसे दूर रक्खे है जो मेरे ही लिये उत्पन्न हुई है और जो मेरे बच्चों की माता बनेगी? ऐसी शक्ति से क्या लाभ जो सुसंस्कृत और शक्तिशाली आर्यों को जन्म देने में बाधक हो?

फिर वशिष्ठ उससे अविभक्तात्मा की चर्चा करते हैं—

इसका अर्धभाग एकता की खोज में समय के प्रवाह में बहता रहता है। बहुधा यह खोज निष्फल ही होती है। कभी-कभी यह सदृश अर्द्धभाग मिल जाते हैं तब सम्पूर्ण (आत्मा) पुनः आविर्भूत होती है और विभक्त खण्ड आत्मा के रूप में एकाकार हो जाते हैं। उस समय उनकी परीक्षा समाप्त हो जाती है।

अरुन्धती वशिष्ठ से अपनी इच्छा व्यक्त करती है। वह चाहती है कि सप्तम-ऋषि उसके रूप में प्रकट हो। वशिष्ठ चाहते है कि वह उनके रूप में उदित हो। दोनों की इच्छाओं में विरोध है अतः दोनों की आत्माएं एक नहीं हो सकतीं।

किन्तु वशिष्ठ तुरन्त ही निश्चय कर लेते हैं। वे अब सप्तम ऋषि के अपने रूप में प्रकट होने के लिये कभी प्रयत्न नहीं करेंगे। अरुन्धती अकेली ही अप्रतिहत होकर उसके लिये प्रयत्न करे।

इसके अनन्तर वशिष्ठ वरुण की स्तुति करते हैं—

भगवन् वरुण! मैं आपका पुत्र आपसे प्रार्थना करता हूं। मुझे दृढ़प्रतिज्ञ होने की शक्ति प्रदान कीजिये।

देव! आपने मेरे हृदय में निवास कर मुझसे कहा था 'अरुन्धती और तुम दोनों एक हो'। मैं उसके बिना जीवित नहीं रह सकता। मैं आत्मसंयम में भी समर्थ नहीं हो सकता। बिना उसके मैं आपकी आराधना भी नहीं कर सकता। पितृदेव। वह और मैं एक हैं। आपने हमारी आत्मा के दो भागों को समय के प्रवाह में बहने दिया। आप ही ने अपने नियमों का पालन कराने के लिए हम दोनों को मिला भी दिया। आप ऐसी कृपा करें जिससे हम दोनों यह अनुभव करें कि हमारी आत्माएं एक और अविभक्त हैं।

मैं, मेरी शक्ति और मेरा तप मेरे अपने नहीं है अपित हमारी आत्मा ही

अपनी है। हमारी आत्मा एक ही शरीर में नहीं है अपितु दो भिन्न शरीरों में हम दोनों को प्रेरित करती हुई विद्यमान है। यदि आप आयें तो कृपया हमारी आत्मा को उन्नत करने के लिये आयें। हम दो नहीं अपितु एक ही हैं।

मैं अपनी समस्त शक्ति से यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं इस आत्मा को एक और अविभक्त ही रक्खूंगा।

: ८ :

यह प्रवाद प्रचलित हो जाता है कि वशिष्ठ और अरुन्धती दोनों में एक ही आत्मा है। जो हो, वरुण ऋषि तो ऐसा ही मानते हैं। किन्तु पुरातन मर्यादावादी ऋषि अप्रसन्न हैं क्योंकि उनके मन में यह विचार पाप है।

सहसा दो महर्षि जो प्रत्यक्ष प्रकट हो चुके हैं आनन्द से उल्लसित हो वहाँ पहुँचते है। यज्ञाग्नि में अग्निदेव वशिष्ठ के रूप में प्रकट हुए हैं। सप्तम ऋषि वशिष्ठ के रूप में प्रकट हुए हैं।

किन्तु वशिष्ठ नम्रतापूर्वक सप्तम ऋषि होना अस्वीकार कर देते हैं जिन्हें आर्यों के निवास के लिये नया स्थान देना था। महर्षियों को आश्चर्य होता है। उन्होंने वर्षों से इसी अवसर की प्रतीक्षा की थी, पर वशिष्ठ अब इस सम्मान को अस्वीकृत कर देते हैं।

वशिष्ठ ने इसका कारण बतलाया। उनका और अरुन्धती की आत्मा एक है। देवों ने केवल उसे ही सप्तम ऋषि चुना है। इस प्रकार उन्होंने इन दोनों की आत्मा के ऐक्य को अस्वीकार कर दिया है, अतः वे इस सम्मान को ग्रहण नहीं करेंगे। ऋषि कुपित हो जाते हैं और वशिष्ठ को शाप दे देते हैं।

शाप फलीभूत होता है। वशिष्ठ के शिष्य उन्हें छोड़ कर चले जाते हैं। उनकी गौएं भी उन्हे देखकर भयभीत होती हैं और भाग जाती हैं।

वशिष्ठ सकरुण आप ही आप कहने लगते हैं—

माता! तुमने भी मुझे भुला दिया है। सभी ने मुझे भुला दिया है। हाँ, ठीक है। वरुण ने जिसे त्याग दिया उससे अब कोई क्यों बोलेगा? अरुन्धती! क्या तुम भी मुझे भूल जाओगी। क्या तुम भी मुझे ऋषियों के इस शाप के कारण त्याग दोगी। (आँखें ढककर) नहीं नहीं, वह कैसे भूल सकती है। वशिष्ठ! यदि तुम्हारी शक्ति विलुप्त हो जाय और यदि वह अविभक्त आत्मा जिसका तुमने दर्शन किया है वस्तुतः एक असत्य कल्पना है, तो वह भी मुझे भूल जायगी। (रोते हुए) नहीं नहीं, अविभक्त आत्मा मिथ्या कल्पना नहीं है। यह मेरी सृष्टि नहीं है। अपितु विश्वनियन्ता प्रजापति मेरे पिता वरुण ने ही इसकी सृष्टि की है; उसी ने हम दोनों को भी बनाया है (दीनतापूर्वक) मेरे देव! इस आत्मा का साक्षात्कार करने के लिये आप मुझे इस प्रकार दण्ड दे रहे हैं? वरुणदेव! यदि इस आत्मा का साक्षात्कार करना पाप था तो आपने

मुझे और अरुन्धती को उत्पन्न ही क्यों किया था (मूर्छित हो जाता है।)

जब अरुन्धती और उसके पिता, वशिष्ठ को देवों के द्वारा सप्तम ऋषि के रूप में प्रकट होने के लिये चुने जाने पर बधाई देने आते हैं तो वे उन्हें अचेत पाते हैं। वशिष्ठ को जब चेतना होती है तब वे उनसे कहते हैं कि ऋषियों ने उन्हें सप्तम ऋषि के रूप में यज्ञ-कर्म करना अस्वीकार कर देने के लिये शाप दिया था—

मैं शापित हूँ। मेरा आश्रम उजड़ गया है। मेरे शिष्य भाग गये हैं। मेरी गौएं अपहृत करली गई हैं। मेधातिथि! स्वयं पितृदेव वरुण भी मेरे प्रतिकूल होगये हैं।

तदनन्तर वे उनसे वहां से चले जाने के लिये निवेदन करते हैं जिससे शाप का प्रभाव उन पर न पड़ जाय। इसी बीच में लोग उनके आश्रम में आग लगाने के लिये आते हैं। अरुन्धती समझ जाती है कि वशिष्ठ ने इस शाप को लेने का साहस क्यों किया है! वह उनका हाथ पकड़ कर उनसे नौका पर चढ़ने के लिये कहती है:—

वशिष्ठ: तुम कहाँ जा रही हो?

अरुन्धती: जहाँ भगवती सरस्वती हमें ले जायँगी; जहाँ आर्य कभी नहीं पहुंच सकते!

वशिष्ठ: पर तुम आई क्यों हो?

अरुन्धती (मुस्कराती हुई): इसलिये कि हमारी आत्मा हमें ले चलती है।

वशिष्ठ: क्या?

अरुन्धती (मुस्कराती हुई): तुमने हमारी अविभक्त आत्मा में अपना विश्वास इतनी जल्दी खो दिया? जहाँ आत्मा है वहाँ शरीर भी उसका अनुगमन अवश्य करता है।

तत्पश्चात् हाथ पकड़कर वे जलती हुई झाड़ियों में से शीघ्रता से निकल जाते हैं और नौका पर आरूढ़ हो जाते हैं। दोनों कहते हैं —

हम एक हैं और सदा एक ही रहेंगे।

× × × ×

चतुर्थ अङ्क में वशिष्ठ, अरुन्धती और उनका छोटा-सा पुत्र आर्यावर्त से दूर एक आश्रम में रह रहे हैं। वे प्रसन्न है, उनकी सारी सम्पत्ति केवल एक गौ है और उनका एकमात्र आनन्द अपनी अविभक्त आत्मा के धर्म का पालन करता है।

किन्तु आर्यावर्त में अनावृष्टि होती है। वहां के निवासी इस विपत्ति का कारण वशिष्ठ और अरुन्धती का अनाचार बतलाते हैं। कुछ लोग उन्हें मार डालने के लिये आते हैं। ये दोनों एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर अपने आप को मार डालने के लिये समर्पण कर देते हैं।

वशिष्ठ आहत हो जाते हैं। ठीक उसी समय वरुण उन्हें ले जाने के लिये आते हैं।

किन्तु अरुन्धती यह कह कर रोकती हैं कि आत्मा एक और अविभक्त है अतः वे दोनों को साथ ही ले जायें।

इसी बीच में महर्षिगण वहाँ पहुँच जाते हैं। एक नवीन यज्ञोत्सव में अग्निदेव पुनः वशिष्ठ और अरुन्धती के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने यह संकेत किया कि सप्तम ऋषि उन दोनों में प्रकट हुआ है। किन्तु वे देखते हैं कि वशिष्ठ की हत्या करदी गई है अतः उनके दुःख का पारावार नहीं है।

वे वरुणदेव को वहाँ देखकर उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे वशिष्ठ को उन्हें अर्पित करदें क्योंकि उनके और अरुन्धती के बिना सप्तम ऋषि का उदय नहीं होगा और आर्यों का विनाश हो जायगा।

वरुण उनका मनोर्थ पूर्ण कर देते हैं और सप्तम ऋषि वशिष्ठ और अरुन्धती दोनों की अविभक्त आत्मा के रूप में प्रकट होते हैं। आर्यजन सप्त-सिंधु प्रदेश में, जहाँ वशिष्ठ और अरुन्धती की अविभक्त आत्मा का आविर्भाव हुआ, प्रसन्न एवं समृद्ध हैं। इसी कारण सप्तर्षि-मण्डल में अरुन्धती वशिष्ठ के साथ है।

द्वितीय खण्ड

द्वितीय खण्ड में 'विश्वरथ' नामक एक उपन्यास तथा 'शम्बर-कन्या' 'देवे-दीधेली' और 'विश्वामित्र ऋषि' नामक तीन नाटक हैं।

: १ :

विश्वरथ

(उपन्यास)

सुदूरवर्ती अनूपदेश (वर्तमान गुजरात) में सीमान्तवासी आर्यों के हैहय गोत्र का एक प्रतापी वृद्ध राजा सहिस्मत राज्य करता था। अपने को शुक्र और च्यवन का वंशज कहने-वाले क्षत्रिय-पुरोहित भृगुओं के अधिनायक महर्षि ऋचीक उसके पुरोहित हैं। महिस्मत तथा उसके दुर्दम्य हैहय गोत्र के लोग ऋचीक की नैतिक श्रेष्ठता का अनादर करते हैं अतः पुरोहित उन्हें शाप देता है और अनूपदेश को त्याग कर सुसंस्कृत आर्यों की भूमि आर्यावर्त में चला जाता है। वहाँ वह शूरवीर भरतों के अधिपति गाधि के पास जाता है और उसकी पुत्री सत्य-वती का वरण कर उसका पाणिग्रहण कर लेता है।

कुछ काल के उपरान्त सत्यवती के जमदग्नि नामक एक पुत्र उत्पन्न होता है। उसी समय के लगभग एक पुत्र उसकी माता के भी होता है जो एक बालदेव के तुल्य अत्यन्त प्रिय और शूरवीर भरतों के राज्य का उत्तराधिकारी है। उसका नाम विश्वरथ रक्खा जाता है।

विश्वरथ और जमदग्नि दोनों बालकों का भरण-पोषण साथ-साथ होता है। जब उनकी आयु सात वर्ष की होती है तब दोनों सुप्रसिद्ध विद्वान् महर्षि भरद्वाज की सुन्दरी कन्या लोपामुद्रा

से प्रेम करने लगते हैं। लोपामुद्रा विवाह अस्वीकार कर देती है और अपने पिता के रोष से भय-भीत होकर भार्गव महर्षि ऋचीक की शरण लेती है। तरुण विश्वरथ और जमदग्नि अनुभव करते हैं कि परस्पर प्रगाढ़ मित्र होते हुए उन दोनों को ही लोपामुद्रा से विवाह कर लेना चाहिये। यद्यपि अवस्था में वह उन दोनों से कई वर्ष बड़ी थी। किन्तु जब उन्हें पता लगा कि लोपामुद्रा किसी से भी विवाह नहीं करेगी तो वे अत्यन्त निराश हुए।

दोनों कुमारों को तृत्सुओं के राजा दिवोदास के कुल-पुरोहित और आर्य ऋषियों में सबसे अधिक शक्तिशाली महर्षि अगस्त्य के आश्रम में अध्ययन के लिये भेज दिया जाता है। आश्रम को जाते हुए मार्ग में अगस्त्य के अनुज वशिष्ठ से उनकी भेंट होती है। वे दिवोदास के पुत्र दुःशील सुदास से भी मिलते हैं। यह राजकुमार सुन्दर तथा उदारहृदय विश्वरथ से स्व-भावतः विद्वेष करने लगता है और उसे डुबा देने की चेष्टा करता है।

अगस्त्य ऋषि के आश्रम में विश्वरथ अविलम्ब ही अनेक श्रद्धालु मित्रों का स्नेह-भाजन बन जाता है। इन मित्रों में एक तो स्वयं ऋषि की कन्या रोहिणी है और दूसरा भद्दा और मूर्ख ऋक्ष है जिसे स्वयं महर्षि बनने की महत्वाकांक्षा है। भार्गव जमदग्नि तो उसके अभिन्न मित्र हैं ही। अगस्त्य भी अपने इस शिष्य से प्रेम करने लगे हैं क्योंकि वह वैदिक मंत्रों एवं युद्धकला का अभ्यास करने में सबसे अधिक पटु है। महर्षि स्वयं इन दोनों विद्याओं के परम विख्यात महान् आचार्य थे। सुदास जो इसी आश्रम में पढ़ता है, अपना सम्पूर्ण समय विश्वरथ के विरुद्ध षड्यन्त्र करने और उसे नीचा दिखाने के व्यर्थ प्रयास में व्यतीत करता है। विश्वरथ जो स्वयं स्नेही और प्रिय, उदारहृदय एवं देश-देश का आकांक्षी है राजकुमार सुदास के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्तियों का, जो उसे घेरे रहते हैं, प्रीतिभाजन बन गया है। सुदास की ईर्ष्यालु प्रकृति अपने ऐसे आकर्षक प्रतिद्वन्द्वी को सहन करने में असमर्थ है जिसे पहले से ही रणवीर भरतों के राज्य का उत्तराधिकारी बनने का गौरव प्राप्त हो चुका है।

एक बार तृत्सुओं के राजा दिवोदास महर्षि अगस्त्य के आश्रम में पहुँचकर उनके शिष्यों के बुद्धि-वैभव का कौतुक देखते हैं। विश्वरथ के सुन्दर शरीर, विनम्र आचरण और धनुर्विद्या-कौशल से मोहित हो सभी उपस्थित व्यक्ति प्रशंसापूर्वक उसके प्रति प्रेम से आकृष्ट हो जाते हैं। दिवोदास का पुत्र सुदास स्वभावतः उत्तेजित हो जाता है।

राजा दिवोदास ने श्यामवर्ण और चिपटी नाकवाले अनार्य दस्युओं के राजा और ९९ दुर्गों के स्वामी शम्बर के विनाश का संकल्प किया है। कुल-पुरोहित अगस्त्य भी इस विषय में उतने ही दृढ़ हैं। वे आर्य-जाति की शुद्धता और भाग्यशालिता में विश्वास करते हैं और दस्युओं के विनाश के पक्षपाती हैं, क्योंकि उनके विचार में दस्युओं के आचरण से आर्यों में अनैतिकता का प्रचार हो रहा है। विशेषतः उन तरुण आर्य ऋषियों के नवीन वर्ग के प्रति तो सर्वथा ही अक्षमाशील हैं जो इस बात का प्रचार करते फिरते हैं कि आर्य-संस्कृति जन्म से नहीं अपितु गुणों से सम्बन्ध रखती है और उसके द्वारा दस्युओं को भी उन्नत कर आर्य बनाया जा सकता है। इस वर्ग में सबसे अधिक प्रभावशाली और प्रचण्ड महर्षि भरद्वाज की पुत्री लोपा-मुद्रा है जो अब एक तेजोमयी किन्तु अपरिणीता युवती है। वह दोनों जातियों में पारस्परिक

समझौते के लिये प्रयत्नशील है। प्रतापी अगस्त्य इसके प्रति तनिक भी झुकने को तैयार नहीं। कोई भी व्यक्ति उनके सम्मुख इस युवती का नाम लेने का भी साहस नहीं कर सकता।

युद्ध छिड़ जाता है। शम्बर के कुछ आदमी एक रात को चुपके अगस्त्य के आश्रम में घुस जाते हैं और विश्वरथ और उसके भोंडे मित्र रुक्ष को उड़ा कर ले जाते हैं। इन्हें एक दूर गढ़ में ले जाया जाता है जहाँ शम्बर की स्त्रियाँ और बच्चे रहते हैं। इस गढ़ की रक्षा का भार वीर दस्युओं के कुल-देवता लिङ्गाकृति भगवान् उग्रकाल के प्रीतिभाजन और शम्बर के पुरोहित उग्र भैरव पर था।

श्यामवर्ण दस्यु सरल, स्नेही और अतिथि-सेवी थे और छल-छिद्रमय व्यवहार से सर्वथा शून्य थे। वे विश्वरथ और उसके मित्र का स्वागत करते हैं। शम्बर की प्रिय पुत्री उग्रा तुरन्त ही विश्वरथ पर आसक्त हो जाती है। प्रतिबन्ध से अपरिचित यह युवती इस तरुण राजकुमार पर अपना प्रेम स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर देती है, किन्तु अस्वीकृत किये जाने पर वह दिन-भर उसके लिये व्यग्र रहती है और रात्रि को उसकी कुटी के समीप जाकर स्पष्ट और करुणामय गीतों में अपने कामातुर हृदय को व्यक्त कर देती है। उस संकीर्ण गढ़में बन्दी और सर्वथा अपरिचित किन्तु अत्यन्त स्नेही व्यक्तियों से परिवृत विश्वरथ आर्यों और दस्युओं में भेद-मूलक जातीय घृणा को भूल जाता है। इतना ही नहीं, अपितु वह उन सरल और निष्कपट लोगों से प्रेम भी करने लगता है जिनके प्रति उसके गुरु अगस्त्य ने उसे घृणा करना सिखाया था। उसका हृदय सहज ही उन दुर्बल किन्तु शिष्ट जनों के प्रति खिंच जाता है।

रुक्ष वास्तव में स्वच्छन्द हो जाता है। वह इन श्यामवर्ण युवतियों में रम जाता है क्योंकि वे उसे कभी किसी बात के लिये मना नहीं करतीं। उसे उनकी मदिरा और संयमहीन आचरण में भी रुचि उत्पन्न हो जाती है किन्तु भीमाकृति देव उग्रकाल का श्यामवर्ण पुजारी भैरव इन घटनाओं को बड़ी तीव्र एवं मौन अप्रसन्नता से देखता है। वह इन्हें अपने सजातीयों की पराजय के अपशकुनों से भी कहीं अधिक भयंकर समझता है।

विश्वरथ की स्नेहालु प्रकृति उग्रा को अधिक समय तक न रोक सकी। उसका सारा गर्व उग्रा की तीव्र कामवासना के सम्मुख धूलिसात हो गया और उसने इस बालिका को स्वीकार कर लिया जिसने अपने सरल हृदय की भक्ति से पहले से ही उसका प्रेम प्राप्त कर लिया था।

: २ :

शम्बर-कन्या
(नाटक)

महान् विजय के पश्चात शम्बर अपने प्रजाजनों से मिलने और अपने इष्टदेव की आराधना करने के लिये स्वदेश अपने गढ़ में लौट आता है। इसके साथ लोपामुद्रा भी है जिसे वह बन्दी बनाकर ले आया है किन्तु जिसे वह अपना और अपनी प्रजा का मित्र एवं हितचिन्तक समझता है।

परम प्रतापी, दिव्य वर्ण, दिव्याकृति एवं आयु से अधिक बुद्धिमती तथा सम्वेदनाशील इस लोपामुद्रा में जादूभरी शक्ति और प्रेरणा थी। वह शम्बर को उसे भगाकर ले आने के लिये फटकारती है क्योंकि वह जानती है कि आर्य यद्यपि उसके कार्यों से प्रसन्न और सहमत नहीं हैं तथापि वे उसे प्यार करते हैं और उसके बन्दी बना लिये जाने का समाचार पाकर दुर्दम्य शत्रुता से उत्तेजित हो उठेंगे। शम्बर उसके इस भय पर केवल हँस देता है, क्योंकि वह अपने आपको आर्यों से कहीं अधिक शक्तिशाली समझता है।

विश्वरथ की लोपामुद्रा से भेंट होती है जिसमें मनस्वी आर्यों के जीवन की गन्ध है। इस लड़की के प्रति, जो अब वास्तव में एक तेजस्विनी और बुद्धिमती युवती है, उसे अपने बचपन का आकर्षण भी स्मरण हो आता है। अपनी वर्तमान जीवनचर्या पर उसे लज्जा होती है। वह शम्बर से कहता है—"हाँ मैं खाता हूँ, पीता हूँ और सोता भी हूँ। उग्रा ने मुझे अपना दास बना लिया है। निस्सन्देह यह सब सत्य है किन्तु मैं यहाँ एक पशु की भाँति बन्दी हूँ। अपने भरतों और साहसी वंशजों से मिलने के लिये मैं अत्यन्त व्याकुल रहता हूँ और तुमने देवों के आह्वान पर युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाने का मेरा गौरव और अधिकार भी मुझ से छीन लिया है।' वह अब घर में ही बन्दी रहने से खिन्न है और उग्रा भी पहले की भांति कदाचित् ही उसे अच्छी लगती है।

उग्रा में भी लोपामुद्रा के प्रति एक सहज घृणा का भाव उत्पन्न हो जाता है। उसकी दृष्टि में यह आर्य-स्त्री, जिसका विश्वरथ इतनी भक्ति और प्रेम से सम्मान करता है, उसके जीवन में भावी विपत्ति का प्रतीक है। उसे उस लोक का स्मरण हो आता है जिसका विश्वरथ निवासी है, किन्तु जिसमें इस श्यामवर्ण युवती के लिये कोई स्थान नहीं है। लोपामुद्रा की संगति में विश्वरथ को जो प्रेरणा मिलती है वह उग्रा न तो उसे दे ही सकती है और न उसकी भागी ही बन सकती है।

रुक्ष विशेष रूप से प्रसन्न है। वह लोपामुद्रा के समक्ष अपनी गम्भीर भूलों के लिये पश्चात्ताप के आँसू बहाता है; किन्तु रात्रि में मद्यपान और विषय-भोग के आमोद-प्रमोद में अपना सारा पश्चात्ताप भुला देता है। वह कहता है—

रुक्ष : (हाथों से आँसू पोंछते हुए) : देवि। आत्मसंयम को छोड़कर मैं सब-कुछ कर सकता हूँ। समस्त देवों ने मिलकर मेरे विरुद्ध षड्यंत्र रचा है। कोई भी मेरी प्रार्थना नहीं सुनता। मैं जितनी अधिक प्रार्थना करता हूँ प्रलोभन का वेग उससे कहीं अधिक असंगत हो जाता है। मैं वास्तव में आर्य नहीं हूँ। (दीनता से लोपामुद्रा की ओर आँसू बहाता है)।

लोपामुद्रा : इस प्रकार प्रलाप करने से क्या लाभ है? तुम अपनी रक्षा क्यों नहीं करते?

रुक्ष : देवि! (सिसकते हुए) वास्तव में मैं दुर्वृत्त नहीं हूँ—मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ। (तुरन्त हँसते हुए)—देवों ने स्वयं तुम्हें यहाँ भेजा है। जब से तुम यहाँ आई हो मेरे हृदय में महान् संकल्पों की ज्वाला धधक रही है।

(लोपामुद्रा के पीछे से दो दस्यु-कन्याएँ संकेत करती हैं) : दूर हट ओ निर्लज्ज !

लोपामुद्रा पीछे की ओर मुड़ कर देखती है किन्तु दस्यु कन्याएँ वृक्ष की आड़ में छिप जाती हैं।

रूक्ष : कदाचित उधर कोई है। मैं नहीं जानता कि ये नई-नई कन्याएँ प्रतिदिन कहाँ से उद्भूत हो जाती हैं। उनके प्रसन्न होने पर मेरा हृदय व्यग्र हो जाता है। (दस्यु कन्याएँ उसे संकेत से बुलाती हैं) दूर हटो। ओ निर्लज्ज स्त्रियो ! (लोपामुद्रा पीछे की ओर मुड़ती है, किन्तु कन्याएँ फिर छिप जाती हैं) नहीं वहाँ कोई नहीं है। किन्तु इस नकटी जाति के लोगों से घृणा करता हूँ। इन्हें सदा के लिये छोड़ दूंगा। मैं बड़ा पापी हूँ। देवि ! मैं बड़ा पापी हूँ।

लोपामुद्रा : किन्तु वत्स ! कहने से क्या लाभ ? जब से मैं यहाँ आई हूँ, मैंने तुम्हें सदा मद्यपान करते ही देखा है !

रूक्ष : मैं स्वयं समझता हूँ कि यह बहुत बुरी बात है। ओह ! मैं कौन हूँ ? तृत्सु ! अगस्त्य का शिष्य ! फिर मैं भी इस प्रकार मद्यपान में उन्मत्त रहता हूँ। मुझे धिक्कार है ! (सिसकते हुए) पर मैं कर क्या सकता हूँ ? मुझ पर दया करें। (रोते हुए) मैं एक सद्वृत्त व्यक्ति हूँ, किन्तु यह गढ दस्युओं और इन श्यामवर्ण एवं निर्लज्ज स्त्रियों से भरा हुआ एक करागृह है। जब मैं इन्हें देखता हूँ; मेरा दम घुटने लगता है, मैं दुःखी हो जाता हूँ। मैं—अगस्त्य का प्रिय शिष्य—क्या मैं अपना यह दुःख मदिरा में विलीन करदूँ। ओह ! यह मेरा दुर्भाग्य है। रूक्ष ! तुम्हें धिक्कार है। तुम कितने पतित हो गये हो। (आकाश की ओर देखने लगता है)।

बुद्धिमती लोपामुद्रा युद्ध के प्रति खेद प्रकट करती है जिससे उसके अपने सजातीय जनों का और उन लोगों का जिन्हें वह प्यार करती है, नाश हो रहा है। शम्बर की पराजय का समाचार गढ में पहुँचता है, और भयङ्कर उग्रकाल का पुरोहित भैरव निश्चय करता है कि उसके इष्टदेव लोपामुद्रा, विश्वरथ और रूक्ष इन तीनों की बलि चाहते हैं। वह दस्युओं में इनके प्रति अविश्वास और सन्देह का बीजारोपण करता है। अपशकुन देखे और सुने जाते हैं। अन्त में उग्रकाल को इन तीनों की बलि दिये जाने का निश्चय किया जाता है।

बलि के निमित्त ये तीनों व्यक्ति पाषाण-स्तम्भों से बाँध दिये जाते हैं। ये स्तम्भ उग्रकाल के मन्दिर के चतुर्दिक बाहर एक खुले मैदान में लगे हुए हैं। तीनों ही मृत्यु का साक्षात करानेवाले सूर्योदय की प्रतीक्षा में परस्पर इस प्रकार बातें कर रहे हैं—

विश्वरथ : हम मरेंगे नहीं। नहीं, कभी नहीं। वरुणदेव ने स्वयं ही मुझे इन शब्दों में सान्त्वना दी है। मैं अपने सम्मुख देखता हूँ—महान् आर्यों को—हाँ ! मैं उन्हें देख रहा हूँ—संसार के विजेता—नदियों और पर्वतों का उल्लंघन करते हुए—दस्युओं को पराजित करते हुए और सब ओर से इन्द्र की जय घोषणा करते हुए। उनके नेत्रों में उल्लास है, हृदय में उत्साह है। संसार उनके

चरणों पर नत है।

फिर मृत्यु का स्मरण कर वह लोपामुद्रा के प्रति इस प्रकार अपने उद्‌गार अभिव्यक्त करता है—

> ईश्वर ने तुम्हें इतना विलक्षण क्यों रचा है? तुम्हें देखकर मैंने नई दृष्टि पाई है। माता! तुम एक ज्योतिर्मयी देवी के तुल्य हो। जब तुम बोलती हो तो देव ही तुम्हारी वाणी में बोलते हैं। जब तुम चलती हो तो तुम्हारे पदचिह्नों में पवित्रता का रम्य-स्रोत बहने लगता है।

उग्रा को पता चलता है कि उसका प्रियतम सूर्योदय होने पर देवता की बलि चढ़ा दिया जायगा। उसके सरल-हृदय में अपने प्रियतम के प्रति प्रेम और पिता एवं सजातीय-जनों के प्रति ममता में तनिक भी संघर्ष नहीं होता। वह एक ऐसे मार्ग से, जिसे बहुत-थोड़े व्यक्ति जानते थे, चुपके से गढ़ से बाहर निकल जाती है और दिवोदास तथा अगस्त्य को विश्वरथ पर आनेवाली भयङ्कर विपत्ति की सूचना दे देती है। उसी मार्ग से लौटकर गढ़ के भीतर वह अपनी जाति के शत्रुओं को भी ले आती है।

अगस्त्य तृत्सुओं और भरत वीरों के साथ विश्वरथ एवं अन्य व्यक्तियों को जीवित ही जलाये जाने से बचाने के लिये ठीक समय पर पहुँच जाते हैं। उन्हें छुड़ा लेते हैं और गढ़ को चारों ओर से घेर लेते हैं। उस समय की भगदड़ में पुरोहित भैरव भी अकेला ही छिप कर भाग जाता है। शम्बर आहत एवं मरणासन्न अवस्था में अपनी पुत्री को इस प्रकार प्रताड़ित करता है—

> दुष्ट कन्यके! तू अपने प्रियतम की रक्षा के निमित्त मेरे शत्रुओं को गढ़ के भीतर घुसाया है? उसके कारण तूने अपने माता-पिता और गोत्र का भी सर्वनाश किया है।
>
> अगस्त्य : शम्बर! मृत्यु-द्वार पर पड़े रहकर भी तुममें शिष्टता और उदारता नहीं आई?
>
> शम्बर (दाँत पीसता हुआ) : दुष्टा! जा, जहां तेरी इच्छा हो चली जा। अपने माता, पिता, भाई और बन्धुओं के शवों पर नृत्य कर।
>
> उग्रा (सकरुण बिलखती हुई) : पिताजी! नहीं, नहीं! (सिसकती है)।
>
> लोपामुद्रा : (स्नेहपूर्वक) शम्बर! यह तुम क्या कर रहे हो?
>
> शम्बर : (हाथ उठाकर) पशुपति के सर्प तेरा अंग-प्रत्यंग विषैला बना देंगे। कुलकलंकिनी! जा अपने प्रियतम की गोदी में जाकर बैठ। जहां-कहीं तेरा नाम भी सुनाई देगा वहां सर्वनाश की चिनगारियां निकल पड़ेंगी।

शम्बर की मृत्यु हो जाती है और अगस्त्य देवों की स्तुति करते हैं। वे विश्वरथ से उग्रा को परित्याग कर देने के लिये आदेश करते हैं। उग्रा भयभीत होकर विश्वरथ से चिपट जाती है। अगस्त्य अपने शिष्यों को इस दस्यु-कन्या को उन्हें सौंप देने के लिये आज्ञा देते हैं।

> विश्वरथ (भयत्रस्त दृष्टि से) : गुरुदेव! शम्बर की पुत्री मेरी है। आप

उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते।

अगस्त्य (सरोष) : वत्स ! मूर्ख न बनो। देवों से घृणा करनेवाले कभी जीवित नहीं रह सकते। उसे मुझे सौंप दो।

उग्रा (कांपती हुई) : मैं अकेली हूँ। मैं तुम्हारी हूँ। विश्वरथ ! मुझे छोड़ो नहीं।

विश्वरथ (उग्रा से) : उग्रा ! शान्त होओ। (अगस्त्य से) गुरुदेव ! (उग्रा के सम्मुख खड़ा होकर) : क्या आप शम्बर की पुत्री को मुझ से छीनना चाहते हैं ? (औरों को धमकी से देखता है)।

अगस्त्य (समीप आकर) : दूर हटो !

विश्वरथ (अपने सजातीय जनों से) : प्रतर्दन ! मेरे वीर भरतो ! शम्बर की पुत्री मेरी रानी है। मैंने देवों के सम्मुख यह सौगन्ध ली है। यदि उसका एक बाल भी बांका हुआ तो तुम्हें हमारे पूर्वजों का शाप लगेगा।

प्रतर्दन (उग्रा के समीप आकर) : जैसी महाराज की आज्ञा।

अगस्त्य क्या तुम पागल हो गये हो ?

विश्वरथ (भयावह मुद्रा में) : गुरुदेव ! मैं आपका स्पर्श नहीं कर सकता। किन्तु आप मेरे प्राण अपहरण कर सकते हैं। शम्बर की पुत्री ने उग्रकाल से मुझे बचाया है। क्रोधमूर्ते ! इसे मार डालने से पूर्व आप मुझे मार डालिए। आप मेरे प्राण लेलें। मैं शम्बर की पुत्री से प्रेम करता हूँ। मैं जीवित रहने योग्य नहीं हूँ। आप मुझे मार डालें। (स्थिर दृष्टि से अगस्त्य की ओर देखता है)।

अगस्त्य (क्रोधोन्मत्त हो शस्त्र उठाते हैं) : तुम मेरा विरोध करने का साहस करते हो ?

लोपामुद्रा (अगस्त्य और विश्वरथ के बीच मे आकर) : अगस्त्य ! यह तुम क्या कर रहे हो ? क्या तुम्हारी क्रोधाग्नि इस अबला कन्या के अश्रुजल से भी शान्त नहीं हुई ?

अगस्त्य की ओर देखती है; अगस्त्य रुक जाते हैं। और हिचकिचाने लगते हैं। उनकी आंखें दो तलवारों की टक्कर के समान एक दूसरे से भिड़ जाती हैं।

लोपामुद्रा : क्या तुम अपने पुत्र और पुत्रवधू दोनों को एक ही बार में मार डालना चाहते हो ?

अगस्त्य (क्रोध से) : और तुम्हें भी जो मेरे मार्ग में बाधक बन रही हो ?

लोपामुद्रा : हाँ, मुझे भी।

(अगस्त्य का खड्ग धारण करनेवाला हाथ धीरे-धीरे नीचे गिर जाता है।)

पटाक्षेप।

: ३ :

देवे दिधेली

(नाटक)

नाटक का आरम्भ दिवोदास की राजधानी तृत्सुग्राम में होता है, जहाँ तृत्सुओं और भरतों की विजयी सेना लूट का माल लेकर लौट आई है। लोपामुद्रा भी उसके साथ ही आ गई है। प्रथम बार उसे उन लोगों के अधीन रहना पड़ा है जिनके लिये अगस्त्य की वाणी ही धर्म रहा है। वह उसके मध्य एक दीप्यमान सौन्दर्य की देवी के तुल्य विचरण करती है और उनके हृदयों को आकर्षित करती हुई पराजित दस्युओं की ओर से मध्यस्थ के रूप में उनके बीच जातीय भेदभावों के सम्बन्ध में आर्यधर्म के विरोधी विचारों का प्रचार करती है। नगर के कितने ही युवक लोपामुद्रा से प्रेम करते हैं और उसके शिष्य बनकर उसके आश्रम में जाने के लिये उत्सुक हैं। अगस्त्य का प्रिय शिष्य विश्वरथ भी अब उसका अत्यन्त कृपापात्र शिष्य है। वह शम्बर की उपेक्षिता कन्या के साथ आर्यविधि के अनुकूल विवाह करना चाहता है। वह साहसपूर्वक घोषणा करता है कि कोई व्यक्ति जन्म से ही आर्य उत्पन्न नहीं होता अपितु शिक्षा और शील-स्वभाव से ही आर्य बनता है और उग्रा कितनी ही आर्य स्त्रियों से कहीं अधिक श्रेष्ठ आर्या है।

अब जब कि शत्रु शम्बर का नाश होगया है, अगस्त्य अपने जीवन की घड़ी में देखते हैं कि उनकी सृष्टि उन्हीं के सिर पर मंडरा रही है। वह स्त्री जिसका नाम भी उनके सामने नहीं लिया जा सकता था अब उन्हीं के सजातीय जनों के बीच उनके प्रचलित विश्वास के विरुद्ध प्रचार करती हुई रह रही है और सब स्त्री-पुरुष उसके चरणों पर नत है। उनका एकमात्र शिष्य भी, जिसे उन्होंने अपनी विद्या और शक्ति का योग्य उत्तराधिकारी समझा था, उसी का होगया है और ऐसे विवाह के लिये आग्रह कर रहा है जिसे वह सबसे बड़ा पाप समझते हैं।

इसके पश्चात् अगस्त्य एक भयंकर प्रतिज्ञा करते हैं। यदि विश्वरथ उग्रा को नहीं छोड़ेगा तो आर्य ऋषियों में सबसे श्रेष्ठ महर्षि अगस्त्य अपना प्राण त्याग देंगे। और विश्वरथ भी दूसरी भयङ्कर प्रतिज्ञा करता है। यदि उग्रा के साथ उसका विवाह नहीं हुआ तो वह जीवित नहीं रहेगा क्योंकि उसके जीवन का ध्येय नष्ट हो जायगा।

बुद्धिमती लोपामुद्रा इन दोनों हठी व्यक्तियों—अपने स्वामी एवं शिष्य—को समझाती है और उनकी प्रशंसा करती है। अगस्त्य अपने पूर्ण यौवन में एक प्रतापी मनुष्य था जिसकी महत्ता के कितने ही अविस्मरणीय राग इस स्त्री की हृत्तंत्री में प्रतिध्वनित थे। विश्वरथ को वह पुत्र से भी अधिक प्यार करती थी।

अगस्त्य की सुन्दरी कन्या रोहिणी का चित्त भी उदास था। दस्युओं के द्वारा विश्वरथ को उड़ाकर ले जाने के पूर्व वह उससे प्रेम करती थी। तदनन्तर तृत्सुओं के राजकुमार सुदास के साथ उसका वाग्दान होगया था। अब उसकी इच्छा उस वाग्दान को भंग करके

अपने प्रियतम विश्वरथ के साथ विवाह करने की है।

बेचारा वृद्ध रुत्त मदिरा बहुत पीने लगा है और शम्बर के गढ में रहते हुए अपने पराक्रम के कार्यों की लम्बी-लम्बी कहानियाँ सुनाता है तथा अपने-आपको लोपामुद्रा का प्रिय शिष्य कहता है।

इस परिस्थिति में लोपामुद्रा इन दोनों व्यक्तियों को, जिन्हें वह प्यार करती है, बचाने का निश्चय करती है। वह अगस्त्य से मिलकर विश्वरथ की रक्षा के लिए उससे प्रार्थना करती है किन्तु उसकी प्रार्थना निष्फल हो जाती है।

जब अगस्त्य उसकी बात सुनना अस्वीकार कर देते हैं और उसकी प्रार्थना की उपेक्षा करते हैं तब वह उनके आत्मसंयम के कवच को विबद्ध करने का निश्चय करती है। वह कहती है—

लोपामुद्रा (आगे बढकर) : अगस्त्य ! तुम्हारे जाने से पूर्व मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूँ।

अगस्त्य : क्या ?

लोपामुद्रा : तुम्हें मुझ से बात करने में डर क्यों लगता है ? कहो, मैंने क्या किया है ?

अगस्त्य : भरद्वाज-पुत्रि ! सारा संसार तुम से बोलने के लिये लालायित है। क्या यह पर्याप्त नहीं है ?

लोपामुद्रा : (मुस्कराती हुई) : किन्तु जिससे मैं बोलना चाहती हूँ वह मुझ से नहीं बोलना चाहता। मुझ में ऐसी क्या बात है जो तुम्हें अच्छी नहीं लगती ?

अगस्त्य (क्रोध से उसकी ओर देखते हैं और फिर धीरे से कहते हैं) : मुझे तुम से डर लगता है।

लोपामुद्रा (दीप्त नेत्रों से) : क्या तुम्हें अपने हृदय के खो जाने का भय है ?

अगस्त्य (उपेक्षा से) : नहीं, मुझे भय है कि तुम निराश हो जाओगी।

लोपामुद्रा (उत्साह से) : अगस्त्य ! यह भय तो मेरा अपना है। अब तक मैं जहाँ-कहीं भी गई हूँ पुरुषों ने अपना हृदय मुझे अर्पित किया है। मैंने उन्हें बिना मूल्य चुकाये स्वीकार कर लिया। आज मैं मूल्य चुकाने को तत्पर हूँ, किन्तु तब भी तुम मुझे अपना हृदय नहीं दोगे। तुम इतने निष्ठुर क्यों हो ?

अगस्त्य : तुम साहसी हो।

लोपामुद्रा : जब तुम्हारे समान पद का कोई व्यक्ति तुम्हारे मार्ग में बाधा डालता है तब तुम उसे सदा साहसी समझते हो।

अगस्त्य (उपेक्षा से) : मैं तुम्हारी बराबरी कैसे कर सकता हूँ ?

लोपामुद्रा : समान व्यक्ति जन्मजात होते हैं; बनाये नहीं जाते।

अगस्त्य : क्या हमारी इतनी बातचीत पर्याप्त नहीं है ?

लोपामुद्रा : नहीं, मैंने अपना प्रण तोड़ दिया है। अब मुझे प्रेम को केवल स्वीकार करने में ही संतोष नहीं है अपितु मैं उस पर विजय प्राप्त करना चाहती हूँ।

अगस्त्य : तब मुझे तुमसे यह सत्य कहने के लिये बाध्य होना पड़ेगा कि तुम्हें अपने प्रयास में विफलता होगी।

लोपामुद्रा (विजय से मुस्कराती हुई) : नहीं, पिछले दो मास से मैं अन्धी नहीं हूँ। (दृढ़ता से) नहीं, कदापि नहीं।

अगस्त्य (उपेक्षा से) : तुम जैसे महर्षि से मैं क्या कह सकता हूँ।

लोपामुद्रा (विकसित नेत्रों से) : जब समय आयेगा तब तुम कहोगे। अब मैं अपने आश्रम को जा रही हूँ। मुझे केवल एक ही प्रार्थना करनी है। देव तुम्हें अधिक शक्ति दें और तुम्हारे हृदय में कोमलता भर दें।

(वह नीचे देखती है, मुस्कराती है, अपना वस्त्र सँभालती है और चली जाती है)

अगस्त्य : (उसके पीछे पागल मनुष्य की भाँति देखते हैं, फिर भौंहें चढाते हैं जैसे उनका हृदय विदीर्ण होगया हो) : निर्लज्ज !

अगस्त्य की पुत्री रोहिणी दुःखी है। सुदास के साथ उसका वाग्दान भंग हो जाने पर अब जब वह विश्वरथ से विवाह करने को स्वतंत्र है तब एक विचित्र स्थिति उत्पन्न होगई है जिसमें या तो उसे अपने पिता को छोड़ना पड़ेगा या अपने प्रेमी विश्वरथ को।

जब रोहिणी विश्वरथ को यह सूचना देती है कि अब वह उसके साथ विवाह करने को स्वतन्त्र है तो विश्वरथ सन्ताप के साथ कहता है—

मैं उस दिन की उत्कट प्रतीक्षा में था जब तुम मुझसे विवाह करने के लिए स्वतंत्र होगी। पर अब मैं तुमसे शम्बर की पुत्री उग्रा की सपत्नी बनने के लिए कहने साहस कैसे कर सकता हूँ।

वह उसे समझाती है कि एक श्यामवर्ण स्त्री के बन्धन में पड़ने की उसे क्या आवश्यकता है। किन्तु विश्वरथ यह बात स्वीकार नहीं करता। वह कहता है—

रोहिणी ! देवों ने मुझे एक भिन्न आदेश दिया है। ये शब्द दैवी प्रेरणा के रूप में मेरे हृदय में और मेरी वाणी में प्रतिध्वनित हो रहे हैं। वरुणदेव ने मुझसे कहा है—कोई रूप या वर्ण आर्य होने का निश्चायक नहीं है। (भविष्य-वक्ता के स्वर में) जो लोग तुम्हें उग्रा का त्याग करने के लिये कहते हैं वे अनार्य हैं। वे वर्ण अथवा जन्म का भेद मानते हैं। तुम शम्बर की पुत्री के लिए इन भेदभावों को भस्म कर डालो। तुम्हारी उस भस्म से अवलिप्त लाखों शम्बर आर्य बन जायेंगे और मेरी आराधना की ज्योति को जगाये रखेंगे।

रोहिणी लोपामुद्रा के पास जाकर निराश हृदय से कहती है—

देवि ! सारे मनुष्यों में केवल दो ही मेरे जीवन से सम्बद्ध हैं। उनमें से एक अथवा दोनों ही मर जायँगे और मेरे जीवन को बाँधनेवाली कड़ी टूट जायेगी।

लोपामुद्रा उसे सान्त्वना देती है—वत्से ! मेरी दशा भी तुम्हारे-जैसी ही है। यदि इनमें से एक भी मर गया तो मेरा क्या होगा ? फिर वह दृढ़ता से

कहती है—रोहिणी रोना बन्द करो; जब तक मैं जीवित हूँ इनमेंसे कोई नहीं मरेगा। विश्वास रक्खो। आओ, देखें कि वे हम दोनों को मार डालते हैं अथवा हम दोनों की रक्षा कर सकते हैं।

विश्वामित्र की गणना उदीयमान ऋषियों में है। वह देवों से सम्भाषण कर सकता है और बारम्बार उनसे पूछता है कि उग्रा आर्य क्यों नहीं है।

वह सूर्यदेव का आवाहन करता है। सूर्य उसे गायत्री मंत्र देते हैं और इसी प्रसिद्ध मंत्र की शक्ति से देव उग्रा को आर्य स्त्री के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

बेचारी उग्रा राजकुमारी होकर भी इतना दुःखी है कि कहा नहीं जा सकता। वह एक विचित्र लोक में, विचित्र और अभिमानी जनों के बीच में है। उसके आत्मीय मर गये हैं अथवा दास बना लिये गये हैं। वह केवल विश्वरथ के लिये ही जीवित है। किन्तु उसका मन कहता है कि विश्वरथ अब वैसा नहीं है जैसा कि वह लोपामुद्रा के गढ़ में पहुँचने के पूर्व था। अपने बाल्यकाल से इस स्त्री को वह अपना सबसे बड़ा शत्रु समझती है और विश्वरथ के मुख पर प्रसन्नता लाने के लिये बड़े करुणाजनक शब्दों में चन्द्रमा और पिप्पल वृक्ष से सहायता की याचना करती है:

> चन्द्रदेव! मेरे पिता! मुझे बताओ कि उसे क्या दुःख है। पिछले तीन दिन से उसके मुखपर हँसी की एक रेखा भी नहीं है। मेरे नेत्र उसके मुख की प्रसन्नता के लिये अत्यन्त लालायित हैं। क्या आप मुझे बतलायेंगे कि उसकी प्रसन्नता कहाँ चली गई। (आँसू पोंछती है) ओह! मैं कितनी दुःखी हूँ। मेरा घर नहीं, पिता नहीं, अपने आत्मीय जन नहीं। केवल विश्वरथ ही मेरा सर्वस्व है। यदि तुम उसे भी मेरे साथ नहीं रहने दोगे तो मैं कहाँ जाऊँगी? क्या वह मुझे नहीं चाहता? क्या किसी ने उसका हृदय चुरा लिया है। ओह! मैं क्या करूं? (वह पीपल के नीचे बैठकर उससे विनय करती है) पिप्पल! मेरे देव! सबने मुझे छोड़ दिया है। केवल तुम्हीं मेरी शरण हो। (मन को बहलावा देती हुई) विश्वरथ कहता रहे कि तुम देव नहीं हो, किन्तु मेरी माता ने मुझे ऐसा ही बतलाया था और मेरी धात्री ने भी। वे तुम्हारी पूजा भी करती थीं। मैं उन देवों को देखकर, जिनकी आराधना विश्वरथ करता है, काँप उठती हूँ; किन्तु मेरे पिप्पल! क्या तुम मेरी रक्षा करने नहीं आओगे? मैं तुम्हारा आलवाल स्वच्छ करूंगी और केसर और चावलों की बलि दूंगी। जब मेरा विश्वरथ फिर प्रसन्नता से मुस्करायेगा तो मैं तुम्हारे लिये पुष्पों का एक हार गूँथूंगी।
>
> पिप्पल! मेरे रक्षक! तुम्हें सब कुछ पता है। क्या तुम नहीं जानते? वह मेरे पिता के गढ़ में आया। मैंने उसे बुलाया और वह आया। मैं वृक्ष की भांति निर्जीव खड़ी रही। तब वह हँसा। मैं उसकी आँखों में बसी और फिर जीवित हुई।
>
> पितृदेव पिप्पल! उसका मन उस समय विचलित हुआ जब वह गौरवर्ण

स्त्री उसके सामने आई। वह बड़ी चतुर है। उसी ने उसके हृदय को आकर्षित कर लिया। उसकी वाणी में जादू है और वह भैरव की वाणी से कहीं अधिक भयंकर है। कृपया मुझे उसकी वह मुस्कराहट लौटा दीजिये जो उसने छीन ली है। पिता मैं आपके पैरों पड़ती हूँ।

विश्वरथ कहता है कि मैं आर्य नहीं हूँ। वह ऐसा कहे। उसका कहना सत्य हो सकता है। (आवेग से) किन्तु पिप्पल! मैं सदा तुम्हारी पूजा करूंगी। कृपया मुझे बतलाइये कि उसकी प्रसन्नता कहाँ छिपी है। मेरे पिता के शत्रुओं ने मुझे जाल में फँसा लिया है और उसकी प्रसन्नता ही मेरा सर्वस्व है। कृपया उसे सुखी बनाइये; वह सुखी होकर सदा मेरे समीप रहे। मैं उसके चरणों की दासी रहूँगी।

अन्त में लोपामुद्रा अन्तिम साधन के रूप में सभी कुछ दाँव पर लगा देती है। वह अगस्त्य से प्रार्थना करती है कि अपना निश्चय छोड़कर वे विश्वरथ को शम्बर की पुत्री से विवाह करने की अनुमति दे दें। अगस्त्य उसे समझाते हैं।

अगस्त्य : भरद्वाज-पुत्रि! (दृढ़ता से) तुम मुझे बाध्य क्यों करती हो? मेरी प्रतिज्ञा अटल रहेगी चाहे सूर्य भी स्थिर होकर खड़ा रहे। यदि विश्वरथ अपने स्वामी का आदर करता है, यदि वैदिक मंत्रों में उसकी अभिरुचि है, यदि उसे मेरे जीवन की अपेक्षा है तो केवल एक ही मार्ग है। उसे शम्बर की पुत्री को त्यागना ही होगा।

लोपामुद्रा : यह अगस्त्य के शब्द नहीं हैं अपितु मनीषी ऋषि के हैं। इन शब्दों में आहत-अभिमान पुरोहित की ध्वनि है।

दिवोदास (संक्षुब्ध होकर) लोपामुद्रा! यह तुम क्या कह रहो हो?

लोपामुद्रा : ऐसी बात जिसे महर्षि ने पहले कभी नहीं सुना है और जिसे सुनने की उसे अत्यन्त आवश्यकता है।

अगस्त्य : (घृणा से) मैं सुन रहा हूँ। किन्तु तुम्हारे लिये आर्य और अनार्य में भेद समझना दुस्साध्य है।

लोपामुद्रा : ऋषिश्रेष्ठ! आर्य और अनार्य में, गौर और श्याम में, उच्च और नीच में तुम-जैसे ऋषियों को कोई भेद नहीं करना चाहिये। (कम्पित स्वर से) विद्या और शक्ति में परम निष्णात् आप मेरे साथ आयें और हमलोग दूर ऐसे वनों में चले चलें जहाँ क्षुधा और पिपासा से पीड़ित अपनी रक्षा के लिये हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कृपया मेरे साथ आओ, अपना अभिमान यहीं छोड़ो और आर्यों का पौरोहित्य भी त्याग दो। आओ, मेरे साथ आओ। हम दोनों एक ही वृक्ष के नीचे बैठेंगे, एक ही मृगचर्म का सेवन करेंगे और देवों ने जिसे छोड़ दिया है उसे हमलोग पूरा करेंगे।

अगस्त्य (मोहित और विनम्र हो कर) : भरद्वाज-पुत्रि ! मैं जैसा हूँ वैसा ही अच्छा हूँ।

लोपामुद्रा : तुम्हें मेरा आमंत्रण स्वीकार करना ही होगा। अब नहीं तो फिर किसी दिन, किन्तु मुझे उग्रा को साथ ले जाने की अनुमति तो दे दीजिए।

अगस्त्य : क्या तुम उसे विश्वरथ को लौटा देना चाहती हो ?

लोपामुद्रा : क्या तुम मुझ पर अब भी विश्वास नहीं करते ?

अगस्त्य : इसमें तुम्हारा उद्देश्य क्या है ?

लोपामुद्रा (आवेगपूर्ण स्वर से) : मेरा उद्देश्य ? क्या तुम इसे जानना चाहते हो ? अच्छा, मैं तुमसे सत्य बात कहती हूँ। मैं राजा दिवोदास और माता सरस्वती की शपथ खाकर कहती हूँ, किन्तु मुझे दोष न देना यदि इससे तुम्हारा अभिमान चूर्ण-चूर्ण हो जाय। मुझे दो पुरुष अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं।

दिवोदास : क्या ?

लोपामुद्रा : राजन् ! क्या तुम्हें स्मरण है कि तुम मुझसे विवाह करना चाहते थे। यह बात कई वर्ष पूर्व की है। आज, मैं एक पुरुष को जानती हूँ जिससे मैं विवाह करने की इच्छुक हूँ, और एक दूसरे पुरुष को भी, जिसे मैं पुत्र के समान प्रेम करती हूँ। दोनों ही पागल हो गये है। दोनों एक दूसरे को नष्ट कर डालने अथवा स्वयं मरने की इच्छा करते हैं। किन्तु मैं अपने समस्त पूर्वजों की शपथ खाकर कहती हूँ कि मेरे जीवित रहते दोनों में कोई भी अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता।

दिवोदास उसे आशीर्वाद देता है और अश्रु पूर्ण नेत्रों से उन्हें छोड़ कर चला जाता है। अगस्त्य भी जाने की इच्छा करते हैं और अनुमति चाहते हैं।

लोपामुद्रा : मैं तुम से ठहरने के लिये कहती हूँ। अगस्त्य ! तुम मुझसे भागते क्यों हो ? तुम इस प्रेम के स्रोत को बाँधना क्यों चाहते हो ? (अगस्त्य दूसरी ओर देखते हैं) क्या तुम मुझसे नहीं बोलोगे ? क्या मैं देखने योग्य भी नहीं हूँ।

अगस्त्य (एक डूबते हुए मनुष्य की भाँति उसकी ओर देखते हैं।) : प्रिय-दर्शिनी ! पिछले प्रणय से मैंने तुम्हारी योग्यता को प्रशंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुना है।

लोपामुद्रा (परिहास से) : ऐसा ?

अगस्त्य : युवा और वृद्ध सभी तुम्हारे लिए लड़ने को तत्पर थे जब तुम्हें बन्दी बना लिया गया था। ऋचीक और दिवोदास जब भी तुम्हें देखते हैं अपने में यौवन की शांति का अनुभव करते हैं। मृत शम्बर ने भी जब तुम्हें देखा तो तुम्हारे प्रेम में पागल हो गया था। तुम्हारे समक्ष आत्मनिग्रह में असमर्थ ऋषि छिप जाते हैं। स्वयं मेरी पुत्री तुम्हारी देवी के तुल्य पूजा करती है। भरद्वाज-

पुत्रि ! क्या तुम्हारी पद्‌चाप का संगीत सुनने के लिये सब कोई लालायित नहीं हैं ।

लोपामुद्रा : और फिर भी (अगस्त्य के वक्ष पर अपनी अंगुलि रखती हुई) इस हृदय की एक तंत्री भी झंकृत नहीं हुई । (श्वास लेकर) जो मेरे हृदय में निवास करता है वह मुझे अपने हृदय में स्थान नहीं देता ।

अगस्त्य : तुम ठीक कहती हो, क्योंकि मेरी शक्ति अभी नष्ट नहीं हुई है । मुझे अकेला ही रहने दो । यदि तुम चाहो तो दूसरों को उन्मत्त बना सकती हो ।

लोपामुद्रा (विनयपूर्वक) : तुम ऐसा क्यों कहते हो ?

अगस्त्य (उपेक्षापूर्वक) : मुझे तुम्हारे दायित्वहीन व्यवहार में आर्यों का पतन दृष्टिगोचर होता है ।

लोपामुद्रा (उतनी ही उपेक्षा से) : किन्तु अगस्त्य उस समय तक पूर्ण आर्य नहीं हो सकेगा जब तक वह मुझे ग्रहण नहीं कर लेगा । मैं पिछले दो मास से तुम्हें भली प्रकार जान गई हूँ । अपना अहंकार छोड़ कर अपने मन से ही पूछो । वही तुम्हें यह बतला देगा । (प्रार्थनापूर्वक) तुम मेरी बात क्यों नहीं मानते ?

अगस्त्य (अपने वक्षस्थल पर भुजाएँ एक दूसरे पर रखे हुए) : तुम अपना आत्मसंयम क्यों गँवा रही हो ? प्रातःकाल होने पर जब तुम मुझे छोड़कर चली जाओगी तो तुम्हारे पास केवल यह पश्चात्ताप ही शेष रह जायगा कि तुमने मुझसे ऐसी बात क्यों कही ?

लोपामुद्रा : तब तो मैं सूर्य से अपने मार्ग में अटल खड़े रहने की प्रार्थना करूंगी जिससे यह रात्रि दीर्घ हो जाय और उसके क्षण शनैः शनैः बीतें । (हाथ जोड़ कर) अगस्त्य ! अपना अभिमान और कूटनीति छोड़ो ! मैं तुम्हें माता के लिए उत्सुक एक बालक की भांति (सरल) देखना चाहती हूँ । आओ ।

अगस्त्य (ओठ काटते हैं, दूसरी ओर हट कर कठोरतासे कहते हैं) : नारी ! तुम पागल हो गई हो । तुम मुझे इस अवस्था में प्रलोभन देती हो ! तुम कौन हो ?

क्षण भर के लिये लोपामुद्रा पीछे हटती है। फिर सिर हिला कर वह अपनी लज्जा दूर कर देती है ।

लोपामुद्रा : मैं कौन हूँ ? (विजयी स्वर में और प्रेम-प्रदीप्त नेत्रों से) अगस्त्य तुमने शाश्वत नियमों का पालन किया है । कठोर हृदय से तुमने दृढ़ आत्मसंयम की रक्षा की है । देवों के प्रिय ! अपनी प्रतिभा के प्रकाश से तुमने शक्तिशाली राजाओं को भी अभिभूत किया है । तब तुम अपने हृदय से क्यों नहीं पूछते ? यदि तुम सत्यप्रिय हो तो बताओ मुझे कि मैं कौन हूँ ।

अगस्त्य : तुम कौन हो ? तुम में स्वर्ग और नरक दोनों ही छिपे हैं । तुम्हारे जीवित रहते हुए देव, दानव और सब (उसकी ओर पागल मनुष्य की भाँति

देखकर अस्थिरता से)—मैं असंख्य प्रेमियों की आह सुन रहा हूँ जो अभी तक तुम्हारे कानों में गूंज रही है। मैं उन बेड़ियों की झंकार सुन रहा हूँ जिनसे तुम्हारे अधरों ने कितनों ही को जकड़ रखा है। तुम वासना की साक्षात प्रतिमा हो जो सदा प्रलोभन देती है किन्तु कभी शान्त नहीं होती।

लोपामुद्रा (उदास होकर) : अभिमानी पुरुष ! तुम अपनी कामवासना को मुझ में ढूँढने की चेष्टा क्यों कर रहे हो ? मैं उनकी भक्त हूँ जो मुझसे प्रेम करते हैं। मैं अपने कवियों की कविता हूँ। (वेदना से) पर मैं ऐसा कभी नहीं समझती थी कि तुम मुझे एक पुंश्चली समझते हो। क्या तुम कह चुके ? अब मैं तुम्हें एक बार और अन्तिम बार बतलाऊंगी कि मैं कौन हूँ। वृथाभिमानी ! जाओ और त्रिलोकी में घूमकर ढूंढो, फिर भी तुम्हें मुझ जैसी संगिनी नहीं मिलेगी। (विनयपूर्वक) तुम इतने अन्ध क्यों हो ? (धीरे से) मैं कौन हूँ ? क्या तुम विश्वरथ को भी नहीं पहचानते ? क्या तुम्हें उसके विचारों, कर्मों और उसकी व्यापक दृष्टि में मेरे और अपने विचारों की प्रतिच्छाया नहीं दिखाई पड़ती ? अगस्त्य ! उसकी दृष्टि और उसकी आत्म-चेतना मेरी और तुम्हारी ही सृष्टि है। यदि तुम इतने अन्धे नहीं हो कि जिस पुरुष को हमने ढाला है उसे देख सको, तो फिर तुम हम दोनों की इस सम्मिलित सृजन-कला को व्यर्थ ही क्यों नष्ट करते हो ?

(वह रोती है और पैरियों पर बैठ जाती है)।

(अगस्त्य चकित होकर उसकी ओर देखते हैं। वह अगस्त्य की ओर करुण दृष्टि से देखती है। अगस्त्य हाथों से आँखें मूंद लेते हैं)।

अगस्त्य (आंखें खोलकर और समीप आकर) : मैं तुम्हारे पाश में पक्षी की भाँति फँस गया हूँ। ओ वासनामयी !

लोपामुद्रा : अगस्त्य ! मैंने तुम्हें अपना सर्वस्व दे दिया है। तुम जो कहोगे मैं सुनूंगी। किन्तु इस जीवन में तुम मेरे देवता हो। आओ, मेरे साथ आओ।

अगस्त्य (अस्थिरता से) : नहीं नहीं, कभी नहीं।

लोपामुद्रा (उदास होकर) : क्या संसार में यह प्रवाद प्रचलित होगा कि लोपामुद्रा ने केवल एक ही पुरुष से प्रेम किया, किन्तु उसने उसे कभी स्वीकार नहीं किया। नहीं, माता सरस्वती ! यह असम्भव है। तुम मेरी साक्षी हो। (निश्चयपूर्वक धीरे से) अगस्त्य ! तुम इस समय निष्ठुर हो किन्तु तुम्हारा हृदय तप्त स्वर्ण की भाँति प्रदीप्त है। इस समय तुम मुझे छोड़ दो, किन्तु आओ और मेरा अनुसरण करो। तुम मेरा हृदय स्वीकार नहीं करते, किन्तु तुम इसे अपना हृदय देकर लौटाओगे। तुम मुझे अपना प्रेम-दान नहीं करते किन्तु अर्द्ध रात्रि में आकर तुम मुझसे इसके लिये याचना करोगे।

× × ×

शम्बर की पुत्री उग्रा के एक पुत्र उत्पन्न होता है। लोपामुद्रा को इस पुत्र के जीवित रहने से भावी युद्ध की आशंका होती है अतः वह अगस्त्य के शिष्य अजीगर्त के एक मृत बालक से उसे बदलवा देती है।

तदनन्तर वह विश्वरथ से विदा लेने जाती है और उसे विश्वास दिलाती है कि वह किसी भी मूल्य पर शम्बर की पुत्री को आर्य के रूप मे स्वीकार करने के लिये अगस्त्य को बाध्य करेगी।

विश्वरथ : यदि मुझे गुरु का आशीर्वाद प्राप्त हो जाय तो मैं तुम्हें कभी नहीं जाने दूंगा। तुम्हारे अतिरिक्त मुझे और कौन प्रेरणा दे सकता है? मुझे अन्धकार से प्रकाश में कौन ले जायगा?

लोपामुद्रा : पुत्र! मेरी जहाँ इच्छा होगी वहीं भ्रमण करूंगी। मेरे शब्दों की अपेक्षा मेरी स्मृति ही तुम्हें विशेष प्रेरणा प्रदान करेगी। विश्वरथ! मै जहाँ कहीं भी रहूँगी, सदा तुम्हारी माता ही रहूँगी।

तदनन्तर वह उसे विदाई का संदेश देती है—

तुम्हें राज्य का प्रलोभन नहीं होना चाहिये। मनु और ययाति जैसे चक्रवर्ती सम्राट् भी लुप्त हो गये। उनका राजदण्ड अब कहाँ है? और उनके वे सिंहासन अब कहाँ हैं? उन्होंने जो गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ बनवाई थीं, वे अब कहाँ हैं? उन्होंने बड़े-बड़े वीर-कर्म किये, किन्तु अन्धकार मे विचरण करते हुए उन्होंने अन्धकार (अज्ञान) के अतिरिक्त और क्या पाया?

अर्द्धरात्रि का समय है। यह उस स्थान में जाती है जहाँ वह अगस्त्य के आने की आशा करती है। अगस्त्य ने मरने का निश्चय कर लिया है क्योंकि विश्वरथ ने अपनी प्रतिज्ञा छोड़ना अस्वीकार कर दिया है। किन्तु वह लोपामुद्रा का अन्तिम बार दर्शन करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता, अतः उस स्थान मे पहुँच जाता है।

लोपामुद्रा : अर्द्धरात्रि हो गई किन्तु वह अभी तक नहीं आया? क्या वह नहीं आयेगा? (विचारपूर्वक) वनदेवियो! आज मै अपनी वीणा द्वारा तुम्हारा आवाहन नहीं कर सकती। मैं नृत्य द्वारा तुम्हारा अभिनन्दन नहीं कर सकती। मेरे पैर नहीं उठते। (श्वास लेती है) क्या वह नहीं आयेगा? (दुःख से) पुष्पित कुञ्जो! तुम इतनी सुगन्धित क्यों हो? पक्षियो! जब तुम सोते हो तो वृक्ष-शाखाओं पर क्यों झूलते हो? आमोदमयी ऊर्मियो! जब तुम असीम आनन्द से उद्वेलित होती हो तो नृत्य क्यों करती हो? अगस्त्य को मेरी चिन्ता नहीं है और मेरा हृदय निराश हो रहा है।

अगस्त्य (आगे बढ़कर घृणा से) : कितना आकर्षक सौन्दर्य है! क्या तुम स्त्री हो, अथवा राक्षसी अथवा कोई देवी? तुम कौन हो?

लोपामुद्रा (प्रसन्नता से) : आ गया—मेरा अगस्त्य आ गया।

आगस्त्य : हाँ, मैं यह देखने आया हूँ कि तुम्हारा व्यवहार कैसा है? क्या

मैं तुमसे घृणा करता हूँ अथवा अपने-आप से ?

लोपामुद्रा (नम्रता से) : ऐसा क्यों अगस्त्य ? ऐसा मत कहो। तुम्हारा प्रेम ही तुम्हें मेरे पास खींच लाया है।

अगस्त्य (कांपते हुए) : अब मेरी समझ में आया कि तुम इतनी आकर्षक क्यों हो ?

लोपामुद्रा (प्रार्थनापूर्वक) : अगस्त्य जो संगीत मैं सुन चुकी हूँ वह मधुर है, किन्तु जो संगीत मुझे अभी सुनना है वह और भी अधिक मधुर है। (समीप आकर अपना हाथ अगस्त्य के कन्धे पर रख देती है)—वह मुझे सुनने दो। मैं यहीं हूँ। मैं प्रतीक्षा में हूँ, मानों मेरी आत्मा मेरी दृष्टि में दृढता से अति विस्मित है।

अगस्त्य : लोपामुद्रा ! तुम मुझे क्यों सताती हो ? तुम्हारे ओठ अच्छी तरह आकृष्ट धनुष की भांति मुझे बेधते हैं। तुम्हारे वचनों में सद्‌सत् का विवेक नष्ट हो जाता है।

लोपामुद्रा : अगस्त्य ! तुम अपने आपको और मुझे भी क्यों छला रहे हो ? क्या तुम मेरी दयनीय दशा नहीं देखते ? कभी मुझे अकेली रहना ही रुचिकर था। मेरे इस पितृगृह में केवल सरस्वती ही मेरी संगिनी थी। वह गाती थी और मैं अपनी बाँसुरी बजाती थी। हम दोनों ही एकस्वर से गाते थे और मेरे अंग चंचल तरंगों की भांति थे। मेरे केश जलकी बौछार के सदृश ऊपर को उड़ते रहते थे। मेरे हाथ और पैर ऊँचे-नीचे उठते रहते थे, और मैं असीम उल्लास से भरी रहती थी। पक्षी ताल देते थे और मैं नृत्य करती थी।

अगस्त्य (चकित होकर उसकी ओर देखते हुए) : लोपामुद्रा ! तुम कितनी अद्‌भुत हो ?

लोपामुद्रा : नहीं, मैं नहीं हूं। वह सब कुछ लुप्त हो गया। मेरा संगीत, मेरा उल्लास और मेरा नृत्य, तुम्हारे बिना सभी नष्ट हो गया है। प्रेम ने मुझे भस्मसात् कर दिया है। मैं पिपासु हूं—तुम्हारे ओठों और तुम्हारी भुजाओं के लिए।

अगस्त्य (आँखें मूँदकर) : दिव्य ज्योतिर्मयी ! तुम मुझे अन्धा बना रही हो। दानवी, देवी, ऋषिश्रेष्ठ, जो कुछ भी तुम हो, मैं तुम्हारे चरणों पर मस्तक नवाता हूं। मुझे छोड़ दो—मुझे जाने दो। मैं यह पीड़ा और वेदना सहन नहीं कर सकता।

लोपामुद्रा : तो फिर मेरे स्वामी ! तुम उन्हें क्यों सहन करते हो ? (भुजाएं फैलाकर) मुझे जीवन-सुधा दो। जिस प्रकार तुम्हारे पूर्वजों ने अपनी सह-गामिनियों को स्वीकार किया था उसी प्रकार तुम भी मुझे स्वीकार करो।

अगस्त्य (आत्मसंयम में अक्षय होकर) : क्या तुम सत्य कहती हो ?

अथवा तुम कोई लम्पट स्त्री हो जो मुझे अपना दास बनाना चाहती हो।

लोपामुद्रा : अविश्वासी ! तुम मुझ पर अब भी सन्देह करते हो। जब मैं तुम्हें देखती हूं तो प्रत्येक समाधि मेरे लिये पुष्पों का स्वर्ग हो जाती है, प्रत्येक वृक्ष तुषारावृत मणियों से प्रकाशित हो उठता है। प्रत्येक मार्ग में देवों के पद-चिह्न आभासित होने लगते हैं और उनके लोक की मन्द समीर मेरे हृदय में संचार करती है।

अगस्त्य (पास आकर अचानक रुक जाते हैं) : किन्तु···किन्तु वशिष्ठ क्या कहेंगे ? और भरत भी ? वे कहेंगे कि तुमने औरों की भाँति मुझे भी अपना दास बना लिया।

लोपामुद्रा : यदि लोकापवाद के कारण मुझे ग्रहण करने का तुममें साहस नहीं है तो तुम जैसा मूर्ख और कोई नहीं है। (पीडित होकर) प्रेम महान् है, शाश्वत धर्म है। यदि तुम इस प्रकार समझने में असमर्थ हो तो ऋषिश्रेष्ठ ! मुझे छोड़ दो।

अगस्त्य : तुम क्या करोगी ?

लोपामुद्रा : मैं ? (शिलाखण्ड पर बैठकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से) मैंने आज रात्रि में जिस अगस्त्य को देखा है उसी के वियोग की स्मृति में संतप्त जीवन व्यतीत करूंगी। मैं आर्यों से दूर बहुत दूर रहकर तुम्हारे नाम का स्मरण करती हुई विचरण करूंगी। और अब से वर्षों पीछे जब मेरे हृदय की ज्वलन्त पीडा केवल स्मृतियों के रूप में भस्मावशेष हो जायगी तो मैं फिर इसी कुंज में लौटकर निवास करूंगी। (अगस्त्य समीप आते हैं और वह रोती है) उस समय आपकी स्मृति प्रशान्त रात्रि में नक्षत्रों की भाँति प्रकाशित होकर अपनी कोमल और मधुर कान्ति से मेरे अन्तस्तल को आभासित करेगी। मैं एकाकी रहकर गाऊंगी और उन गीतों में मैं अपने हृदय की शून्यता को उंडेल दूंगी। वे गीत ऐसे होंगे जिन्हें सूर्यदेव ने भी पहले कभी नहीं सुना होगा। (फूटकर रो पड़ती है) तुम्हारे चुम्बन के लिये पिपासु अधर और तुम्हारे आलिंगन के लिये व्याकुल भुजाओं को लेकर मैं मृत्युलोक की ओर अपना विश्रान्त पथ बनाऊंगी। (हाथों से मुंह ढक लेती है)।

अगस्त्य : लोपामुद्रा ! (वह ऊपर नहीं देखती)।

लोपामुद्रा (सिसकती हुई) : जाओ।

अगस्त्य : ऊपर देखो। मेरे रक्त में उष्णता भर गई है। (धीरे से अपना हाथ उसके सिर पर रखकर) मेरा हृदय तुम्हारे कोमल केशों में आविद्ध हो गया है।

लोपामुद्रा : मैं तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि अपने को आविद्ध मत करो। तुम आज्ञा देना ही जानते हो, याचना करना नहीं। तुम शक्ति से ही परिचित हो,

प्रेम से नहीं। पूर्ण समर्पण में जो आनन्द है उसका स्वाद तुम्हारे भाग्य में नहीं है। (अपना मुंह हाथों से ढक लेती है)।

अगस्त्य (उसके कपोलों का स्पर्श कर) : लोपामुद्रा ! गुलाब की ये पंखुड़ियाँ किस ऋतु में उत्पन्न हुई हैं? अपने यौवन का यह तेज तुम्हें किस देवता से प्राप्त हुआ है ? देखो, मैं तुम्हारी वाणी से मोहित हो गया हूं और पहले की अपेक्षा कहीं अधिक व्याकुल हूं। मेरी ओर देखो (उसका सिर उठाकर) अगस्त्य आत्मसमर्पण करता है। मैं तुम्हारे चरणों से उड़ती हुई धूलि के समान तुम्हारा अनुगमन करना चाहता हूं।

लोपामुद्रा (अर्द्ध निमीलित नेत्रों से) : स्वामिन् ! मेरे स्वप्निल नेत्रों में तुम्हारे तेज की चकाचौंध है। हम यहाँ अकेले हैं। केवल अन्तरिक्ष ही हमारे ऊपर फैला है। हम चन्द्र-किरणों से स्नात हैं। (आँखें मूंद लेती है) मुझे दूर एकान्त में पर्वतों और नदियों के पार किसी वन्यप्रदेश में ले चलिये। देखो-देखो उस नक्षत्र की ओर। वह तुम्हारे तेज के सार के ही तुल्य है। वही हमें मार्ग प्रदर्शित करेगा। हम विषम पथ और धूलिकणों को अपने प्रेम के गीत गाना सिखायेंगे।

इसके अनन्तर लोपामुद्रा अगस्त्य से एक वर माँगती है। विश्वरथ स्वभाव से उन्हीं का बालक है अतः उसे जीवित रहने देना चाहिये।

सहसा अगस्त्य को अपने प्रण का स्मरण होता है और वे यह कहते हुए पीछे हट जाते हैं—

मेरी प्रिये ! अपना स्वप्न छोड़ो। हमारे पथ पृथक्-पृथक् ही रहेंगे। यदि मेरा जीवन सत्य से रहित है तो मुझे जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है।

किन्तु उनके जाने से पूर्व उग्रकाल का पुरोहित भैरव, जो आर्यों के प्रवेश के समय शम्बर के गढ़ से भाग गया था, सहसा अन्धकार में से आगे बढ़कर आता है और लोपामुद्रा के छुरी भोंक देता है। लोपामुद्रा मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ती है। फिर भैरव अगस्त्य पर भी आक्रमण करता है।

इसी समय पीछे से विश्वरथ आजाता है और भैरव को पकड़ लेता है। रोहिणी आती है और उन्हें सूचित करती है कि किसी ने उग्रा को छुरी भोंक कर मार डाला है।

भैरव प्रसन्नता से खिलखिला कर हँसता है—"मैंने उसे मार डाला जिसने उग्रकाल को छला। यह दूसरा है और यह तीसरा।" और फिर वह विश्वरथ के ऊपर गिर पड़ता है। विश्वरथ उसे नीचे गिरा देता है और अपनी कटार से उसे मार डालता है। वह उग्रकाल का नाम लेते हुए मर जाता है।

अगस्त्य घायल लोपामुद्रा को अपनी भुजाओं में उठा लेते हैं। दिवोदास और महर्षि वशिष्ठ आते हैं। लोपामुद्रा आँखें खोलकर अगस्त्य को देखती है और दोनों भुजाओं से आलिंगन करती है।

वशिष्ठ (कठोरता से) : भाई ? यह क्या है ?

अगस्त्य (भावोन्माद में) : वशिष्ठ ? यह मेरी है। देवों ने ही इसे मुझे दिया है।

(यवनिका पतन)

: ४ :

विश्वामित्र ऋषि

(नाटक)

दस्युओं को एक कण्टकाकीर्ण क्षेत्र में—एकान्त शिविर में बन्दी कर दिया गया है और उन पर कड़ा पहरा है।

तृत्सुग्राम में वातावरण स्वभावतः क्षुब्ध है। विजयी आर्य सेना में तृत्सु और उनका राजा दिवोदास एवं शूरवीर भरत और उनका राजा विश्वरथ हैं। विश्वामित्र के यश और पराक्रम से ईर्ष्या करनेवाला दिवोदास का पुत्र सुदास मित्रपक्ष के लोगों में शत्रुता का बीजारोपण करता है। अगस्त्य के भ्राता वशिष्ठ, जो एक कठोर तपस्वी हैं और विशुद्ध जातीयता के पक्षपाती हैं, लोपामुद्रा से घृणा करते हैं, विश्वरथ से अप्रसन्न हैं क्योंकि उग्रा के साथ उसके पाणिग्रहण को वे अधर्म समझते हैं और अपने भ्राता (अगस्त्य) का धर्मच्युत लोपामुद्रा के साथ विवाह हो जाने के कारण अपने शिष्यों सहित उस स्थान को छोड़कर चले जाते हैं जहाँ आर्यजीवन की धार्मिक पवित्रता की रक्षा सम्भव नहीं है।

तृत्सु दस्युओं के साथ पाशविक व्यवहार करते हैं। विश्वरथ भरतों को इस प्रकार के क्रूर व्यवहार से रोकना चाहता है। इसका परिणाम पारस्परिक युद्ध है।

अगस्त्य और लोपामुद्रा आर्यावर्त छोड़कर दक्षिणावर्त में चले जाने की इच्छा करते हैं। विश्वरथ की अन्तरात्मा अत्यन्त पीड़ित है। वह तृत्सुओं और भरतों में मैत्री बनाये रखने के लिये उत्सुक है। सुदास की ईर्ष्या दूर करने की भी उसकी इच्छा है। देव उसका मार्ग प्रदर्शन करते हैं। वह एक पर्वत-शिखर पर जाकर देवों और अपने पूर्वजों से परामर्श करता है। उनकी प्रेरणा से वह अपना राज्य त्यागकर ऋषि बनने का संकल्प करता है।

अगस्त्य अपना पुरोहित-पद त्याग देते हैं और विश्वरथ को, जो अब विश्वामित्र ऋषि है, इस पद को ग्रहण करने के लिये आमंत्रित किया जाता है। इस त्याग से तृत्सुओं और भरतों के बीच होनेवाला युद्ध शान्त हो जाता है।

: ५ :

लोपामुद्रा

(उपन्यास)

अगला भाग लगभग बीस वर्ष के अनन्तर प्रारम्भ होता है। विश्वामित्र सत्रह वर्षों तक मित्रवर्गों-तृत्सुओं और भरतों के कुल-पुरोहित रहे। बहुतों ने उन्हें आर्य ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ स्वीकार कर लिया है।

भार्गव ऋषि जमदग्नि का आश्रम भी तृत्सुग्राम में है जहाँ शास्त्र और शस्त्र विद्या का अनुशीलन होता है।

सुदास ने अपनी दुर्दम्य ईर्ष्या पर कठोर प्रतिबन्ध लगा रखा है और उसे तृत्सुओं एवं भरतों पर विश्वरथ के नेतृत्व को दूर करने का कोई उपाय नहीं सूझा। यह नेतृत्व लौकिक और पारमार्थिक दोनों ही रूप में था। तृत्सुग्राम में आर्य और दस्यु इस प्रकार का जीवन-यापन करते हैं जिसमें दस्यु शक्तिशाली आर्यों की सेवा करते हैं और आर्य स्वतंत्रतापूर्वक दस्यु-राजकुमारों से मिलते-जुलते हैं। इन राजकुमारों में शम्बर का पुत्र और उग्र का भाई भेद प्रमुख हैं। विश्वामित्र ने भेद को एक छोटा-सा प्रदेश दे दिया है किन्तु उसका लालन-पालन तृत्सुग्राम में हुआ था। वह यहाँ विलासी जीवन व्यतीत करता है। उत्तम घोड़ों की सवारी करता है और आर्यों पर अपव्यय करता है। कितने ही आर्य उसकी उदारता से जीवन-निर्वाह करते हैं, मन में उससे घृणा करते हैं किन्तु महर्षि विश्वामित्र के कारण उसे सहन करते हैं क्योंकि विश्वामित्र ने तृत्सुग्राम को वास्तव में आर्यावर्त की राजधानी बना दिया था।

सुदास के कोई सन्तान नहीं है। उसका उत्तराधिकारी हर्यश्व का पुत्र कृशाश्व है जिसका विवाह सोमक राजा की कन्या शशियसी के साथ हुआ था। भेद का शशियसी के साथ गुप्त प्रेम है। यद्यपि यह बात सब लोग जानते थे किन्तु प्रत्यक्ष रूप से कोई भी इसे स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था। शशियसी का अनुकरण कर कई आर्य स्त्रियों ने दस्युओं को अपना पति और प्रेमी बना लिया था।

सुदास की छोटी बहन लोमहर्षिणी पन्द्रह वर्ष की एक प्रभावशालिनी चंचल बाला है। वह एक लड़के की भाँति स्वच्छन्द रूप से जीवन यापन करती थी और राम पर अनुरक्त थी जो अवस्था में उससे कई वर्ष छोटा था। राम भार्गव ऋषि जमदग्नि का चतुर्थ पुत्र था। इस सुकुमार किन्तु विशाल देह और देव-सदृश सुन्दर बालक के प्रति उसकी माता रेणुका का जन्म से ही अत्यन्त स्नेह था। लोमा भी उससे प्रेम करती थी और दिनरात उसी के साथ रहती थी। वृद्ध ऋचीक की युद्ध-कला के आचार्य वृद्ध नामक कवि का भी इस बालक पर बड़ा स्नेह था। यह कृशकाय किन्तु कठोर वृद्ध पुरुष तृत्सुओं, भरतों और भृगुओं की संयुक्त सेना का सेनापति था और राम को प्राचीन भृगुओं की परम्परा के अनुसार शिक्षा देने का प्रबल पक्षपाती था। अपने वर्त्तमान अधिनायक जमदग्नि के प्रति, जिसने शस्त्रों का परित्याग कर दिया था, उसके मन में मौन-तिरस्कार की भावना थी।

सुदास का जीवन कहने के लिये राजा होते हुए भी अत्यन्त नैराश्यपूर्ण था और इस नैराश्य का प्रधान कारण था विश्वामित्र का सान्निध्य। इसमें सन्देह नहीं कि विश्वामित्र ने भरतों और तृत्सुओं को आर्यावर्त में सबसे अधिक शक्तिशाली बना दिया था, किन्तु सुदास अब अपने ही अधिकार से राज्य करना चाहता था।

विश्वामित्र से छुटकारा पाने का एक ही मार्ग था कि वशिष्ठ पुरोहित-पद स्वीकार कर लें, किन्तु वशिष्ठ अपने शिष्यों सहित कई वर्ष पूर्व वन में चले गये थे और वहाँ उन्होंने एक आश्रम स्थापित कर लिया था जो अब विद्या और कठोर आत्मसंयम का महान् केन्द्र बन गया

था। सुदास ने उनसे अनेक बार लौट आने का आग्रह किया किन्तु उन्होंने यह कह मना कर दिया कि जिन देवताओं से वे नित्य वार्तालाप करते हैं उन्होंने उन्हें इसके लिये अनुमति नहीं दी है।

× × ×

सुदास फिर वशिष्ठ के पास जाता है और उनसे लौट आने की प्रार्थना करता है। आर्य-संस्कृति की शुद्धता के कट्टर पक्षपाती वशिष्ठ इस शर्त पर देवताओं से परामर्श करने का वचन देते हैं कि सुदास अपने राज्य में ये दो राजाज्ञायें घोषित करा दे—प्रथम आर्यों और दस्युओं के बीच में सब प्रकार का वर्णसंकर-सम्बन्ध निषिद्ध होगा और दूसरे आर्य स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले समस्त दस्युओं का बध कर दिया जायगा।

सुदास तृत्सु ग्राम लौट आता है और उपर्युक्त घोषणाएँ करा देता है। भरतों के साथ पूर्व-चिन्तित युद्ध की तैयारी के लिये वह सहस्रार्जुन के साथ अपनी बहन लोमा का विवाह करना भी निश्चित कर लेता है। सहस्रार्जुन का राज्य आर्यावर्त के दक्षिण के प्रदेशों और नर्मदा-वनस्थली तक फैला हुआ था। उसकी राजधानी महिष्मती थी जो नर्मदा तट पर (वर्तमान भड़ोंच के निकट) स्थित थी। लोमा इस प्रस्ताव का घोर उपहास करती है और सुदास उसके एक तमाचा लगा कर उसके ठोकर मारता है। लोग उससे या तो प्रेम करते थे या भय। अन्य कोई मार्ग ही न था।

घोषणाएँ करा दी जाती हैं और आर्यकुमार इकट्ठे होकर आर्य स्त्रियों के पति एवं प्रेमी दस्युओं का बध करते और दस्यु-भवनों का विध्वंस करते हुए इधर-उधर घूमते-फिरते हैं। वे उस स्थान का पता भी लगा लेते हैं जहाँ भेद गुप्तरूप से शशियसी से भेंट किया करता है।

सेनापति वृद्ध को इस पूर्व-निश्चित आक्रमण का पता लग जाता है। वह संकेत-स्थल पर जाकर प्रेमियों को सावधान कर देता है और भेद को अपने साथियों सहित अपनी राजधानी को लौट जाने का आदेश करता है। शशियसी को वह राजप्रासाद में ले आता है। आक्रमण होने पर भेद का वहाँ कहीं पता नहीं चलता और शशियसी भी प्रासाद में सुरक्षित है। सुदास की रानी वशिष्ठ के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये उनके आश्रम में जाती है। उसके साथ शशियसी भी है। वशिष्ठ शान्त और विनीत भाव से होमाग्नि की ओर दृष्टि गड़ाये देवादेश की प्रतीक्षा में बैठे हैं। राजमहिषी और उनके दल से भेंट कर वे उन्हें नाव में बिदा करने के लिये नदी तट तक आते हैं।

पास ही एक टेकरी पर भेद अपने दलबल सहित खड़ा है। वह तृत्सुओं के क्रोध से बचकर अपनी राजधानी में भाग जाने की जल्दी में है।

थोड़ी-ही दूर पर वशिष्ठ और राजमहिषी के साथ अपनी प्रेयसी को देखकर भेद अपने को रोक नहीं सकता। टेकरी से नीचे कूद पड़ता है। शशियसी को उठाकर काठी पर डाल देता है, और इसके पूर्व कि लोग यह जान सकें कि क्या हुआ' वह धूलि-पटल में उसके साथ आंखों से ओझल हो जाता है।

भेद ने आर्यों की पुनीत प्रणाली के अनुसार यह अधर्म कार्य किया था। उसने आश्रम में आर्यावर्त्त के सर्वश्रेष्ठ ऋषि के सम्मुख शस्त्र निकाला और एक स्त्री का अपहरण किया।

इसी समय वशिष्ठ को वरुणदेव का संदेश मिलता है कि आर्यावर्त्त से इस भयंकर पाप को निर्मूल करना होगा।

वशिष्ठ न केवल तृत्सुओं का पुरोहित-पद अपितु समस्त आर्यों के कुल-पुरोहित का पद स्वीकार कर लेते हैं। वे इस भयंकर पाप के विरुद्ध, जिसके लिये शीघ्र प्रायश्चित्त आवश्यक था, धर्म-युद्ध करने के लिये तृत्सु लौट आते हैं और शिष्यों से कहते है—

> वत्सो ! जाओ और वशिष्ठ के सब आश्रमों में जाकर कह आओ कि अनार्यों के विनाश और आर्यों के उद्धार के निमित्त देवों ने आज मुझे सशस्त्र आर्यावर्त का पुरोहित-पद दिया है। और मैंने प्रण किया है कि भेद का बध करके इस भूमि को विशुद्ध करूँगा। केवट ! मुझे तृत्सुग्राम ले चलो।

× × ×

राम एक विलक्षण गुणसम्पन्न बालक था। उसकी माता उसे 'वरुणदेव' कहकर पुकारा करती थी। लोमा उसके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकती थी। सेना-नायक वृद्ध कवि ने धनुर्विद्या, अश्वविद्या और शस्त्रों का निर्माण और प्रयोग आदि सभी प्रकार की विद्या जो वे जानते थे, राम को सिखाने की चेष्टा की।

वृद्ध का पुत्र विमद राम का प्रधान शिक्षक नियुक्त किया गया। यह अल्पवयस्क कुमार बोलता कम था, सिंहशावक की भाँति विचरण करता था और उत्कट प्रेम और उत्कट घृणा का केन्द्र था।

राम की आयु नौ वर्ष की होने पर विद्वान् और विवेकी महर्षि जमदग्नि ने आर्यावर्त में उच्च शिक्षा के लिये परम विख्यात विश्वामित्र के आश्रम में शिक्षा के निमित्त उसे भेजने का निश्चय किया। किन्तु वृद्ध कठोर होगये। वे कहने लगे कि जमदग्नि ने अपने तीन पुत्रों को विद्वान बना दिया है। अब यह चतुर्थ पुत्र मेरा है और इसे इसके महान पूर्वज शुक्र, च्यवन और ऋचीक की भाँति ही युद्धविद्या की शिक्षा मिलनी चाहिए। वृद्ध कवि राम को किसी भी प्रकार छोड़ने को तैयार नहीं थे; किन्तु जमदग्नि अपने पुत्र को ऋषि बनाने के अपने निश्चय पर दृढ रहे।

वृद्ध कवि क्रोध में भरकर भृगुओं के पूर्व-निश्चय के अनुसार भृगुग्राम के लिये किसी प्रकार का भी आदेश दिये बिना ही अपने कुलपति का आश्रम छोडकर चले जाते हैं। यदि राम को उनसे छीन लिया जाता है तो वे अपने कुलपति की आज्ञा का पालन नहीं करेंगे और विश्राम ग्रहण कर लेंगे। बालक राम के मन में दूसरे ही प्रकार का विचार उठता है। उसके वृद्ध कवि चले गये हैं किन्तु वह उनसे दूर नहीं रहेगा। रात्रि में वह अपनी माता के पास से छिपकर चला जाता है और अपना लघु अश्व बाहर कर उस पर सवार होकर घने जंगलों में मार्ग से सर्वथा अपरिचित रात्रि के घने अन्धकार में वृद्ध से मिलने के लिये निकल जाता है। उसे विचित्र वरदान प्राप्त है। अन्धकार में वह देख सकता है और भय से विकंपित होना नहीं जानता। सारी रात वह घोडे पर चढा चला जाता है।

अगले दिन प्रातःकाल होने पर वह स्वयं स्नान करके और अपने घोड़े को स्वच्छ करने के लिये उतर पड़ता है, किन्तु तीर्थयात्रा के लिये जानेवाले दस्युओं का एक दल उसे बन्दी

बना लेता है। वे उसे एक घोड़े के साथ बांध देते हैं और उसके प्रतिरोध के कारण उसे मारते हैं। इसके पश्चात् वह दल कई दिनों तक लगातार एक पर्वत पर चढ़ाई करता है और रात्रि को एक शिखर के सम्मुख विश्राम करता है। इस शिखर पर एक मन्दिर है। रात्रि को वहां भोज होता है और रस्सों से बंधा हुआ राम देखता है कि उसके प्यारे घोड़े को मारकर पकाया जाता है और वह दल उसे खा जाता है।

जब सारा दल गाढ़ निद्रा में लीन हो जाता है तो राम प्रशान्त किन्तु तीव्र रोष में भरा हुआ अग्नि के समीप तक पहुंचकर रस्सी को गांठ के एक भाग को जिससे वह बंधा हुआ है जला डालता है और अपने हाथों को मुक्त कर लेता है। फिर वह बन्धनमुक्त होकर धीरे-धीरे रेंगकर शिखर के ऊपर तक पहुंचता है, जहां बलि किये हुए व्यक्तियों की टूटी-फूटी अस्थियों मध्य में भयंकर उग्रकाल की मूर्ति स्थापित है।

निर्भीक होकर वह मार्ग खोजने की चेष्टा करता है किन्तु उसने देखा कि शिखर तीन ओर से ढालू है और एक ओर से सीधा खाई तक जाता है।

दल को उसकी अनुपस्थिति का जल्दी ही पता लग जाता है और उसकी खोज में टेकरी के ऊपर जाता है। राम ढाल की ओर जाकर एक वृक्ष की शाखा पकड़ कर नीचे की ओर लटक जाता है। फिर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को पकड़ते हुए वह धीरे से उस खाई में नीचे को ओर उतर कर नदी के प्रवाह में कूद पड़ता है।

दूसरे दिन पणियों के परिवार की एक नौका ने उसे ऊपर उठा लिया। ये लोग सरस्वती नदी के किनारे अनेक प्रकार की वस्तुओं का छोटा-सा व्यापार भी करते थे। कभी-कभी ये सुन्दर आकृतिवाले लड़कों को चुराकर उन्हें बेचने का व्यापार भी करते थे। राम को दो अन्य लड़कों के साथ नाव की पेंदी में बने हुए एक पिटारे में बन्द कर दिया गया।

उसके उन साथियों में से एक, शुनःशेप, जो अवस्था में उससे कुछ वर्ष बड़ा था, एक रूपवान् लड़का था। राम उससे तुरन्त परिचय कर लेता है और उससे उसे यह भी पता लग जाता है कि पणि उन्हें बेचना चाहते हैं। लड़कों को दिन में नाव की रखवाली पर छोड़ दिया जाता है और रात को एक पिटारे में बन्द कर दिया जाता है। जब राम शुनःशेप को अपना परिचय देता है तो वह आंखों में आंसू भर कर दूर खड़ा हो जाता है। पूछने पर वह राम से वचन लेता है कि उसका परिचय प्राप्त करने के पश्चात् भी वह उसे छोड़ेगा नहीं। राम वचन देता है और तब शुनःशेप उसे बतलाता है कि वह राम के पिता जमदग्नि के कुल के ही एक सदस्य और शाप के कारण पतित हुए भार्गव का पुत्र है। शुनःशेप ने अपनी कथा इस प्रकार प्रारम्भ की—

मेरे पिता का नाम अजीगर्त है और वे भृगुवंशी हैं। महर्षि अगस्त्य ने उन्हें शाप दिया है जिससे वे पतित होगये हैं। इसी कारण हमलोग आर्यों के किसी प्रदेश में निवास नहीं कर सकते। यदि हम ऐसा करें भी तो हमें निर्दयता के साथ मार कर निकाल दिया जाता है। किन्तु शापित होने के पूर्व मेरे पिता बड़े विद्वान् थे। अब उनमें सब प्रकार के दुर्व्यसन आगये हैं। परन्तु जब वे सुरा-

पान से उन्मत्त हो जाते हैं तो बड़े ही सुन्दर मंत्रों का उच्चारण करते हैं। जब मैं उनके द्वारा उच्चारित मंत्रो को समझने लगा तो मैं अधीर हो उठा। विद्या प्राप्त कर ऋषि बनने की उत्कट आकांक्षा मेरे हृदय में जाग उठी। मेरे भाई मन्दबुद्धि थे और मेरी माता की सारी आशाएं मुझ में ही केन्द्रित थीं कि मैं बड़ा होकर किसी दिन अगस्त्य से अवश्य ही इस शाप को दूर करा सकूंगा।

एक बार हमारे पास कई दिन तक खाने को कुछ नहीं था। हम जहां कहीं जाते लोग हमें भगा देते थे। इनके दल पक्षियों का शिकार कर उन पर ही निर्वाह करते थे। जब हमारे पास खाने को ही कुछ नहीं था तो पिता के लिये सुरा कहां से लाते। जब सुरा नहीं मिलती थी तो मैं आगे कुछ सीख नहीं सकता था और मेरे पिता हम सबको पीटते थे।

एक बार मेरे पिता ने मुझे इतना मारा कि मैं मरणासन्न हो गया। इसके अनन्तर उन्होंने मुझे पणियों के एक दल को बेचकर बदले में सुरा मोल ली। पणि मुझे अपनी नौका में ले आये।

मेरे पिता ही मेरे गुरु थे। उनके बिना मैं सर्वथा पागल हो गया। अतः मैं बराबर रोता रहता था। पणियों ने क्रुद्ध होकर मुझे मारा। इस जीवन से दुःखी होकर मैंने वरुणदेव का आह्वान किया यद्यपि मुझ-जैसे शापित व्यक्ति के लिये ऐसा करना भी पाप था। पणियों ने मुझे जब मंत्रोच्चारण करते हुए सुना तो उन्हें दया आई और उन्होंने मुझे मुक्त कर दिया।

जब तक मेरे पिता के पास सुरा रही वे मन्त्रोच्चारण करते रहे और मैंने उनके चरणों में बैठकर उन्हें सीख लिया। मुझे कल्पनातीत सुख का अनुभव हुआ।

सुरा के समाप्त होने पर मेरी कठिनाई फिर प्रारम्भ हुई। अधिक विद्या प्राप्त करने का अवसर प्राप्त न होने के कारण मैं बड़ा दुःखी हुआ। तब मेरी माता और भाइयों ने एक उपाय ढूंढ निकाला जिससे मैं अपनी शिक्षा समाप्त कर सका। उन्होंने सुरा के लिये मुझे एक नये पणि के हाथों बेच दिया और उस सुरा को पिता से छिपा कर रख दिया। मैंने मंत्रों का उच्चारण किया तो पणियों ने मुझे कष्ट पहुँचाने पर देवों के रुष्ट होजाने के भय से मुक्त करा दिया। मैं माता के पास लौट आया। माता ने पिता को सुरापान करने को दी। और मेरा अध्ययन पुनः प्रारम्भ हो गया। इस प्रकार मैंने समय पर अध्ययन किया है। कुछ वर्षों में मेरी शिक्षा पूर्ण हो जायगी तब मैं महर्षि अगस्त्य के पास जाकर शाप से मुक्त कर देने के लिये उनसे प्रार्थना करूंगा। मैं ऋषि के आश्रम में रहकर अपनी शिक्षा पूर्ण करूंगा।

कथा समाप्त करने पर शुनःशेप के नेत्रों में आंसू भर आये। राम अपने सरल स्वभाव से यह न समझ सका कि कैसे इस सुन्दर कुमारने बार-बार अपने आपको बेचकर वह

विद्या प्राप्त की जो उसके पिता के आश्रम में सहज ही प्राप्य थी और कैसे ऋषि होने पर वह शाप से मुक्ति पा सकेगा। पणियों की नौका पवित्र सरस्वती के बहाव की ओर निर्बाध चली जा रही थी, किन्तु एक दिन उन्होंने वृद्ध पणि को राम की ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से देखते हुए देखा और शुनःशेप ने भी उन्हें परस्पर प्रसन्न मुद्रा में कहते हुए सुना कि उन्हें एक बड़े आदमी का लड़का मिल गया है। ऐसा प्रतीत हुआ कि पणि नौका को पीछे ले जाना चाहते हैं जिससे वृद्ध पणि एकाकी कहीं जाकर इस कुलीन लड़के के बेचने का सौदा कर सके। जिस समय पणि अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ भोजन के समय विनोद कर रहे थे राम और शुनःशेप दोनों छिपकर नौका से भाग जाते हैं। राम अन्धकार में भी देख सकता था अतः वह शुनःशेप का हाथ पकड़ कर उसे वन की ओर ले जाता है। एक बस्ती के समीप पहुँचकर वे एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं क्योंकि शुनःशेप वहां जाने से डरता है। राम वृद्ध से मिलने के लिये आतुर है अतः वह भृगुग्राम की ओर जानेवाले वन का मार्ग पकड़ लेता है।

भृगुग्राम में वृद्ध सेनानायक कवि राम के लिये व्याकुल है। उसने सुना था कि राम उससे मिलने के लिये अपने पिता को छोड़कर चला गया है किन्तु तब से अब तक उसका और कोई समाचार नहीं मिला है। उसके आदेश से भार्गवों ने कितने दिनों तक वनों में उसकी खोज की, किन्तु वह नहीं मिला। वृद्ध हताश हो गये। वे अब किसी से बात नहीं करते। केवल कभी-कभी आंसू उनकी आंखों में छलक आते हैं और वह अपने व्याकुल हृदय से राम को पुकार उठते हैं।

एक दिन रात्रि की नीरवता में अत्यन्त हताश हो वे सरस्वती के तट पर अकेले ही घूम रहे थे कि अकस्मात् उन्हें वन की ओर से आती हुई एक ध्वनि सुनाई पड़ी। 'वृद्ध...वृद्ध।' बाल-स्वर की कोमल किन्तु अधीर झंकार एक भेड़िये की कुछ और भयंकर गुर्राहट से रुद्ध जान पड़ती थी। वृद्ध वन में वेग से दौड़े। उन्हें 'घररर' भेड़िये का अवरुद्ध शब्द सुनाई दिया और साथ ही प्रिय राम का अधीर और क्षीण स्वर भी सुनाई पड़ा। वह उस ओर दौड़ पड़ते हैं जिधर से ध्वनि आ रही थी। भेड़िया मरा हुआ पड़ा है। राम भी रक्त से सना हुआ मृत-जैसा अचेत अवस्था में पड़ा है। जीवन और मृत्यु के संघर्ष में नौ वर्ष के इस वीर बालक ने जिसके अंग-प्रत्यंग से रक्त टपकता था, भेड़िये का गला घोट कर मार डाला था।

देवगण आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ महर्षि विश्वामित्र से अप्रसन्न हो गये।

गत बीस वर्षों में विश्वामित्र ने आर्यों के यज्ञ-विधान में क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। नरमेध बन्द हो गये थे और मानवों के साथ देवों का सम्बन्ध स्थापित करनेवाली यज्ञ की अग्नि महर्षि के उपदेशों से अब महान् प्रेरणाओं का मूल बन गई थी। प्रतापी भरतवंशी महर्षि विश्वामित्र अब इन यज्ञों के प्रधान पुरोहित थे जो वास्तव में ऋतु के प्रवर्तक थे। राजा हरिश्चन्द्र ने वरुणदेव की आराधना की और पुत्र का वरदान माँगा। देव ने पुत्र दिया, किन्तु इस भयङ्कर शर्त पर कि जब वह बड़ा हो जाय तो उसे देव को बलिदान कर दिया जाय। राजा ने देव को

वचन दिया और समय टलता रहा। जब उसका पुत्र रोहित बड़ा और रूपवान हुआ तो पिता ने ऐसे सुन्दर पुत्र की पूर्व-संकल्पित बलि देने की अनिच्छा प्रकट की। फलतः देव क्रोधित हुए और उन्होंने वचन पूरा कराना चाहा। प्रतिज्ञा भंग करने के अपराध में हरिश्चन्द्र को भयंकर व्याधि का सामना करना पड़ा। या तो वह पुत्र का बलिदान करे अथवा अपने प्राणों का। सर्वदर्शी और व्याधिदेव वरुण का ऐसा ही आदेश था।

हरिश्चन्द्र ने असह्य वेदना के साथ यज्ञ-विधान के आचार्य महर्षि विश्वामित्र की शरण ली। इन महर्षि ने जब यह शिक्षा दी है कि नरमेध अधर्म है तो वरुणदेव क्यों इसके लिये हठ कर रहे हैं। यदि ऐसा नहीं है तो विश्वामित्र ने आर्यों को अब तक असत्य सिद्धान्त की शिक्षा दी है।

विश्वामित्र को इस तर्क में बल दिखाई पड़ा, अतः उन्होंने कामदेव द्वारा नरमेध की मांग का प्रतिरोध करना स्वीकार कर लिया। उन्होंने देवताओं से पूछा—

क्या मेरी शिक्षाएँ असत्य हैं। यदि ऐसा है तो मैं जीवित नहीं रह सकता।

यदि वे सत्य हैं तो फिर आप रोहित की बलि कैसे मांग सकते हैं?

विश्वामित्र जमदग्नि तथा भरत-कुल के प्रधान नायकों एवं अन्य राजाओं के साथ, जो उन्हें अपना कुल-पुरोहित मानते थे, हरिश्चन्द्र की राजधानी में आते हैं और यज्ञ-कार्य प्रारम्भ होता है। महर्षि ने देवों से प्रार्थना की कि उनके जीवन का ध्येय सत्य है अथवा मिथ्या?

बार-बार उन्होंने देवों से यह प्रश्न किया। किन्तु केवल एक ही उत्तर मिला कि राजा हरिश्चन्द्र पतित हो गये हैं। वरुणदेव ने उनसे नर-बलि मांगी थी यह स्पष्ट है।

अन्त में देव को दया आती है। रोहित के बदले में उन्हें अन्य लड़के की बलि स्वीकार्य है। फलतः यह संवाद चारों ओर दूर-दूर तक फैल जाता है कि राजा हरिश्चन्द्र रोहित के बदले में बलि देने के निमित्त एक युवक के लिये सौ गायें देने को तैयार हैं। शून्य स्थानों में इधर-उधर भटकते हुए शापित अजीगर्त को भी यह समाचार मिलता है। उसने यह भी सुना कि इस यज्ञ में विश्वामित्र प्रधान पुरोहित होंगे। अतः उसमें भयंकर द्वेष की हंसी आई। उसने सोचा कि अगस्त्य के शाप से मुक्ति पाने और धनी होने का यह सुन्दर अवसर उसे मिला है। वह सकुटुम्ब हरिश्चन्द्र की राजधानी में पहुँचकर अपने पुत्र को यज्ञ में होम देने के लिये सौ गायों के बदले में बेच देता है।

विश्वामित्र ने निश्चय कर लिया है और अपना यह निश्चय उन्होंने जमदग्नि और अपनी पत्नी रोहिणी को भी बता दिया है कि वह देव की अवहेलना करेंगे। वह अपने सत्य पर अटल रहेंगे और नरमेध होने से पूर्व ही अपने प्राणों की आहुति दे देंगे और इस प्रकार अपने जीवन का ध्येय सफल करेंगे।

शुनःशेप को यज्ञस्तूप से बांधने के लिये कोई तैयार नहीं है। दुर्भाग्य से उसका पिता अजीगर्त ही सौ गायें और लेकर उसे बांधने के लिये तैयार हो जाता है।

विश्वामित्र अपने जीवन के ध्येय से निराश हो गये हैं और स्वयं अपने आप ही

निमंत्रित यज्ञ के द्वारा उसकी रक्षा करने में तत्पर हैं। अधम अनीगर्त उनके पास जाकर अपनी कथा सुनाता है।

वह बताता है कि अगस्त्य का शिष्य है। जब वह युवा था तो लोपामुद्रा ने उसके अपने मृत पुत्र को उग्रा के पुत्र से बदला लाने का आदेश दिया था, क्योंकि उन्हें भय था कि दस्यु-स्त्री से उत्पन्न विश्वामित्र का पुत्र भरतों के साथ गृहयुद्ध छेड़ देगा। उसने उस पुत्र को चुरा लिया किन्तु लोपामुद्रा को सौंप देना अस्वीकार कर दिया। अतः महर्षि अगस्त्य ने उसे शाप दिया जिससे वह पतित हो गया।

अजीगर्त उस लड़के को ले आता है। यह शुनःशेप था। अजीगर्त ने विश्वामित्र से कहा कि यदि वे उसे दो सहस्र धेनु और एक आश्रम दें और उसे शाप से मुक्त कर दें तो वह शुनः-शेप को यज्ञ-स्तूप से बाँधना और उसका बध करना अस्वीकार कर देगा। इस प्रकार इस लड़के की और उनकी नीति की रक्षा हो जायगी।

ऋषि को क्रोध आता है। उन्होंने इस प्रकार ठगा जाना अस्वीकार कर उस अधम को भगा दिया। जाते समय अजीगर्त ने धमकी दी कि वह दूसरे दिन ही शुनःशेप के नाम का रहस्य खोल दूंगा।'

ऋषि के अन्तःकरण में संघर्ष होता है। यदि उसने शुनःशेप का गुप्त रहस्य खोल दिया तो यज्ञ पूर्ण नहीं हो सकेगा क्योंकि वह दस्यु-स्त्री का पुत्र है और देव फिर हरिश्चन्द्र को जीवित नहीं छोड़ेंगे। उनके जीवन का ध्येय नष्ट हो जायगा और मनस्वी भरतों का तिरस्कार होगा। गृह-युद्ध छिड़ जायगा। उनका पद और आर्य ऋषियों में उनकी श्रेष्ठता भी जाती रहेगी। वह स्वयं पतित हो जायँगे और आर्य जीवन की जिस उदात्तता का उन्होंने निर्माण किया है उनके साथ ही वह भी समाप्त हो जायगी। दूसरी ओर यदि उसने शुनःशेप के भेद को नहीं खोला तो उसकी बलि हो जायगी। और इस प्रकार उनका उच्च पद, उनके अनुयायी और उनका कार्य सुरक्षित रहेगा।

महर्षि के हृदय में द्वन्द्व होता है और अन्त में उनकी विजय होती है। वे सत्य पर दृढ़ रह कर शुनःशेप के भेद को खोलने, गृह-युद्ध का आह्वान करने और अपने कलंकित अधःपतन के लिये यह निश्चय कर लेते हैं—

> नरमेध करने का केवल एक ही उपाय है। कोई तपस्वी अपनी बलि दे सकता है यज्ञ की अग्नि केवल उनके सत्य से ही सन्तुष्ट हो सकती है। उन्हें अभय की ज्वाला का आलिंगन करना चाहिए।

विश्वामित्र को यह सब-कुछ स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मस्तक ऊँचा किये वे चारों ओर दृष्टि डालते हैं। भय के असुर का वे बध कर डालते हैं। उसके मृत देह पर वे वैसे ही खड़े हैं जैसे पहले कभी इन्द्र खड़ा हुआ था। वे देवताओं को ललकारते हैं—

> यदि आप असत्य का बलपूर्वक प्रचार करना चाहते हैं तो करें। किन्तु विश्वामित्र अपने सत्य पर अटल रहेगा। वह अपने पद से विचलित नहीं होगा, चाहे कुछ भी क्यों न हो।

वे ऊपर की ओर देखते हैं। अवर्णनीय आभा से युक्त लोपामुद्रा उनकी ओर तिरस्कार-पूर्ण दृष्टि से देखती हुई दिखलाई पड़ती है। वे कहते हैं कि नहीं, नहीं; विद्या और शक्ति की अधिष्ठात्री माता सरस्वती, नहीं। ज्योत्स्नापूर्ण सुषमा और लावण्य की तरंगों से विश्व को समृद्ध करती हुई वह समस्त आकाश में व्याप्त है।

अगले दिन यज्ञकार्य के समय एक विचित्र घटना घटती है। अजीगर्त ने शुनःशेप को स्तूप से बांध दिया है किन्तु जैसे ही अन्तिम मंत्रों का उच्चारण होने लगता है शुनःशेप अपने बाल्यबन्धु पर अब देवतुल्य युवक राम को आता हुआ देखता है। गत कितने ही वर्षों से वह अपने इस मित्र की सुखद स्मृति में जीवन-यापन कर रहा था जिसे वह वस्तुतः वरुणदेव ही मानता था। अब वह सशरीर ही उसकी रक्षा करने के लिये उपस्थित है। हर्ष से उत्फुल्ल हो वह अति दिव्य नवीन मंत्रों का गान करने लगता है। इस अद्भुत घटना से समस्त परिषद् आतंकित हो जाती है। शुनःशेप का बन्धन टूट कर गिर जाता है और वह स्वयं भी गिर पड़ता है। विश्वामित्र उसे अपने हाथों पर उठा लेते हैं। वरुणदेव ने विश्वामित्र के ध्येय की रक्षा करली। हरिश्चन्द्र श्वास लेने लगता है; आंखें खोल देता है और उसके स्वस्थ होने के चिह्न दिखलाई देने लगते हैं।

विश्वामित्र को अद्भुत सफलता मिली, किन्तु इससे उनके चित्त को शान्ति नहीं हुई। उनकी पत्नी रोहिणी इस बात से क्रुद्ध है कि दस्यु-राजकुमारी उग्रा का पुत्र जीवित है और बड़ा होने के नाते वह उसके पुत्र से भरतों का राज्य छीन लेगा। भरत भी दुःखी और असन्तुष्ट है। इसी बीच में वशिष्ठ के शासनादेश और भेद द्वारा शशियसी को अपहरण तथा भेद का बध-कर आर्यावर्त का उद्धार करने के निमित्त वशिष्ठ के पुनः राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश के समाचार आते हैं।

ऋषि अपनी कठिनाइयों और अपने चतुर्दिक संसार को देखकर हंस पड़ते हैं। यदि एक आर्य किसी स्त्री का अपहरण करता है तो उसे क्षमा किया जा सकता है किन्तु शत्रु को नहीं। यदि शुनःशेप, एक यशस्वी बाज-ऋषि किसी आर्यमाता का पुत्र होता तो उसकी पूजा होती। उसकी माता के शरीर का वर्ण उसके तिरस्कार और नाश का कारण बन गया है।

विश्वामित्र ने देखा कि संसार ने उनके ध्येय के साथ संघर्ष ठान रखा है, अतः वे कार्य करने में नहीं अपितु अपने सत्य के पालन करने में ही अपना कल्याण समझते हैं। रोहिणी के पुत्र देवदत्त को वे भरतों के सिंहासन पर बिठा देते हैं, तृत्सुओं और भरतों का पुरोहित-पद त्याग देते हैं और अपने सत्य के पालन के लिये रात्रि के समय बिना किसी के जाने वन में चले जाते हैं। अकेला शुनःशेप ही उनकी पूजा करता है अतः वह भी उनका अनुसरण करता है।

जिस समय विश्वामित्र हरिश्चन्द्र की राजधानी में यज्ञानुष्ठान में व्यस्त थे तब सुदास युद्ध की तैयारी कर रहा था। उसने महिष्मती के राजा सहस्रार्जुन को अपने असभ्य सैनिकों के साथ आर्यावर्त में आने का निमंत्रण भेजा। वह आता है, लोमा के साथ विवाह करने के लिए तत्पर हो जाता है और जो भी उससे सहमत न हो उसको नाश करने के लिये कटिबद्ध

है। किन्तु उसे आर्यावर्त के वातावरण से घृणा है। यहाँ उसे कितने ही ऋषि और सदाचार के अनेक नियम देखने को मिलते हैं। आतुरता से आते हुए मार्ग में हरिश्चन्द्र के यज्ञ में राम के साथ जाती हुई लोमा से उसकी भेंट हो जाती है। अर्जुन की उस दल से मुठभेड़ होती है जिसमें रेणुका, राम और लोमा हैं। वह उन्हें बन्दी बना लेता है।

ऋषि-पत्नी और ऋषिकुमार के बन्दी कर लेने से कुपित भरत और भार्गव उन्हें छुड़ाने आते हैं। युद्ध छिड़ जाता है और अर्जुन दुर्घटना से बचने के लिये तृत्सुग्राम भाग जाता है। किन्तु ऐसा करते हुए वह राम और लोमा को अपने साथ ले जाता है। उसे यह पता नहीं है कि यही लोमा है जो उसकी भावी पत्नी बननेवाली है।

उसके तृत्सुग्राम लौट जाने पर वशिष्ठ उसे कठोरता से फटकारते हैं कि इस प्रकार आक्रमण कर और रेणुका को बन्दी बना कर उसने आर्यों के इस अपरिवर्तनीय नियम का उल्लंघन किया है कि विद्या और उसके आराधक सर्वथा अबध्य हैं। जमदग्नि भी कुपित हो जाते हैं और यह व्यवस्था देते हैं कि लोमा का विवाह अर्जुन के साथ नहीं होगा। अर्जुन घबरा कर अपने वन-प्रदेश में लौट जाना चाहता है। किन्तु जब उसे पता चलता है कि लोमा ऋषि-कन्या नहीं है अपितु सुदास की बहन और उसकी भावी पत्नी है तो वह उससे छेड़खानी करता है। राम यद्यपि अभी लड़का ही है तथापि दुर्जेय अर्जुन पर भयंकर आक्रमण करता है। अर्जुन भूल जाता है कि राम उसके परम्परागत कुल-पुरोहित जमदग्नि का पुत्र है और वह उसका गला घोंटने की चेष्टा करता है। उसका सेनानायक और चाचा तथा सौराष्ट्र प्रदेश के यादवकुल का प्रधान सामन्त भद्रश्रेय बीच में पड़कर राम की रक्षा करता है।

अर्जुन क्रोधित होकर आज्ञा देता है कि वे सब तुरन्त आर्यावर्त्त छोड़ दें और लोमा को भी साथ ले चलें। वह पहले से ही आगे चल देता है। राम आहत होने पर भी लोमा के साथ जाने को हठ करता है। वृद्ध सामन्त भद्रश्रेण्य को प्रसन्नता है कि ऋषि का पौत्र स्वेच्छा से ही सौराष्ट्र जाना चाहता है और इस प्रकार वहां की जनता का कठोर शाप उद्धार कर सकेगा। वह राम और लोमा को अपने साथ ले जाता है। किन्तु उसने उन्हें बन्दी नहीं बनाया है। उसने अपना हृदय इस छोटेसे पुरोहित को समर्पित कर दिया है जिसे वह अपने देश में ले जा रहा है।

इस प्रकार अब घटनास्थल पंजाब से गुजरात में बदल जाता है। वशिष्ठ किसी प्रकार माननेवाले नहीं हैं। उन्होंने भेद के विरुद्ध धर्मयुद्ध छेड़ दिया है। उनका तात्कालिक ध्येय आर्य-संस्कृति की पवित्रता की रक्षा और अनार्यों के अनाचार का विनाश है।

तृतीय खण्ड

भगवान् परशुराम

(उपन्यास)

: १ :

गिरनार (काठियावाड़) की छाया में यादव कुल का निवास था जहाँ भद्रश्रेण्य शासन करता था। यह एक छोटा-सा निर्धन कुल था। इसकी महत्ता का कारण केवल यही था कि इसका

शासक भद्रश्रेण्य चक्रवर्ती अर्जुन का मामा था और उसकी बाल्यावस्था में उसका संरक्षक, विश्वासपात्र एवं सेनानायक था।

अपने राज्य में लौटते समय अर्जुन को पता चलता कि रावण ने नर्मदा के दक्षिण की ओर उसके प्रदेश पर आक्रमण किया है। वह सीधा अपनी राजधानी महिष्मती को लौट जाता है। किन्तु भद्रश्रेण्य से वह अप्रसन्न है और इस वृद्ध पुरुष को उसने सेनानायक के पद से पृथक् करने के विचार से यह आदेश दिया है कि उसके युद्ध से लौटने तक वह राम और लोमा को पकड़कर बन्दी बनाये रखे।

भयंकर अर्जुन अनन्त युद्धों मे कालयापन करता है, किन्तु उसका मामा और भद्रश्रेण्य उसकी पति-परायणा रानी मृगावती, जो पहले कभी वेश्या थी, और उसका कुल-पुरोहित भृकुण्ड उसके विशाल राज्य का संचालन करते हैं। भृकुण्ड भृगुवंशी हैं क्योंकि पुरोहित के कुल का परिवर्तन नहीं हो सकता था। पहले कभी वह एक पोत पर कुटीचर था। अर्जुन के पितामह महिष्मत् ने उसे पुरोहित के उच्च पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया जब भार्गव ऋचीक ने उसके कुल का पौरोहित्य त्याग कर दिया और अन्य कोई भी मनस्वी भार्गव प्रशस्त शासक के पुरोहित-पद को स्वीकार करने के लिये तत्पर नहीं हुआ। भृकुण्ड राजनीति में दक्ष था किन्तु विद्या और यज्ञानुष्ठान में सर्वथा शून्य। उसका शिष्य कुत्थी यादवों का पुरोहित था और साथ ही भृकुण्ड का प्रतिनिधि एवं गुप्तचर भी।

यादव-कुल पर महान् विपत्ति आ पड़ी है। इस वर्ष अनावृष्टि होने से वे सर्वथा निराश हैं। नदियाँ सूख गई हैं, उनमें जल का नाम नहीं। सूर्य के प्रचण्ड ताप से पीड़ित हो अनेक पशु और बालक क्षीण हो रहे हैं। भद्रश्रेण्य पञ्चदशवर्षीय राम को इस कुल मे ले आता है। अग्नि के समान प्रदीप्त नेत्र, प्रशान्तमुद्रा, सुडौल और लम्बाकृति राम क्षत्रिय-पुरोहित भृगुओं की विद्या के परम निष्णात है। उच्च और दैवी आभा से सम्पन्न वह एकाकी ही रहता है। उसके साथ छोटी किन्तु रूपवती लोमा लड़के के रूप में रहती है। यह बालिका पुरुषों की सभी कलाओं में प्रवीण है और राम की अभिन्न सहचर है—सर्वथा उसी के लिये जीवित है। भद्रश्रेण्य अपने कुल के लोगों से उनका परिचय कराता है और आशा करता है कि उस महान् ऋषि के पौत्र की उपस्थिति से उनका भाग्योदय होगा जिन्होंने उनके पापों के कारण उन्हें छोड़ दिया था और जिनकी स्मृति अब भी बनी हुई है।

राम तरुण होते हुए भी पुंजीभूत शक्ति का केन्द्र है। भय क्या वस्तु है, वह नहीं जानता। विद्युत के क्षिप्रवेग के तुल्य वह किसी भी ऐसी परिस्थिति का सामना करने के निमित्त उद्यत होजाता है जिसमें वह अपनी आवश्यकता का अनुभव करता है और फिर अपनी बात मनवा कर रहता है।

दूसरे दिन दूसरे भद्रश्रेण्य के क्रूर पुत्र मधु को, जो अवस्था मे उससे कुछ वर्ष बड़ा था उसकी क्रूरता के लिये दण्ड देता है। निदान वह तुरन्त ही भय और श्रद्धा का पात्र बन जाता है। भद्रश्रेण्य का बड़ा लड़का प्रतीप उसका अनन्य भक्त बन जाता है। कुल-पुरोहित कुक्षि को जब पता चलता है कि सम्राट् अर्जुन भद्रश्रेण्य से रुष्ट है सो वह उसके मार्ग में कठिनाइयाँ उप-

स्थित करता है। जल के अभाव का कारण वह राम की अमंगलकारी उपस्थिति को कहकर यादव-कुल में विद्रोह कराने की चेष्टा करता है। किन्तु भद्रश्रेण्य अटल है। राम में उसकी श्रद्धा है अतः वह स्थान छोड़ने के लिये तैयार नहीं। राम का मस्तिष्क रहस्यमय रूप से कार्य करता है। बाट जमदग्नि का पुत्र है; ऋषि है। तब फिर भगवान् वरुण का वर्षा का अवरोध करने से क्या अभिप्राय है? वह गिरनार के ऊपर जाकर वरुणदेव का आवाहन करता है। मूसल-धार वर्षा होती है और यादवों की तृषा शान्त हो जाती है।

लोमा, प्रतीप और श्रद्धालु कार्यकर्त्ताओं के एक दल की सहायता से राम इस कुल के युवकों को संगठित करता है। वह उन्हें अश्व-संचालन और शस्त्र-प्रयोग की शिक्षा देता है जो उसने युद्धकला के आचार्य वृद्ध से प्राप्त की थी। अनुशासन के कठोर नियम बनाता है और उनका उल्लंघन करनेवाले को कठोर दण्ड देता है।

एक स्त्री अपने किसी प्रेमी के साथ भाग जाती है। राम उन्हें पकड़ लाता है और उन्हें कई दिनों तक एक पेड़ से बांधे रखता है जिससे सारे कुल के लोग उनका उपहास कर सकें। उसके सिखाये हुए शस्त्रों से सज्जित युवक मार्गों पर व्यवस्था करने, व्यापारीवर्ग की रक्षा करने और बदले में उनसे अधिकाधिक संख्या में अश्व प्राप्त करने के लिये इधर-उधर घूमते फिरते हैं। वह नवीन शस्त्रों का आविष्कार करता है। उसका अपना प्रिय शस्त्र परशु था। बिक्री के लिये छोटी कायावाले नागों को पकड़कर व्यापार करनेवाले मनुष्यों को दण्ड देकर उसने नीच नर-आखेट प्रथा को बन्द कर दिया। उसमें दैवी शक्ति थी। जब कभी उसने अनार्यों के साथ दुर्व्यवहार अथवा उनकी स्त्रियों के साथ बलात्कार होते देखा तभी उन्हें अपना शिष्य बना लिया और उनके बीच में अपना एक आश्रम स्थापित कर दिया।

जब पुरोहित की स्त्री ने राम के प्रेम में आसक्त होकर उसे अपने समीप आने का निमन्त्रण दिया तो राम ने अश्व-शिक्षक की अचूक कला से उसके कोड़े मारे।

लोमा स्त्री है और राम भी युवक है। वह उससे प्रेम करती है और वह उसे स्वीकार कर लेता है। यह युवती अपने-आपको एकाकिनी और उद्विग्न पाती है, क्योंकि राम अभी प्रेमियों के व्यवहार से सर्वथा अपरिचित है। किन्तु जब उसने पुरोहित की पत्नी का राम के प्रति प्रेम देखा तो वह अपने हृदय की वेदना को व्यक्त कर देती है।

राम ने कञ्चिनी के नेत्रों में जो कामोन्माद देखा तो सहसा उसके मन में यह बात आई कि लोमा उसकी पत्नी है अथवा होनी चाहिये। वह कहता है—

"लोमा? उस कुलटा कञ्चिनी ने झूठा बहाना करके मुझे अपने घर बुलाया था।"

"फिर?" लोमा का हृदय धड़क उठा!

"वह मेरे सामने अवस्त्र होकर मुझे आलिंगन करने को तत्पर हो गई।"

"हाय राम! फिर?"

"मैंने कोड़ा उठाकर उसकी छाती पर और दूसरा उसके नितम्ब पर मारा। उसका घाव लेकर अब वह थोड़े दिन घूमेगी।"

लोमा राम से लिपट गई और बोली—"अरे तुमने यह क्या किया?" उसका

हृदय मानो परशुराम के नाम की माला जपने लगा।

"यदि वह कुत्ति की स्त्री न होती तो मैं उसका प्राण ही ले लेता। ऐसी स्त्रियां जब तक अपने भार से पृथ्वी को बोझल कर रही हैं तब तक धर्म का प्रवर्त्तन कैसे हो सकता है?"

लोमा चुप रही।

"लोमा!"

"क्या बात है, राम?"

"आज मुझे एक बात दिखाई पड़ रही है—दीप के प्रकाश के समान स्पष्ट, जो पहले कभी नहीं दिखाई पड़ी थी।"

"कौन-सी?" लोमा का हृदय धड़क उठा।

"तू मेरी पत्नी है वैसे ही जैसे अरुन्धती वशिष्ठ की और लोपामुद्रा अगस्त्य की।"

"तुम क्या कह रहे हो?" हर्ष से उन्मत्त हो लोमा ने पूछा।

"तूने वृहद्रथ को अस्वीकार कर दिया है। अर्जुन को भी। परन्तु मुझे अस्वीकार मत करना।"

लोमा को न सूझ पड़ा कि वह हँसे या रोये। हर्ष के आंसू टपकाती हुई वह राम के गले से लिपट कर बोली—"मेरे राम! मैं हँसू या रोऊं? कौन कहता है मैं तुम्हें अस्वीकार करना चाहती हूं, किसने कहा है कि मैं इन्कार कर दूंगी।"

राम—विचित्र राम—गम्भीर मुखमुद्रा से देखता ही रह गया—"अब मैं समझ पाया हूं कि तू मेरी पत्नी है।" ऐसा कह सिंह-सदृश केशों से युक्त अपना सिर उसने लोमा की सुकुमार छाती में छिपा दिया।

लोमा चुप रही। राम ने उसके स्तन और शरीर पर कहीं उसे चोट न लग जाय ऐसे धीरे और कोमलता से अपना हाथ फेरा। वनों की निःशब्दता चेतनता से भर उठी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह जीवनदायिनी अग्नि-ज्वालाओं से बनी है। राम के नेत्र मानो सहस्रों चन्द्रों का तेज बरसाते हुए उसकी आंखों में अमृत भरने लगे। क्षणभर के लिये वे दोनों मौन खड़े रहे। उनके हृदय साथ-ही साथ धड़क रहे थे और आंखें एक दूसरे की आँखों में तैर रही थीं।

: २ :

राम के पथ-प्रदर्शन में यादवगण और शक्तिशाली बन गये। उनका जीवन अधिक सुव्यवस्थित और निर्मल हो गया। पुरोहित कुत्ति ने महिष्मती से गुप्त आदेश प्राप्त कर प्रतिवंशी गोत्र के शर्यातों की सहायता से भद्रश्रेण्य को मार डालने का कुचक्र रचा और अपने छोटे पुत्र मधु को यादवों का राजा बना दिया।

राम इन चालों को पहले से ही ताड़ जाता है। आक्रमण के लिये निश्चित दिन से ठीक एक दिन पूर्व उसने अपने शिक्षित दल के साथ शर्यातों के उपनिवेश पर धावा बोल दिया और यह कठोर आदेश दिया कि एक भी वयस्क शर्यात जीवित न बचने पाये और केवल स्त्रियों

और बच्चों को यादवों के निवेश में सुरक्षित लौटा दिया जाय।

शर्यात मारे जाते हैं और केवल उनकी स्त्रियाँ, बच्चे, रथ और पशु यादवों के शिविर में पहुँचा दिये जाते हैं। दोनों गोत्रों में पारस्परिक वैमनस्य अब समाप्त हो गया है। अब उनमें निरन्तर विग्रह और हत्याकाण्ड बन्द हो गया है। दोनों का एक सम्मिलित गोत्र बन गया है और भद्रश्रेण्य उसका राजा है।

इस विजय की क्रूरता का संवाद अर्जुन की अपरिणीता रानी मृगा के पास पहुँचता है। अर्जुन की अनुपस्थिति में नर्मदा के दूरवर्ती तट पर स्थित माहिष्मती में वही अब राज्य करती है। राम, लोमा और भद्रश्रेण्य से मिलने के लिये वह उन्हें बुला भेजती है और वे आना स्वीकार कर लेते हैं।

राम प्रतीप को अपने श्वसुर के राज्य में यादवों को ले जाने का आदेश देता है क्योंकि वह ताड़ जाता है कि यदि वे सौराष्ट्र में ही रहे तो मृगा का रोष उन्हें नष्ट कर डालेगा।

: ३ :

यह सम्वाद कि ऋचीक का पौत्र परशुराम जो अपने अधिकारसे हैहयों का कुल-पुरोहित बन गया है, वन की ज्वाला के समान माहिष्मती में फैल जाता है और वहाँ के निवासी हर्ष से फूले नहीं समाते।

राम नर्मदा-तट पर स्थित पशुपति के मन्दिर में धूर्त पुरोहित भृकुण्ड के पास ठहर जाता है। रानी मृगा और उसके अशिष्ट एवं रक्त-पिपासु महाजन वहीं उससे मिलने जाते हैं। मृगा के मन में इस युवक को देखने की बड़ी लालसा है जिसने कितने ही अद्भुत कार्य कर डाले हैं। प्राचीन गोत्रों का नाश कर दिया है और लोगों के उत्कट प्रेम एवं भय का केन्द्र बन गया है। वह उसके ज्वलन्त नेत्र, शक्ति के प्रतीक मुद्रित ओष्ठ और देवतुल्य प्रशान्त मुद्रा को देखती है। राम के स्नेहपूर्ण एवं विवेकयुक्त शब्द उसके हृदय-तन्त्री के अपरिचित तारों को झंकृत कर देते हैं। उसकी मन्दहास्य से उसका हृदय और सुगठित अंगों से पूर्ण मांसल देह पुलकित हो उठता है। मृगा की प्रबल विलासाकांक्षा प्रदीप्त हो जाती है और वह राम पर मुग्ध होकर उसे भोजन के लिये आमंत्रित करती है। राम उस पर विश्वास कर निर्भीक हो जब अपना परशु छोड़कर उससे मिलने जाता है तो एक अपरिचित भावना, जो स्त्रियों में साधारणतया नहीं पाई जाती, उसके हृदय मे उत्पन्न होती है। राम उसके राजनीति-कौशल की प्रशंसा करता है और उसके हृदय की गुप्त आकांक्षा को व्यक्त कर कहता है—"तुम्हारी इच्छा अर्जुन के राज्य का विस्तार सिन्धु से सिंहल तक करने की है। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि स्वयं मेरी भी यही इच्छा है; किन्तु मैं इसके लिये केवल धर्म और देवों के शाश्वत नियम का आश्रय लेना चाहता हूँ। यदि तुम मुझ पर विश्वास कर मेरे साथ सहयोग करो तो मैं तुम्हारे साम्राज्य के स्वप्नों को पूरा करने में पूरी तरह से तुम्हारी सहायता करूंगा और तब तुम देखोगी कि सिंधु से सिंहल तक सारा प्रदेश महान् देवों के स्तवन से युक्त ऋषियों के मंत्रोच्चारण से गुंजारित हो रहा है।" आगे वह उससे कहता है—"तुम अर्जुन

को इस बात के लिये प्रेरित करो कि वह अग्नि की साक्षी से तुम्हारे साथ धर्मानुकूल परिणय कर तुम्हारा उचित सम्मान करे, क्योंकि उसकी और उसके यश की समृद्धि का एकमात्र श्रेय तुम्हीं को है।'''

मृगा, राम पर विजय प्राप्त करना चाहती थी; किन्तु अब उसकी स्वेच्छा-दासी बन गई। उसकी महत्वाकांक्षा प्रबल हो उठी और यदि दूरदर्शी राम उसकी सहायता करने के लिए तैयार हो जाय तो उसके पूरा होने में उसे कोई कठिनाई नहीं दिखलाई देती थी। उसे अब अन्याय प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगा। अर्जुन को उसने अपना शरीर, आत्मा, हृदय और राजनीति-कौशल सभी कुछ अर्पित कर दिया था। उसके लिये उसने कितनों को ही दास बनाया, विष दिया, उनका वध किया और असंख्य षड्यन्त्र रचे, क्या फिर भी वह उसकी पटरानी बनने-योग्य नहीं थी?

अनूपदेश अब अपने नये गुरुदेव की आराधना करने लगा है। दूर-दूर से स्त्री और पुरुष केवल उसके दर्शनों, उसके चरणों के स्पर्श और उसका मूक आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये आते हैं।

थोड़े ही समय में राम शक्ति और प्रेरणा का एक भयंकर केन्द्र बन जाता है और लोमा अपने पति के साथ प्रणय-सूत्र में बँधकर भृगुओं के शस्त्र-सञ्चालन में उसकी चिरसंगिनी बन गई है। वह दूरस्थ एवं भयंकर देव और उसके विनम्र आराधक के बीच मानव-सम्बन्धी शृङ्खला—मातृत्व की अधिकारिणी हो गई है।

मृगा, भद्रश्रेण्य के प्रति असहिष्णु है। राम ने उसके हृदय की बात ताड़ ली है। अतः वह उसे सुरक्षित रखने के लिये प्रतीप के पास भेज देता है। प्रतीप माही नदी के तट पर यादवों के साथ उसकी प्रतीक्षा करता है।

शर्यात राजकुमार ज्यामघ जो शर्यात-युवकों के वध की भयंकर रात्रि में अकेला बच कर भाग गया था, राम के वध की प्रतिज्ञा करता है और रात्रि में उसे मारने के लिये आता है।

अघोरी के वेश में हाथ में छुरी लिये ज्यामघ धीरे-धीरे पेट के बल भूमि पर रेंगता हुआ आता है। वह केवल कुछ हाथों की दूरी पर है। होमाग्नि के पीछे उसका कट्टर शत्रु बैठे-ही बैठे नींद लेता-सा जान पड़ता है।

एकाएक दो भयानक नेत्र खुल पड़े और उनमें तेज की धारा-सी बह उठी। उन तेजोमय बिन्दुओं को देखकर ज्यामघ ज्यों-का-त्यों खड़ा रहा।

"कौन ज्यामघ?" धीरे से मार्दव भरा स्वर सुनाई दिया।

ज्यामघ जैसे ठण्डा पड़ गया।

"ज्यामघ! अपने पिता और गोत्र का प्रतिशोध लेने आये हो? लो मारो, मैं रोकूंगा नहीं।"

ज्यामघ काँप उठा। मुझे मारकर क्या हाथ लगेगा? "इससे तो यही अच्छा है कि तू मेरे साथ चला आ। हम इन सबको अन्धकार में से प्रकाश की ओर ले चलेंगे। मैंने तेरे पिता को अपने स्वार्थके लिये नहीं मारा है और न किसी विद्वेष के वशीभूत होकर तेरे गोत्र का ही संहार किया है। यदि मुझ पर तुम्हें विश्वास नहीं है तो आ मुझे मार डाल, जल्दी कर।

ज्यामघ ! सिन्धु से सिंहल तक आर्यत्व का प्रसार करना है। आर्य जातियों को मैं विद्या और तप की साधना में लगा देना चाहता हूँ। आओ, मेरे साथ आओ। और यदि मुझ पर श्रद्धा न हो तो मुझे मार डालो। यह रही मेरी छाती।

ज्यामघ के हाथ से छुरी गिर पड़ी। भयंकर आँखें आकर्षक हो उठीं और वह स्वर माता के वात्सल्य और मृदु स्पर्श-सा सहलाने लगा। उसका कण्ठ आँसुओं से रुँध गया। जैसे-तैसे वह खड़ा हो गया और प्राण लेकर भाग निकला।

युद्ध में रावण पर विजय प्राप्त कर अर्जुन अपनी राजधानी में लौट आता है। मार्ग में उसे उन घटनाओं का समाचार मिलता है जो उसकी राजधानी में घटित हुई हैं—सौराष्ट्र में राम की वीरता के अद्‌भुत कार्य, माहिष्मती में उसका आगमन, वहाँ की प्रजा का उसके प्रति प्रेम और उसका उन पर अतुलनीय प्रभाव। अर्जुन क्रोध से उन्मत्त हो जाता है। वह यह निश्चय करके लौटता है कि अपने इस शत्रु को, जो कई बार उससे बचकर निकल गया है, अब की बार अवश्य समाप्त कर देगा।

सहस्रार्जुन माहिष्मती में लौट आता है और गुरुदेव राम से उसकी भेंट होती है। राम के नेत्रों में भय का चिह्न नहीं। उसकी भेद-भरी दृष्टि मनुष्यों और वस्तुओं को जिस विलक्षण रूप में देखती है वैसा पहले कभी किसी ने नहीं देखा। अर्जुन मृगा से मिलता है और वह हर्ष और उत्साह के साथ राम की सहायता से उसके लिये चक्रवर्ती राज्य की स्थापना करने का अपना स्वप्न कह सुनाती है। बदले में जीवन-भर उसकी सेवा करने के फलस्वरूप अग्नि की साक्षी से वह उससे अपने साथ विवाह करने का प्रस्ताव करती है। अर्जुन हिंसक क्रोध से उन्मत्त हो जाता है, मृगा को मारता है, भृगुओं के वध की आज्ञा देता है और राम को अपने सम्मुख मरवा डालने के लिये पकड़कर लाने का आदेश करता है।

मृगा अर्जुन के दुःसंकल्प का संदेश राम के पास भिजवा देती है। किन्तु वह अटल है। वह भागने को तैयार नहीं। लोमा को वह भृगुओं के साथ भेज देता है। "मैं अर्जुन का गुरु हूँ। मेरी हत्या करने का दुस्साहस कोई नहीं कर सकता।" लोमा को वह वचन देता है कि आवश्यकता पड़ने पर वह उसके पास पहुँच जायगा।

बेड़ियों से जकड़ा हुआ राम, अचल और देवतुल्य धैर्य के साथ सहस्रार्जुन के सम्मुख खड़ा है। उसने क्रोधोन्मुख राजा से कहा—"अर्जुन ! समझ और संयम से काम ले। मैं तुझे उद्धार का पक्ष दिखाने आया हूँ। तू त्रास के बल पर प्रजा को अपने नियन्त्रण में रखता है, मैं उन्हें प्रेम से अपना भक्त बना सकता हूँ। तू कलह से करता है, मैं तुझे शान्ति की शक्ति दे सकता हूँ ? तू अन्धकार में डूबा हुआ है, मैं तुझे विद्या का प्रकाश दे सकता हूँ। छोड़ दे। मैं तुझे धर्म-द्वारा सुरक्षित राज्य दिलाऊँगा।"

अर्जुन राम का वध करने के लिए हाथ उठाता है, किन्तु राम दैवी शक्ति के साथ उच्च स्वर से कहता है—'मैं तेरा उद्धार करने आया था किन्तु तूने मेरी बात नहीं मानी—जा जा उस अधोगति में जा जहाँ चाण्डाल भी न जा सके।"

अर्जुन का हृदय भय से कम्पित हो गया। सैनिक के हाथ से खड्ग गिर पड़ी। उसका

नवीन सेनापति भी भद्रश्रेण्य की भाँति उसे रोकने के लिये बीच में आ खड़ा हुआ। राम अटल है। उसके नेत्र अग्नि के समान प्रदीप्त हो रहे हैं। अर्जुन किंकर्तव्य-विमूढ हो राम की हत्या से विरत होजाता है।

राम को एक तलघर में बन्द कर दिया जाता है। मृगा और नवीन सेनापति वहाँ जाकर उससे चले जाने की प्रार्थना करते हैं। राम अर्जुन और उसके नायकों के साथ प्रासाद को छोड़कर चला जाता है।

: ४ :

भृकुण्ड के द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट नौका पर आरूढ हो राम, चन्द्रतीर्थ में लोमा से मिलने की आशा से चल पड़ता है। रेवा के दक्षिण तट पर चन्द्रतीर्थ के सामने एक दुर्गम बन में भयंकर अघोरी रहते थे। वे कच्चे मांस और मस्तिष्क की मज्जा से अपना जीवन-निर्वाह करते थे और कृष्णपक्ष की रात्रि को श्मशान में एकत्रित होते थे।

जैसे ही नौका चन्द्रतीर्थ के समीप पहुँची एक मल्लाह ने उसकी तली में छेद कर दिया और नौका डूबने लगी। राम ने नौका डुबोनेवाले मल्लाह को पहचान लिया। वह और कोई नहीं, अपितु शर्यात गोत्र का अन्तिम अवशेष ज्यामघ था। राम नदी में कूद पड़ा और अघोरी-वन की ओर तैरने लगा। ज्यामघ ने उसे मारने के लिये पीछा किया; किन्तु राम पहले ही तट पर पहुँच गया। ज्यामघ जैसे ही तट तक पहुँचा उसने देखा कि एक मगर मुँह फाड़ कर उसकी ओर दौड़ रहा है। राम ने अपना परशु इस भयानक जन्तु के मुँह में ऐसे वेग से मारा कि वह पानी में डुबकी लगा गया। उसके पीछे रक्त की धारा ऊपर बहती दिखाई पड़ी। ज्यामघ राम का वध करने आया था, किन्तु राम ने उसकी रक्षा की। इसके पूर्व कि ज्यामघ अपने रक्षक के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश करे अघोरियों के भयंकर कोलाहल से वन गूँज उठा। पशुओं की हड्डियों के शस्त्रों से सुसज्जित अघोरियों ने आकर उन्हें पकड़ लिया।

राम का कुछ पता न मिलने पर लोमा पुरुष-वेश में राम के भक्त-शिक्षक त्रिमद के साथ भृकुण्ड के पास जाती है और उससे राम की खोज करने को कहती है। जैसे-तैसे मृगा से उसकी भेंट होती है और मृगा उसे बतलाती है कि किस प्रकार नौका में छेद होने पर वह डूब गई और राम को लोगों ने उस वन की ओर जाते हुए देखा जहाँ कोई मानव-पुत्र पैर भी नहीं रख सकता और पहुँचने पर जीवित नहीं रह सकता।

लोमा को अपने पति पर विश्वास है। वह मर नहीं सकते। अतः वह अघोरियों के गुरु से मिलने का निश्चय करती है। यह गुरु भयंकर उड्डनाथ थे जिनका नाम लोगों ने सुना था किन्तु देखा किसी ने नहीं था। उनके सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती प्रसिद्ध थी कि वह वायु में उड़ सकते हैं और जल पर चल सकते हैं। मनुष्यों का रक्त पान करने में उनकी रुचि है। इस बात का प्रमाण उस पड़े हुए शव के द्वारा मिलता है जिसकी खोपड़ी नाखूनों से चिरी हुई और नाड़ियाँ रक्त से सूखी हुई दिखलाई देती हैं।

लोमा माहिष्मती में एक एकान्त स्थान में छिपकर रहती है और उन तांत्रिक लोगों से परिचय प्राप्त कर लेती है जो अघोरियों के भयंकर आचार को जानने और उसमें पारंगत होने

का दावा करते हैं। राम के नाम को रट लगाये और अपने नेत्रों के सम्मुख उसकी जीवित तेजस्वी मूर्ति को देखती हुई-सी मध्य रात्रि में श्मशान भूमि में बैठ कर वह उनके बताये हुए भयंकर प्रयोगों का अनुष्ठान करती है।

उसे पता चला कि गुरु उड्डनाथ प्रत्येक अमावस्या की अर्द्धरात्रि को पशुपति के स्थान के समीप स्थित श्मशान भूमि में आते हैं और वहाँ एक नये मनुष्य का वध कर उसकी खोपड़ी की बलि चढ़ाते हैं। अतः लोमा ने निश्चित तिथि को अनुष्ठान कर उस श्मशान भूमि में बलि चढ़ाई और फिर वह उड्डनाथ के आगमन की प्रतीक्षा में एक पेड़ पर चढ़ कर बैठ गई। कुछ रात बीतने पर उसे रेवा के जल की तरंगों पर लप-लप की ध्वनि सुनाई पड़ी और नदी में से निकल कर तट की ओर दौड़ता हुआ सियार-जैसा एक भयंकर जन्तु दिखाई पड़ा। सिंह के से केशों से युक्त इस जन्तु ने अपने नाखूनों से एक मनुष्य का बध किया और उसका रक्त-पान कर घुटनों के बल खड़े होकर पशुपति के सामने खोपड़ी की बलि दी।

लोमा को इस भयंकर उड्डनाथ से परिचय करने में कठिनाई प्रतीत हुई। उड्डनाथ से मिलने जाने के लिए कोई भी उसके साथ जाने को तैयार नहीं होता था। अन्त में उसने दो या तीन वीर सैनिकों को हठपूर्वक तैयार किया, किन्तु वे उस भयंकर मूर्ति को देखते ही मूर्च्छित हो गये और लोमा ने भी जब उड्डनाथ को नर्मदा तरंगों-पर खड़े होकर एक पालतू मगर को खिलाते हुए और वेग से दौड़ते हुए देखा तो वह भी मूर्च्छित-सी हो गई।

धीरे-धीरे उसकी आशा बढ़ने लगी। कुछ मल्लाहों ने आकर उसे यह कपोल-कथा सुनाई कि उन्होंने चन्द्रतीर्थ के दक्षिणी तट पर अघोरियों के बीच में एक लम्बे डीलडौलवाले और श्वेत वस्त्र-धारी पुरुष को घूमते देखा है। राम के एक भक्त-शिष्य की सहायता से लोमा ने अर्जुन के पास यह सन्देश भिजवाया कि अघोरियों ने राम को अपना गुरु स्वीकार कर लिया है फलतः राजाने क्रुद्ध होकर अपने नगर में अघोरियों को सताना प्रारम्भ कर दिया है। उड्डनाथ बदला लेते हैं। पहले एक सैनिक मारा जाता है और फिर अर्जुन के सेनानायक का पुत्र। दोनों का वध गुरु के विशिष्ट ढंग से ही होता है। नखों के द्वारा सिर को देह से छिन्न कर उसका रक्तपान किया गया। इसके अनन्तर अर्जुन के प्रासाद में प्रत्येक रात्रि को अघोर-चक्र के रहस्यमय चिह्न दिखाई पड़ने लगे। वे प्रातःकाल के समय भी सम्राट् की शय्या के समीप बने हुए पाये जाने लगे। फिर एक दिन उसका प्रिय छोटा-सा पशुपति का यंत्र, जिसे वह अपने तकिये के नीचे रखा करता था, अदृश्य हो गया और अर्जुन का अंग-प्रत्यंग काँप उठा। उस अदृश्य शत्रु के जिससे मिलना सर्वथा असम्भव है चिह्नों से अत्यन्त भयभीत होकर उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। दिन में वह अत्याचार करता है और रात्रि को भय से थर-थर काँपता रहता है।

मृगा को पता चलता है कि लोमा ने उड्डनाथ की आराधना की है और उसके द्वारा वह अर्जुन का नाश करना चाहती है। वह लोमा से अर्जुन की रक्षा करने के लिए मध्यस्थ बनने की प्रार्थना करती है। उड्डनाथ और अर्जुन में सन्धि हो जाती है। अर्जुन अघोरियों का सताना बन्द कर देता है और उधर से बदला लेना बन्द हो जाता है।

किन्तु अर्जुन इसे अपना अपमान समझता है कि विश्व-विजयी होकर भी इस अघोरियों के गुरु से वह ग्रस्त है। सन्धि का उसके लिए कोई मूल्य नहीं है। वह उड्डुनाथ से बदला लेना चाहता है और अगली अमावस्या की रात्रि को, जब वह पशुपति के स्थान में मनुष्य की खोपड़ी की बलि देने आयेगा, तो उस समय उसका वध करने की युक्ति सोचता है।

लोमा ने उड्डुनाथ की आराधना कर उन्हें प्रसन्न कर लिया है। अतः इसी रात्रि को वह उससे पूछती है कि क्या कोई मनुष्य डेढ़ वर्ष पूर्व इस अघोरीवन में आया था। उड्डुनाथ प्रसन्न हो कर भार्गवनाथ के आगमन की सूचना देते हैं और कहते हैं कि मैंने उसे अपना पुत्र बना लिया है। लोमा उससे कहती है कि मैं उसकी पत्नी हूँ, कृपया मुझे उसके पास ले चलिये। उड्डुनाथ दूसरी बार आने पर उसे अघोरीवन में ले जाने का वचन देते हैं।

सहस्रार्जुन इस बीच में एक चट्टान के पीछे छिपकर खड़ा हुआ था। वह गदा उठा कर उड्डुनाथ पर एकाएक टूट पड़ता है, किन्तु लोमा अपने चक्र से उसके हाथ पर आघात करती है। अर्जुन उसकी ओर झपटता है। उड्डुनाथ सियार की भांति गुर्राकर भयंकर गर्जना करते हैं और अपने चारों पैरों पर खड़े हो जाते हैं। सहस्रार्जुन और लोमा के खड्ग टकराते हैं और लोमा का खड्ग दूर जा पड़ता है। उड्डुनाथ झपटकर सहस्रार्जुन की पीठ पर चढ़ जाते हैं और उनके लम्बे-लम्बे नख उसका गला टटोलने लगते हैं। अर्जुन के प्रचण्ड शरीर का प्रत्येक स्नायु उड्डुनाथ को पटक मारने के लिये छटपटाने लगा। उड्डुनाथ की भयंकर किलकारी उसके कानों को फाड़ने लगी। अर्जुन भूमि पर गिर पड़ता है। उड्डुनाथ के नख उसके गले में भिदने को ही थे कि लोमा ने चिल्लाकर कर कहा—"गुरु उड्डुनाथ ! मैंने इसकी पत्नी को वचन दिया है कि मैं इसे मरने नहीं दूँगी।"

उड्डुनाथ ने शिथिल हाथों से अर्जुन के मुखपर कुछ चांटे मारे जिससे वह बेहोश हो गया। लोमा को खड्ग का आघात लगा था अतः वह भी मूर्छित हो गई। उड्डुनाथ ने उसे गिरते हुए देखा तो तुरन्त दौड़कर आये और उसे उठा लिया।

सहस्रार्जुन की मूर्च्छा दूर होने पर वह उठ बैठा और भूमि पर से खड्ग उठाकर उड्डुनाथ की ओर झपटा। उड्डुनाथ लोमा को अपने हाथों में उठाये पानी में खड़े थे। अर्जुन ने उन्हें आकाश में उड़ते हुए देखा और खड्ग उसके हाथ से गिर पड़ा। फिर नर्मदा के जल पर खड़े-खड़े उड्डुनाथ सन्नाते हुए उलटे पैरों चलते हुए दिखलाई पड़े। लोमा का देह उनके हाथों में था। अर्जुन बेहोश होकर धरती पर ढुलक गया।

: ६ :

अघोरियों के प्रदेश में राम के निर्भीक आचरण का बड़ा प्रभाव पड़ा और उसे यह वचन देने पर रहने की अनुमति दी गई कि उड्डुनाथ की आज्ञा के बिना वह उस वन को छोड़-कर नहीं जायगा। राम ने एकाग्र-निष्ठा से इन गन्दे किन्तु सरल-हृदय लोगों को सुधारने का निश्चय किया। उसने उन्हें रोगों को दूर करने के लिये अथर्वण ऋषियों की विद्या सिखाई और उन्हें स्वच्छ एवं व्यवस्थित रूप से रहने की प्रेरणा की। उड्डुनाथ उसके प्रति आकर्षित हो गये और उन्होंने उसे अपना पुत्र मान लिया। उन्होंने राम को वह सब विद्या सिखा दी

जिसमें वे स्वयं पारंगत थे। किन्तु राम ने एक काम करना अस्वीकार कर दिया। वह उडु-नाथ की भांति मगरों को खिलाने, उनसे मित्रता करने और नदी में उनपर सवार होकर चलने को तैयार नहीं हुआ।

विवाह अघोरियों में एक क्षणिक आनन्द का विषय था। किन्तु राम ने इसे भी अस्वी-कार कर दिया। उसकी पत्नी थी जिसे वह अपनी आत्मा ही समझता था। अतः जब उसने वन में सबसे सुन्दरी स्त्री से भी विवाह करना अस्वीकार कर दिया तो अघोरियों को बड़ा विस्मय हुआ।

एक दिन अघोरियों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उडुनाथ सदा की भांति बड़े वेग से दौड़ते हुए एक मगर पर सवार होकर चले आ रहे हैं। उनके हाथों में एक युवती है। वह आकर उसे राम के हाथों में पकड़ा देते हैं और इस प्रकार लोमा अपने पति से मिल जाती है।

उडुनाथ से आशीर्वाद लेकर राम और लोमा अघोरीवन से चले आते हैं। अर्जुन ने इस बीच में प्रत्येक यादव भृगु के वध की घोषणा कर दी है और एक बहुत बड़ी सेना भद्रश्रेण्य और यादवों का पीछा करने के लिये एकत्रित की है। यादवगण माही नदी के समीप वनों में प्रतीक्षा कर रहे हैं। राम ने उनसे मिलने का निश्चय किया और उन्हें आजकल राजपूताना के नाम से प्रसिद्ध निर्जन वनों और मरुभूमि से आर्यावर्त्त में सुरक्षित पहुँचा दिया।

मार्ग में आते समय माहिष्मती में उन्होंने पड़ाव किया और वहाँ सीमा पर स्थित एक छोटे से भवन में मृगा से भेंट की। यह भवन मृगा ने अपने एकान्त-विश्राम के लिये बना रखा था।

मृगा अब परिश्रान्त है। राम के संसर्ग से उसमें उदारता और पवित्रता आ गई है। उसे अपने जीवन से अरुचि-सी हो गई है। अर्जुन पहले से कहीं अधिक अस्थिर, क्रूर और उन्मत्त हो गया है। मृगा अपने रक्षक से अन्तिम भेंट करना चाहती है। राम उसे अपने साथ आर्यावर्त्त चलने को कहता है किन्तु मानिनी मृगा खेदपूर्वक सिर हिला कर कहती है—

गुरुदेव मैं उस (अर्जुन) को छोड़कर नहीं जा सकती। वह दुष्ट, कृतघ्न, क्रूर, जैसा भी है, मेरे जीवन के साथ बँध गया है। राम! मैंने माता-पिता नहीं जाने। बालपन से जबसे मुझे स्मरण है, मैं पुरुषों की वासना की कीचड़ में नाचती-कूदती चली आ रही हूँ। वृद्ध, अधेड़, युवा, बालक सभी पतंगों की भांति मेरी कामाग्नि में मरते हैं। पर मैं वेश्या नहीं हूँ। जहाँ देती हूँ, सर्वस्व देती हूँ। मैं स्वयं व्याकुल होती हूँ किन्तु लता की भांति लिपट जाती हूँ। मुझे अलग होना अच्छा नहीं लगता।

भार्गव राम ममता-भरी आँखों से उसे देखते हैं। वह फिर कहती है—

सहस्रार्जुन जब पन्द्रह वर्ष का था, तभी से मैंने अपना सर्वस्व उसे सौंप दिया था। मैंने उसे अपना यौवन दिया, उत्साह और शक्ति दी। उसके लिये मैंने राज्य-व्यवस्था की, उसके शत्रुओं को मारा और मरवाया। उसने मुझे मारा है— अनेक बार। दो बार उसने मुझे विष देने का प्रयत्न भी किया। उसका प्राण ले

लेना मेरे लिये खिलवाड़ मात्र था और आज भी वैसा ही है; पर उसका स्वच्छन्द स्वभाव, उसकी आँखें और क्रूर दृष्टि तथा उसके शरीर का एक-एक स्नायु मेरे साथ जैसे एकाकार हो गये हैं। उसके बिना जीती रहकर भी मैं मरी के समान हूँ। मैंने अनेक की चादर अपनाई है किन्तु क्षणिक सुख के लिए। पर उसकी चादर मेरा सर्वस्व है; मैं उसे कैसे छोड़ सकती हूँ ?

राम उससे अपने पिता के आश्रम में चलने को कहते हैं। वह चिल्लाकर बोलती है—

"नहीं, नहीं; मैं नहीं जाऊँगी। मुझमें वह शक्ति नहीं है। आपके साथ जाने के लिये यौवन चाहिये, आदर्श चाहिए। भगवन् ! मुझे क्षमा कीजिये। जब मैं कल्पना-जगत में विहार करती हूँ तो आपको अपने प्रणयी के रूप में पाने लगती हूँ। पर देव ! मुझमें वह साहस नहीं है।"

जब राम ने उससे साथ चलने के लिये हठ किया तो उसने स्पष्ट शब्दों में कहा—

"मेरे देव ! मुझे लुभाइये नहीं। मैं मूर्ख नहीं हूँ। मैं मोह में भूली अवश्य हूँ, पर मोहान्ध नहीं हूँ। एक बार मैंने ऐसा भी सोचा था कि आपके संग रहकर नया जीवन देखूँ और आपको भी उन चीजों का दर्शन कराऊँ जिन्हें आपने कभी नहीं देखा। मैंने चाहा था कि अपनी नसों की ज्वालाओं से आपकी यह पत्थर की-सी तटस्थता पिघला दूँ। पर आप तो उदय होते हुए सूर्य के समान पवित्र हैं और मैं दुर्गन्ध से भरा नरक हूँ।

"मैं अभी भी रसवती हूँ। मेरा गला और शरीर के अवयव अब भी सुडौल है। मेरी मोहिनी-शक्ति अभी क्षीण नहीं हुई है। किन्तु विलास की उच्छृङ्खलताओं ने मुझे जड़ बना दिया है। आपने मुझे अपनी बड़ी बहन के रूप में स्वीकार किया, यह आपकी कृपा है।...किन्तु मैं जानती हूँ। बड़ी बहन नहीं बन सकती। तब तो मैं वृद्धा हो जाऊँगी। आपके आश्रम की व्यवस्था मुझे करनी पड़ेगी। आपके बालकों का पालन-पोषण करना होगा। और भृगुओं की सेवा में जीवन बिताना पड़ेगा। पर मेरे देव ! मैं ऐसे शीतल, शान्त गौरव के लिये नहीं बनी हूँ। आप जैसे देवतुल्य पुरुष की साम्राज्ञी तो मैं होने से रही। आपके संसार में तो मेरा स्थान ही नहीं है और दूसरे मन-बहलावों का मेरे निकट कोई महत्व नहीं है। मैं तो यहीं उगी हूँ और यहीं मुझे कुम्हला जाना है। जब मैं मरूँ तो आपके पितृलोक में मुझे स्थान मिले जहाँ मृत्यु के अनन्तर आपसे मेरी भेंट हो।"

राम ने देखा कि इस स्त्री का, जो पहले कभी विलासिनी थी, अब उद्धार हो गया है। पवित्र होमाग्नि के सम्मुख-अपने पितृगणों-भृगुओं की संस्कार-विधि से मंत्रोच्चार कर उसने मृगा को भृगुओं की पुत्री बना दिया और अपने कुल की लाज रखने की उससे यह शपथ ली कि अपमान होने पर मृत्यु का सामना करना।

मृगा, राम से विदा लेकर अपने आवास पर गई तो रात्रि को अर्जुन से भेंट हुई। सदा की भाँति उसके सौन्दर्य से आसक्त हो वह उसके पास आया तो उसने उत्तर दिया—"मैं

भृगुओं की पुत्री हूँ। मुझे परशुराम की कृपा से भृगुओं ने स्वीकार कर लिया है। अर्जुन उसे पकड़ने की चेष्टा करता है। वह राम के नाम की रट लगाती हुई आत्म-हत्या कर लेती है।

: ७ :

रक्षा के लिये भागते हुए यादवों और भृगुओं को राम निर्जन वनों और उत्तप्त मरुभूमि से दूर आर्यावर्त्त में ले आया। उन्होंने अज्ञात वनों, अनुल्लंघ्य पर्वतों, प्रचण्ड जलवायु, भोजन और जल का अभाव, जंगली और भयंकर जन्तुओं का और सबसे अधिक प्रचण्ड अर्जुन के रक्त-पिपासु महाजनों के क्रोध का साहसपूर्वक सामना किया। इन सभी कठिन परीक्षाओं में भार्गव अडिग रहा। उसने स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों का, जो उसे प्राणों से भी अधिक चाहते थे, मानसिक सन्तुलन बनाये रखा। निराश रूढ़ियों में उसने नूतन आशा का संचार किया और मार्ग में परिश्रान्त भटकते हुए व्यक्तियों को सान्त्वना दी। 'जय गुरुदेव' की ध्वनि करते हुए उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राणों की बलि दी। अन्त में वे सरस्वती के तट पर पहुँचे। किन्तु उसे पार करने से पूर्व ही पीछा करनेवालों ने उन्हें पकड़ लिया। दोनों पक्षों के अश्व और सैनिक अपनी तृषा शान्त करने के लिये नदी में उतरे और एक दूसरे पर टूट पड़े। सरस्वती का पवित्र जल उनके रक्त से रंजित हो गया। अन्त में राम और उनके थोड़े-से साथी, जो उनके साथ हो लिये थे, नदी को पार कर आर्यावर्त्त में पहुँच गये।

किन्तु अपने सुन्दर स्वप्नों के उस देश में राम को हृदय-विदारक संवाद मिला। एक ओर सुदास और वशिष्ठ और दूसरी ओर विश्वामित्र और दशराजाओं के बीच में भयंकर युद्ध छिड़ गया है। इस लम्बे युद्ध में उसके दो भाइयों सहित कितने ही भार्गव काम आ चुके हैं। इससे भी अधिक दुःखमय एक संवाद और मिला। उसकी माता रेणुका ने, जो एक अत्यन्त उदात्त स्त्री थी, एक ऐसा दुस्साहस किया जैसा पहले भृगुकुल की किसी स्त्री ने नहीं किया था। वह गन्धर्वों के राजा के पास रहने चली गई है। उसके पिता जमदग्नि पागल हो गये हैं और युद्ध-विद्या में परम विख्यात भार्गवों की गणना अब पृथ्वी पर अत्यन्त तिरस्करणीय लोगों में है।

राम अपने पूर्वजों की जन्मभूमि में जाकर देखता है कि वह बिलकुल उजड गया है। वह दौड़कर अपने पिता के पास पहुँचा। उसके पिता उस समय के महान् व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ थे। किन्तु उस समय उनका मानसिक सन्तुलन नष्ट हो चुका था। उनके मन में यह धारणा बद्धमूल हो गई कि मैं अपने जीवन के कार्य में सर्वथा विफल हुआ हूँ। मेरी पत्नी भृगुओं की माता रेणुका मुझे छोड़कर गान्धर्वराज के साथ रहती है। मेरे पुत्रों ने अपनी इस कुलटा माता से तुरन्त प्रतिकार लेना अस्वीकार कर मेरे और मेरे पूर्वजों के गौरव की रक्षा नहीं की है।

व्याकुल नेत्रों से देखते हुए जमदग्नि ने राम से इस प्रकार असम्बद्ध बातें कीं जिनमें राम के माता-पिता के सम्बन्ध में भी सन्देह प्रकट किया। राम पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। भृगुओं का धर्म कठोर है। प्रतिकूल आचरण करनेवाली स्त्री का धर्म है मृत्यु। पिता की आज्ञा पुत्र के जीवन का धर्म है। अनेक अन्य स्त्रियों को उसने स्वयं इस धर्म की शिक्षा दी है। रेणुका

उसकी माता है, उसकी ममतामयी माता जो पुत्रों में केवल उसे ही अपना सबसे अधिक लाड़ला मानती थी। किन्तु पिता का आदेश भी स्पष्ट है।

राम का मुख गम्भीर हो जाता है। उसके नेत्रों में अग्नि के स्फुलिंग जैसा तेज दिखलाई पड़ने लगा। यहाँ पहुँचने पर उसने भृगुओं के अनुल्लंघनीय धर्म की रक्षा करनेवाले अपने एकमात्र साथी परशु को श्यामवर्ण घोड़े पर रख लिया और वेग से अदूरस्थ पर्वतों की ओर दौड़ा जहाँ गान्धर्व रहते थे। माता से उसकी भेंट हुई। वह उसका परमभक्त था किन्तु धर्म के मानो साक्षात अवतार उसने अपनी माता को न्यायानुकूल दण्ड देने का निश्चय कर लिया। उसने माता से कठोरतापूर्वक पूछा—

तो फिर यहाँ क्यों छिपकर आ बैठी है ?

रेणुका ने उत्तर दिया—

"भृगुश्रेष्ठ बड़े हैं; विद्या और तप के वे स्वामी हैं। यह सच है कि मुझ से कर्म का लोप हुआ है। पर किस कारण मैंने ऐसा किया, यह जानने की उन्हें चिन्ता नहीं है। तू मेरा लाड़ला बेटा है, पर तुझे भी इसकी चिन्ता नहीं है। मुझे मरने का रंचमात्र भी भय नहीं है। जिस दिन मैंने पति की आज्ञा का उल्लंघन करने का अधर्म किया अपने लेखे तो मैं उसी दिन मर चुकी हूँ। मैं तो कभी से यमराज की प्रतीक्षा में बैठी हूँ। वे यहाँ आये। पर मुझ पर अभी तक प्रसन्न नहीं हो सके हैं। तू यमराज का भयङ्कर रूप धारण करके आया है। आ और मुझे उस पाप से मुक्त कर जिसे मैंने जान-बूझ कर किया है।"

यह कहकर वह अपनी गर्दन झुका देती है। राम परशु उठाता है किन्तु वध करने से पूर्व एक प्रश्न पूछता है।

"ऐसा कौन-सा धर्म तुझे दिखाई पड़ा कि तू अम्बा कल्याणी होकर भी विचलित हो गई ?"

रेणुका ने अपने आचरण का स्पष्टीकरण करने के लिये राम से गन्धर्वों की पहाड़ी पर चलकर उन्हें देखने के लिये कहा। वह उसे घाटी में से होकर एक ऊजड़ ग्राम में ले गई। गाँव में प्रवेश करते ही अनेक आबालवृद्ध स्त्री और पुरुष, रक्त-पित्त से पीड़ित, रेणु को देखकर चिल्ला उठे—'अम्बा! अम्बा!' उसके अनन्तर रेणुका अपने पुत्र को गान्धर्वराज के पास ले गई जिसके कारण उसने पति और कुल के लोगों को छोड़ दिया था।

राम ने गान्धर्वराज को क्षीण स्वर से कल्याणी को पुकारते हुए, रक्त-पित्त रोग से पीड़ित मरणासन्न अवस्था में देखा। रेणुका कहने लगी—

"गांधर्वराज ! यह मेरा पुत्र मुझ से मिलने आया था। इसे आपसे मिलाने को लाई हूँ।" राम ने अब समझा कि क्यों उसकी माता ने वीर-श्रेष्ठ भृगुओं की माता बनने के बदले इन पीड़ित और दुःखी व्यक्तियों की सेवा करने का भार ग्रहण किया है। दुर्धर्ष हृदय भर आया। उसने परशु फेंक दिया और दोनों हाथों से

अपनी आँखें ढाँप कर चिल्ला उठा—

"माता कल्याणी ! मुझे क्षमा करो।"

लौटते हुए रेणुका ने कहा—

"पुत्रक ! अब तुम समझ गये होगे कि मैं क्यों मृत्यु की कामना कर रही हूँ। मेरी मृत्यु के बिना भृगुकुल का कलंक नहीं धुल सकेगा और न आर्यत्व की ही विजय होगी। मैं अब तक केवल मारनेवाले के अभाव में जी रही हूँ। इन तीस जनों के मरने के उपरान्त मुझे अग्निप्रवेश तो वैसे भी करना ही पड़ेगा। अब तू अपना कर्त्तव्य पूरा कर।"

ममतापूर्वक रेणुका ने पुत्र के परशु की ओर देखा। भार्गव ने धीरे से कहा—

"अम्बा ! अब सवेरे देखा जायगा।"

दूसरे दिन रेणुका ने देखा कि राम एक निर्झर में शान्तिपूर्वक अपना परशु धो रहा है। उसने उससे अपना वध करने के लिये कहा। राम ने उसे अपने साथ चलने को कहा। रेणुका ने उत्तर दिया—

"नहीं, मैं नहीं आऊँगी। तेरी बात कोई माननेवाला नहीं है। उलटे अपकीर्ति की ग्लानि का दाह तुझे सहना पड़ेगा। तू अपने लोगों को अब भी ठीक से पहचानता नहीं है।"

यह कहकर रेणुका तुरन्त ही सकुचा गई।

राम का स्वरूप बदल गया। वह मन्द-मन्द हँसता हुआ उसका ममतालु पुत्र नहीं रह गया था; अपितु दूर पर दीख रहे गौरीशंकर के शिखर के समान अडिग, सनातन, अस्पर्श्य, अपरिवर्तनीय और अप्रमेय एवं दुर्धर्ष उसका प्रताप था। उसके स्वर की झंकार भी बदल गई जब उसने कहा—

"मैं धर्म की घोषणा करूंगा और संसार उसे मानेगा। इसके बिना उसका छुटकारा नहीं है।"

रेणुका के हृदय में किंचित भय का संचार हुआ।

"चल !" राम ने आज्ञा दी।

"नहीं, मेरे गन्धर्वों का भी कुछ विचार किया है ?"

"उनका विचार मैंने कभी से कर लिया है। उनमें से एक भी अब जीवित नहीं है। सवेरे जाकर मैं उन सब का शिरच्छेद कर आया हूँ।"

रेणुका अपने इस क्रूर पुत्र को क्रोधपूर्वक देखती रह गई।

"अम्बा ! कल्याणी ! तेरे आँसू सबल को सामर्थ्य देने के लिये हैं, मरते प्राणी की मृत्यु की घड़ी को बढ़ाने के लिये नहीं।"

यह कह राम ने अपनी क्रुद्ध माता को हाथों में उठा लिया और घोड़े पर चढ़ कर ले चला।

: ८ :

माता और पुत्र पर्वतों के बीच मे होकर चले जा रहे थे। मार्ग में उन्हें व्यापारी पणियों का एक दल मिला। वे जैसे ही आगे बढते गये उन्हें समीपस्थ प्रदेश में होनेवाले महान् युद्ध के समाचार मिले। राजा भेद युद्ध में मारे गये हैं। महर्षि विश्वामित्र का कुछ पता नहीं है। राम का भाई भी मारा गया है।

सुदास की अन्त में विजय हुई। भेद की पत्नी, जिसके कारण इतने वर्षों तक लम्बा युद्ध हुआ, बन्दी बना ली गई है। महर्षि वशिष्ठ ने अपने जीवन का उद्देश्य पूर्ण कर लिया है और आर्यावर्त्त से अधर्म का उन्मूलन कर दिया है।

राम ने भागते हुए सैनिकों के अत्याचार से पणियों के जत्थे की रक्षा की थी, अतः बदले में उसने उनसे अपने को गुरु रूप में स्वीकार करने और रणक्षेत्र में चलने की शपथ ली। मध्यरात्रि में युद्ध में धराशायी हुए महावीरों के शवों को इकट्ठा किया और कइयों को बचाया भी। उनमें वशिष्ठ के पौत्र महर्षि पाराशर भी थे।

इसके अनन्तर राम आर्य-संस्कृति के महान् उद्धारक महर्षि वशिष्ठ से मिले। उन दोनों का मिलन भविष्य और अतीत का अपूर्व सम्मिलन था। दोनों ने मिलकर मृत वीरों का अन्तिम संस्कार किया और घायलों की शुश्रूषा में रत रेणुका से भेंट की।

विश्वामित्र के देह का पता नहीं है। वशिष्ठ ने अपने जीवन का कार्य पूरा कर लिया है, अतः अब वह अपने आजन्म वैरी और विद्या एवं कठोर आत्म-संयम में प्रतिद्वन्द्वी विश्वामित्र से मिलने को अत्यन्त उत्सुक हैं। उनके हृदय में विद्वेष नहीं है। उन्होंने देवों के आदेश का पालन किया है और विश्वामित्र ने भी देवों के द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण कर उन्हीं के आदेश का पालन किया है।

विश्वामित्र का भोंडा मित्र ऋक्ष वर्षों से आर्य-संस्कार के द्वारा शुद्ध किये हुए तथा श्यामवर्ण भेद के गोत्रजों का कुल-पुरोहित है। उसे युद्ध से घृणा थी। उसके लिए जीवन का परम लक्ष्य सुख का भोग था। किन्तु युद्ध की ज्वालाएँ उसके द्वार तक पहुँच गईं और उसने अपने मित्र विश्वामित्र को उसमें लिप्त पाया।

ऋक्ष अपने भारी शरीर और वृद्धावस्था को भूलकर रणक्षेत्र की ओर दौड़ा और उसने विश्वामित्र के शरीर को उठा लिया। सन्ध्या के धुँधले प्रकाश में, रण के कोलाहल के बीच वह अपने मित्र को रणक्षेत्र से उठाकर बाहर ले गया यद्यपि उसके शरीर में भी बाणों के कितने ही घाव थे।

अपने मूर्च्छित मित्र के भार से लड़खड़ाते हुए वह आश्रम की ओर बढ़ गया। अगस्त्य के आश्रम में छात्रावस्था में रहते हुए अपने जिस मित्र के प्रति उसका अत्यन्त स्नेह था उसे उठाकर ले जाने के अतिरिक्त इस समय वह और सब कुछ भूल गया था। वह आगे पैर बढ़ाता है, गिर पड़ता है, फिर उठता है और अपने प्रियवर को उठाये लिये जाता है। अपने और विश्वामित्र दोनों के रक्त से स्नान कर वह आगे बढ़ता जाता है।

ऋक्ष ने बहुत प्रयत्न किया पर विश्वामित्र को उठा न सका। फिर प्रयत्न किया। कुछ सफलता मिली, पर वह देह फिर उसके हाथों से फिसल कर गिर पड़ा। उसने फिर प्रयत्न किया और उसे जान पड़ा कि उसके मुंह से कुछ खारा-खारा-सा उमड़ा आ रहा है। उसने देखा कि वह रक्त उगल रहा था। पर विश्वामित्र को—अपने उस प्रिय मित्र को आश्रम तक ले जाना था। उसने अपना समस्त बल लगाकर उसे उठा लिया।......वह तो उसका परम मित्र था—प्राणाधार...उसके कन्धों पर तो वह सदा से बैठता आया था...ऋक्ष आगे बढ़ा। अकस्मात उसे जान पड़ा कि विश्वामित्र नीचे की ओर लुढके आरहे हैं। ऋक्ष के मस्तिष्क में अन्धकार छा गया।

राम खोज करते-करते वहाँ पहुँच जाता है जहाँ विश्वामित्र मूर्च्छित पड़े थे। विश्वामित्र मृत्युशय्या पर पड़े हैं। वे जानते हैं कि क्षितिज में मृगा के उदय होते ही वे शरीर त्याग देंगे। वे राम से कहते हैं—

"राम ! मेरा राज्यवंश समाप्त हो गया। देवदत्त चला गया; उसके भाई भी मारे गये। दीना और व्याकुल रोहिणी भी चली गई। पर आज मेरी विजय का दिन है। संयम और तप महान् हैं पर उनसे भी महानतर है आत्म-समर्पण का पराक्रम। वह पराक्रम करने का श्रेय देवों ने मुझे दिया है। मैं हारा नहीं हूं। इस भग्नप्राय आर्यावर्त्त के मस्तक पर मैंने एकता का ध्वजदण्ड रोपा है। मेरे मरण से उस पर स्वर्ण-कलश चढेगा। मृत्यु में ही मेरी विजय है। सभी गोत्र रक्त और संस्कृति में अब एक हो गये हैं।"

इसके उपरान्त वशिष्ठ अपने आजीवन प्रतिद्वन्द्वी से मिलने आते हैं। वशिष्ठ ने महायुद्ध में विजय पाई है। वे अपने से अवस्था में छोटे विश्वामित्र को आशीर्वाद देकर क्षमा-याचना करते हैं।

विश्वामित्र : मैंने तुम्हारे कार्यों में बहुत अन्तराय डाले हैं।

"मुनिवर ! आपने कोई अन्तराय नहीं डाला। मैं जो कुछ हूं आप ही के कारण तो हूं। वशिष्ठ न होते तो मैं आज केवल विश्वरथ होता। आपकी स्पर्द्धा से प्रेरित होकर ही मैंने यह विद्या और तप की सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। आपके पुरोहित-पद का अनुकरण करके ही मैंने राज्य त्यागकर पुरोहित-पद स्वीकार किया। आपकी मंत्र-विद्या की स्पर्द्धा से ही मैंने यज्ञविधि की स्थापना की। आपका वर्ण-भेद का विष उतारने के लिये ही मैंने दाशराज युद्ध की चुनौती झेली। आप गगन-चुम्बी गिरिराज हैं। आपके पराक्रमों के शिखर को लांघकर ही मैं सबल हो सका हूं।

"ऋषिश्रेष्ठ ! देवों ने हमें आँखें दी हैं; पर हमने भिन्न-भिन्न सत्यों का दर्शन किया। कौन जाने इस भिन्नता में क्या रहस्य है। मैंने यदि तुम्हारे सत्य का विरोध न किया होता तो मैं भी आज क्या होता? पर मेरे मन में एक बात का खेद है। मैं तुमसे वय में बहुत बड़ा हूं। तुम्हारे बदले आज

मुझे ही पितृलोक में जाना चाहिये था।

"मुनिवर ! मुझे खेद नहीं है। मैं तो कृतकृत्य हो गया हूँ। देवों ने मुझे बिन-माँगे ही सिद्धि दे दी है। मुनिश्रेष्ठ ! भगवान् सविता ने मेरी सारी इच्छाएँ पूर्ण कर दी हैं। उन्हीं की कृपा से मैंने आर्यों और दस्युओं के बीच के भेद को मिटा दिया। शम्बर-कन्या को आर्या बनाया। मानव मात्र के लिये आर्यत्व को सुलभ कर दिया। वशिष्ठों की विद्या के समक्ष ही मैंने विश्वामित्रों की विद्या को भी स्थापित किया है। मेरी विद्या का उत्तराधिकारी, शम्बरी का पुत्र शुनःशेप, उसको प्रसारित कर रहा है। जहाँ भी गायत्री का उच्चारण होगा वहाँ विश्वामित्र की आत्मा मूर्तिमान् हो उठेगी।

इस प्रकार अपने जीवन के आर्यों का उल्लेख करने पर महर्षि विश्वामित्र का स्वर शिथिल हो गया—

"आओ, मैं देवपद की प्राप्ति के दिव्य-रथ पर तुम्हें ले चलता हूँ—रागद्वेष से परे कोई उसकी दुर्बलता पर आँसू न बहाये। वरुणदेव स्वर्ग के द्वार खोल रहे हैं। आओ...ऊपर, और ऊपर......।

स्वर मंद हो चला। विश्वामित्र गुनगुनाये—

"जमदग्नि ! भाई मृगा का उदय होगया।"

इसके अनन्तर उन्होंने अपना माथा ढुलका दिया। राम ने गिरते हुए ऋषि का शरीर अपने हाथों में थाम लिया और मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ की आंखों से आंसू ढुलक पड़े।

वीर मृतकों की उत्तर-क्रिया समाप्त कर राम अपने पिता और पूर्वजों को दिये वचन का पालन करने के लिये चल पड़ा। वह पिता के सम्मुख ही अपनी माता का वध करने के लिए उसे साथ लिवा लाया। अपने तीव्रगामी घोड़े पर चढ़कर वह आगे बढ़ा। माता को हाथों में उठाये हुए था। इस संवाद को सुनकर सभी थर्रा उठे थे कि गुरुदेव राम, जिनकी कीर्ति समस्त आर्यावर्त्त में फैल चुकी थी, अपने पिता की आज्ञापालन करने के लिये अम्बा का वध करेंगे और फिर उसके प्रायश्चित्त के रूप में स्वयं भी नहीं जियेंगे। राम अपने पिता भृगु-श्रेष्ठ महर्षि जमदग्नि के पास पहुँचे। जमदग्नि के मन में केवल एक ही विचार चक्कर काट रहा था। उनकी पत्नी रेणु का वध किया जाना चाहिये। राम ने आकर अम्बा को पिता के चरणों में रख दिया। जमदग्नि ने आज्ञा दी—

"इसका सिर धड़ से अलग कर दो।"

राम: अच्छा पिताजी।...अम्बा ! अम्बा ! कल्याणी ! मैं पिता की आज्ञा का पालन करता हूँ।

राम के स्वर में मार्दव थी अथाह प्रेमसे परिप्लावित।

"बेटा यह ले। यह मेरी गर्दन है। तेरे हाथों मेरी मृत्यु हो, केवल यही मेरी याचना थी।"

जमदग्नि: राम ! सृष्टि के आदि-काल से आजतक यह कभी नहीं देखा या

सुना गया कि कुलपति की अर्द्धाङ्गिनी ने कभी पर-पुरुष का सेवन किया हो। वह मैं ने देखा है केवल अपने ही कुल में अपने ही घर में। आर्य जीवन की शुद्धि की रक्षा करने के लिये अपने धर्म का अन्तिम बार पालन करना चाहता हूं। मैंने अनेक बार कुलटाओं का शिरच्छेद किया है। आज अन्तिम बार फिर अपने उसी धर्म का पालन करना चाहता हूँ।

राम का मुख क्रोध से लाल हो गया। उन्होंने कांपते स्वर में कहा—

"पिताजी! मैं भी पुत्र-धर्म का पालन कर लूं अन्तिम बार। पर—"

जमदग्नि चकित होकर सुन रहे थे।

"अम्बा को मैं मारूँगा अवश्य। पिता की आज्ञा को माथे पर धारण करूँगा। किन्तु उसके अनन्तर मैं अपने पितृगणों के लोक में जाकर उनसे नहीं मिलूंगा। मैं अम्बा का ही अनुगमन करूंगा। पिता की आज्ञा का उल्लंघन करके अथवा माता की हत्या करके मैं आर्यत्व का उद्धार नहीं कर सकूंगा। और यदि ऐसा कर भी सकूं तब भी मुझे फिर जीने की चाह नहीं है।"

इसके उपरान्त तेजस्वी राम ने, जो बहुधा मौन रहता था, अपने पिता को लक्ष्य करके कहा—

"आपने अभी तक किसी को सत्य बात कहते नहीं सुना था। मेरे पास आँखें हैं। तुम सब अन्धे हो। ऐसा न होता तो मृत्युशय्या पर पड़े हुए रक्तपित्त से पीड़ितों की सेवा करती हुई अम्बा को पापाचारिणी न मान बैठते। अधर्म आचार में नहीं है अपितु उसके पीछे रहनेवाली दृष्टि में है। तुम में से किसी भी अन्धे को यह नहीं सुझाई पड़ा।"

रेणुका ने रोते-रोते बीच में टोका—"चुप रह राम। क्या बक रहा है?"

"मैं चुप कैसे रह सकता हूँ। आर्यत्व के मिथ्या अभिमान में आकर तुमने आर्यत्व का मूलोच्छेद कर दिया है। और अभी भी किया चाहते हो।"

रेणुका उग्र हो उठी। उसने राम के थप्पड़ मार दिया मानो वह अब भी बच्चा है। और बोली—

"बेटा! पिता का अपमान कर रहा है। पैरों पर पड़ कर क्षमा मांग।"

राम, सिंह के समान गर्व से भरे उग्रतापूर्वक देखते ही रह गये।

रेणुका: राम! छोड़ दे अपना अभिमान? माता की ममता का अप्रतिरोध्य अधिकार उसके स्वर में था। भार्गव की दृष्टि निर्मल हो चली—

"बेटा! यह मेरी आज्ञा है—अन्तिम आज्ञा। तू मेरा शिरच्छेद कर।"

राम पिता के चरणों में गिर पड़े—उग्रतापूर्वक, बाध्य होकर।

रेणुका समझ गई। उसने ममत्वपूर्वक उसकी पीठ पर अपना हाथ रख दिया।

"इस प्रकार गर्विष्ठ भाव से नहीं। तू तो धर्म का त्राता है। पुत्र का सिर तो पिता के चरणों में ही हो सकता है।"

राम ने पिता के चरणों मे सिर नवाकर क्षमा माँगी। चिरकाल से अपनी अदृष्ट पत्नी को देखकर और पुत्र के द्वारा तीव्र भर्त्सना प्राप्तकर जमदग्नि ने परिस्थिति को समझा और जब राम ने अपना परशु उठाया तो उसने रुदन के स्वर मे पुकार कर कहा—

"रेणुका, रेणुका ! मैंने तेरा बध करवाया। पर तेरे पुत्र ने मुझे जिला दिया। राम! परशु फेंक दे। अपनी प्रतिज्ञा को मैं लौटाता हूं। रेणुका—"

पैरों में पड़ती हुई रेणुका को उन्होंने उठा लिया। जन-जन की आँखों से आँसू टपक रहे थे।

सुदास अब आर्यावर्त्त का चक्रवर्ती राजा है। वशिष्ठ उसका पिता और धर्मगुरु है। महान् विजयोत्सव मनाया जा रहा है।

इसी बीच में लोमा ने भेद की विधवा पत्नी का सुदास के प्रासाद से उद्धार किया जहां उसे शुद्धि होने और पूर्वपति के द्वारा पुनर्ग्रहण किये जाने के समय तक के लिये बन्दी बनाकर रखा गया था। राम ने उसके बालक-पुत्र को, आर्यावर्त्त के दक्षिण के वनों में काटकर अपने शिष्यों द्वारा बनाये हुए नये प्रदेश में, अभिषिक्त कर दिया।

राम ने वशिष्ठ के द्वारा दिये हुए सुदास के पौरोहित्य को अस्वीकार कर दिया। उसने भार्गवों को संगठित कर उनके द्वारा विद्या और तप के स्थान—आश्रमों की रक्षा राजाओं के स्वेच्छानुसार कर नियन्त्रण और राजमार्गों की रक्षा करने की व्यवस्था की।

अर्जुन ने जब सुना कि राम बचकर भाग गया है तो उसने राम और समस्त आर्य-गोत्रों का नाश करने के निमित्त आर्यावर्त्त पर आक्रमण करने के लिए एक विशाल सेना एकत्रित की और कितनी ही बस्तियों को भस्म करता हुआ, मनुष्यों का संहार करता हुआ और स्त्रियों को भ्रष्ट करता हुआ वह आगे बढ चला।

वशिष्ठ के पौत्र पाराशर को हिंसा से अरुचि थी। उन्होंने राजाओं को समझाया कि वे अदम्य अर्जुन का सामना करने का विचार छोड़ दें। किन्तु उनका कहना अरण्यरोदन के समान निष्फल हुआ।

राम ने अपने साथियों को उत्तर की ओर समस्त सेना ले जाकर एकत्रित करने का आदेश दिया। अर्जुन ने आर्यावर्त्त मे पहुंचकर उसे उजाड पाया। वह वशिष्ठ के आश्रम में गया। इस महान् ऋषि के प्रति उसके मन मे द्वेष था क्योंकि उन्होंने ही एक बार इसके लिये धर्म की व्यवस्था देने का साहस किया था। अर्जुन ने आश्रम को उजाड़ पाया, किन्तु महर्षि ने उसे छोड़ना अस्वीकार कर दिया था और अकेले ही रहकर अपने तपोबल से महान् विनाश-कारी का सामना करने का संकल्प किया था।

"वशिष्ठ मुनि !" अर्जुन ने उद्धत स्वर में पुकारा। मुनिवर एकाग्र चित्त से आहुति देते ही चले गये। उनके पास बैठे छहों वृद्धो में से किसी ने सिर उठाकर नहीं देखा।

अर्जुन : बस करो। क्या तुमने मुझे पहचाना नहीं।

वशिष्ठ ने आहुति देते हुए सामने देखा।

"मैं तुझे बचपन से ही जानता हूँ।"

"सो कुछ नहीं। अब मैं आर्यावर्त्त का काल होकर आया हूँ।"

मुनि ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"तुम मुझे एक बार आर्यावर्त्त की रीति-नीति सिखाने आये थे, अब तुम्हें मेरी रीति-नीति के अनुसार रहना पड़ेगा।"

वशिष्ठ : वशिष्ठ एक ही रीति से रहता है—देवों की आज्ञा के अनुसार।

अर्जुन : हा, हा, हा; देवों की यही आज्ञा है कि तुम मेरी आज्ञा का पालन करो। मैं आर्यावर्त्त को जलाकर भस्म करने आया हूँ। जानते हो?

वशिष्ठ : कृतवीर्य के पुत्र—तू तो सदा का पाजी रहा है। और लूटमार करना, संहार करना, जलाकर भस्म कर देना—यह सब तो कोई भी कर सकता है।

अर्जुन : तुम्हारा सब-कुछ जलकर भस्म हो जायगा तभी तुम्हें समझ में आयेगा।

वशिष्ठ : देवों की कृपा से हमने जो बोया है उसका तू नाश कर ही नहीं सकता। ज्यों-ज्यों तू उसे जलायेगा त्यों-त्यों उसमें से नई कोंपलें फूट निकलेंगी।

"ये सब बातें बनाना बन्द करो वशिष्ठ मुनि! उठो और अपने शिष्यों से कहो कि वे हमारा आतिथ्य करें।"

"वशिष्ठ के आश्रम में किसी भी आततायी का आतिथ्य-सत्कार नहीं हो सकता।"

अर्जुन वशिष्ठ की ओर उनकी दाढ़ी पकड़ने के लिये झपटा। वशिष्ठ ने शान्त और गम्भीर हो आँखें मूँद लीं। सहस्रार्जुन उनका स्पर्श कर सके इसके पूर्व ही वे प्राण छोड़कर ढुलक पड़े। अर्जुन पीछे हट गया। और उसने आश्रम को जलाकर भस्म करने की आज्ञा दी।

वहाँ से वह भृगुओं के आश्रम में पहुँचा। यहां भी जमदग्नि और रेणुका ने आश्रम छोड़ना अस्वीकार कर दिया था। आर्यों के धर्म के अनुसार आश्रम पवित्र माना गया है।

अर्जुन के हृदय में जमदग्नि के लिये कई कारणों से द्वेष था। उनके पिता ने अर्जुन के वंशजों को शाप दिया था। अब अर्जुन जमदग्नि से उस शाप को उठा लेने और उसका पुरोहित बनने के लिये बाध्य करना चाहता है।

आश्रम पर अधिकार कर उसने यहां अपना प्रभाव डाल दिया। जमदग्नि को उसने एक पेड़ से बांध दिया और प्रतिदिन उसके पास जाकर शाप उतारने के लिये कहने लगा। उसके अस्वीकार करने पर वह एक तीर उसके मार देता था। जमदग्नि ने आतंक अथवा लोभ के वशीभूत होकर उसे आशीर्वाद देने से इन्कार कर दिया। उन्होंने शाप उठाना स्वीकार नहीं किया। ऋषि पेड़ से बँधे हुए हैं। अर्जुन प्रतिदिन आता है, उनसे शाप उतारने के लिये कहता है और अस्वीकार करने पर एक तीर मारकर उन्हें घायल कर देता है।

इस प्रकार तिल-तिलकर वे मरने लगे। रेणुका उनके पास रात-दिन खड़ी रहकर उन्हें पानी देती और परिचर्या करती थी। प्रतिदिन वह राम को भेजने के लिये देवों से प्रार्थना

करती थी। एक दिन उसने जमदग्नि से पूछा—

"इस वेदना को कब तक सहन करना होगा ?"

"यह वेदना नहीं है। यह तो पशु और आर्य के बीच युद्ध चल रहा है। इसमें तो आर्यत्व की ही विजय होगी।"

"और आपका क्या होगा ?"

"अर्जुन मुझ से अपना मनचाहा नहीं करवा सकेगा। उसे तो निदान हाथ मलते हुए ही मरना पड़ेगा।"

अर्जुन ऋषि से आशीर्वाद माँगता है और ऋषि उसे सदा ही अस्वीकार कर देते हैं।

इतने ही मे समाचार मिलता है कि राम आ रहे हैं। तीन दिशाओं से प्रतिरोधक सेनाओं ने आक्रमण किया। बीच में श्यामवर्ण घोड़े पर चढ़े हुए राम परशु चलाने म प्रवीण शिक्षित अश्वारोहियों के साथ अपना परशु उठाए चले आरहे थे। राम के चतुर्दिक् एक अजेय प्रकाश फैला हुआ है। अर्जुन की सेना का साहस छूट जाता है।

युद्ध आरम्भ हुआ और उसमें हैहय मारे गये। अन्त मे दोनों भयंकर शत्रुओं में द्वन्द्व-युद्ध छिड़ गया। राम ने अर्जुन को पराजित कर बन्दी बना लिया। किन्तु पराजय में भी वह उद्धत था। बन्धन से किसी प्रकार मुक्त होकर उसने दो तीर उठा लिये और एक मरणासन्न जमदग्नि पर और दूसरा राम पर फेंक कर मारा।

राम ने बाण की क्षिप्रगति को लक्ष्यकर सियार के समान आक्रन्दन किया, ऐसा जैसा कि पहले कभी किसी ने नहीं सुना था, फिर वह ऊपर वायु मे उडकर अर्जुन पर झपटा। अर्जुन का सिर धड़ से अलग होकर भूमि पर लोटने लगा।

इस प्रकार विष्णु के छठे अवतार परशुराम के यौवन की कथा समाप्त होती है। जिस प्रकार सातवें अवतार राम और आठवें श्रीकृष्ण थे उसी प्रकार यह पौराणिक महापुरुष भी महाभारत का मुख्य पात्र है।

इस वीर पुरुष के चरित्र में, जिसमें कहीं कुटिलता और कहीं क्रूरता भी पाई जाती है, पौराणिक युग की लोकोत्तर दैवी आत्मा की छाप है। इसमें मानवीय दुर्बलता का कहीं नाम नहीं। न्याय पर आधारित व्यवस्था के कठोर नियम के संरक्षक देवता समूचे ग्रन्थ में आदि से अन्त तक प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।

उपसंहार

'तर्पण' नाम का नाटक यद्यपि वर्षों पहले लिखा जा चुका था तथापि इस महाकाव्य की कथा का वह उपयुक्त उपसंहार है। मुन्शीजी ने इस महाकाव्य के सृजन में अपने जीवन के लगभग पच्चीस वर्ष बिताये। बीच में कभी-कभी व्यवधान भी पड़ा। इस माला की सब से पहली रचना 'पुरन्दर-पराजय' १९२३ में लिखी गई थी और अन्तिम 'भगवान् परशुराम' १९४३ में प्रकाशित हुई।

वृद्ध राम जो अब अवतार रूप में पूजे जाते हैं, शूर्पारक में बस गये हैं। हैहयों ने अर्जुन के पुत्रों और पौत्रों के नेतृत्व में आर्यावर्त्त पर पुनः आक्रमण किया और आश्रमों का विध्वंस एवं भार्गवों का उन्मूलन कर डाला।

भार्गव-कुल की एक स्त्री ने किसी प्रकार अपने इकलौते पुत्र को उरु (जंघा) में छिपा कर बचा लिया, इसी से उसका नाम और्व पड़ा। उसने अपना समस्त जीवन आर्यावर्त्त के पुन-रुद्धार में समर्पित करने का संकल्प किया, आर्यों की विद्या का अभ्यास किया और नैष्ठिक शिष्यों का एक दल इकट्ठा किया। पर्वतों में जाकर छिपे-छिपे उसने अपने शिष्यों की एक सेना खड़ी की और उससे हैहयों से आर्यावर्त्त का उद्धार करने की शपथ ली। उसने आर्य राजाओं के अन्तिम अवशेष सगर नामक बालक राजकुमार की रक्षा भी की और फिर उसका पालन-पोषण किया।

किन्तु विधि का विधान कुछ और ही था। और्व ने हैहय राजा की इकलौती पुत्री सुवर्णा की नौका डुबा देने का निश्चय किया, जिसमें बैठकर वह विनोद के लिये जाया करती थी। नौका डूबने पर सगर ने और्व के संकल्प को न जानते हुए उसकी रक्षा की और उसके प्रेम में आसक्त हो गया। हैहय राजा ने और्व के साथियों का पीछा किया।

सगर को अपने गुरु के संकल्प का पता नहीं था। अतः वह प्रतिदिन रात्रि के समय सैर कर नदी पार करता और सुवर्णा के प्रासाद में जाकर उससे भेंट किया करता था।

अन्तमें एक महान् दिवस आया, जब और्व ने बड़े समारोह से अपने पार्वत्यगढ़ में आर्या-वर्त्त के राजा के रूप में सगर का अभिषेक किया और उसके पराक्रम को पूर्ण बनाने के लिये भगवान् परशुराम से अपना महान् अस्त्र भेजने की प्रार्थना की। प्रार्थना स्वीकृत हुई और अस्त्र आकाश-मार्ग से प्राप्त हुआ। सगर को अभिषिक्त करने के उपरान्त और्व ने उसे अपने जीवन का महान् संकल्प बतलाया और उसे उस प्रतिज्ञा का स्मरण कराया जिसके लिये सगर ने अपना जीवन समर्पित किया था।

एक घण्टा बीतने पर करारों के मध्य में स्थित उस प्राकृतिक गढ के बाहर सगर टह-लता हुआ दिखाई पड़ता है। उसकी आँखें अचंचल हैं। ओठों पर निराशा छाई हुई है, माथे पर बल पड़े हैं। वह करार के गढ़े की ओर देख कर मनमें सोचता है।

"गुरुदेव ने मुझसे यहाँ मिलने के लिये क्यों कहा था ? (गढ़े में देखकर) नहीं, वह अभी नहीं आये हैं। देव मुझे शक्ति दीजिये, दृष्टि दीजिये। मैं क्या करूँ ? किससे पूछूँ ? कहाँ जाऊँ ? मैं गुरुदेव की आज्ञा का उल्लंघन कैसे करूँ ? और यदि मैं उनकी आज्ञा का पालन करता हूँ, तो मैं क्या करूँगा ?" (नीचे की ओर देखता है) :

> "मैंने और सुवर्णा ने महीनों से पितामह और वीतहव्य में सन्धि हो जाने की आशा लगा रखी थी पर सब निष्फल। भयंकर विनाश की योजना में लगे रह कर पितामह सन्धि कैसे करेंगे ? हैहयराज कैसे और्व के अनुशासन को स्वीकार कर मुझे अपनी कन्या देंगे ?
>
> "क्या मैं पितामह की आज्ञा का उल्लंघन करूँ ? किन्तु तब तक तो उनके

जीवन का कार्य ही विफल हो जायगा और मेरे स्वप्नों का आर्यावर्त्त कभी नहीं बन सकेगा।

"और सुवर्णा का प्रत्येक क्षण तो मेरी ही चिन्ता में बीतता है। उसका क्या होगा? यदि मैं उसके पिता वीतहव्य की हत्या करूँ तो उसकी क्या दशा होगी? पुष्प के समान कोमल उसका हृदय भस्मीभूत हो जायगा। अपने पिता से इतनी ममता करनेवाली सुवर्णा उसके हत्यारे की ओर आँख उठा कर कैसे देख सकेगी?

"और सुवर्णा के बिना मैं कैसे जीवित रह सकूंगा।" उसके बिना सिंहासन से मुझे क्या लाभ? यदि वह जीवित नहीं रही तो आर्यावर्त्त के उद्धार से भी क्या प्रयोजन? यमराज! इस विपत्ति से मेरी रक्षा कीजिये।"

इसके उपरान्त और्व आकर सगर से गुरु-दक्षिणा माँगता है। कम्पित हृदयसे अञ्जलि बांधकर सगर नम्रतापूर्वक कहता है:—

"गुरुदेव! मैं आपको क्या दे सकता हूँ? मेरा जो कुछ है सब आपका ही है।"

और्व (गम्भीरता से): जो तुम्हारा नहीं है मुझे, वही दो।

सगर: आज्ञा दीजिये। मैं उसका पालन करूंगा।

और्व: प्रतिज्ञा करते हो?

सगर (मूर्च्छित-सा होकर): हाँ।

और्व: तो कल प्रातः सूर्योदय होने पर मुझे दो चीज़ें लाकर दो।

सगर (भयभीत होकर): क्या?

और्व: दो सिर—एक वीतहव्य का और दूसरा वीतहव्य की कन्या सुवर्णा का।

सगर (हाथ जोड़ कर): क्षमा करें, गुरुदेव! कृपा करें, आप मुझे डरा रहे हैं। विनाश ही आपके जीवन का लक्ष्य है। क्रूरता आपके लिये बायें हाथ का खेल है। किन्तु क्या इस विनाश से आपके स्वप्नों का आर्यावर्त्त, आर्यों की यह शान्त और सुखमय पवित्र मंत्रों और यज्ञों के द्वारा पवित्र हुई भूमि कभी समृद्ध हो सकेगी?

और्व: हैहयों के स्पर्श से क्या कोई भी वस्तु पवित्र रही है? उनके स्पर्श से सब उदात्त संकल्प दुर्गन्धपूर्ण गोमांस के तुल्य हैं और ब्राह्मण केवल पशु-समान हैं। आर्यावर्त्त की शान्ति हैहयों के रक्त की खाद से ही उत्पन्न होगी।

सगर सुवर्णा के प्राणों की भिक्षा माँगता है।

और्व: क्या इस स्त्री का पुत्र आर्यावर्त्त का चक्रवर्ती राजा बनेगा?

इसके अनन्तर और्व बतलाता है कि हैहयों ने आर्यावर्त में क्या-क्या अनिष्ट किये हैं—

"आश्रमों को धूल में मिला दिया गया। गिद्ध पवित्र गौओं के शवों पर मंडराते थे। सरस्वती और दृषद्वती—पवित्रता की इन सरिताओं—में से सड़े हुए शवों

की दुर्गन्ध आती थी। मेरे पिता और दूसरे भार्गवों ने अन्तिम क्षण तक युद्ध किया। इसके अनन्तर तुम्हारी सुवर्णा के पितामह ने स्त्रियों का पीछा किया... जो पेड़ों पर चढ़ गईं उन्हें बाणों से घायल किया गया; जो नदियों में कूद पड़ीं उनका पीछा करके उन्हें अपमानित किया गया, जो पर्वतों की ओर भाग गईं उन्हें पकड़वा कर उनके साथ बलात्कार किया गया। उनके गर्भाशय काट डाले गये और इस दशा में उन्हें मरने के लिये छोड़ दिया गया।

"मेरी माता ने मुझे दस वर्ष तक अपनी जंघा में छिपाये रक्खा। फिर वे गौतम के घर में आकर छिप गईं और वहीं उन्होंने मेरा पालन-पोषण किया।

"हैहयों ने आर्यावर्त्त की भस्म पर अपना साम्राज्य स्थापित किया। मैंने एकाकी रहकर ही उसका उद्धार करने का संकल्प किया था। शनैः शनैः मैंने आर्यों की लुटी हुई सम्पत्ति लौटा ली। मैं वर्षों तक सारे देश में घूमता रहा। प्राचीन गौरव में सर्वश्रेष्ठ महर्षि जमदग्नि के वीर पुत्र परशुराम के चरणों मे बैठकर वर्षों तक मैंने उनकी सेवा की। अन्त में मैं इस पर्वतीय दुर्ग में आया। तुम सब को अपना शिष्य बनाया और तुम लोगों के हृदय में मैंने आर्यावर्त्त की आधार-शिला स्थापित की। मैंने तुम्हारे हाथों में हैहयों के विनाश के साधन दिये। और अब, वर्षों से हैहयों का जो प्रताप समुद्र पर्यन्त समस्त भूमण्डल पर व्याप्त था, मेरे नाम से कम्पित हो उठा है—कल प्रातः मैं अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई देखूंगा। मैं अन्तिम हैहय के रक्त से अकालमृत्यु-प्राप्त अपने पूर्वजों का तर्पण करूँगा।"

सगर असमंजस में पड़कर हताश हो जाता है। किन्तु निष्ठुर और्व अपनी आज्ञा-पालन कराने के लिये शिष्य को बाध्य करता है। वह सगर से कहता है—

"शिष्य को चाहिये कि वह इस अन्तिम हैहय का वध कर अपने गुरु का ऋण चुकाये जिससे गुरु उसके रक्त से अपने पूर्वजों का तर्पण कर सके।"

हैहयराज वीतहव्य ने हैहयवंश के सौराष्ट्र राजा को सुवर्णा के साथ विवाह करने के लिये आमन्त्रित किया। जिस समय उत्सव हो रहा था, दूर पर्वत के शिखर पर गड़गड़ाहट का शब्द सुनाई दिया और लोहितवर्ण अग्नि की ज्वालाएँ उठती हुई दिखाई दीं। ये और्व के कुपित होने के चिह्न थे। अविवेकी सौराष्ट्र का राजा और्व का वध करने की डींग मारता हुआ बन की ओर झपटा। वह अन्धकार में निमग्न हो और्व के प्रताप से मारा गया।

सुवर्णा के मन मे प्रसन्नता है क्योंकि उसे आशा है कि सगर और्व और उसके पिता के बीच मे सन्धि करा देगा और फिर उसके साथ विवाह कर लेगा। वह प्रासाद के बरामदे में जाकर खड़ी हो जाती है और सगर की प्रतीक्षा करती है।

यह उपयुक्त होगा कि इस नाटक के अन्तिम दृश्य में से कुछ अंश निकाल कर उसे उद्धृत कर दिया जाय—

दोनों प्रेमी मिलते हैं। सुवर्णा देखती है कि सगर बड़ा अधीर है।

सुवर्णा (मुस्कराकर): अब जाकर तुम्हारा हृदय पिघला है। तुमने कुछ

किया ? क्या गुरुदेव से तुमने कुछ बात की ?"

सगर (चकित होकर) : गुरुदेव !

सुवर्णा (उपहासमिश्रित क्रोध से) : क्या तुम भूल गये ? सन्धि के विषय में क्या हुआ ?

सगर (ध्यान न देकर) : हाँ ! सन्धि !

सुवर्णा : क्या तुमने इसके बारे में उनसे बात की ?

सगर (चारों ओर भयभीत मुद्रा से देखकर) : हाँ।

सुवर्णा : गुरुदेव ने क्या कहा ?

(अधीरता से)

"बोलो।"

सगर (कठोरता से) : गुरुदेव कल प्रातः यहीं आरहे हैं।

सुवर्णा (चकित होकर): गुरुदेव ! यहाँ ! (खिलखिलाकर हँसती हुई)।

"हाँ ! हां ! मैं समझ गई सन्धि के लिये। शाबाश सगर ! (वह सगर से लिपट जाती है)। तुमने गुरुदेव पर भी जादू कर दिया।"

सगर (निष्ठुरता से) : हाँ, हाँ, मैंने जादू किया है।

सुवर्णा : जैसे तुमने मुझ पर जादू किया है।

सगर (निष्ठुरता की हँसी हँसकर) : हाँ, हाँ, उसी प्रकार।

सुवर्णा : तब तो फिर कल सन्धि हो जायगी।

सगर : कल सूर्योदय होने पर। (भयभीत नेत्रों से अन्धकार में देखता है)। फिर वे दोनों एक दूसरे से चिपट जाते हैं और सोने की चेष्टा करते हैं। सगर—"ऐसा कब होगा ? कब सूर्योदय होगा ! मुझे ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई आ रहा है।"

सुवर्णा : नहीं, नहीं, अभी तो अर्द्धरात्रि है।

सगर (करुण स्वर में) : तब, प्रिये ! मेरे पास आओ। बीता समय लौटकर नहीं आता। (उसे अपने पास खींच लेता है) पास आओ। आज की रात बड़ी सुन्दर है। क्या पता कल सूर्योदय होने पर क्या होगा ?

सुवर्णा (समीप आकर) : हाँ, हाँ, सगर।

सगर (चुम्बन करके) : प्रिये ! आओ आज हम दोनों मिलकर एक हो जायँ।

सुवर्णा (उससे लिपट कर) : हाँ, मेरे स्वामी।

सगर : यह क्षण बीतने पर फिर नहीं आयेगा। आनेवाले क्षणों की चिन्ता हम क्यों करें ! (उसका चुम्बन करके) केवल इसी क्षण, प्रिये।

कुछ घण्टों के बाद अन्धकार छा जाता है। सुवर्णा सगर की गोदी में सिर रखकर सो जाती है।

सगर (मन में) : सुवर्णा ! तुम्हारे पूर्ण सौन्दर्य की रात्रि जल्दी ही बीत रही है। इस क्षण तुम्हें स्वर्गीय सुख के जीवन का आभास मिल रहा होगा। वह तुम्हें

मिलेगा भी। कुछ घण्टों और कुछ क्षणों के अनन्तर तुम्हारे स्वर्ग का द्वार तुम्हारे और मेरे दोनों के लिए सदा के लिये बन्द हो जायगा।

सगर (मन में) : क्या मैं आज्ञा का उल्लंघन कर दूँ ! इस प्रियतमा की प्रार्थना का क्या होगा ? अपने पिता की मृत्यु का बदला लूँ ? तब क्या प्रेम के प्रति मेरा कोई दायित्व नहीं है। यदि मुझे आर्यावर्त्त का निर्माण ही करना है तो क्या मुझे ऐसे साथी की खोज नहीं करनी होगी जो मेरे जीवन को सुखी बना सके। क्यों ? ओह ! क्यों ? यदि गुरु, पिता और आर्यावर्त्त सभी का मुझ पर अधिकार है तब क्या कारण है कि मेरा और सुवर्णा का अपना कोई महत्त्व ही न हो। देव ! (रोता है)।

सुवर्णा एकाएक जाग उठती है और सगर से कहती है कि मैंने एक स्वप्न देखा है कि हम तुम दोनों एक नाव में बैठकर कहीं बहुत दूर जायँगे। ऐसा कह कर वह फिर सो जाती है।

सगर : यह जाना चाहती है, दूर, बहुत दूर; किन्तु मेरे साथ। क्या इस भूतल पर ऐसा कोई स्थान नहीं है जो वीतहव्य और और्व को प्रेरित करनेवाली प्रतिहिंसा की भावना से मुक्त हो। जहाँ संसार के उस अन्तिम छोर पर भय और दुःख का नाम न हो; जो एकान्त में किसी पर्वत-शिखर पर हो। जहां मैं और सुवर्णा अभय और शान्त होकर विचरण करें और सूर्य और चन्द्रमा ही जहाँ हमारे साथी हों। क्या हमें ऐसा स्थान नहीं मिल सकता ! (अर्द्ध-निद्रित अवस्था में) उस समय कोई पूर्वज हमसे कुछ नहीं माँग सकेगा। हमें भविष्य का त्रास कभी न होगा। जहाँ केवल हृदय का ही शासन होगा। जहाँ प्रेम हमारी उत्कण्ठा को उद्दीप्त करता रहेगा। जहाँ हमारी एकमात्र अभिलाषा एक दूसरे को प्रसन्न रखने की होगी। मैं बोऊँगा, वह काटेगी। मैं पशुओं को चराऊँगा, वह पीसेगी। मैं पुष्प चुनकर लाऊँगा, वह माला गूँथेगी। हम दोनों बहते हुए झरनों के साथ एकस्वर से गान करेंगे। हम शीतल समीर के साथ मन्द-मन्द हँसेंगे और विद्युत को ताल पर नृत्य करेंगे। (ऊँघने लगता है, फिर एकाएक चौंककर जाग उठता है) क्या मैं सो गया था ? क्या मैं स्वप्न देख रहा था ? क्या मुझे जागरण में धोखा हुआ है। (निष्ठुरता से हँसता हुआ) क्या कोई ऐसा स्थान है जहाँ कल्पना के प्रासाद में मैं सुख से रह सकूंगा और जहाँ और्व और वीतहव्य का कलह स्पर्श नहीं कर सकेगा। कोई तो अवश्य होगा। क्यों नहीं होगा ? माता यमुना ! क्या तुम मुझे वहाँ ले चलोगी ? माता ! क्या तुम अपने बच्चों का उद्धार नहीं करोगी ? (मौन होकर बैठ जाता है)।

एकाएक सुवर्णा जाग उठती है। वह काँपने लगती है और भयभीत नेत्रों से पूछती है—

"सगर ! वह कौन है ? मुझे डर लग रहा है।"

सगर : सुवर्णा ! यहाँ मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं है ।

सुवर्णा (चारों ओर देखती है और काँपती है) : ओह ! मैंने स्वप्न में एक भयंकर मनुष्य को देखा है । वह इतना लम्बा है ।

सगर (हँसते हुए) : और ?

सुवर्णा (भयभीत होकर) : उसके सिर पर श्वेत केशों का एक बड़ा-सा झुण्ड है और कमर तक लटकती हुई एक लम्बी डाढ़ी है ।

सगर (कांपते हुए) : हां !

सुवर्णा (कम्पित स्वर से) : दो जलते हुए अंगारों जैसी आँखें । मुझको ऐसा जान पड़ता है मानो मेरा अंग-प्रत्यंग जल रहा है ।

सगर (बोलने में अशक्त होकर) : ओह !

सुवर्णा (भयभीत होकर) : यह क्या है ?

सगर (चारों ओर चिन्तातुर दृष्टि डालकर) : कुछ नहीं; सूर्योदय में कितनी देर है ?

सुवर्णा : अभी बहुत देर है । (उससे लिपट कर) आओ, हम फिर सो जायँ ।

सगर : नहीं, अब हम नहीं सो सकते ।

सुवर्णा (निद्रा में) : क्यों ?

सगर : मान लो यदि तुम्हारे पिता और गुरुदेव में सन्धि न हो तो—

सुवर्णा : तो बड़ी कठिनाई होगी ।

सगर (भयभीत होकर) : मान लो, हम यहां से भाग चलें तब तो कोई डर नहीं रहेगा ?

सुवर्णा : मैं कैसे भाग सकती हूं ? यदि मैंने पिता को छोड़ दिया तो वे पागल हो जायँगे । किन्तु तुम ऐसा क्यों कह रहे हो ?

सगर (निराशा की हँसी हँसकर) : नहीं, यों ही मेरे मनमें विचार उठा था ! मैं तुम्हें तुम्हारे पिता से अलग कैसे कर सकता हूँ । (निश्चय करके) मैं जारहा हूँ । सुवर्णा ! अब दिन निकल आया होगा । मैं जारहा हूँ ।

सुवर्णा : ठहरो, अभी पौ नहीं फटी है ।

सगर (सुवर्णा को दृढ़ता से अलग करके) : प्रिये, अब बहुत देर हो गई ।

सुवर्णा (भयभीत नेत्रों से पर्वत की ओर देखती है जहाँ से रक्त वर्ण धुवाँ निकल रहा है) : वह क्या है ?

सगर (भयभीत होकर) : वह क्या है ?

सुवर्णा (कम्पित होकर) : तुम्हारे गुरुदेव कुपित हैं ।

धीरे-धीरे प्रातःकाल के उज्ज्वल प्रकाश में धुएँ की लाल-लाल लपटें पर्वत की ओर से आ रही हैं और शिखर से विद्युत्-घोष सुनाई दे रहा है ।

सगर (काँपते हुए) : सुवर्णा ! प्रिये ! मुझे जाने दो । कभी मेरा स्मरण कर लेना ।

सुवर्णा (उठ बैठती है) : यह क्या बात है ?

सगर (आंखों पर हाथ रखकर करुण स्वर से) : सुवर्णा ! मेरी प्रिये ! तुम्हें और धोखे में रखना व्यर्थ है । पूर्ण सौन्दर्य की तुम्हारी रात अब बीत चुकी । मेरा सुख समाप्त हो गया । (जाने को उद्यत होता है)

सुवर्णा (सगर के हाथ पकड़कर) : क्यों ?

सगर (शीघ्रता से) : सुवर्णा ! सन्धि के विषय में मैंने तुमसे जो-कुछ कहा वह सब मिथ्या था । गुरुदेव युद्ध के लिये कटिबद्ध हैं । शीघ्र ही चारों ओर से लपटें उठती दिखाई देंगी । प्रत्येक हैहय का अब अन्त होगा ।

सुवर्णा (कम्पित ओठों से) : स्वामिन् ! हमलोगों का क्या होगा ? तुमने मुझसे कहा था कि गुरुदेव यहाँ आयेंगे ।

सगर : हाँ, वे आयेंगे । (सुवर्णा को आलिंगन करके) सन्धि करने के लिए नहीं, किन्तु मेरे हाथों वीतहव्य का वध कराने के लिये । (सुवर्णा को दूर हटा देता है)

सुवर्णा : मेरे पिता का वध करने के लिये ! हा देव !

सगर : आओ चलें ! मुझे जाने दो । मैं तुम्हारे पिता को नहीं मारूँगा । मैं स्वयं मर जाऊँगा ।

सुवर्णा (उसके हाथ पकड़कर) : तुम यहीं ठहरो ! तुम्हें कौन स्पर्श कर सकेगा ?

सगर : उस ओर देखो । वहाँ ज्वालाएँ उठ रही हैं ।

(सुवर्णा उधर देखती है । दूर पर नगर में कोलाहल सुनाई पड़ता है)

सुवर्णा : यह क्या है ?

सगर : (दाँत पीसकर) हैहयों की हत्या ! मुझे जाने दो ।

सुवर्णा : पर क्यों !

सगर : मरने के लिए ।

सुवर्णा (रोती हुई) : स्वामिन् ! तुम मरने के लिये जा रहे हो ? तो ठहरो । मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगी । आओ हम भाग चलें ।

सगर (उसकी ओर देखकर) : यही तो मैं तुमसे कह रहा था । क्या तुम आ रही हो ?

(चबूतरे के नीचे से एक भयंकर स्वर सुनाई देता है)

और्व (अदृश्य होकर) : सगर ! मैं आगया हूँ ।

सगर (हाथों पर सिर पटककर) : मेरे देव !

सुवर्णा : यह क्या है ? किसने पुकारा ?

सगर (व्यग्रता से चारों ओर देखकर) : आओ हम भाग चलें। क्या कोई दूसरा रास्ता है ?

और्व (अदृश्य रूप में) : सगर ! तुम्हारे पिता—

सगर (काँपते हुए) : आओ, हम पीछे के द्वार से भाग चलें।

सुवर्णा (उसके पीछे दौड़ती हुई) : क्या यह बन्द है। पर यह है कौन ?

और्व (अदृश्य रूप में) : तुम्हारा गुरु और तुम्हारा आर्यावर्त्त।

सगर (सुवर्णा का हाथ पकड़ कर कान में कहता हुआ) : मेरे साथ आओ। हम चबूतरे के उस ओर दौड़ चलें।

सुवर्णा (भयभीत होकर भागती हुई) : आओ।

सगर : सुवर्णा ! इधर।

सुवर्णा (स्तब्ध होकर खड़ी हो जाती है) : स्वामिन् ? मेरे स्वप्न का वृद्ध मनुष्य यही है। (सगर मुड़ता है)

और्व चबूतरे के किनारे पर हाथ में जामदग्नेय परशु लिये खड़ा है। चारों ओर से अग्नि की ज्वालाएँ धधकती हुई दिखाई पड़ती हैं। दूर मनुष्यों का समवेत स्वर सुनाई पड़ रहा है। प्रासाद में बड़ा कोलाहल है।

और्व : मुझे अभी तर्पण करना शेष है।

सगर : गुरुदेव ! हे ईश्वर।

सुवर्णा : और्व ! हे अम्ब। (सुवर्णा मूर्च्छित हो जाती है)

और्व : अब उषाकाल हो गया। जामदग्नेय का यह दिव्य अस्त्र लो।

सगर (चकित होकर) : गुरुदेव !

और्व : इसे लो और विजय प्राप्त करो।

(वह सगर के हाथों में हठपूर्वक परशु दे देता है)

सगर का अंग-प्रत्यंग काँप रहा है, वह दाँत पीस रहा है और परशु को दृढ़ता से हाथ में पकड़े हुए है। उसे ऐसा जान पड़ता है मानो उसके शरीर से ज्वालाएँ निकल रही हैं। उसकी आँखें रक्तरंजित होगई हैं।

सगर (कठोरता से) : गुरुदेव ! आपको विजय की लालसा है। आपको वीतहव्य का मस्तक चाहिए। ठहरिये। मैं लाता हूँ। क्रूरता के अवतार ! आपकी इच्छा पूर्ण हो।

वह पागल की भाँति लौटता है। प्रासाद धुएँ से आच्छादित है। कोलाहल समीप चला आ रहा है। और्व के होठों पर मुस्कराहट है।

पागल की भाँति सगर लौट आता है। उसके हाथ में वीतहव्य का सिर है। उसमें से रक्त टपक रहा है। ज्वालाएँ चारों ओर दिखलाई पड़ती हैं।

और्व : देवो ! अम्ब ! गुरुदेव ! मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो रही है।

सगर (दैत्य की भांति हँसकर) : गुरुदेव ! यह एक सिर है जो आप चाहते

थे। (और्व के चरणों पर सिर फेंक देता है)। अभी मुझे आधा ऋण और चुकाना है जो गुरु-दक्षिणा के रूप में आपने मुझसे माँगा था। मैं आपको उससे भी अधिक दूँगा जो आपने माँगा है। ठहरिये! (वह सुवर्णा के बाल पकड़ कर उसका सिर झुकाता है और शस्त्र उठाता है)। ओह! (और्व उस पर झुकता है) ठहरिये। वह पहले से ही अपने पिता का अनुगमन कर चुकी है।

और्व के शिष्य (बिना दिखलाई दिये) : चक्रवर्ती सगर की जय!

और्व : तब वीतहव्य हैहयों का अन्तिम अवशेष था।

सगर (भयभीत स्वर में) : किन्तु मुझे अभी और भी गुरु-दक्षिणा देनी है।

(वह अपना वध करने के लिये शस्त्र उठाता है। बिजली चमकती है। ऊपर से गर्जन सुनाई देता है और सगर के हाथ से परशु लुप्त हो जाता है)। आह!

(वह पागल की भाँति चिल्ला उठता है)

और्व (सगर के कन्धों पर हाथ रखकर) : राजन्! जमदग्नि के प्रतापी पुत्र का महान् अस्त्र अपना कार्य समाप्त कर चुका। अन्तिम हैहय का नाश हो गया। मेरा कार्य भी समाप्त हुआ। अब मुझे तर्पण करना है। (मन्त्रोच्चारण करता है)

स्वधा (अमृत, घृत और दुग्ध लिये हुए) : तुम अपने पूर्वजों को सन्तुष्ट करो। (वह वीतहव्य के रक्त से तर्पण करता है) सगर शून्य भाव से देखता है! शंकुक, उग्र और दूसरे शिष्य आते हैं।

शिष्य : गुरुदेव की जय! सम्राट् सगर की जय।

और्व (विजय के स्वर में) : राजन्! आर्यावर्त्त की जय!

सगर उसकी छाती पर सिर झुकाकर निराशा से कहता है—"आर्यावर्त की जय!"

और्व सगर को खींच लेता है और उसके साथी जयघोष करते हुए अनुसरण करते हैं।

सामाजिक नाटक और उपन्यास

एम० एन० पराड्या

मुन्शीजी के प्राचीन रूढ़िवादी समाज के प्रति जो उग्र विचार हैं, उनकी झलक उनके सामाजिक नाटकों एवं उपन्यासों में यत्र-तत्र मिलती है। वे केवल किसी वस्तु या रीति-रिवाज का इसलिये आदर नहीं करते कि वे प्राचीनकाल से चले आते हैं। वर्तमान समय में व्यावहारिक दृष्टिकोण से यदि कोई प्रथा उन्हें समीचीन प्रतीत नहीं होती, तो वे निस्संकोच उसकी भर्त्सना करते हैं। उनकी इस तीव्र आलोचना से बहुत-से रूढ़िवादियों के सिंहासन डाँवाडोल हो गये हैं। अपने 'ब्रह्मचर्याश्रम' (१९३१) में उन्होंने व्यावहारिक स्तर पर ब्रह्मचर्य के आदर्श को महज़ एक आत्मवंचना सिद्ध कर दिया है। यह नाटक बड़ा सरस एवं मनोरंजक है। इसकी पृष्ठभूमि में यथार्थवाद के स्वर सुनाई पड़ते हैं। इस नाटक की रचना मुन्शीजी ने यरवड़ा जेल में की थी। इसके पहले दृश्य में जेल-जीवन की यह सजीव झाँकी मिलती है—

डाक्टर मधुभाई के हाथ एक लटका लग गया है जो मनुष्य को देवता बना दे। वह उसका सेवन करनेवालों की खोज करने लगे। उनके साथ सुशिक्षित लोग एवं व्यापारीवर्ग के बड़े-बड़े धनी-मानी सज्जन जेल में थे। उन्होंने अपनी 'रामबाण' औषधि का प्रचार करके उन सबको अपनी ओर खींच लिया। उन सबने मिलकर यह निश्चय किया कि जेल से मुक्ति पाते ही रेवा नदी के तट पर एक ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना करके अपना समस्त जीवन उसकी सेवा में लगा देंगे। डाक्टर साहब उन्हें ब्रह्मचर्य के प्रताप की गाथाएँ सुनाते न अघाते। कहते, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना एवं आजीवन ब्रह्मचारी रहना कुछ कठिन नहीं। उनका तो यहां तक विश्वास था कि पुरुष ब्रह्मचर्य रखकर नारी के अस्तित्व तक को भूल सकता है। समय बीत गया। वे सब जेल से मुक्त हुए। अब उन्होंने अपना प्रण निभाने के लिये एक आश्रम खोला। डाक्टर मधुभाई उनके उत्साह को समय-समय पर बढ़ाते रहते हैं।

कुछ समय पश्चात् एक दिन दाजी रसोइया बीमार पड़ गया। उसने अपने स्थान पर अपनी एक भतीजी पेमली को भेज दिया। पेमली का रंग-रूप सुन्दर था। उसे देखकर

आश्रमवालों के आसन डोल गये और परस्पर ईर्ष्या-द्वेष बढ़ने लगा। अन्त में सभी लोग आश्रम से अलग हो गये और डा० मधुभाई, जो नारी के अस्तित्व तक को भूल जाने की डींगें मारते न थकते थे, उस गँवारिन पेमली के प्रेम-पाश में फँस गये। आश्रम-वासी पेमली को अपना-अपना खाना पकाने के लिये जो नये-नये तर्क उपस्थित करते हैं तथा उसकी सेवा करने के जो कारण बताते हैं, उन्हें पढ़कर मुन्शीजी के विनोदी स्वभाव एवं उनकी लेखन-शैली का भली-भांति परिचय मिल जाता है। पेमली का चरित्र भी बड़े कौशल से चित्रित किया गया है—देहाती लहजा और तीखी अन्तर्दृष्टि। यद्यपि वह एक गँवार लड़की थी और उसने ब्रह्मचर्य का व्रत भी नहीं लिया था, उसे अपने आत्मसम्मान एवं सतीत्व का ध्यान बहुत-से आश्रमवासियों से भी अधिक था।

'पीड़ाग्रस्त प्रोफेसर' एक अन्य हास्यपूर्ण नाटक है। इसमे प्रोफेसर और उसके विद्यार्थियों के सम्बन्ध की अभिव्यंजना बड़े मार्मिक ढंग से हुई है। इसमें बताया गया है कि नैतिक-चरित्र में शिथिलता एवं विकार आ जाने से किस प्रकार स्थिति नियन्त्रण से बाहर हो जाती हैं। प्रोफेसर पीतमलाल के व्यक्तित्व एवं रूप से मोहिनी और वसुमति दोनों प्रभावित हो जाती हैं और वसुमति तो उस पर इतनी मुग्ध हो चुकी है कि वह अपने पति शमशेर बहादुर जोरावरसिंह की भर्त्सना करने लग जाती है। एक बार वे सब त्रिभुवन के निवास-स्थान पर एक पारिवारिक भोजन में सम्मिलित होने जाते हैं। वहां उसके मित्र डाकुओं के छद्म-वेश मे रात्रि में घर पर डाका डालते हैं। आत्म-श्लाघी परन्तु कायर जोरावरसिंह के साहस की पोल खुल जाती है। उसकी पत्नी वसुमति को बड़ी लज्जा आती है। इस विकट स्थिति में प्रोफेसर पीतमलाल घर की रक्षा करता है। उसके साहस और शौर्य से द्रवीभूत होकर वसुमति उसके साथ फरार हो जाने का निश्चय कर लेती है। पर सौभाग्य से जोरावरसिंह इस को ताड़ लेता है और पत्नी से कह सुनाता है। पति के शब्द उसके हृदय में बाण से लगते हैं और दम्पति बम्बई से चले जाते हैं। थोड़ी देर बाद पीतमलाल उसे लिवाने आया तो उसे ज्ञात हुआ कि वसुमति उसके लिये एक संदेश छोड़ गई है—"हम चले, नमस्कार!"

लेखक ने इस नाटक मे देहाती मकान में जोरावरसिंह का वास्तविक चित्रण एवं पीतमलाल को जो आत्म-प्रताड़ना सहन करनी पड़ी उसका बड़ा ही मार्मिक एवं सजीव चित्र उपस्थित किया है। प्रोफेसरों के प्रति विद्यार्थियों का क्या रवैया रहता है, और वनविहार के आमोद-प्रमोद के दृश्य तो पढने से ही सम्बन्ध रखते हैं।

'काकानी शशि' (१९२९) का विषय तनिक गम्भीर है। उसमें स्त्री की पदवी की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इस नाटक में महिला-सुधार-आन्दोलन को व्यंग्यपूर्ण ढंग से स्पर्श किया गया है। शशिकला, एक ग्रेजुएट नवयुवती, अपने अभिभावक के साथ रहती है। उसे इस बात का विश्वास दिलाया गया है कि वह अभिभावक उसका 'चचा' है। वयस्क होने पर उसे अपनी पितृ-सम्पत्ति मिलनेवाली थी और उसे अपने 'चचा' से अलग रहना होगा। बाद मे एक मर्मस्पर्शी स्थल पर उसे सारी बात का पता चल जाता है कि वे दोनों कौन हैं, वे कैसे मिले और उसके अभिभावक ने अपना वास्तविक परिचय अब तक क्यों नहीं

दिया। इससे वह उसके प्रेमपाश मे बंध जाती है। और उसे स्पष्ट दिखाई देने लगता है कि नारी अकेली नहीं रह सकती। उसके निश्चय और धारणाएं भी 'ब्रह्मचर्याश्रम' की मित्र-मण्डली के समान भोर का सपना बनकर रह जाती हैं।

'काकानो शशि' मुन्शीजी के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में गिना जाता है। भाषा, चरित्र-चित्रण, कथानक और घटना-चक्र सभी दृष्टि से यह अनूठा बन पड़ा है। हास्य और व्यंग्य यथोचित स्थानों पर ही मिलते हैं। शशिकला, नवीन नारी का प्रतीक है, उसका चरित्र-चित्रण बड़ा ही रोचक हुआ है। विचारों में आधुनिकता होते हुये भी उसके नारी का हृदय है। वह सबला एवं कुशाग्रबुद्धि है। उसे अपनी आवश्यकताओं एवं उनकी पूर्ति करने का ज्ञान भी है। नाटक के दूसरे पात्र भी सजीव एवं सोद्देश्य हैं।

सामाजिक नाटकों में तीन हैं। इसमें सामाजिक बुराइयों का दिग्दर्शन कराया गया है। इनमें से प्रथम नाटक 'बावाशेठनू स्वातन्त्र्य' में बावाशेठ अपनी चतुर स्त्री रेवा के कठोर नियन्त्रण से छुटकारा पाने की चेष्टा करता है। उसे एक नवयुवती मिलती है और वह चर्चगेट सैण्ड्स पर उसके साथ ऐसे-ऐसे मजाक करने लगता है जो उसकी आयु और गौरव के अनुकूल नहीं। बाद में उसे पता चलता है कि यह युवती राधा है —उसके अपने पुत्र की प्रेयसी एवं दामोदर देसाई की लड़की। वह उसके साथ शादी तक कर लेने की बात सोच लेता है और क्रूर पत्नी रेवा को यही धमकी देकर अपने अधीन कर लेता है। अन्त में राधा और मंगल दोनों का मिलन हो जाता है।

इस नाटक में तथा इस ग्रन्थ के अन्य दो नाटकों से कहीं-कहीं यह आभास मिल जाता है कि ये लेखक की प्रारम्भिक कृतियों में से हैं। इस नाटक तथा 'वे खराब जन' नाटक के कुछ दृश्य रंग-मंच पर प्रदर्शित करना थोड़ा कठिन है। इसके अतिरिक्त सम्वादों में भी वह सजीवता दिखाई नहीं पड़ती जो बाद के नाटकों में मिलती है। यह भी सम्भव है कि रेवा-जैसे पात्रों के लिये ही ऐसे सम्वाद जान-बूझ कर रखे गये हों। अस्तु।

'आज्ञांकित' एक व्यंग्य-पूर्ण नाटक है जिसमें बहुत-सी सामाजिक बुराइयों तथा मिथ्या कर्तव्य-भावना की खूब खिल्ली उड़ाई गयी है। इसमें उस जीवन का चित्र अंकित किया गया है जिसमें युवा स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध केवल अर्थलाभ के लिए जराजीर्ण, दुर्बल, एवं रोगी पुरुषों से ब्याह दिया जाता है, जबकि पुरुष भी पांचवीं शादी करते हिचकिचाते नहीं।

धीरजलाल एक अत्यन्त कर्तव्यपरायण और मर्यादा को माननेवाला नवयुवक है। वह अपनी मँगेतर सविता को तथाकथित कर्त्तव्य की वेदी पर बलि कर देता है। और उसकी बहन कमाली से विवाह कर लेता है। सविता को हरकिसनदास के हाथ बेच दिया जाता है। उसके पहले भी कई विवाह हो चुके होते हैं। वह उसे थोड़े दिनों में ही विधवा करके चल बसता है। अब ये दोनों लड़कियां सविता और कमाली अपनी असहाय अवस्था से क्षुब्ध हो उठती हैं। किन्तु व्यर्थ। इस नाटक में व्यर्थ दान देनेवाले लोगों के प्रति करारा व्यंग्य पाया जाता है।

यह नाटक ऐसे जीवन की एक बड़ी करुण किन्तु कठोर एवं व्यंग्यपूर्ण व्याख्या है।

लेखक नाटक के प्रारम्भ में यह स्पष्ट कर देता है कि जब तक समाज की यह दशा रहेगी ऐसे नाटक एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता के पूरक सिद्ध होते रहेंगे। ऐसे नाटकों के लिये यथार्थ-वाद अपेक्षित है। धीरजलाल मिथ्या आज्ञापालन की कहावत बनकर रह गया है। उससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। कभी-कभी तो यह अनुभव होने लगता है कि धीरजलाल कर्त्तव्य भावना की अपेक्षा भय-भावना से अधिक पीड़ित है।

तीसरा नाटक 'आह्लादकारी एवं काल्पनिक' सुखान्त है। 'बे खराब जण' नाटक में आधुनिक पीढ़ी के सुदृढ स्वभाव का चित्र मिलता है। यहां रम्भा विनम्र एवं भाग्य के सामने नतमस्तक होनेवाली महिला नहीं अपितु साहसिक एवं सबला स्त्री है। वह इंगलैंड से वापस आये एक अन्य धनवान एवं प्रतिष्ठित रामदास डाग्लोवाला की अपेक्षा एक नवशिक्षित डाक्टर मोहन से प्रेम करती है जो कि साहसी, विनोदी, निश्चिन्त एवं सुशील युवक है।

घर से भाग निकलने के पुराने ढंग इसमें नहीं दिखाये गये। किसी एक पक्ष की मूर्खता क्रिया को सजीव रखती है। यद्यपि यह सबसे लम्बा नाटक है, परन्तु क्रिया एवं सम्वादों में कहीं शिथिलता नहीं आने पाई। विनोदकारिणी परिस्थितियों की भी इसमें कमी नहीं। रम्भा अपने पिता के साथ मोटरकार में बैठ कर विवाह-मण्डप में जा रही होती है कि वरली के पास आकर इंजन बिगड जाता है और रम्भा को एक अवसर हाथ लग जाता है। संयोग-वश डाक्टर मोहन मिल जाते हैं। पिता को अपनी लड़की के भाग जाने की खबर तक नहीं होती और वह थोड़ी देर बाद मोटर लेकर चला जाता है। वह बड़ी देर से विवाह-मण्डप में पहुँचता है, परन्तु रम्भा के बिना। विवश होकर विवाह स्थगित करना पड़ता है। मेहमान अपने-अपने घरों की राह लेते हैं। रम्भा बाद में मिल जाती है और वह पत्रकारों को डाक्टर मोहन से विवाह करने की सूचना दे देती है। यह समाचार मुखपृष्ठ पर छपता है। उससे सारे शहर में सनसनी फैल जाती है। प्रतिकार एवं इन्कार करने के बावजूद लोग तथा निराश रामदास भी इस सम्वाद को सही मानते हैं। रम्भा ने उसे बताया कि यदि अब उसके साथ विवाह कर ले तो यह बहुपति-प्रणाली में आ जायगा जिसके लिये सरकार की ओर से भारी दण्ड नियत है। वह बेचारा अपना-सा मुँह लेकर चला जाता है और रम्भा आनन्द से डाक्टर मोहन के साथ रहने लगती है।

इस प्रकार की ग्रन्थियाँ भले ही असम्भव जान पड़ें, कुछ पात्रों का व्यवहार भले ही उद्वेगकारी हो; परन्तु नाटक आरम्भ से अन्त तक मनोरंजन का स्रोत बना रहता है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि विनोदप्रियता मुन्शीजी की एक बड़ी विशेषता है। वह इसका यथावसर व्यंग्य एवं आनन्द उत्पन्न करने के लिये प्रयोग करते हैं। साहित्य सदा से जीवन की प्रतिच्छाया रहा है और इन नाटकों में प्राचीन तथा आधुनिक दोनों समाजों की अभिव्यंजना हुई है। लेखक ने जीवन का अध्ययन करने में बड़ा परिश्रम किया है। उसने जीवन के आनन्द, कष्ट, समयानुसार विवाह-प्रणाली में सुधार, वर्त्तमान युग में नारी के आदर्श तथा पदवी का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। अपनी बात पर बल देने के लिये वह कभी-कभी अत्युक्ति का आश्रय भी ले लेता है। उसने अपने नाटकों में गुजराती

नाटक की रूढ़ियों का परित्याग करके एक नये आदर्श की स्थापना की है। गीत तो इनमें प्रायः नहीं के बराबर हैं। इस प्रकार ये नाटक प्राचीन नाटकों की अपेक्षा वर्त्तमान एकांकियों के अधिक निकट हैं। कथोपकथन बड़ा सजीव तथा स्वाभाविक है, और परिस्थितियां भी ऐसी लाई गई हैं जो जीवन में आती रहती हैं। नई पीढ़ी का प्राचीन सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह और उपेक्षाभाव कुछ एक नाटकों का केन्द्र-बिन्दु है।

स्त्री-पात्र पुरुष-पात्रों की अपेक्षा अधिक शौर्यवान, बातूनी तथा समझदार चित्रित किये गये हैं। वे लजीले तथा एक कोने में दुबक कर बैठे रहनेवाले नहीं, बल्कि उनमें अधिकतर सुशिक्षित हैं जिनकी अपनी इच्छाएँ हैं और अपनी आकांक्षाएँ। वे अत्याचार या अन्याय के सम्मुख झुकना नहीं जानते। उनके समक्ष एक ही मूलमन्त्र रहता है कि सदा अपने प्रति सच्चे रहो। वे अपनी धारणा की रक्षार्थ परिस्थितियों से अन्त तक जूझने को तैयार रहते हैं। किन्तु धारणा की यह महानता और कथोपकथन की यह सजीवता लेखक के पौराणिक नाटकों या ऐतिहासिक उपन्यासों में दृष्टिगोचर नहीं होती। सम्भवतः इनमें चलते सामाजिक नाटकों की-सी बात कही भी नहीं जा सकती थी।

सारांश यह कि मुन्शीजी ने अपने इन नाटकों में जीवन के कुछ कटु सत्य दर्शाये हैं। उन्होंने सत्य से पराङ्मुख होने की चेष्टा तक नहीं की। ऐसा करने में उन्होंने सरल हास्य और करुणा में अपने सुझावों तथा न्याय की पुट मिलाकर गुजराती-भाषी समाज को ऐसा नाटक-साहित्य दिया है जिसे वह गर्व के साथ स्मरण रखेगा।

: : :

सामाजिक उपन्यास

मुन्शीजी के चार सामाजिक उपन्यासों में 'वेर नी वसूलात' सब से पहले सन् १९१९ में प्रकाशित हुआ था। इसकी भूमिका में लेखक ने यह बताया है कि उसे जिन-जिन व्यक्तियों से मिलने का अवसर मिला, तथा जो-जो दृश्य उसने देखे एवं जो-जो भावनाएँ उसके मन में उठीं, उन्हें साकार रूप देने का यत्न इसमें किया गया है। इसके तीन भाग हैं। इसमें विषय भी कई प्रकार के आ गये हैं। मुन्शीजी ने लिखा है कि उन्हें इस पुस्तक के लिये उतना ही प्यार है जो माता-पिता को अपनी पहली सन्तान के लिये होता है। गुजराती संस्करण के कुछ वर्ष बाद 'रेवेन्ज इज़ माइन' नाम से इसका अँगरेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ।

इस उपन्यास में गुजराती उपन्यासों की पुरानी शैली को ही अपनाया गया है। कुछ समय तक तो कथानक रत्नगढ़ राज्य के षड्यन्त्रों के इर्द-गिर्द ही घूमता है। इसमें हिन्दू-परिवारों का गृह-जीवन एवं साधुओं के जीवन एवं कार्यों का वर्णन मिलता है। परन्तु एक दूसरे दृष्टिकोण से यह कथानक नई लीकों पर चलने का दिशाबोध कराता है।

जगतकिशोर अपने स्वर्गीय पिता के मित्र रघुभाई के घर अपनी विधवा माँ गुणवती के साथ रह रहा है। एक रात अचानक उसे वहाँ से निकाल दिया जाता है। रघुभाई गुणवती को कुदृष्टि से देखने लगा था। यद्यपि उसे इस अचानक निर्वासन का कारण नहीं बताया

जाता, फिर भी जगतकिशोर के कोमल हृदय में रघुभाई के प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव जाग्रत हो जाता है। इसके कुछ वर्ष बाद जब उसने रघुभाई को अपनी माता की मृत्यु-शय्या पर उसे ललचाई नज़रों से ताकते देखा, तो उसकी वैर-भावना ने और भी तीव्र और उग्र रूप धारण कर लिया। वह उससे इसका प्रतिकार लेने की शपथ खाता है। वैसे अपनी इस कटुता का वास्तविक कारण उसे अब भी ज्ञात नहीं।

इस बीच में वह अपने बचपन की परिचिता तनमन को, जिसे वह प्रेम करता था, खो बैठता है। उसने उसे वचन भी दिया था। उसे डरा-धमका कर ज़बर्दस्ती सेठ करमदास त्रिभुवनदास के साथ ब्याह दिया जाता है। तनमन की सौतेली माँ गुलाबबाई और श्यामदास ने मिलकर यह सब काण्ड रचा।

तनमन बम्बई आकर अपने जीवन के दिन काटने लगी। उसे किसी सुसंस्कृत समाज में जाने की आज्ञा नहीं थी। हाँ, अपने किरायेदार रघुभाई की लड़की रमा के कारण उसे कुछ सन्तोष मिल जाता है। रघुभाई रत्नगढ का दीवान-पद पाने में सर्वथा निराश हो बम्बई आकर रहने लगा है। रमा तनमन के अन्तिम क्षणों तक उसके प्रति निष्ठावान रही। तनमन शीघ्र ही इस संसार से चल बसी। सच तो यह है कि तनमन के अन्तिम दिनों में रमा ही उसकी एकमात्र विश्वासपात्र सहेली थी।

अब जगत्किशोर का मन दुनिया से उचाट हो चला था। उसकी माँ और उसकी प्रेयसी तनमन दोनों नहीं रहे थे। उसने अब आत्महत्या करने का विचार किया। परन्तु वराट मठ के स्वामी अनन्तानन्द के प्रयत्न से वह बच गया। अब उसने अपनी सारी शक्ति आश्रम की आर्थिक दशा के सुधारने में लगा दी। उसे यहाँ आध्यात्मिक पुनर्जन्म प्राप्त हुआ। अब उसे सिद्धनाथ के नाम से पुकारा जाने लगा था। मठ के कार्यों में रघुभाई बाधा उपस्थित करने लगा। वह मठ और रत्नगढ राज्य का नाश करने पर तुला हुआ था। अब जगतकिशोर को पता लगा कि आश्रम और उसका अपना हित इस में है कि रघुभाई को वहाँ से उखाड़ फेंका जाय। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वह बम्बई आ गया और रघुभाई से मैत्री जताने लगा। रघुभाई ने इस आशा से कि वह शायद उसकी लड़की रमा से शादी कर लेगा, उससे मिलते रहने की राह खोल दी। जगत्किशोर को और क्या चाहिये था। वह तो बाद में रमा से शादी करने से इन्कार करके उसे ठेस पहुँचाना चाहता ही था। उसने सोचा कि रमा का मासूम दिल तोड़ना तथा उसके पिता को मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाना एक प्रतिकार मात्र है। उसकी माँ ने भी रघुभाई के हाथों कुछ कम कष्ट नहीं झेले थे। परन्तु रघुभाई ऐसी चिकनी मिट्टी का नहीं बना था। वह बड़ा स्वार्थी था। जगतकिशोर के इन्कार से उसका नहीं, बल्कि बेचारी रमा का दिल टूट गया।

इस बीच में, उधर एक क़त्ल की वारदात हो गई। और आत्मानन्द ने जो कि घटनास्थल को देखने आया था, जगत्किशोर को भागते हुए देखा। उसे इस से सन्देह हो गया कि हो न हो जगतकिशोर ने ही यह हत्या की हो। और वह प्रतिहिंसा की भावना से कुछ जल्दबाज़ी कर बैठा हो। उसे और संस्था को नाश होने से बचाने के लिये उसने

सारा दोष अपने ऊपर ले लिया। उसे यह नहीं मालूम था कि अपराधी जगत्‌किशोर नहीं, बल्कि तनमन की सौतेली माँ गुलाब है। इसके पश्चात् जब जगत्‌किशोर आत्मानन्द से मिला तो स्वामी ने उस से कहा कि प्रतिहिंसा का विचार छोड़ कर वह विवाह कर ले। उसने उसे बड़ी मधुर भाषा में बताया कि प्रतिहिंसा तो अपने-आप हो जाती है। दूसरों को अप्रसन्न एवं खिन्न बनाने तथा अपने-आप दुःखी होने में कुछ विशेष अन्तर नहीं। यह दोनों भावनाएँ अन्योन्याश्रित हैं।

स्वामी अनन्तानन्द के अन्तिम शब्दों ने जगतकिशोर का जैसे हृदय-परिवर्तन कर दिया। वह उनके परामर्श को मानकर रमा से विवाह कर लेता है और इस प्रकार उसके जीवन में प्रकाश ला देता है।

तनमन और करमदास की शादी के साथ-साथ बहुत-सी घटनाएँ हुईं। जब उसका पिता मृत्यु-शय्या पर पड़ा होता है, उसकी लड़की की शादी एक आवारा से हो जाती है। यह बोझ उसके लिये बहुत भारी है। शरीर दुबला-पतला और मन सचेतन जो कि मर्मान्तक पीड़ाओं से पहले ही दुर्बल पड़ चुका है। लड़की विवाह-मण्डप में बेहोश हो जाती है। इससे अधिक उसे वे कटु स्मृतियाँ काँटे की तरह चुभ रही हैं जब कि वह अपने पति के घर में थी। उधर जगतकिशोर के मन में कामनाओं का ज्वार उभर रहा है और हमारी सब सहानुभूति उसके साथ हो जाती है। जब वह अनन्तानन्द के मिलने के बाद एक अद्‌भुत आध्यात्मिक परिवर्त्तन का अनुभव करने लगता है और आश्रम से सिद्धनाथ होकर निकलता है, तो हमारी दृष्टि में उसका सम्मान और भी बढ़ जाता है।

गुलाब, श्यामदास, रघुभाई और करमदास जैसे छोटे-मोटे पात्र तो उपन्यास के अन्त होने तक समाप्त हो जाते हैं। स्वामी अनन्तानन्द के निरीक्षण में वराट के मठ के कार्य-कलाप के वर्णन से उपन्यास में बड़ी सजीवता एवं सरसता आगई है। इस आदर्श गाँव में निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा दी जाती है तथा विद्यार्थी के मन एवं स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उसे आत्म-निर्भर होने को तैयार किया जाता है। अनन्तानन्द यहाँ संसार को बताता है कि धन किस प्रकार व्यय करना चाहिये। उसने लोगों तथा आस-पास के वातावरण में एक प्रकाश, एक उत्साह एवं एक महानता भर दी है।

अपने दूसरे उपन्यास 'कोनो वांक' में मुन्शीजी ने विधवा की दशा, बेजोड़ शादी तथा जात-पात के बन्धन-जैसी अनेकों सामाजिक कुरीतियों को उघारने का यत्न किया है। पुस्तक का नाम ही बड़ा महत्त्वपूर्ण है। बहुत-से लोग बुरी तरह कष्ट पाते हैं, लेकिन उसका दोषी कौन है? इसकी भूमिका में मुन्शीजी ने लिखा है, जबतक समाज की नींव नारी की असहायावस्था, पर-निर्भरता एवं कष्ट पर खड़ी है, जब तक हम विवाह के प्रश्न को स्वाभाविक ढंग तथा साफ तरीके से नहीं लेते, जब तक पुरुष-समाज रूढ़िवाद के चक्रव्यूह में फँसा हुआ है, जबतक समाज मानव-हृदय को उभारने की अपेक्षा उसे कुचलने में अपना गौरव समझता है, तब तक ये कहानियाँ अनुपयुक्त एवं सारहीन नहीं मानी जायँगी।

इस उपन्यास में लेखक ने सामाजिक अत्याचार एवं रूढ़िवादिता के दो शिकारों का

बड़ा सफल चित्रण किया है। यद्यपि यह उपन्यास भी 'वेर नी वसुलात' के समान है। गम्भीर परिस्थितियों एवं विषमताओं से भरपूर है, तथापि कहीं-कहीं विनोद और हास्य की रेखा सारे वातावरण को जैसे मुस्करा-सी देती है।

संक्षेप में कथा का सार यों है—मणी का आठ वर्ष की अल्पायु में विवाह कर दिया गया था। वह विवाह के एक मास पश्चात विधवा हो गई। कुछ समय के बाद उसे अपने ससुराल भेज दिया जाता है जहाँ वह उनकी गुलामों के समान सेवा करती। उसे अत्यन्त कठिन कार्य करना पड़ता। वह प्रशंसा की एक मुस्कान के लिये तरसती है। कोई उसे उत्साह दिलानेवाला न था और न ही कोई उसके काम म हाथ बँटाता था। अपने-आप से निराश वह किसी प्रकार जीवन के दिन पूरे करती रही। उसके एक लड़की हो गई जो उसके यौवन की एक लड़खड़ाहट का फल था। अब वह उसे लेकर स्थान-स्थान पर घूमने लगी। कोई इसे आश्रय न देता, बल्कि उसे तिरस्कार और दुत्कार ही मिलती। वह एक चरित्रहीन स्त्री तुंगभद्रा के जाल मे फँस गई। वहाँ से किसी प्रकार बच निकली तो उसे मुचुकुन्द के यहाँ आश्रय मिला। मुचुकुन्द वकालत पढ़ रहा था। उसने उसके साथ विवाह करना चाहा, पर उसके माता-पिता कब माननेवाले थे। समाज में नाक न कट जाती। मुचुकुन्द को उन्हीं की बात माननी पड़ी और उसकी शादी एक अनपढ़, झगड़ालू और गँवार लड़की से कर दी गई। काशी ने मुचुकुन्द के जीवन को क्लेशयुक्त बना डाला। जब वह रोगि-शय्या पर पड़ा, तो उसे छोड़ कर चली गई। उधर मणी की प्रिय लड़की सुरेखा भी चल बसी जिसके कारण उसे इतना अपमान और अनादर सहना पड़ा था। पर मणी अब भी उसी उत्साह और लगन से काम किये जा रही थी। उसकी तपस्या से मुचुकुन्द के प्राण बच गये। मणी ने अपने समस्त साधन मुचुकुन्द की सेवा में लगा दिये। इसी दौड़धूप में उसे अपनी प्रिय सन्तान के जीवन से हाथ धोने पड़े, परन्तु मुचुकुन्द को बचा लिया। मुचुकुन्द ने उसकी संकट के समय सहायता की थी। ऐसी कृतज्ञ भावना, त्याग, आत्म-विसर्जन और अखंड स्वामि-भक्ति संसार मे कहाँ है। ये गुण मणी को हमारी दृष्टि में ऊँचा उठा देते हैं। उसने मुचुकुन्द का काशी से विवाह हो जाने के पश्चात उन्हीं के यहाँ ठहरने का परामर्श किया। मुचुकुन्द ने और कई विकल्प बताये; परन्तु मणी ने उन पर विचार नहीं किया। जब कुछ वर्षों बाद काशी मर गई तो मुचुकुन्द ने मणी से विवाह कर लिया।

समस्त कथा मे सामाजिक बुराइयों की अन्तर्धारा बड़े वेग से प्रवाहित है। मणि का दुःखपूर्ण जीवन ही उसकी परिस्थिति का आकर्षण-बिन्दु बन जाता है। जब उसे उसके पति की मृत्यु के सम्बन्ध में बताते हैं तो वह बड़ी सरलता से पूछती है—"हाँ, लेकिन इससे मुझे क्या " इस प्रकार के बाल-विवाह और विधवा के साथ किये गये व्यवहार हमारी सहानुभूति और क्रोध दोनों भावनाओं को जाग्रत कर देते हैं।

वरजिनिया वुल्फ के शब्दों में कहानी में यथार्थता अवश्य रहनी चाहिये और यथार्थता मे जितनी सचाई होगी, कहानी उतनी ही श्रेष्ठ होगी। कहानी एक झींगुर के जाल के समान है। वह इतना नर्म तो होता है साथ ही चारों ओर के जीवन से भी सम्बद्ध होता है। इस

दृष्टिकोण से परखने पर मुन्शीजी के उपन्यासों में सभी बातें पूरी उतरती हैं। उपन्यास के कथानक के लिये वह अपने आस-पास दृष्टि डालकर अपने निरीक्षण को कागज पर उतार देते हैं। शब्दों में जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाने में वह सच्चे और सिद्धहस्त हैं। जिसे जीवन-कथा के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान है वह इस उपन्यास के अन्तर्भाव से तुरन्त सहमत हो जायगा। मणी के कष्ट और विपदा कहीं कृत्रिम या अत्युक्तिपूर्ण ढंग से वर्णित नहीं हुए।

इन सब संकटों में से मणी कुन्दन होकर निकलती है। मणी का चरित्र महान् है। उसने गम्भीरलाल को, जो उसे ले उड़ने की सोच रहा था, विवाह के लिये निमन्त्रित किया। उसने काशी को पुनः अंगीकार कर लेने की प्रार्थना की। तुङ्गभद्रा के घर से बचकर निकल जाना उसकी कीर्ति में और भी वृद्धि कर देता है। यह उसी की अनथक सेवा और त्याग का फल था कि मुचुकुन्द को पुनः जीवन और आनन्द के दर्शन हुये। वह केवल एक पवित्र नारी ही नहीं, अपितु एक श्रेष्ठ चरित्र है। वह स्वयं 'शिव' है और दूसरों को 'शिव' बनानेवाली है। उसने गम्भीरलाल, चन्दूलाल और प्राणशंकर जैसे धूर्तों को भी सन्मार्ग पर लगा दिया।

मुचुकुन्द के प्रति उसका प्रेम सच्चा, गम्भीर और शाश्वत था। पार्थिव रूप से विवाह-बन्धन में बँधने से पूर्व उनका आध्यात्मिक विवाह हो चुका था। उनका प्रेम सच्चा है। परिस्थितिवश भी उसमें परिवर्तन नहीं आता। यह सही है कि उनका प्रेम का मार्ग कुछ समय तक प्रशस्त नहीं रहा, फिर भी मणि के मन में कभी संकोच नहीं आया। कभी उसने मुचुकुन्द पर सन्देह नहीं किया। वह आगे ही आगे बढ़ती गई।

उपन्यास के पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़ी विशदता से हुआ है। योगी, जिसके आश्रम में मणी कुछ समय के लिये आश्रय पाती है, 'वेर नी वसुलात' के स्वामी अनन्तानन्द के सर्वथा विपरीत प्रकृति का है।

गम्भीरलाल, चन्दूलाल और जोग भगत सब अपने-अपने स्थान पर खूब हैं।

उपन्यास में कुछ त्रुटियाँ भी हैं। लेखक ने भूमिका में इसे स्वीकार भी किया है। वैसे तो महाकवि होमर को भी यह बात स्वीकृत करनी पड़ी थी। पर ये त्रुटियाँ कुछ इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं। उदाहरण के रूप में हमें एक स्थान पर बताया जाता है कि मुचुकुन्द की पहली स्त्री काशी अनपढ़ है और वह पत्र पढ़वाने के लिये अपने पड़ोसी को बुलाती है। इसके कुछ पन्नों के बाद उसे अपने माता-पिता को पत्र लिखते दिखाया गया है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि मुचुकुन्द काशी पर अपना कुछ प्रभाव डाल ही नहीं सका। मणी स्वयं एक स्थान पर मुचुकुन्द को बताती है कि वह बाल-विधवा है। परन्तु इसके कुछ समय पश्चात् जब उसे फिर यह ज्ञान होता है तो उसे मर्मपीड़ा होती है। समय और परिस्थिति बहुत दूर तक अपने पंख फैलाये दीखती हैं। राय साहब गम्भीरलाल को जो कि मणी के पतन का कारण था, बाद में समाज-उद्धारिणी सभा के प्रधान, मीठा कुवाँ के मामलतदार के रूप में दिखाया जाता है। वैधानिक प्रश्न के उठने पर उसी के घर मणी को ले जाया जाता है। वह कुछ समय बाद बम्बई में आ जाता है। वह तुंगभद्रा के घर पर ठहरा हुआ है जहाँ मणी ऋण लेने के लिये जाती है। यह बात

भी ध्यान देने की है कि चन्द्रलाल मुचुकुन्द का स्वामी, उसके पिता का मित्र है। तुंगभद्रा के मकान से मुक्ति दिलानेवाला मुचुकुन्द उसे यहीं से ले गया था। वह मणिकर्णिका का साला और जिस स्कूल में मणि अध्यापिका है, वहाँ का इन्सपेक्टर भी है। पात्र यथास्थान सुन्दर और उपयुक्त हैं। जहाँ जैसे पात्र की आवश्यकता है, वहाँ वह विद्यमान है। योगी को आमोद मनाते देखकर कुछ खेद अवश्य होता है और मणी जब योगी को बताती है कि विवाह के तीन मास तक उसका पहला पति जीवित रहा, तो बड़ा आश्चर्य होता है क्योंकि शुरू मे यह बताया गया है कि मणी एक मास पश्चात् विधवा हो गई थी।

परन्तु यह साधारण त्रुटियाँ है। इतने बड़े ग्रन्थ मे इस प्रकार की भूलें हो जाना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त पाठक को एकदम इनका पता भी नहीं चलता। और इन सब की कसर उसे पुस्तक को विशेषताओं एवं हास्य-विनोद मे पूरी हो जाती है।

मुचुकुन्द का बाप, प्राणशंकर पंड्या जब संस्कृत और गुजराती भाषा को मिलाकर बोलता है, तो बड़ी हँसी आती है। आत्म-विज्ञापन के लिये डाक्टर धनेशचन्द्र और वकील मारुति जो-जो साधन और युक्तियाँ अपनाते है, कष्टनष्टेश्वर के मन्दिर मे रात का दृश्य, ऐसे बहुत से हास्य-दृश्य पुस्तक मे यत्र-तत्र मिलते हैं। परन्तु यह हास्य शुद्ध या हल्का नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे लेखक ने लिखने से पहले कलम को शुष्कता मे भिगो लिया हो।

सामाजिक अत्याचार एवं अन्याय को लेखक ने बड़ी तीव्रता से उभारा है। यह पुस्तक आँखें खोल देती है। मुन्शीजी ने एक स्थान पर लिखा है कि इस संसार में अगणित 'मणि' एवं 'मुचुकुन्द' रहते हैं जो पशुओं के समान जीवन बिताकर चल देते हैं और समाज के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। इस घोर अत्याचार का उत्तरदायी कौन है? 'वेरनी वसुलात,' में तन-मन का विवाह उसकी इच्छा के प्रतिकूल करमदास से हो जाता है। यहाँ मुचुकुन्द को उसी मार्ग का अनुसरण कर घृणास्पद काशी को अपनी पत्नी बनाना पड़ता है।

'स्वप्नद्रष्टा' में भारत की बीसवीं सदी की प्रथम दशाब्दी के राजनीतिक जीवन की झाँकी है। वह बंग-भंग के दिन थे। स्वदेशी और बायकाट का आन्दोलन बहुत ज़ोरों पर था। भारतीय जनता की भावनाएँ उग्र रूप धारण कर चुकी थीं। उनमें राजनीतिक चेतना चमक उठी थी। लेखक को सम्भवत: अपने बड़ौदा कालेज के विद्यार्थी-जीवन के दिन याद हैं। उसने इन तूफ़ानी दिनों और राजनीतिक आन्दोलन का बड़ा विशद वर्णन किया है।

सुदर्शन, जोकि इस ग्रन्थ का नायक है, होश सँभालते ही सपनों के संसार मे रहने लगा था। इससे उसकी सुप्त राजनीतिक भावना को बड़ी उत्तेजना मिली। उसे सब पुस्तकें और दृश्य अपनी भावना को जगाते हुए मालूम पड़ते और जब वह अभी कालेज में बी० ए० में शिक्षा पा रहा था तो उसे श्री अरविन्द घोष का दर्शन करने तथा उनका भाषण सुनने का अवसर मिला। उसे अनुभव हुआ कि अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने का अवसर आ चुका है। भारतमाता ने उसे अपना स्वामी पाने को आमंत्रित किया। उसने अपने मित्रों को इकट्ठा करके एक निश्चित समय में स्वाधीनता प्राप्ति की योजना बनाई। वह अपने दृष्टिकोण में बड़ा आत्म-विश्वस्त था। स्वतन्त्र भारत का विचार उसके मन एवं मस्तिष्क में ऐसा समा गया था कि उसने अपने

जीवन में किसी नारी के लिये स्थान ही नहीं रखा था। उसने माता-पिता के सुलोचना के साथ विवाह कर लेने के प्रस्ताव को भी अस्वीकृत कर दिया था। और सच तो यह है कि सुलोचना, जो कालेज की एक छात्रा थी, ऐसे खोये-खोये से मूर्ख से विवाह करना अपने गौरव के विपरीत समझती थी। उसने भी उसकी परवाह नहीं की।

सुदर्शन अपने मित्रों—केशव, मोहनलाल पारेख और अम्बालाल देसाई के साथ दिसम्बर १९०७ में इंडियन नेशनल कांग्रेस के सूरत-अधिवेशन में सम्मिलित हुआ और अपनी आँखों से लोकमान्य तिलक और सर फीरोजशाह मेहता के दो दलों की धमचख को देखा। डा०रासबिहारी घोष सभापति थे। उन्हें अनुभव हुआ कि मुक्ति-दिवस आ पहुँचा है। नयी उषा मुस्करा रही है। प्रोफेसर कापड़िया के ये शब्द भी कि उसके सब प्रयत्न निष्फल हैं, तथा उसके मित्र टूटे बाँस हैं जिनसे एकनिष्ठता की मधुर तान नहीं निकल सकती, उसे हताश न कर सके।

अगले वर्ष ३१ जनवरी को उन मित्रों की एक बैठक बुलाई गई जिसमें कार्य-क्रम निश्चित किया जाना था। परन्तु कुछ ही दिन पूर्व सुदर्शन ने देखा कि वे सब देशभक्त मित्र अपनी जगह से हिल चुके हैं। किसी ने कुछ बहाना किया, किसी ने कठिनाइयों का हौवा सामने रखा, परिणामतः बैठकवाले दिन सुदर्शन अकेला रह गया। उसकी समस्त धारणाएँ और सपने टूट गये। प्रोफेसर कापड़िया ने ठीक ही कहा था। वे सब अभी राजनीतिक क्षेत्र में बच्चे ही थे। ऐसी मनोदशा में उसने समस्त योजनाओं को, जोकि रात-दिन करके तैयार की थीं, दियासलाई दिखा दी।

अब वह अपने पिता की इच्छा-पूर्त्ति के लिये अग्रसर हुआ। उसने बैरिस्टरी की परीक्षा पास कर ली और सामान्य जीवन बिताने लगा। कल्पना और कला के विचार से कहानी महान् है। एक महागाथा के समान उसका बीच से प्रारम्भ होता है। सुदर्शन को स्वप्नद्रष्टा बनानेवाले आरम्भिक वर्षों का वृत्तान्त अत्यन्त रोचक एवं कलापूर्ण है। इसे पढ़कर कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि के पैंतीसवें गीत का स्मरण हो आता है जिसके प्रारम्भ के बोल हैं—"जहाँ मन निर्भय रहे और मस्तक ऊँचा रहे।"

उन दिनों के प्रसिद्ध व्यक्तियों तथा ऐतिहासिक घटनाओं के यथार्थ का है। वर्णन से पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ गया है। इस पुस्तक में हास्य भी बहुत ऊँचे स्तर प्रोफेसर कापड़िया का परिचय कमाल का है। उससे आनन्द मिलता है। प्रोफेसरों को आम तौर पर लोग खोये हुए से बताते हैं; परन्तु उसका सांसारिक ज्ञान कितना बढ़ा-चढ़ा है। जिस प्रकार फेफड़े वायु से प्राण प्राप्त करते हैं उसी तरह वह पुस्तकों से ज्ञान पाते हैं। गिरिजाशंकर शुक्ल के मनसूबों में कितनी सादगी है, भोलापन है। नारायण भाई ट्रेन में बैठे-बैठे अपने आप से जो बातें करता है, उसका रस अत्यन्त दुर्लभ है। इसी प्रकार सेठ या भाई का मिस्टर स्मिथ की चापलूसी करना—इन सब का अन्त चाहे कैसा ही हुआ हो, पर इसमें हास्य की जो पुट है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

और इन सब के ऊपर सुदर्शन का व्यक्तित्व है। मिल्टन के समान वह भी अनुभव करता था कि वह संसार में महान् कार्य करने के लिये पैदा हुआ है। वह गो-ब्राह्मण का रक्षक

तथा अपने देश की महानता एवं वैभव का सूत्रधार होगा। यदि वह कुछ कर नहीं सका, तो इसका दोषी वह नहीं प्रतीत होता, बल्कि किसी और ही के कारण ऐसा हुआ है। अन्त में जब इस भौतिकवादी संसार की निपट यथार्थता उसकी आँख खोल देती है और उसका भ्रम दूर हो जाता है, तो हम भी उसके दुःख में भागीदार बन जाते हैं। हमें कभी-कभी उस पर दया भी आती है, उससे सहमत भी नहीं होते, परन्तु कभी उसे दोष नहीं देते—वह हमारे व्यक्तित्व, हमारी दुर्बलताओं या सीमाओं का एक अंग बन जाता है।

'स्नेह सम्भ्रम' कल्पना और कला की दृष्टि से इससे सर्वथा भिन्न है। इसमें हास्य की पुट प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। प्रोफेसर पीतमलाल और शमशेर बहादुर जोरावरसिंह की पत्नी वसुमति के बीच जो सम्बन्ध है उसका उसके साथ भाग जाना और उसका अन्त—ये सब मनोरंजनार्थ कहानी-पाठकों के लिये बड़े काम की चीज़ें हैं। त्रिभुवनदास के बंगले पर जोरावर-सिंह से किया गया परिहास इस कहानी का सर्वश्रेष्ठ स्तर है। कलहशील, श्रीमती धनकोर पीतमलाल तथा सरल सुन्दरी वसुमति एवं काकी जसकोर के तीखे व्यंग्य—इन सब के चरित्र में कितना अन्तर है। पाठक नारी-स्वभाव, उसकी भावनाओं एवं अनुभूतियों के सागर में गहरा पैठ जाता है।

सामाजिक उपन्यासकार के रूप में मुन्शीजी ने गुजराती-साहित्य को बहुत कुछ दिया है। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों को एक सुधारक की लेखनी एवं उत्साह के साथ स्पर्श किया है। उसमें उपयुक्त हास्य एवं व्यंग्य की पुट भी है। गत तीस वर्षों की राजनीतिक परिस्थिति का चित्रण यथार्थ है। 'शिव' की 'अशिव' पर विजय। पाठक के मन में प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत नहीं होती। वह अनुभव करता है कि प्रतिहिंसा की अपेक्षा सत्य एवं आत्म-पावनता में अधिक बल है।

मुन्शीजी ने कहानियाँ भी लिखी हैं। एक संग्रह, जिसमें बीस कहानियाँ हैं 'मारी-कमला अपने बीजी वार्तो' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इन कहानियों का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। शैली के विचार से भी इनमें कई प्रकार की शैलियों के दर्शन होते हैं। इनमें उकता देनेवाला विषय-साम्य नहीं, बल्कि विविध प्रकार के विषय, भावना तथा अभिव्यंजना-शैली का प्रयोग हुआ है। हाँ, एक बात में इनमें समानता भी है कि इन सब में सामाजिक एवं गृहस्थी की बुराइयों एवं कुरीतियों को उघारा गया है ताकि सुधार हो सके।

'शामलशाह नो विवाह' 'गोमती दादा नूँ गौरव' 'शकुन्तला अने दुर्वासा' 'खानगी कारभारी' ये चार कहानियाँ इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ गल्पें हैं। पहली असमान विवाह पर एक व्यंग्य है जिसमें एक बावन वर्षीय बुड्ढा अपना पाँचवाँ विवाह एक पाँच वर्षीय कन्या से कराने चलता है। दूसरी कहानी में बताया गया है कि कुछ परिवार एक कल्पित तिथि में भी गौरव समझते हैं और यदि उसका किसी को पता चल जाय, तो उनका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। इस कहानी में विस्मय-तत्त्व निस्सन्देह बड़ा ही आह्लादकारी है। आधुनिक सुशिक्षित नारी अपनी ससुराल की बड़ी-बूढ़ियों से जैसा व्यवहार करती है, ऊपरी सहानुभूति एवं अभद्रता जो वह उन लोगों के प्रति दिखाती है जो उनसे अधिक उत्तम व्यवहार की आशा करते हैं, उनका

परस्पर प्रेम तथा अपनी सन्तान की ओर से पराङ्मुखता—ये तीसरी कहानी के विषय हैं। यह कहानी बड़ी स्पष्ट एवं मर्मस्पर्शी है। इसकी नैतिक शिक्षा हृदय में घर कर जाती है। चौथी कहानी 'खानगी कारभारी' एक रहस्यपूर्ण व्यंग्य है। इसमें उन 'व्यस्त' लोगों का बड़ा ही सजीव चित्रण है जो अपने सब काम, यहाँ तक कि पत्नी को पत्र लिखने का काम भी, अपने प्राइवेट सेक्रेटरी पर छोड़ देते हैं तथा स्वयं सदा घर से बाहर रहते हैं। एक पत्र में एक अभागी षोडशी का हृदयस्पर्शी करुण-चित्रण है जो अपने इस अन्तिम पत्र में अपने प्राणों की व्यथा उगल देती है। वह अपने पति को उसकी अनुदारता की बात लिखती है कि वह किस प्रकार न्याय, सहनशीलता, प्रेम और आनन्द से वंचित है। इस करुणापूर्ण वृत्त से वाचक की आँखों के सामने बहुत ही ऐसी अभागी विवाहित नारियों की दशा साकार हो उठती है। 'नवी आँखो जूना तमाशा' एक विशुद्ध कल्पित कथा है। इसमें पौराणिक एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण यथार्थवादी दृष्टिकोण से किया गया है। इससे बहुत से रूढ़िवादी चौंक उठेंगे। वाचक को केवल इतना ध्यान रखना चाहिये कि यह सब स्वप्न है, इस को बुरा नहीं मानना चाहिये।

जिस प्रकार किसी कार्य का स्मरण मनुष्य के मन एवं मस्तिष्क पर छाकर उसे विक्षिप्त बना देता है, इसका चित्र 'स्मरणदेशनी सुन्दरी 'कांडू आख्यान' और 'स्त्री-संशोधक-मण्डल के वार्षिक समारंभ' में मिलेगा। ये गल्पें अत्यन्त मनोरंजक एवं आह्लादकारी हैं।

इन कहानियों में उन सामाजिक रीतियों की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं जो जनता को परहित करने में अन्धा बना देती हैं और अन्त में उनसे घृणा की सृष्टि होती है। इनमें यथास्थान हास्य एवं करुणा की पुट है। इस प्रकार ये कहानियाँ दुहरा कार्य साधती हैं। ये सामाजिक जीवन के उत्तम स्तर का मार्ग प्रशस्त करती हैं तथा जी बहलाने की भी सुन्दर सामग्री हैं। मुन्शीजी सामाजिक नाट्यकार के रूप में महान् हैं तो सामाजिक गल्पकार के रूप में उससे भी महान् हैं।

मुन्शीजी की प्रतिभा विश्लेषणशील है। उनकी सूझ-बूझ, उनकी बुद्धिमत्ता एवं ज्ञान से मिश्रित है। 'अशिव' को उघारना, पर 'अशिव' बनाने के लिये नहीं। उस पर प्रकाश डालना, आवश्यकता पड़ने पर अत्युक्ति से काम लेना, जनता को अपनी वास्तविक बुराइयाँ देखने के लिये विवश करना, यह उनके लिखने का उद्देश्य है। हास्य एवं व्यंग्य से सुधार करना उनका स्वभाव है—उद्देश्य भले ही न हो।

जय सोमनाथ

उदयशंकर भट्ट

'जय सोमनाथ' मुन्शीजी का ऐतिहासिक उपन्यास है। इसकी वस्तु विक्रम सम्वत् १०८२ की महमूद गज़नवी की घटना के आधार पर है। महमूद उस समय भारतवर्ष में एक अदमनीय आंधी की तरह आया, जिसने भारत की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परम्परा का विध्वंस कर दिया। शान्ति-सुख के अभ्यासी, कूप-मंडूकता के विलासी, उथले नृपति-वृक्षों को समूल उखाड़ कर अस्त-व्यस्त कर दिया। समाज की परम्पराएं, रूढ़ि, अन्ध-विश्वास ऐसे उड़ गये जैसे उनका अस्तित्व कल्पना की वस्तु हो। वैसे तो इससे पूर्व भी भारत पर विदेशियों के आक्रमण हुए, पर सागर में पत्थर फेंकने के समान वे लहरों को कम्पायमान करके समाप्त हो गये। किन्तु महमूद का आक्रमण भारतीय जीवन में भूकम्प की तरह प्राणिमात्र को हिला गया, उनके विलासप्रिय जर्जर शरीर को जो एक ज़ोर से झटका दे गया उसने भारत के कोने-कोने में और विशेष कर गुजरात के प्राणों में नई शक्ति फूंक दी।

मुन्शीजी का यह उपन्यास उस समय की अवस्था का ज्वलन्त चित्र-दर्शन है। इसमें इतिहास के प्राणों में तरंगित भावुकता, प्रेम, रोमान्स, धर्म, सामाजिकता और राष्ट्रीयता का अद्‌भुत सम्मिश्रण हुआ है। मानो इस उपन्यास का प्रत्येक पात्र भारत में व्याप्त एक विचार, दर्शन, त्रुटि तथा गुणों का प्रतीक बन कर आया हो। सम्पूर्ण वातावरण भगवान् सोमनाथ के आस-पास गुँथा हुआ-सा दिखाई देता है। भगवान् सोमनाथ, जिनकी प्राचीनता युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्त से प्रतिष्ठित है, उस समय भी जब बाहरी शक्ति तमोगुण, पाशविकता के प्रतीक महमूद से टकराती है, तब मानो उसमें एक गगनभेदी वज्राघात होता है जिससे सम्पूर्ण भारतीय नृपतियों, सामाजिक प्रजाजनों के अन्तर झंकृत हो उठते हैं; कांप कर बिखरी हुई संचित शक्ति के रूप में प्रतिरोध की प्रचण्डता को वह उद्वेल्लित कर देता है। एक-एक चरित्र एक विचार के प्रकाश-स्तम्भ की तरह अपने हृदय की आंधी को फैलाता है; और भाषा के प्रवाह में अपनी नवीन प्रतिपदोन्मेषिनी गति से संघर्ष-विघर्ष को प्रवाहित करता चलता है मानो आकाश में अनन्त तारक-दल एक-दूसरे से टकराते, एक-दूसरे

को पीछे फेंकते अपनी तीव्रता से गतिमान् हो रहे हों, कर्तव्य की दीपशिखा में नाचते हुए पतंगों की तरह अपने प्राणों की आहुति दे रहे हों, अथवा किसी प्राणवान् चलचित्र की तरह विवेक की, श्रद्धा की, वीरता की वेदी में प्रतिक्षण गिरने को आगे बढ रहे हो।

जिन पात्रों के आधार पर लेखक ने इतिहास का यह महान् चित्र उपस्थित किया है वे मानो इस पृथ्वी पर केवल अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही आये हो। और इसीलिए वे एक तीव्र गति से अपने निर्दिष्ट ध्येय की तरफ ही चल रहे हो। इतिहास, रोमान्स, आदर्श इन तीनो का मेल इस उपन्यास मे हुआ है। ज्ञात होता है इतिहास के अतीत की धूमिल शक्तियो को एकत्र करके लेखक ने उस समय की सृष्टि का निर्माण किया है जिसमे व्यर्थ कुछ भी नही और कोमा की तरह अपरिहार्य अपने द्वन्द्व मे वे जीवन प्रस्तुत कर रहे हैं।

इसीलिए मैं यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि इस उपन्यास के कौन-से पात्र ऐसे हैं जिनके बिना इतिहास के इस प्रांजल उपन्यास में बाधा उत्पन्न होती ? आइये, एक-एक करके उनकी छानबीन की जाय—

इस उपन्यास के प्रमुख पात्र है गंगसर्वज्ञ। गंगसर्वज्ञ लकुलीश सम्प्रदाय के प्रमुख गुरु एवं भगवान सोमनाथ के मन्दिर के अध्यक्ष हैं। इस लकुलीश सम्प्रदाय का प्रभाव उन दिनों भारत मे अक्षुण्ण था। दूर-दूर से राजा लोग तथा सर्वजन गुरुदेव के दर्शनो को आते और श्रद्धा-भक्ति के अनुसार भगवान् सोमनाथ के चरणो मे भेट अर्पित करते। गंग सर्वज्ञ सम्पूर्ण उपन्यास के अलक्षित सूत्रधार है। उपन्यासकार ने उनका चित्र इन शब्दो मे खीचा है—

"ऊंचे, लगभग साठ वर्ष के और गौर वर्ण, व्याघ्र-चर्म डाले हुए थे, सारे शरीर पर विभूति लगी हुई थी, अपनी आधी सफ़ेद दाढी मे उन्होंने गांठ लगा रखी थी। वाम स्कन्ध पर द्वितीया की चन्द्रकला के समान यज्ञोपवीत लटक रहा था।. . . . उन वृद्ध महानुभाव के ललाट पर त्रिकाल-ज्ञान का प्रकाश झलक रहा था। उनके चक्षु निर्मल, गम्भीर और सद्-भावनाशील थे। उनकी दृष्टि इस प्रकार भ्रमण कर रही थी मानो वह जाग्रत जगत से दूरवर्ती किसी तेजोबिन्दु को खोज रही हो। आज देश-देश के पंडित और राजा उनके मुख से निकली आज्ञाएं मानने मे गौरव का अनुभव करते थे।"

निश्चय ही किसी भी महान् कलाकार की दृष्टि में, जिसके द्वारा वह ग़ज़नी की प्रतिद्वन्द्विता में भारत के नर-नारियों, वीरों एवं राजाओं को खड़ा करना चाहता हो, उनमें भगवान् के प्रति श्रद्धा और राक्षस के प्रति कटुता-घृणा उत्पन्न करना चाहता हो, उसे गंग-सर्वज्ञ की कल्पना ऐसी ही करनी पड़ेगी। यही कारण है कि भीमदेव जैसा दुर्दमनीय अहं-मदी नृप भी गंग सर्वज्ञ के संकेत पर हाथ-जोडे खड़ा रहता है; वीरता की मूर्ति घोघा बापा भी उनके एक भ्रूकटाक्ष को जीवन की धन्य घडी मानता है। सामन्त और सज्जन श्री गंग-सर्वज्ञ का आशीर्वाद पाकर काल से भी युद्ध करने में तत्पर दिखाई देते हैं। यह गंग सर्वज्ञ का ही प्रभाव था कि सम्पूर्ण देश में उस समय शत्रु के प्रतिरोध की भावना उत्पन्न हो

सकी। अन्यथा भीमदेव जैसे नृपति की छाया में एक होकर अन्य राजाओं का युद्धोद्योग उस समय असम्भव था। गंग-सर्वज्ञ, जहां विवेक, सद्ज्ञान की मूर्ति थे, वहां वे देश की राजनीतिक इकाई भी थे। जहाँ वे वेद-वेदांग के ज्ञाता थे, वहा संगीत-नृत्य भी उन्हें हस्तामलक था। ज्ञात होता है भगवान् सोमनाथ की भक्ति के वे सागर थे जहाँ से नदियों-नालों के रूप में शंकर-भक्ति अजस्र धारा की तरह सारे देश में प्रवाहित हो रही थी। दामोदर मेहता से गज़नवी के आक्रमण की बात सुन कर सर्वज्ञ एकदम कह उठे—

"और यह यवन मेरे देवाधिदेव की पताका को नीचे फेंक देगा? यह अभिमानी मानव देव से भी नहीं डरता......"

"ग़ज़नी का मुहम्मद तो यमराज से भी बढ़कर है।" दामोदर ने कहा।

"आने दो, जिसने तृतीय-नेत्र द्वारा कामदेव को जलाकर भस्म कर दिया उसकी नेत्र-ज्योति अभी बुझी नहीं है।"

सज्जन चौहान प्रचण्ड घने बालोंवाला विकराल राजपूत और उसका बीस वर्ष का पुत्र, पिता की छोटी प्रतिकृति था। दोनों ही एक-सरीखी ढाल और तलवार से सुसज्जित गंग-सर्वज्ञ की सेवा में आये। उनके द्वारा सर्वज्ञ को ग़ज़नी के आक्रमण का समाचार मिला। सज्जन से घोघा राणा के समाचार सुनने के बाद सर्वज्ञ ने कहा—

"ग़ज़नी का म्लेच्छ चढ़ा आ रहा है भगवान् का मन्दिर तोड़ने। जाओ घोघा राणा से कहो कि भगवान् ने तुम्हारी अस्सी वर्ष की भक्ति के फलस्वरूप तुम्हें देवताओं से भी बढ़कर अधिकार दिया है। सोमनाथ के मन्दिर का रक्षक तुम्हें बनाया है।"

शङ्कर की आज्ञा सुनाते हुए सर्वज्ञ के मुख पर दिव्य तेज फैल रहा था और उनके नेत्रों से अंगार-वृष्टि हो रही थी। वे बोले—

"और कहना सुलतान रण में बचने न पाये, घोघा राणा के कुल में एक वीर भी जीवित हो तब तक।" इस आज्ञा ने सज्जन चौहान और उसके पुत्र सामन्त को कर्त्तव्य-विह्वल बना दिया। समय की कमी, मार्ग की रुकावट, अलंघ्य रेतीले मैदानों की पर्वा किये बिना लक्ष्य के प्रति तीव्र गति से जाते हुए उन दोनों ने जो अद्भुत क्षमता, अपूर्व वीरता, शत्रु को धोखा देने में कुशलता दिखलाई, महान् कार्य किये, उनका मूल कारण उनकी प्रेरक शक्ति गंग-सर्वज्ञ ही थे। सर्वज्ञ की राजनीतिक कुशलता का इससे अच्छा और प्रमाण क्या मिल सकता है कि उन्होंने ग़ज़नी के प्रभास पर आक्रमण करने पर नगर को महाराज भीमदेव के अर्पण कर दिया। यही नहीं, सब नृपतियों में मिलकर युद्ध करने की प्रेरणा के लिए प्रभास को ही आक्रमण का स्थान चुना। अन्यथा भीमदेव पाटण में ग़ज़नी को रोकते और युद्ध करते; किन्तु भगवान् सोमनाथ के झंडे के नीचे सबको एकत्र करके गंग सर्वज्ञ ने अपनी राजनीतिक बुद्धिमता भी प्रकट की। युद्ध-काल में भी उस जटा-जूटधारी ने सब राजाओं के एकत्रित होकर आशीर्वाद मांगने के समय सदा यही उपदेश दिया—

"वत्स, भगवान् की रक्षा के लिए तैयार हुए योद्धाओं को मेरा आशीर्वाद देकर कहो कि यह पुण्य-प्रसंग उन्हें सौभाग्य से प्राप्त हुआ है। तुम शत शरदों तक जीते रहो और अधर्म

का विनाश करके इस संसार में कीर्ति और मर कर कैलाश-वास प्राप्त करो।" और जब भीमदेव के अथक प्रयत्न से ग़ज़नी पर उन्हें विजय प्राप्त हो रही थी, ग़ज़नी निराश-सा पीछे लौटने की सोच रहा था तभी भारत के विभीषण सर्वज्ञ के शिष्य शिवराशि ने ईर्ष्या-द्वेष के वशीभूत होकर मन्दिर का गर्भ-द्वार खोल कर ग़ज़नी की सेना को बुला लिया। महमूद अपने घोड़े पर बैठकर उस मन्दिर में घुस आया। उस एकान्त निर्जन-प्रदेश में उसने देखा, उस मन्दिर में गंग सर्वज्ञ एकाकी भव्यता से शंकर के समान भगवान् की आरती उतार रहे थे। जगत् का क्षय हो चुका था, केवल वे और उनके देव दोनों ही वर्तमान थे।

ग़ज़नी का अमीर उस वृद्ध की भव्यता को देखता रहा। वह एक भी शब्द न बोल सका। गुरुदेव अपूर्व शोभा से युक्त भगवान् में तन्मय होकर खड़े थे। अमीर ने ओठ दबाये और कहा—"बुड्ढे दूर हट।"

'नहीं,' हाथ के अभिनय से गुरुदेव ने अमीर का अर्थ समझा और उत्तर दिया—"यवन, मैं अपने भोलानाथ के चरणों में हूँ। विनाश में भी सनातन अनादि एवं अनन्त।"

अमीर के हाथ में तलवार चमकी—गुरुदेव का सिर धड़ से अलग हो गया। और अन्त में सोमनाथ के मन्दिर का पुनर्निर्माण होने पर भी ऐसा लगता था मानो गंगसर्वज्ञ में गुरुदेव की छाया-मूर्ति ही व्याप्त हो। गंग सर्वज्ञ का चरित्र सारे उपन्यास में व्याप्त है। भीमदेव, चाणावली, चौला, गंगा, सज्जन, सामन्त सभी में जैसे उनकी प्रेरणा काम कर रही हो।

दूसरा स्थान गंग सर्वज्ञ के मानस-पुत्रों में है सज्जन, सामन्त और उनके पिता घोघा राणा का। घोघा राणा का चरित्र इस उपन्यास में अद्भुत है। कदाचित् विश्व के साहित्य में घोघा राणा की श्रेणी के बहुत कम पात्र मिलेंगे। अस्सी वर्ष के उस बूढ़े क्षत्रिय ने जब महमूद ग़ज़नी के द्वारा भगवान् सोमनाथ की मूर्ति के विध्वंस का समाचार सुना तो वह—घोघा राणा क्रोध से पागल हो उठा।

मुलतान में म्लेच्छ का स्वागत हुआ। सूर्य-चन्द्र के वंशजों ने मुख में तिनका लेकर सुलतान की शरण ली। राजपूतों ने गौ-ब्राह्मणों की रक्षा छोड़ी और भगवान् के द्रोह करने में उसके साथी हुए। ग़ज़नी ने मार्ग देने के लिये बापा को सन्देश भेजा और जिस दिन मुलतान में म्लेच्छ आया उसी दिन से घोघा बापा ने बोलना बन्द कर दिया। उनकी आँखें बिजली के समान चमकने लगीं। उनके ओठ लोहे के चिमटे के समान बन्द हो गये और उनकी मूँछें कोप के कारण खड़ी हो गईं।

और ग़ज़नी घोघागढ़ के द्वार पर आ गया युद्ध की तैयारी किये हुए। उस समय घोघागढ में आठ-सौ राजपूत, तीन-सौ दूसरे और सात-सौ स्त्रियाँ थीं। उधर विपक्ष में मानवों का सागर। फिर भी घोघा बापा के क्रोध का पार न था। उनका हाथ तलवार की मूँठ पर था और मूछें क्रोध से फरफराती तथा आँखें चमकती थीं। भूले पड़े हुये भूखे व्याघ्र के समान उन्होंने गर्जना की—"मूर्ख, रिपुगण तो संख्यातीत हैं और हम अल्पसंख्यक, यह तो भीरुजन कहते हैं।...." इन वचनों के साथ बापा ने खड्ग खींच लिया और वह अन्धकार से आक्रान्त गगन में विद्युत के समान चमक उठा।

उपन्यासकार श्री मुन्शीने घोघा राणा के निस्वार्थ युद्ध का जो चित्र उपस्थित किया है उसे पढकर ज्ञात होता है मानो कोई विद्युत्-शरीर अनन्त मेघों में अकेला घुम रहा हो। उसका वर्णन मुन्शीजी के शब्दों में पढ़िये—

"नव्वे वर्ष के बूढ़े घोघा बापा ने ज़रीन बागे पहिने, सिर पर केसरिया पगड़ी रखी, और गले में लाल फूलों का हार पहना। चौहान वंश के वीरों ने कमर कसी। .... घोघा बापा ने झरोखों में कुंकुम अक्षत लेकर खड़ी हुई वीरांगनाओं को सम्बोधित किया। हमारे साथ कैलाश चलने की हिम्मत है? इतना कहकर वे हँसे, मानो वे विवाह-मण्डप में कुटुम्बी-जनों को निमन्त्रण दे रहे हों।......

दरवाज़े खुले और उद्दीप्त सूर्य की सुनहली किरणों में देदीप्यमान चौहान वीर जगमगाते बागे, केसरिया पगडी और चमकते हुए खड्गों से वैरी को चौंधियाते, घुँघरूदार घोड़े और ऊँटों को नचाते हुए गढ से उतरे। . ...घोघा उन सबसे आगे थे।"

घोघा का चरित्र शुद्ध राजपूती है। राजपूत कर्तव्य में केवल एक बात जानता है .. मरना। सज्जन चौहान, सामन्त चौहान इन्हीं की सन्तान थे। उपन्यास में इन दोनों वीरों का स्थान महान् है। युद्ध में सम्मिलित न होने पर भी इन्होंने ग़ज़नी को हराने, देश में शत्रु के प्रति घृणा की बिजली दौड़ाने, लोगों को युद्ध के लिये तैयार करने में सज्जन का स्थान अद्वितीय है। उसने ग़ज़नी की सेना को हजारों की संख्या में रेतीली भूमि में मार डाला और घोघा बापा का भूत बनकर सारे सौराष्ट्र में इस किनारे से उस किनारे तक आग लगा दी जिसमें ग़ज़नी की सेना भस्म हो गई। सेना को मार्ग में भोजन न मिला पानी न मिला, और न मिला वह सुख जिसकी खोज में ग़ज़नी बढता चला आ रहा था।

इसी तरह सामन्त ने भी महाराज भीमदेव की प्राण-पण से ग़ज़नी के विरुद्ध युद्ध में सहायता की। और निश्चय ही सामन्त की दूरदर्शिता कुशाग्रबुद्धि ने भीमदेव को उत्साहित किया। उस स्थल का वर्णन इस प्रकार है—

बाणावली महाराज भीमदेव का चरित्र इस उपन्यास में दो रूप से प्रस्फुटित हुआ है—एक वीर और दूसरा प्रेमी के रूप में। उनकी वीरता का उद्दीपन सारे उपन्यास में व्याप्त है। गुरुदेव गंग सर्वज्ञ की प्रेरणा-मूर्ति बनकर भीमदेव ने आसपास के राजाओं को एकत्र करके ग़ज़नी से लोहा लिया।

"गंग सर्वज्ञ के साथ आता हुआ पुरुष क़द में ऊँचा और बलिष्ठ मालूम होता था। मशालों का तेज उसके चेहरे को ताम्र-पात्र के सदृश चमका कर उसकी मोटी काली आँखों में प्रतिबिम्बित हो रहा था। उसकी आँखों में, उसके समग्र व्यक्तित्व में एक सरलता, एक निडरपन और विश्वसनीयता कुछ इस प्रकार आभासित होती थी कि मानो उसने जगत् से प्रेम-दान लेने के लिये ही जन्म लिया हो। वह थका हुआ प्रतीत होता था तथापि अपने चलने के ढंग से वह कोई राजा मालूम होता था और सिर पर बँधा हुआ बड़ा-सा साफ़ा, कटि पर लटकाई हुई लम्बी तलवार और कन्धे पर उठाया हुआ बड़ा धनुष इस स्वरूप को अधिक स्पष्ट कर रहे थे। . . . देखने से ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई झपटता हुआ शेर हो।"

"महाराज भीमदेव का यही रूप-वर्णन है। वस्तुतः यही एक ऐसा पात्र है जिस पर गंग सर्वज्ञ की आशा का भार निर्भर था। यही एक केन्द्रित शक्ति थी जिसने प्राण-पण से ग़ज़नी द्वारा सोमनाथ के विध्वंस को बचाने की चेष्टा की और जैसा उसका रूप उपन्यास में है उससे ज्ञात होता है कि ग़ज़नी का नाश निश्चित ही था। वह सोमनाथ के युद्ध में हार रहा था। उसने निश्चय किया कि वापस लौट चला जाय। उसकी सेना की हिम्मत टूट चुकी थी। भीमदेव की रण-नीति-कुशलता, तत्परता एवं वीरता से उसे विजय की कोई आशा नहीं रही थी, परन्तु जैसे तूफ़ान से टक्कर लेती नाव धीरे-धीरे किनारे के पास आती है, लोगों को विश्वास होता है कि हम तट पर निश्चय ही पहुँच जायेंगे और अचानक नाव की पेंदी में छेद होकर पानी तेज़ी से भरने लगे और देखते-ही देखते वह डूब जाय। यही अवस्था सोमनाथ प्रभास में भीमदेव के युद्ध की हुई। गंग सर्वज्ञ का शिष्य शिवराशि रूपवती, षोडशी नर्तकी चौला को प्राप्त करने की चेष्टा में महाराज भीमदेव के विरुद्ध हो गया। भीमदेव चौला के नयन-बाणों से विद्ध होकर उसे अपना चुके थे। इस संघर्ष में भीमदेव विजयी हुए। गंगसर्वज्ञ की आज्ञा से भीमदेव ने चौला से विवाह कर लिया। शिवराशि ने गुरु के इस कार्य से रोष और क्रोध में पागल होकर क्षण-क्षण प्राप्त होनेवाली महाराज भीमदेव की विजय को पराजय में बदल देने की चेष्टा में एक-दो साथियों के साथ सोमनाथ का भीतरी द्वार खोलकर ग़ज़नी की सेना को बुला लिया। इसी में सोमनाथ का पतन हो जाता है। और एक अनभ्र वज्रपात की तरह चिरअभिलषित, चिर-प्रयत्न-सेवित, रक्षित भगवान सोमनाथ की मूर्ति का भंग, गंग सर्वज्ञ की मृत्यु हो जाती है।

हमारे देश में प्रायः ऐसे विभीषणों की कमी नहीं रही है। शिवराशि भी उन्हीं में एक बनकर देश के विनाश, धर्म की पराजय का कारण बनता है। फिर भी अन्त में भीमदेव के पुनः प्रयत्न और अनथक युद्ध से पराजित होकर महमूद ग़ज़नी भाग जाता है। भागते हुए उसकी असंख्य वीर-वाहिनी मार्ग में नष्ट हो जाती है। इस स्थान पर भीमदेव के चरित्र में फिर एक चमक आती है। सोमनाथ के पुनर्निर्माण की निष्ठा जाग्रत होती है। और गंग सर्वज्ञ के पट्टशिष्य गगन सर्वज्ञ-द्वारा फिर भगवान् का मन्दिर बनाकर मूर्ति की स्थापना होती है। उत्सव होता है। देश भर के राजा लोग एकत्र होकर भीमदेव को एकमात्र नृपति स्वीकार करते हैं। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक भीमदेव का उत्थान एकरस, एकरूप से होता है। चौला नर्तकी उनकी वीरता के दूसरे अंग-प्रेम की प्रतिकृति बनती है। केवल चौला के कारण ही भीम-देव में तत्कालीन संकट के प्रति जागरूकता होते हुए भी उनमें प्रेयसी के लिये आत्मदान, हास्य-विलास का चित्रण हो पाया है। कदाचित उस समय राजाओं के लिए यह भी एक आवश्यक अंग था, इसी का प्रदर्शन श्री मुन्शीजी ने चौला को अवतारित करके किया है।

चौला का चरित्र बहुत शुद्ध एवं आकर्षक बन पड़ा है। वह स्वर्गीय अप्सरा के समान सुन्दरी, एकनिष्ठ शिवभक्त है। सोमनाथ को वह अपना पति स्वीकार करती है। उन्हीं को आत्म-निवेदन करती है। उनके सामने नृत्य में जीवन की चरम सार्थकता मानती है। भगवान सोमनाथ के सम्मुख प्रथम बार नाचने को उत्सुक चौला के रूप का वर्णन कवि के भाव-शब्दों में इस प्रकार है—

"चौला उठी। सर्वज्ञ के पास बैठे हुए शिवराशि को उसने देखा, पास बैठे हुए दो अपरिचित युवकों की रसभरी आँखों को अपनी ओर घूरते हुए उसने पाया और वह पीछे हटी, उछली, और सभा-मण्डप के बीच रत्न-जटित दीपावली के कौमुदी-मनोहर प्रकाश में अपने उपवस्त्र को हटा कर अपने रखे हुए पैरों के बीच श्वेत कमल में से प्रादुर्भूत नारायणी के समान वह प्रकट हुई। प्रेक्षक-समाज मुग्ध एवं अवाक् हो देखता रह गया। कोमल कदली के समान नूपुरों-द्वारा सुशोभित पैर पर सुनहरी ज़री की गाँठ से बांधे हुए लहँगे में से चमकती हुई मेखला में से किसी सुन्दर मन्दिर के मध्य भाग से जैसे शिखर निकलता हो, उसी तरह नाजुक कमर, गौरवर्ण उदर, हीरों में जगमगाता अदृश्य रत्न-मण्डप, रुचिर भूरी नसों की रेखाओं के मध्य में सुशोभित गर्दन, बालक के समान मुग्ध मनोहर मुख निकला। उसके मुख पर पार्थिव सुन्दरी की अपूर्व रेखायें न थीं, देवियों की भव्यता न थी, छोटी बालिका की केवल सुकुमारता न थी, वह तो किसी सुगम-स्वप्न में अनिमेष निहारते हुए नव-मंजरियों द्वारा सुघटित मधुर एवं निर्दोषता के सत्व के समान वसन्त का ही मुख था।"

मुन्शीजी की उदात्त वर्णन-माधुरी से चौला इस उपन्यास में उर्वशी के समान सुन्दरी हो उठी है। ज्ञात होता है चौला के नृत्य-वर्णन, उसके सौन्दर्य की कल्पना में मुन्शीजी की प्रतिभा ने सौन्दर्य-कल्पना की मीठी फुलझड़ियां उगल दी हैं। जहां-जहां चौला के रूप-वर्णन, उसकी मदमाती गति, उसकी विलासिता, उसके सौन्दर्य, उसकी अक्षय मादकता का वर्णन हुआ है वहां वे तन्मय हो गये हैं, मुन्शी का गद्य-कवि जाग उठा है और कादम्बरीकार की तरह उन्होंने दिल खोल कर उसके साथ सहानुभूति प्रकट की है। वैसे, ऐसे प्रसंग कई जगह आये हैं। वीर रस की मूर्ति राणा बापा, भीमदेव, सज्जन, सामन्त सभी को उनसे सहानुभूति मिली है, किन्तु गंग सर्वज्ञ और चौला दोनों ने उनको मुग्ध कर दिया है। गंग सर्वज्ञ के प्रति उनकी निष्ठा आर्य-संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम के कारण है। भीमदेव का महत्त्व उसके गुजराती होने के कारण और चौला उनकी जन्मजात कलाप्रिय सौन्दर्य अभिरुचि की परिचायक है।

'जय सोमनाथ' की भाषा सरस और अर्थ-गुम्फित है। वह पहाड़ी झरने की तरह अजस्र गति से प्रवाहमान होती है। इसीलिए मुन्शीजी की शैली प्रसाद-गुणमयी एवं विचारोत्तेजक है। हिन्दी में इस उपन्यास का प्रकाशन एक ऐतिहासिक घटना है। मेरा विश्वास है जब तक आर्य संस्कृति है, आर्यत्व के प्रति जनता में निष्ठा है तब तक यह कृति समादर के साथ जनता में पढ़ी जायगी।

इस उपन्यास में एक सबसे बड़ी बात जो पाठक को अपने प्रति आकृष्ट करती है वह है तत्कालीन परिस्थिति का चित्रण करते हुए भारतीयों की स्वार्थ-दृष्टि। वाक्पतिराज के रूप में लेखक ने उनके लघु स्वार्थों पर कुठाराघात करते हुए सिद्ध किया है कि सोमनाथ के पतन, ग़ज़नी के भारत-प्रवेश तथा अबाध गति से भारत में उसके घुस आने का एकमात्र कारण तत्कालीन राजाओं का क्षुद्र स्वार्थ एवं संगठित होकर महान् प्रयत्न करने का अभाव ही है। नहीं तो कोई कारण न था कि असंख्य सेना होते हुए भी ग़ज़नी भारतीय वीरों का मुकाबिला कर पाता।

इस उपन्यास का यही अन्तर्निहित उद्देश्य है जिसके लेखक को व्याकुल कर दिया तथा

उसे व्यग्र बना कर भारतीय कमज़ोरियों को दिखाने के लिए विवश कर दिया है। केवल इस निहित उद्देश्य की सिद्धि के लिए मुन्शीजी का यह प्रयत्न उनके गुरु-गंभीर ज्ञान का द्योतक है; वास्तविकता के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि का परिचायक है। निर्माण-कौशल की दृष्टि से यह उपन्यास अपने में पूर्ण है। जिस नृत्य से उपन्यास का प्रारम्भ है उसी नृत्य में उपन्यास समाप्त भी होता है। इतना सुसंगठित उपन्यास भारतीय भाषा-साहित्य में नहीं लिखा गया। सम्भव है इस वाक्य पर कुछ लोगों को आपत्ति हो, किन्तु मेरा मत है 'जय सोमनाथ' का सृजन साहित्य की अपूर्व घटना है।

*

गुजरात के ऐतिहासिक उपन्यास

बलवन्त भट्ट

: १ :

गुजराती भाषा के यशस्वी उपन्यासकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी की प्रतिभा का विकास उनके ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के साथ हुआ। 'पाटन नी प्रभुता' (१९१६) के प्रकाशन से गुजराती-साहित्य में स्वर्णयुग का प्रादुर्भाव हुआ। इस उपन्यास का प्रकाशन वैसे तो मुन्शीजी के साहित्यिक जीवन की एक घटना थी, परन्तु गुजराती साहित्य में तो जैसे यह उपन्यास एक सीमा-चिह्न बन गया। इससे साहित्य को एक नवीन शैली मिली। मुन्शीजी की तीन सुप्रसिद्ध रचनाओं में इस शैली के विकास तथा पूर्णता के दर्शन होते हैं। इस उपन्यास-त्रिक् में सबसे पहले 'पाटन नी प्रभुता' का प्रकाशन हुआ। इसके पश्चात् 'गुजरात नो नाथ' १९१८-१९ में प्रकाशित हुआ और इस शैली की तीसरी लहर 'राजाधिराज' १९२२-२३ में प्रवाहित हुई। अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में 'पृथ्वी-वल्लभ' (१९२०-२१) 'भगवान कौटिल्य' (१९२४-२५) और 'जय सोमनाथ' (१९४०) उल्लेखनीय हैं। 'गुजरात नो नाथ' 'पृथ्वीवल्लभ' और 'राजाधिराज' के प्रकाशन से, मुन्शीजी गुजराती-साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों के सम्राट् स्वीकार कर लिये गये। इन तीनों उपन्यासों मे मुन्शीजी ने ऐसा विषय चुना है जिसमें महाकाव्य की-सी सम्पन्नता और विशालता है। इनका सम्बन्ध गुजरात के अतीत से है जिन दिनों वहाँ सिद्धराज जयसिंह (१०९४-११४२) का शासन था। सिद्धराज जयसिंह ने एक साम्राज्य की स्थापना की थी और उसके शासन-काल में गुजरात ने राजनीतिक एवं सांस्कृतिक महत्ता प्राप्त की। साहित्य और कला खूब फली-फली। इसी काल मे महान् प्रतिभावान हेमचन्द्र सूरी का जन्म हुआ। मानव-चिन्तन के क्षेत्रों में इसकी सफलताएँ सिद्धराज की सामरिक एवं शासन-सम्बन्धी सफलताओं से किसी प्रकार भी हीन नहीं हैं। 'पृथ्वीवल्लभ' की कथावस्तु का ताना-बाना 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' के अन्तर्गत 'मुंजरास' के आधार पर बुना गया है। इसमें मालव-नरेश मुंज के जीवन की झाँकी दिखाई गई है जो कि ११ वीं शती विक्रमीय में सत्तारूढ़ था। मुंज के व्यक्तित्व से मुन्शीजी को कला और सौन्दर्य की इस महान् कृति के प्रणयन की प्रेरणा मिली। कारलाइल

के शब्दों में यह कृति सीधी लेखक के 'हृदय की गहराई से उद्भूत' हुई है। 'भगवान् कौटिल्य' मौर्य-सम्राटों से सम्बन्ध रखता है। इस उपन्यास में उस युग के महान् राजनीतिक विचारक का जीवन इतने रोचक और कला-पूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया गया है कि पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो सब कुछ हम अपनी आँखों से देख रहे हैं। नैमिषारण्य में रहनेवाले ऋषियों के पवित्र जीवन और उनकी बौद्धिक महानता तो मानो इस उपन्यास में सजीव और साकार हो उठी है। 'जय सोमनाथ' में महमूद गज़नवी द्वारा सोमनाथ पर किये गये आक्रमण को रोकने के लिये गुजरात के प्रसिद्ध नरेश भीमदेव के सुदृढ़ प्रतिरोध और बलिदान की मर्म-स्पर्शी गाथा बड़ी सजीव शैली में प्रस्तुत की गई है। इस धर्मयुद्ध की तीव्रता और विशालता के दृश्य लेखक के महान कौशल का परिचय देते हैं। भीमदेव, गज़नवी, गंग सर्वज्ञ, गंगा और चौला जैसे शक्तिशाली चरित्रों का निर्माण बड़ी सजीवता से हुआ है। इस उपन्यास का निर्वाह और शैली 'पाटन नी प्रभुता' और 'गुजरातनो नाथ' से एकदम भिन्न है।

: २ :

मुन्शीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रकाशन से उनकी साहित्यिक ख्याति की आधार-शिला रखी गई। इन उपन्यासों का गुजरात की जनता पर वही प्रभाव पड़ा, जो थामस कारलाइल के 'फ्रेंच रेवोल्यूशन' और वाल्टर स्काट के 'वेवर्ली नाविल्ज़' का इंग्लैंड की जनता पर पड़ा था। इनमें गुजरात के इतिहास का शाश्वत तत्त्व विद्यमान है और वे गुजरात में अत्यन्त लोकप्रिय हैं। 'पाटन नी प्रभुता' में मुन्शीजी की कला के प्रारम्भिक-रूप के दर्शन होते हैं। 'गुजरात नो नाथ' और 'राजाधिराज' उनकी परिपक्व कला का प्रमाण देते हैं और 'पृथ्वीवल्लभ' तो उनकी एक महान् अमर रचना है।

मुन्शीजी इतिहास को केवल अतीत के पन्ने ही नहीं समझते और न ही उनके विचार में यह नरेशों तथा साम्राज्यों के उत्थान-पतन की कहानी मात्र है। वे तो इतिहास को मानवता का प्रमाण-पत्र समझते हैं। उनकी कवि-कल्पना इतिहास की शुष्क अस्थियों को अपने साहित्य-प्रासाद के निर्माण के लिये चुन कर उसमें जीवन और शक्ति का संचार कर देती है। पाटन और अवन्ती के खंडहरों और चट्टानों में वे उभरते हुए ज्ञान और आर्य-संस्कृति के प्रति अमर विश्वास का स्रोत खोज निकालते हैं। उन्होंने सिद्धराज जयसिंह के काल के काल्पनिक पुनर्निर्माण का चित्र अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अपने पाठकों के सामने रखा है। उसका कलाकार हमें अपने वर्तमान अस्तित्व का ज्ञान भुला कर सिद्धराज जयसिंह के शासन-काल में ले जाता है।

कलाकार की पैनी दृष्टि से कोई वस्तु छिपी नहीं रहती। वह दृश्यमान संसार की सब झाँकियाँ हमारे सामने प्रस्तुत करता है। अपने उपन्यास-त्रिक् तथा अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में लेखक ने तीव्र अभिलाषा रखनेवाले नर-नारी, योद्धा, राजनीतिज्ञ, नरेश और साधारण व्यक्तियों को भी रंगमंच पर आते-जाते दिखाया है। इन पात्रों म मानवगत सब प्रकार के स्वा-भाविक गुण-दोष मिलेंगे। मुन्शीजी अपनी विलक्षण प्रतिभा से अपने उपन्यास के अनुरूप युग और वातावरण प्रस्तुत करते हैं। उनका विश्वास है कि ऐतिहासिक आपद्-काल में समय-समय पर ज्योतिर्मान पुरुष राष्ट्र की भाग्य-धारा का प्रवाह बदलने के लिए जन्म लेते हैं। अतः

वे इतिहास की गतिविधि की उपेक्षा करके, उन वीरात्माओं में अधिक रुचि लेते हैं, जो इतिहास के क्रम को ही अपने अनुरूप बदल लेती हैं। इतिहास की सृजनात्मक शक्ति के अन्तराल में पैठ कर वे उसमें से एक लय और आकार उत्पन्न करते हैं। इतिहास की एकस्वरता में उन्हें गुजरात की अजर-अमर शक्ति का सन्देश सुनाई देता है। इसी एकस्वरता का वे जीवन-यापन की कला में आर्य-संस्कृति के आधारभूत सत्य के रूप में प्रयोग करते हैं। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में मुन्शीजी ने गुजरात की अन्तरात्मा का दिग्दर्शन कराने के साथ-साथ, हमारे सम्मुख भारतीय सभ्यता का एक व्यापक दृश्य भी उपस्थित कर दिया है। गुजरात प्रान्त आर्यावर्त्त की शाश्वत् भावना का एक सजीव अंग है। इसके अस्तित्व के आधार में भगवान् कृष्ण का अमर उपदेश रचा हुआ है। मुंजाल, सिद्धराज और हेमचन्द्र सूरि प्रभृति महान् आत्माओं के कार्य-कलाप गुजरात की भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र है।

आधुनिक-काल में भी गुजरात के क्रान्तिकारी कवि नर्मद (१८३३-१८८६) और आर्य-संस्कृति के सदेह प्रतीक महात्मा गांधी भी गुजरात की भावना के प्रतिनिधि महापुरुष हो गये हैं। ऐसी ज्ञान-विभूतियाँ गुजरात का भाग्य-निर्माण करती आई हैं। वे आर्य धर्म में गुजरात के विश्वास, उसकी आशाओं एवं अभिलाषाओं की प्रतीक हैं जो अपने मानस में गान और आत्मा में ऋषियों की-सी दिव्य ज्योति लिए राष्ट्र में शक्ति का संचार और आध्यात्मिक आपद्-काल में भ्रान्त जनता का पथ-प्रदर्शन करती हैं। मुन्शीजी ने इतिहास का यही अर्थ लगाया है और यही उनके ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना का प्रेरक रहा है।

अतीत को मूर्तिमान करने तथा उसमें अप्रतिहत ओज एवं आकर्षण भरने में मुन्शीजी अद्वितीय हैं। उनके उपन्यास अद्भुत प्रभाव से देदीप्यमान हैं। परन्तु उनका संसार केवल स्वप्न-जगत नहीं। अवन्ती से पाटन और पाटन से जूनागढ़ तक मुन्शीजी हमें राजदरबारों, बाज़ारों और परिवारों में ले जाते हैं जहाँ हमें अतीत के वैभव को पहचानने और ऐतिहासिक विभूतियों के साथ घनिष्ठता स्थापित करने का अवसर मिलता है। कथाकार के रूप में मुन्शीजी का अपना अद्वितीय स्थान है। उनकी कहानी कहीं बोझिल अथवा नीरस प्रतीत नहीं होती। वर्णन में एक तीव्र प्रवाह है और पाठक उसमें बहता चला जाता है। उसमें कहीं रुकावट नहीं और न ही मन ऊबता है। कहानी पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो वह कहानी हमारे ही सम्बन्ध में हो। उनकी कल्पना में एक ऐसी अद्भुत शक्ति है कि हम उसके लिये अविश्वास को अपने मन में स्थान न देकर उसके आनन्द, ज्ञान और व्यापक सहानुभूति का पूर्ण अनुभव करने लगते हैं। उनके उपन्यासों को पढ़ते समय पात्रों के आनन्द, दुःख और उनके चरित्र के गुण-दोष हमारे गुण-दोष बनकर सम्मुख आ जाते हैं।

मुन्शीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी वर्तमान का काव्य झलक रहा है। इतिहास उनकी लेखनी का स्पर्श पाते ही जीवन की व्याख्या का रूप धारण कर लेता है। उनके पात्रों का विस्तृत क्षेत्र तथा उनकी विविधता मुन्शीजी की सर्वतोमुखी प्रतिभा का प्रमाण है। उन्होंने नरेशों तथा उनके निर्माणकर्त्ताओं की सृष्टि के साथ-साथ मानव-जीवन की आधारभूत भावनाओं को भी सफलतापूर्वक अभिव्यंजित किया है। मानवता की मान और मर्यादा की रक्षा सदा

उनका लक्ष्य रहा है। उनकी कल्पना परम गम्भीर है। उनकी सृजनात्मक बुद्धि मानवगत क्रिया-कलापों के अन्तस्तल को जा छूती है। प्रेम जीवन की आधारभूत भावनाओं में है जिसकी पूर्णता में जीवन का उद्देश्य निहित होता है। प्रेम से ही जीवन संबल और नूतन आकार पाता है एवं यही प्रेम भाग्य को अपने अनुरूप साँचे में ढाल देता है। मुन्शीजी के सभी पात्रों के उत्थान-पतन, जीवन-मरण के मूल में प्रेम रहता है। प्रेम ही उनके मुंज, मुंजाल, सिद्ध-राज, मीनल, मंजरी और प्रसन्न आदि जैसे दिव्य मानवों को लौकिक रूप देता है। ऐसे सजीव पात्रों की कल्पना तथा सृष्टि किसी जीवन के कलाकार-द्वारा ही हो सकती है। इसके लिये लेखक को सृजनात्मक भावनाओं के जीवन-रस को प्रस्तुत करना पड़ता है। इन पात्रों के सृजन में मुन्शीजी के व्यक्तित्व की शक्ति, वैभव, मान, और सौन्दर्य-भावना कार्य कर रही है। मानव के अन्तराल का चित्र अंकित करने तथा अपनी कल्पना के पीछे-पीछे चलने में मुन्शीजी एक महान् कलाकार का सा साहस रखते हैं। सामान्य कला के रूढ़िगत सिद्धान्त उन्हें तनिक नहीं भाते। जीवन का सत्यहीन दिग्दर्शन करानेवाली कोरी भावुकता तथा प्रेम की कल्पित गाथा उन्हें पसन्द नहीं। उनकी प्रकृति राग, द्वेष और ईर्ष्या से रहित है। रसिकता, मधुर मुस्कान तथा अट्टहास में वे सदैव आनन्द पाते हैं। मानव-जीवन के चित्र उतारने म मुन्शीजी बेजोड़ हैं।

ऐतिहासिक होते हुए भी उनके पात्र वास्तविक हैं। इसका कारण यह है कि उनमें मानवता का अंश सदैव विद्यमान है। यही मानवता का अंश हमारे मन में भी वैसी ही भावनाएं जागृत कर देता है। मुंज, मुंजाल, मीनल और मंजरी का व्यक्तित्व महान् है, परन्तु उनका जीवन से सच्चा सम्पर्क है। वे महत्त्वपूर्ण बने रहते हैं। मुंशीजी के उपन्यासों में उपद्रवी पात्रों के लिये स्थान नहीं। पात्र की अभद्रता में भी उन्हें कुछ आकर्षण नहीं दीखता। उनकी स्वस्थ कौतूहल-प्रियता और व्यापक सहानुभूति के कारण उनके पात्र पूर्ण रूप से स्वच्छन्द हैं तथा ज्वलंत रूप से सजीव हैं। उनके बाह्य संघर्षों का वर्णन अतीव स्पष्ट एवं नाटकीय परिस्थितियों से हुआ है और उनकी आन्तरिक व्याकुलता, अशान्ति तथा मानसिक द्वन्द्व को लेखक ने ऐसे मर्मस्पर्शी ढंग से अंकित किया है जो उनकी गहरी आध्यात्मिक अनुभूति का प्रतीक है। नारी की मानसिक क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं का ज्ञान जितना मुन्शीजी को है, सम्भवतः अन्य किसी लेखक को नहीं। मीनल और मंजरी के चरित्र-चित्रण में उनकी सृजन-कला विकास की चरम सीमा को पहुँची हुई है। उनके उपन्यासों में क्रिया और चरित्र में पूर्ण एकस्वरता पायी जाती है। पात्र ऐसे वातावरण में विचरते हैं जो उनकी मानसिक स्थिति को भी दर्शा देता है और कभी-कभी उनको प्रभावित भी करता है तथा बहुधा उनकी क्रियाओं को जगमगा देता है।

मुन्शीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों का क्षेत्र देश काल के विचार से काफी विस्तृत है। उनमें व्यापकता की भावना तो है ही, उनके मुख्य कथानक तथा उप-कथानक एक दूसरे से सम्बद्ध इकाई के समान बुने हुये हैं। उनके समस्त उपन्यासों में उनकी कला प्रभाव-साम्य की प्रशंसनीय सृष्टि करती है, उनकी कला निश्चित रूप से इन्द्रिय-जनित है और उसमें हमारी

भावनाओं को जागृत करने की क्षमता है। उनकी इस इन्द्रिय-जन्य कला के दर्शन आपको 'पृथ्वीवल्लभ' में सर्वत्र और 'गुजरात नो नाथ' के कुछ अंशों में मिलेंगे। गति सौंदर्य, शब्द-चित्र, आह्लादकारी कल्पना और सजीव वातावरण—ये सब उनके गद्य की विशेषताएँ हैं। सुन्दर रचना तीव्र प्रवाह, और उनके स्वच्छ अभिव्यंजना युक्त गद्य में ऐसी लोच और विविधता है जो मानव की मनःस्थिति के समस्त स्वरों को झंकृत कर दे।

: ३ :

'जय सोमनाथ' मुन्शीजी की एक साहसपूर्ण कलाकृति है। इसका प्रमुख विषय है सम्वत् १०८२ विक्रमीय में गुजरात की शाश्वत संस्कृति में घातक गतिरोध का उत्पन्न होना। उस वर्ष महमूद गजनवी ने गुजरात पर आक्रमण किया था। पहले हल्ले में तो गजनवी सफल रहा, परन्तु शीघ्र ही गुजराती जनता का प्रतिरोध, शक्ति बटोर कर उलटा महमूद की सेना पर टूट पड़ा और उसके पाँव उखाड़ दिये। पक्षपाती इतिहासकारों ने महमूद के गुजरात पर किये गये आक्रमण को सदा अपने ही रंग में प्रस्तुत किया है। इसी कारण उन इतिहासों में सचाई, निष्पक्षता और संतुलन का अभाव है। इस ऐतिहासिक उपन्यास मे मुन्शीजी ने एक अत्यन्त कठिन कार्य में हाथ डाला है। अपनी कल्पना और कला की असंदिग्ध स्थिरता के कारण ही वे इस तलवार की धार पर चलने में सफल हो सके हैं। साधारण लेखक तो ऐतिहासिक तथ्यों और अपनी धारणाओं के मकड़ी के जाले में ही उलझ कर रह जाता। परन्तु मुन्शीजी न केवल इतिहास की मुख्य-मुख्य घटनाओं को साथ लेकर आगे बढ़े हैं, प्रत्युत उन्होने एक महान् सैनिक नेता का भी अत्यन्त रमणीय चित्र उपस्थित किया है। मुन्शीजी आर्य-संस्कृति के प्रति अगाध आस्था रखते हैं और सोमनाथ का मन्दिर अनन्तकाल से आर्य-संस्कृति का ज्योतिर्भवन रहा है। ऐसी दशा में उनका कार्य और भी कठिन हो जाता है। अद्भुत साहस, निश्छलता और संयम द्वारा उन्होंने एक महान् कलाकृति की रचना की है।

महमूद का आक्रमण भारत के सन्तोषी, असंगठित और परस्पर-ईर्ष्यालु शासकों के लिये एक चेतावनी था। धार्मिक समस्याओं की बात छोड़िये। महमूद ने महान् कठिनाइयों का सामना करते हुये एक विशाल सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया। वह युद्ध-नीति में बड़ा निपुण था उसकी सेना बलवती एवं योग्य थी। इसके प्रतिकूल यहाँ के नरेश इस आक्रमण के सन्तुलन एवं पूर्ण रूप से भी परिचित न थे। उनकी कल्पना में भी यह बात नहीं आई थी। परिणामतः वे जन-बल और विशाल साधनों के होते हुए भी पहले हल्ले में हार गये। पर मन्दिर के पतन ने उनकी आँखें खोल दीं और उन्होंने शीघ्र ही संगठित होकर आक्रमणकारी यवन-सेना पर प्रत्याक्रमण करके उसे खदेड़ दिया। शत्रु-सेना का नैतिक साहस टूट गया और महमूद को विवश होकर कच्छ के रेगिस्तान में से होकर अपने देश वापस चला जाना पड़ा। उसकी तथाकथित विजय एक घोर विनाश में परिणत हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि इस आक्रमण से गुजरात की जनता में धार्मिक चेतना जाग्रत हो गयी। भीमदेव नरेश का नेतृत्व उसी धार्मिक चेतना के महान् संघर्ष का प्रतीक है। इस प्रकार 'जय सोमनाथ' गुजरात के धर्मयुद्ध का मर्मस्पर्शी और वीरतापूर्ण आख्यान है जिसे वहाँ की जनता ने अपनी आस्था और

संस्कृति की रक्षार्थ किया।

इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है धर्मयुद्ध का सजीव वातावरण। चौला के दो नृत्य, जिन्हें इस ग्रन्थ की प्रस्तावना और उपसंहार के रूप में लेना चाहिये, युद्ध के घोर तुमुल नाद को नर्म करने में सहायक होते हैं। ग्रन्थ में अभिव्यक्त विचार उच्च हैं और उनकी अभिव्यंजना शैली मर्मस्पर्शी है। इस ग्रन्थ में मुन्शीजी ने कल्पना से अधिक काम नहीं लिया है। कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जो अनन्त के प्रवाह के प्रतीक सोमनाथ के मन्दिर की पावनता और पुरातनता के सूत्र हैं। सत्युग से कलियुग तक इस पवित्र मन्दिर की ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक शृंखला का चित्रण बड़े अनूठे कलात्मक ढंग से किया गया है। दिव्य जीवन के केन्द्र, इसी पवित्र प्रतीक के चारों ओर धर्मयुद्ध का आख्यान चलता है।

इससे कथा-नायक को जो प्रेरणा मिली, उसका अनुमान लगाना सम्भव नहीं। धर्म-भावना से प्रेरित पात्रों के कार्य एवं बलिदान भी दिव्य ही हैं। रेगिस्तान की अग्नि-वर्षा में सज्जन चौहान की दौड़धूप, घोघा राणा का महान् साहस और बलिदान तथा सामन्त की प्रबल भावना तथा भीमसिंह के श्रेष्ठ प्रतिरोध एवं विजय-प्राप्ति के प्रसंग पढ़ने-योग्य हैं।

मन्दिर के प्रमुख पुजारी गंग सर्वज्ञ इस धर्म-युद्ध के प्राण हैं। वे एक महान् आत्मा और सिद्ध पुरुष हैं। वे हमारी सभ्यता और संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ विभूति के प्रतीक हैं। वे एक बलवान पात्र हैं जिनके चरित्र की अथाह गहराई में समस्त मानवता समा सकती है। उसे समझ लेना महान् ग्रन्थ की भावना और संदेश को समझ लेना है। इस अनश्वर मन्दिर को भ्रष्ट करनेवाली अज्ञान और राक्षसी शक्तियों के विरुद्ध वे एक सशक्त प्रहरी थे। वे आर्य-संस्कृति के एक दैवी रक्षक थे। राष्ट्र के उस दुःखान्त संकट में उन्होंने अकेले ज्ञान और साहस की ज्योति जला कर जनता के हृदयों को प्रज्ज्वलित कर दिया। इस महान् ब्राह्मण में दैवी और लौकिक दोनों गुण वर्तमान थे। पुस्तक का सबसे अधिक मर्मस्पर्शी और स्मरणीय स्थल वह है जहाँ यह ब्राह्मण मूर्ति को तोड़ते हुये महमूद और पवित्र लिंग के बीच में खड़ा हो जाता है। इस महापुरुष की अकथनीय वेदना, भावुकता और अलौकिक प्रताप का चित्र संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित शब्दों में अंकित किया गया है। वही अकेला आक्रमण के रहस्य तथा मन्दिर के पतन के परिणाम को समझता है। जनता में उस समय अज्ञान, भ्रम, अविश्वास और धर्म-पराङ्मुखता आदि दुर्गुण घर कर गये थे। शिवरात्रि अथवा कपाली अविद्या की कठोर अभिव्यंजना हैं। इन आसुरी शक्तियों का अन्त करके ही शान्ति की आशा की जा सकती थी। भगवान् की लीला में महमूद एक घटना बनकर आया था। इस सारी परिस्थिति का अनुशीलन करके वह संकट की मदिरा का प्याला पीता है और अज्ञान तथा दुःखित मानवता के लिये अपना बलिदान कर देता है। उसका हृदय मानो नीलकण्ठ की भावना का सदेह प्रतीक है। वह आत्मज्ञानी विश्व-कल्याण के लिये कालकूट का पान कर लेता है।

चौला एक असामान्य स्त्री है। वह धरती की प्रतीत नहीं होती। वह भक्ति के शुद्ध स्वरूप अमर प्रेम की ज्योति अपने मानस में लिये हुए है। वह जन्मजात गोपी है। उसकी चीत्कार गीत और उसकी चेष्टा नृत्य का रूप धारण कर लेती है। भगवान् शंकर को आत्म-

समर्पण करते समय उसका व्यक्तित्व दिव्य ज्योति से जगमगा उठता है। भीमदेव के प्रतिरोध में उसे ईश्वरीय छटा दिखाई दी और वह उससे लिपट गया। स्वप्न टूट जाता है और पृथ्वी का स्पर्श अर्थात् वास्तविकता उसे दुःख और वेदना से दो-चार होने का अवसर देती है। परन्तु सोमनाथ उसके हृदय में विराजमान है और नये मन्दिर के निर्माण से वह फिर जैसे मृत्यु के मुँह से निकल आती है। उसके मन का कमल खिल जाता है। वह भगवान् के सम्मुख नृत्य करते-करते उन्हीं में लीन हो जाती है।

अन्य पात्रों में भीमदेव महमूद, सामंत और गंगा का चरित्र-चित्रण महत्त्वपूर्ण है। गुजरात के पुरुष-सिंह नरेश भीमदेव में एक नेता के महान् गुण विद्यमान थे। उसका सोमनाथ में अचल विश्वास, उच्चकोटि की देश-भक्ति, सशक्त प्रतिरोध और असाधारण वीरता, गुजरात के इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्ययन बनाते हैं। उन दिनों जबकि भारत पर अभूतपूर्व संकटों के बादल छा रहे थे, उसने गुजरात की प्राणपन से रक्षा की और वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके महान् त्याग और बलिदान के फल-स्वरूप अन्तिम विजय ने उसका मस्तक ऊँचा किया। महमूद एक महान् योद्धा है। उसमें उद्देश्य-प्राप्ति की लगन तथा व्यावहारिक बुद्धि थी अतः वह सफलता प्राप्त करता चला गया। उसका व्यक्तित्व भी काफी प्रभावशाली था। अपने आदमियों पर उसका काफी प्रभाव था। वह उन्हें प्रेरणा देता तथा उनका नेतृत्व करता है। अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी वह धैर्य को नहीं छोड़ता। सामन्त सम्भवतः सबसे अधिक खिन्न मनुष्य है। इस समस्त प्रतिरोध के पीछे उसकी भावना क्रियाशील है। उसे सबसे अधिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं और अपने देश की स्वाधीनता की बलि-वेदी पर वह सर्वस्व न्योछावर कर देता है। आक्रमणकारी शत्रु-सेना को नष्ट करने की तीव्र भावना ही उसे महान् अगणित संकटों में बचाये रखती है। चौला सामन्त से स्नेह करती थी। किसी हद तक ये दो आत्माएँ परस्पर सम्बन्धित थीं।

'जय सोमनाथ' एक तीखा, ज्वलंत और दुखान्त उपन्यास है। इसमें श्रेष्ठ दुखान्त उपन्यासों के सब तत्त्व विद्यमान हैं। विषय की गम्भीरता, महान् और उत्तम पात्र, उनकी आकर्षक मानवीय भावनाएँ, वेदना, संकट, शान्ति और मृत्यु से मुक्ति—सभी कुछ। गंग सर्वज्ञ कथा का प्रधान पात्र है। शिवराशि और कपाली नामक पुजारियों के अज्ञान के कारण शत्रु आक्रमण कर के मन्दिर की पवित्रता को नष्ट कर देता है, नीचता और हठ-धर्मी के कारण इतना महानाश होता है कि पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मन्दिर का आक्रमण और उसका विनाश यह भी एक रहस्य है। गंग सर्वज्ञ की अथाह मानसिक वेदना और धर्म-परायणता पाठक को रुला देती है। चौला को शान्ति मिलती है और भीमदेव के नेतृत्व में एक-बार फिर से नई व्यवस्था जन्म लेती है। यह एक ऐसी जाति की करुण-कथा है जिसने कुछ समय के लिए सनातन मूल्यों को खो दिया था। परन्तु राष्ट्र का पुनर्जन्म होता है। दुष्टता का अन्त होता है और नव-चेतना जाग्रत हो जाती है। प्राचीन मन्दिर की प्रतिष्ठा होती है। प्रत्येक यज्ञ के पश्चात् एक नया मन्दिर बनवाया जाता है जो आर्य-संस्कृति के समान अब भी अचल रूप से विद्यमान है।

'जय सोमनाथ' अपने ढंग का अनूठा ऐतिहासिक उपन्यास है और शैली तथा रचना-प्रणाली में अन्य उपन्यासों से सर्वथा भिन्न है। शैली परिपक्व तथा लचकीली है, कहीं-कहीं विस्तार कला को दबा देता है। सौन्दर्य और वैभव के दृश्यों की भी कमी नहीं। आध्यात्मिकता और भौतिकता का सांकेतिक शब्द और विषय की व्यापकता के कारण यह उपन्यास एक अद्भुत और अनूठी रचना बन गया है।

सम्वत् १०८२ वि० के कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी! यात्रियों के ठट के ठट गाते-बजाते सोमनाथ के मन्दिर की ओर चल रहे हैं। उनके लिए सोमनाथ का मन्दिर भूमि-स्वर्ग के समान था तथा मुक्ति का द्वार सोमनाथ का मन्दिर एक सजीव सत्य के समान चारों युगों में अविचल रूप में खड़ा था। सोम ने सतयुग में, रावण ने त्रेतायुग में, श्रीकृष्ण ने द्वापर में क्रमशः इस मन्दिर को स्वर्ण, चाँदी और चन्दन से बनवाया था। विश्वकर्मा ने स्वयं इसका मानचित्र तैयार किया था। और स्वयं गन्धर्व-गण भगवान् शिव के मंगल-गीत गाने आये थे। गुजरात के शाश्वत विश्वास ने इस पवित्र स्थान को सुन्दर तथा वैभवपूर्ण बना दिया। सौन्दर्य और वैभव की कोई मानव-सुलभ वस्तु ऐसी नहीं, जो वहाँ न हो। यह हिन्दू-संस्कृति और सभ्यता का महान् केन्द्र था। रात-दिन भगवान् रुद्र की पूजा के गीत वहाँ गाये जाते थे, और प्रार्थना-भवन में मन्दिर की नर्तकियाँ उषा-काल से अर्द्ध रात्रि तक भगवान को रिझाती रहती थीं। सहस्रों दीपक दिव्य प्रकाश बिखेरते थे। सहस्रों घंटियों की मधुर ध्वनि से मन्दिर का वातावरण निरन्तर गुंजायमान रहता था।

गंग सर्वज्ञ मन्दिर का प्रमुख पुजारी था। उसकी आध्यात्मिक-शक्ति एवं नैतिक अधिकार का इतना प्रभाव था कि भारत के नरेश उसकी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करने को सदा उत्सुक रहते थे। भारत के प्रत्येक प्रान्त के भक्त श्रद्धालु-जन उसमें भगवान् की छवि देखते थे।

मन्दिर में ४०० नर्तकियाँ रहती थीं। उन्होंने अपना जीवन सोमनाथ को अर्पण कर दिया था। मूर्ति के सम्मुख नृत्य-गान करना ही उनके जीवन का एकमात्र ध्येय था। उनके नृत्य में पूजा और प्रार्थना दोनों की अभिव्यंजना झंकृत हो उठती थी। अधेड़ आयुवाली गंगा उनकी नेत्री थी। वह पुजारी से बड़ा स्नेह करती थी। उसकी अठारह वर्षीय सुन्दर और साध्वी पुत्री चौला को आज सायं काल मन्दिर में नृत्य करना था।

यह उसका सर्वप्रथम नृत्य था। वह अपने जीवन के इस महान क्षण की बहुत समय से बाट जोह रही थी। चौला की भावनाओं और विचारों को सांसारिक वासना स्पर्श भी न कर पाई थी। उसका विवाह सोमनाथ से हो जाता है। उसे स्वप्न में ऐसे आभास होते रहते जैसे सोमनाथ उससे कह रहे हों कि वह उनकी सबसे अनूठी नर्तकी है। सोमनाथ उसके हृदय-मन्दिर में विराजमान हो चुके थे। अब चौला एक दिव्य नर्तकी है जिसके जीवन का उद्देश्य ही अपने प्रियतम (सोमनाथ) के सम्मुख नृत्य-गान करना था। उसकी मेधावी माता ने उसको नृत्य, अभिनय तथा संगीत में पारंगत कर दिया था। आज उसकी परीक्षा की बेला थी। वह भगवान् सोमनाथ के सम्मुख अपने सर्व-प्रथम नृत्य द्वारा अपनी आत्मा खोल कर रख देगी। उसके मन में अपने नृत्य की सफलता में संदेह एवं आशंकाएँ पैदा होती हैं। उसका

नृत्य तो जभी सफल होगा न, यदि भगवान् सोमनाथ स्वयं उसे स्वीकार कर लें। उसने इस महान् अवसर पर सफलता प्राप्त करने के लिये बड़ी तपस्या की है। क्या वह सब व्यर्थ जायगी ? क्या उसके सपने सच्चे सिद्ध नहीं होंगे ? चौला बहुत दिनों से उस दिव्य कला का स्वप्न लिया करती थी जिसके कारण वह भगवान् की नर्तकी बन सके। सोमनाथ का मन्दिर उसका संसार था। उसकी साध केवल यही थी कि भगवान सोमनाथ के सामने वह एक छोटी-सी प्रिय नर्तकी बनकर रहे। अपनी माँ के विपरीत उसके मन में मन्दिर की नर्तकियों पर शासन करने की महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। गंग सर्वज्ञ भी यही चाहते थे कि आज के नृत्य में चौला सफल हो।

सन्ध्या की प्रार्थना के समय चौला का नृत्य आरम्भ हुआ। मन्दिर की सजावट दर्शनीय है। लिंग को बेल-पत्रों और रंग-रंग के फूलों से ढक दिया गया है। सुनहरी गुलाब-दानियों से गंगाजल छिड़का जा रहा है। अगणित दीपक जल रहे हैं। और विद्वान् पुजारी भगवान शंकर की स्तुति में सुन्दर-सुन्दर स्तोत्रों का पाठ कर रहे हैं। शङ्ख, घड़ियाल, दमामे और तुरही का वाद्य वातावरण को ध्वनित कर रहा है। इस पवित्र, वैभवपूर्ण तथा सात्विक वातावरण से जैसे दूसरा कैलाश पृथ्वी पर उतर आया हो। गंग सर्वज्ञ इस उत्सव का संचालन कर रहे हैं। वे चौदह वर्ष से इस मन्दिर के गुरु पुजारी हैं। श्रद्धालु यात्री इस पवित्र मनुष्य को सोमनाथ का अर्चन करते देख गद्‌गद् हो जाते। आशीर्वाद के पश्चात् सिंह-हृदय गुजरात-नरेश भीमदेव आगे बढ़कर गंग सर्वज्ञ से प्रार्थना करता है कि उसे इस वर्ष मन्दिर की मरम्मत तथा अलंकृति का सेवा-कार्य करने की आज्ञा दी जाय। गुरुपुजारी स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाकर मुस्करा देता है।

"अच्छा, अब नृत्य प्रारम्भ हो"—गंगसर्वज्ञ ने धीरे से कहा। लज्जाशील चौला सुन्दर शृंगार किये संकोच से पग उठाती हुई मंडप के मध्य पहुँचती है। एक क्षण में गंग सर्वज्ञ के सम्मुख उन्नीस वर्षों की तपस्या थिरकने लगती है। अपने और गंगा के उन्नत प्रेम की झाँकी उसकी आँखों के सामने आ जाती है। चौला उसी प्रेम का प्रतीक थी।

अपनी माँ के शब्दों तथा गंग सर्वज्ञ के मधुर-मंद मुसकान से उत्साहित होकर, वह प्रार्थनामय नृत्य करने लगी और शीघ्र ही जैसे वह अपने तन-मन की सुधि भूल गयी। नृत्य करते-करते वह मूर्च्छित होगई। नृत्य की कविता, भावना तथा आह्लाद बढ़ रहे हैं। यह कोई साधारण नृत्य नहीं था। ऐसा प्रतीत होता था मानो स्वयं पार्वती ने दुबारा जन्म ले लिया हो। उसके हाव-भाव, चेष्टाओं, मुद्राओं, तथा संकेतों से पार्वती की विविध मनःस्थितियों का आभास होता था। उसकी लय उसके मनके संकोच, भय, आशा और अशान्ति की अभिव्यंजना कर रही थी। मन्दिर के संगीत और उसके नृत्य में एक पूर्ण भावमय एकस्वरता है। धीरे-धीरे यह मनःस्थिति बदलती है। पार्वती के समान वह अपनी अधीरता तथा आवेग को नृत्य में ही प्रकट करती है। उसका हृदय क्रोध में चीत्कार कर उठता है। लय के वातावरण में जैसे अग्निस्फुलिंग बिखरने लगे। तब सहसा एक आलोक फैल जाता है और भगवान शंकर उसकी आत्मा और शरीर को जैसे अपने दिव्य प्रकाश में निमग्न कर लेते हैं। नृत्य द्वारा एक

अकथनीय आनन्द प्रवाहित हो रहा है। चौला का स्वप्न पूरा हो गया। उसका नृत्य कला के सब नियमों और प्रतिबन्धों का अतिक्रमण कर जाता है। उसके हृदय की धड़कनें वाद्यों में प्रतिध्वनित हो उठती हैं। उसकी विजय का श्रेष्ठ क्षण आ पहुँचा है। वह नृत्य बन्द नहीं कर सकती, क्योंकि यह प्रेम और भक्ति के द्वारा उत्पन्न हुआ है, और उसका प्रेम पूर्ण है। अन्त में वह थक कर फर्श पर गिर पड़ती है। संगीत थम जाता है। उसके प्रशंसक यात्री आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। चौला के दिव्य-नृत्य से अत्याह्लादित होकर गंग सर्वज्ञ अपने आसन से उठकर उसे उठा लेते हैं। अचेत चौला को अपने हाथों से थामे हुए वह सोमनाथ से विनय करते हैं। भगवान इस छोटी-सी नर्तकी को स्वीकार करो। आज से यह अपने जीवन पर्यन्त प्रत्येक शिवरात्रि को आपके सम्मुख नृत्य किया करेगी। चौला अचेतावस्था में बड़बड़ाती हुई सुनायी देती है—"इस जन्म में और अगले जन्मों में भी मैं आपकी हो गयी।"

भीमदेव का एक मन्त्री दामोदर मेहता, महमूद गजनवी के आक्रमण के समाचार सुनाता है। उसने सोमनाथ-पाटन में भीमदेव को यह सूचना दी कि महमूद ने थानेश्वर तथा कन्नौज पर आक्रमण कर दिया है और अब उसकी सेनाएँ सपादलक्ष की ओर बढ़ रही हैं। बड़ा गम्भीर समय है। उसके स्वामी को अपनी राजधानी अनहिलवाड़ा पाटन को तुरन्त लौट चलना चाहिये।

"महमूद का अन्तिम लक्ष्य सोमनाथ के मन्दिर को तोड़ना है।" दामोदर ने अपने आने का कारण संक्षेप में बताते हुए कहा।

गंग सर्वज्ञ मुस्कराये। "क्या वह यवन मेरे भगवान का झंडा नीचा करना चाहता है? सच कहा है कि मनुष्य का अहम् भगवान के कोप से भी भय नहीं खाता।"

"महमूद यवन से भी भयानक है।"

"उसे काल के गाल में आने दो। मैं उससे जूझने को तैयार हूँ। गुरुदेव मुझे इस संकट में भगवान की वरद शक्ति दिखायी पड़ती है। लम्बे-लम्बे युद्धों के लिए मैं सदा लालायित रहता हूँ। अब मुझे महमूद जैसे योद्धा से दो-दो हाथ करने का अवसर मिलेगा। अब आप भीमदेव के बल को देखेंगे।" भीमदेव बोले।

"बेटा, सत्य की सदा विजय होती है। भगवान् सोमनाथ तुम्हें सफल-मनोरथ करें।"

मन्दिर के बाहर कपाली लोगों की बस्ती थी। वे वाम-मार्गी लोग थे। मदिरा, रक्त और मांस से वे अपने इष्टदेव का पूजन करते थे। वे भैरव और त्रिपुर-सुन्दरी को मनुष्य की बलि देकर रिझाते थे। देखने में ये लोग बड़े असुन्दर थे। एक दिन उनके गुरु कंक योगेश्वर ने सन्ध्या के समय समुद्रतट पर जाकर चौला को स्नान करते देख लिया। वह उसे पकड़ कर भैरव की बलि देने के लिये तैयार हुआ। परन्तु अचानक भीमदेव वहाँ आ निकला। चौला के प्राण बच गये। भीमदेव उस कपाली पुजारी का गला घोंट कर उसे शोचनीय अवस्था में छोड़ कर चल दिया। भीमदेव ने भी चौला का नृत्य देखा था, वह उसके दिव्य सौन्दर्य पर मुग्ध था। जब चौला होश में आई तो भीमदेव ने अपना परिचय दिया—

"मैं गज़नी के म्लेच्छ के साथ युद्ध करने जा रहा हूँ।"

"उसे परास्त कर शीघ्र लौट आना। भगवान् सोमनाथ आपकी रक्षा करें।" चौला ने उत्तर दिया।

"क्या तुम मेरी प्रतीक्षा करोगी ?"—भीमदेव अपनी भावना को न दबा सका।

"जब आप वापस आयेंगे, तो मैं अपने भगवान् शंकर के चरण-कमलों में हूँगी।"

चौला का यह उदासीन उत्तर पाकर भीमदेव के जैसे बाण-सा लगा।

उसने इसे अपना तिरस्कार समझा। परन्तु कपाली पुजारी का मृत्यु का समाचार सुनते ही लोग भयभीत हो गये। उन्होंने इसका यह अर्थ लगाया कि ईश्वर का कोप सिर पर है। गंग सर्वज्ञ का प्रधान शिष्य शिवराशी भी उन्हीं के विचार से सहमत था।

सज्जन चौहान और उसका पुत्र सामन्त घोघागढ़ से सोमनाथ के दर्शन करने आये। गंगसर्वज्ञ ने उन्हें महमूद के सम्भावित आक्रमण की सूचना दी और उनसे अपने नगर वापस चले जाने को कहा ताकि महमूद के रेगिस्तान के प्रवेश को रोका जा सके। इसके लिये उसने उन्हें प्रतिरोध की पहली पंक्ति स्थापित करने की सम्मति दी। उसके पिता घोघाराणा की अवस्था अस्सी वर्ष की हो चुकी थी, परन्तु अपने प्रान्त में उसका आतंक छाया हुआ था। सज्जन को पूर्ण विश्वास था कि वह महमूद की सेना को भून के रख देगा। सामन्त ने कल चौला का नृत्य देखा था। वह उसके लावण्य पर आसक्त था। सोमनाथ पाटन से लौटते समय, गंग सर्वज्ञ के संकेत पर, चौला ने उसे चरणामृत दे विजय के लिए आशीर्वाद दिया। सामन्त बड़ा प्रसन्न हुआ और अब वह भावी कार्यक्रम बनाने लगा। उसके लिये प्रत्येक क्षण मूल्यवान् हो रहा था। शत्रु-सेना निरन्तर बढ़ती आ रही थी। समय बचाने के लिए सज्जन ने रेगिस्तान को एक छोटे किन्तु संदिग्ध मार्ग से पार करने का निश्चय कर लिया।

सामन्त को आबू होकर झालोर जाने के लिए कहा गया। पिता और पुत्र का वियोग बड़ा करुणापूर्ण है। परन्तु उनके गुरु ने उन्हें अपने पुरखाओं के धर्म की रक्षा के लिए जो पवित्र कार्य करने का आदेश दिया, उससे उन्हें प्रेरणा मिली। पिता और पुत्र दोनों ही एक महान् धर्म-कार्य का अनुष्ठान कर चुके हैं और उसको पूरा करने के लिए सब प्रकार के संकटों का आह्वान करने को तैयार हैं। सज्जन एक तीव्र गतिवान ऊँट लेकर घोघागढ की ओर चल दिया।

रेगिस्तान में चार दिन बीत गये। सज्जन चौहान धर्म-युद्ध का संदेश पहुँचाने के पवित्र कार्य पर नियुक्त था। पाँचवें दिन आँधी चलनी शुरू हो गई। चारों ओर रेत के अँधियारा देनेवाले तथा तन को झुलस देनेवाले बादल उठने लगे। सज्जन चौहान अपने ऊँट समेत उस नरक में फँस जाता है। उसे भय था कि एक क्षण में गर्म-गर्म रेत के बगूले उसे मृत्यु की घाटी में ढकेल देंगे। वह अपना मार्ग भूल जाता है और मृत्यु-वाहिनी रेतीली गर्म लहरों से त्राण पाने की इच्छा से निराश इधर-उधर भागने लगता है। केवल विश्वास ही उसे सहारा दे रहा है। "जय सोमनाथ" के शब्द उसके अधरों पर हैं। ऐसे संकट में उसके भगवान् उसे कैसे भुला सकते हैं ? वे ही उसके रक्षक हैं। वे उसे अवश्य इस घातक तूफान से बाहर निकाल देंगे। दसवें दिन अचानक उसे अगणित गिद्धों की किलकिलाहट सुनायी पड़ी। क्या यह नये युद्ध की

प्रस्तावना तो नहीं ? कहीं महमूद ने रेगिस्तान को पार तो नहीं कर लिया ? ऐसे-ऐसे विचार उसे व्याकुल करने लगे। ज्यों-ज्यों वह आगे बढा, उसे आधे ढके हुए अगणित शव दिखाई दिये। सज्जन ने एक ठंडी आह भरी। वह यवन-सेना की विशालता को समझ गया। आगे बढने पर उसने एक उजड़े गाँव को देखा। वह उसकी तरफ गया। वहाँ एक भी व्यक्ति दृष्टि-गोचर न हुआ। गाँव के विनाश का दृश्य अत्यन्त घिनौना था। झोपड़ियाँ और घर सब लूट-पाट के बाद तोड़-फोड़ डाले गये थे।

वृक्षों पर पत्ते भी न रहे थे और कुओं का पानी सूख गया था। सज्जन को यह पाशविक कृत्य देखकर दुःख हुआ और वह अपरिचित मार्ग पर चल निकलने के कारण अपने-आप को कोसने लगा। उसे भय हुआ कि कहीं उसे कई दिन तक इसी प्रकार न भटकना पड़े। देर करने से तो उसका उद्देश्य ही मारा जायगा। वह बड़ी दुविधा में पड़ा। दिल को कड़ा करके वह एक मार्ग पर चल दिया और महमूद की सेना के एक खोजी-दल से उसकी भेंट हो गई। सज्जन का भय और आशंका सच्ची निकली। महमूद ने मुलतान, नंदोल और सपादलक्ष को तो अवश्य ही पार कर लिया होगा। परन्तु सोमनाथ में उसका अजेय विश्वास था। उसने विचार किया कि भगवान को इसमें भी कुछ अच्छाई ही भायी होगी कि शत्रु इतनी दूर प्रदेश के अन्दर आ जाय। शायद उसकी पराजय इसी प्रकार हो।

सज्जन ने खोजी-दल को अपनी सेवा प्रस्तुत की और वह उसे महमूद के पास ले गया। महमूद के शिविर में पहुँचकर वह उसकी सेना के संगठन एवं भारी शस्त्रास्त्र देखकर दंग रह गया। शिविर की व्यवस्था बड़ी उत्तम थी और उसके साधन असीम दिखाई पड़ते थे। ऊँट, घोड़े, हाथी और अन्य पशुओं की कोई गिनती न थी। हजारों तम्बुओं के ऊपर गजनी के झण्डे फहरा रहे थे। सेना की विशाल पंक्तियाँ, नये-नये और घातक शस्त्रों का विशाल समूह, सेना के लिये खाद्य पदार्थों का भंडार। महमूद की इस म्लेच्छ-वाहिनी ने यदि ग्वालियर, कन्नौज, दिल्ली और सपादलक्ष की सेनाओं को नष्ट कर दिया था, तो उसमें आश्चर्य ही क्या ? मथुरा के अति प्राचीन मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करके महमूद सोमनाथ-पाटन की ओर बढा चला आ रहा था। जहाँ-जहाँ से उसकी सेना गुज़री, वहीं तबाही मच गयी। धन-सम्पत्ति सब महमूद के हाथ लगी। सज्जन महमूद से मिला और उसे प्रधान मरु-मार्ग से न जाने का परामर्श दिया और कहा कि इस मार्ग के दूसरी ओर विशाल राजपूत-सेना उसके मुकाबिले के लिये कटिबद्ध है। उसने यह भी कहा कि मरुस्थल में से होकर एक मार्ग और जाता है और यदि वह चाहे तो वह उसके साथ चल सकता है। चतुर यवन सोमनाथ-पाटन पहुँचते-पहुँचते अपनी अधिक-से-अधिक सेना का बचाव करना चाहता था। वह अनहिलवाड़ा-पाटन शीघ्रता से पहुँचना चाहता था, अतः उस योजना में सहायता के सुझाव का उसने स्वागत किया तथा सज्जन का सुझाव मान लिया। सज्जन भी एक गम्भीर चाल चल रहा था। वह महमूद की सेना को मरुस्थल में ले गया। चार दिन के बाद सज्जन ने सोमनाथ से प्रार्थना की—"हे भगवान रुद्र ! तुम्हारी आग बरसानेवाली आंधियाँ कहाँ हैं ? इस विपत्ति की घड़ी में अब देर काहे की !" सेना के अधिकारीवर्ग को इस विचित्र पथ-प्रदर्शक की नीयत पर सन्देह होने लगा, परन्तु सज्जन उन्हें

मरुस्थल में आगे-ही-आगे लेकर बढ़ता गया। सहसा उसने क्या देखा कि काली भयानक आँधी उठ रही है। कुछ ही क्षणों में महमूद के हज़ारों आदमी मौत के पंजे में आ गये।

इस आँधी और तूफान में सज्जन ने अपने वृद्ध पिता घोघा राणा को ध्यान की दृष्टि से अपनी प्रशंसा करते हुए देखा। उसके अकेले बेटे ने शत्रु की विनाशकारी वाहिनी का नाश करके रख दिया था। महमूद इस संकट में भी शान्त और गम्भीर था। वह इस बात के लिये बड़ा उत्सुक था कि इस विनाश में भी उसकी सेना का एक बडा भाग बच जाय। उसने अपनी सेना के तीन भाग कर दिये और आज्ञा दी कि मध्यवर्ती और हरावल दस्ते तुरन्त वापस चले जायँ। उधर सज्जन और उसका स्वामिभक्त ऊँट रेत के नीचे दब गये। मरते-मरते भी उसे सोमनाथ की रक्षा की चिन्ता रही। "जय सोमनाथ" कहकर उसने प्राण दे दिये।

परन्तु महमूद एक अनुभवी सैनिक था। इस विनाश से उसने साहस नहीं छोड़ा। उसने अल्लाह का शुक्रिया अदा किया कि उसकी सेना का दो-तिहाई भाग तो बच गया।

अद्‌भुत उत्साह के साथ उसने अपनी सेना का पुनः संगठन करके अपने भयभीत सैनिकों में नये जीवन का संचार कर दिया

उधर पिता की आज्ञा पाकर सामंत झालोर को चल दिया। झालोर का राजा वाक्‌पतिराज घोघा राणा का निकट-सम्बन्धी था। झालोर के समीप सामन्त की अचानक ही भीमदेव के प्रधान मन्त्री विमल से भेंट हो गई। वे दोनों महमूद के आक्रमण के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चे के लिये कृत-संकल्प थे। सत्तर वर्षीय वृद्ध वाक्‌पतिराज इस योजना में सहमत होने में बड़े गौरव तथा संतोष का अनुभव करने लगा। उसने सामन्त और विमल से कहा कि महमूद ने सहायता के लिये उसके पास एक गुप्तचर भेजा है। वह चाहता है कि उसकी सोमनाथ-पाटन की चढ़ाई के मार्ग में कोई अड़चन या प्रतिरोध न हो। सामन्त और विमल को यह जानकर बड़ा दुःख और आश्चर्य हुआ कि झालोर के मूर्ख वृद्ध राजा ने महमूद को सहायता देना स्वीकार कर लिया है। वाक्‌पतिराज सोचने लगा कि भीमदेव बड़ी कठिनाई में है, इसलिये उसने अपने मन्त्री को सहायता के लिये भेजा है। बुद्धिमान मन्त्री ने बूढ़े राजा को बताया कि उसने सोमनाथ-मन्दिर पर महमूद के आक्रमण में सहायता देने की मौन-स्वीकृति देकर उसके घातक परिणाम को नहीं समझा। वह उसे समझने की कोशिश करे।

"महाराज, यह संकट केवल गुजरात पर नहीं आया है। म्लेच्छ सोमनाथ के मन्दिर को नष्ट करने आ रहा है। यह धर्म और संस्कृति की पुकार है।"

"अरे यह तो कहने की बातें हैं। उस समय भीमदेव कहाँ था जब महमूद मथुरा के मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया था। तब वह उनकी रक्षा के लिये वहाँ क्यों नहीं आया?"

"परन्तु, श्रीमान्, क्या यह सम्भव है कि महमूद सपादलक्ष, नाडूल, झालोर को पार करके सोमनाथ पाटन पहुँच जायगा?"

"जब तक हम यहाँ हैं, वह झालोर की तरफ आँख उठाकर भी नहीं देख सकता।"

"वह सोमनाथ-पाटन के लिये कोई और दूसरा मार्ग ग्रहण कर लेगा। आपकी निष्क्रियता से लाभ क्या? इसका परिणाम बड़ा विनाशकारी होगा। महमूद सोमनाथ-पाटन

पहुँचकर मन्दिर को तोड़ देगा। क्या आप इस बात को नहीं समझते कि इससे क्षत्रियों के नाम पर सदा के लिये कलंक लग जायगा।"

"सोमनाथ भीमदेव का पैतृक मन्दिर है। क्या उसकी रक्षा के लिये उसके पास पर्याप्त शक्ति नहीं है?"

झालोर का बूढ़ा अहंकारी राजा आक्रमण के महत्त्व को न समझ सका। वह अपनी ही शान में मरा जा रहा था। सामन्त और विमल उससे निराश हो गये। उन्होंने महमूद के उस गुप्त दूत का पीछा करने का निश्चय कर लिया जो झालोर के राजा से मिलकर मारवाड़ को जा रहा था।

वे उसका पीछा करने में सफल हो गये। बातों-बातों में उसके मन में अपने प्रति विश्वास पैदा कर दिया। दोनों ने उसे कहा कि झालोर-नरेश ने उनको उसके पास इसलिये भेजा है कि मारवाड़ के रणमल रावल से सहायता लेने में उसका हाथ बँटा सकें। थोड़ी दूर तक वे इकट्ठे यात्रा करते रहे; परन्तु अवसर पाकर उन्होंने उस दूत को मार डाला। सामन्त हर्षोल्लास में बोला—"भगवान् सोमनाथ के शत्रुओं की यही दशा होगी।" अब सामन्त और विमल अलग-अलग हो गये। विमल इन सब घटनाओं की सूचना देने के लिये भीमदेव की तरफ चल दिया। सामन्त ने अपने पिता से मिलने के लिये घोघागढ़ की राह ली। उसे इस विचार से प्रसन्नता हुई कि उसने महमूद पर एक चोट तो कर दी तथा उसके मन्सूबों पर पानी फेर दिया।

राह में उसे शरणार्थियों की अनेक टोलियाँ मिलीं—भयभीत और पीले चेहरे। उन्होंने महमूद की सेना के अत्याचारों का वृत्तान्त सुनाया। उन्होंने महमूद की अतुल शक्ति की अविश्वसनीय कहानियाँ सुन रखी थीं। कुछ भगोड़े सैनिकों ने बताया कि एक चौहान योद्धा, बालमदेव, सपादलक्ष में गजनी की सेना से लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हो गया। ऐसे-ऐसे समाचारों से व्याकुल होकर सामन्त भामरिया जा पहुँचा। यह स्थान घोघागढ़ के निकट ही स्थित था। वहाँ के सर्वनाश और उजाड़ के हृदय-द्रावक दृश्य देखकर वह बड़ा ही दुःखी हुआ। एक भी प्राणी जीवित न बचा था। घोघा राणा का कुल-मन्दिर ढा दिया गया था। पताका के टुकड़े-टुकड़े हुए पड़े थे। सामन्त इन खण्डहरों में एक संदेह-भूत के समान घूम रहा था। वह अपने प्रियजनों को पुकारता था जिन्हें तीन महीने हुए वह छोड़ गया था। परन्तु उसकी पुकार का उत्तर देनेवाला वहाँ कौन था? अपनी ही पुकारों तथा आहों की प्रतिध्वनि उस निर्जनता को और भी भयानक बना रही थी। एक छोटी-सी चमगादड़ चक्कर काट रही थी और एक बड़ा-सा चूहा कोई चीज चबा रहा था। वह दुःख से पागल हो गया। उसे लगा कि वह शीघ्र ही चल बसेगा। स्थान बड़ा डरावना तथा विलक्षण दिखायी पड़ने लगा। क्या वह कोई दुःस्वप्न देख रहा है अथवा जागता है? इस प्रलयंकारी परिवर्तन को देखकर उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं होता था।

अन्त को उसे कुल-पुरोहित नन्दीदत्त के दर्शन हुए। केवल वही एक प्राणी वहाँ बच रहा था। उसने घोघा राणा और उसकी वीर सन्तान के साहसिक बलिदान, महान् साहस तथा उत्तम

आदर्श की करुणाजनक कथा उसे सुनाई। नन्दीदत्त ने कहा कि महमूद घोघा राणा से लड़ना नहीं चाहता था, परन्तु सोमनाथ-पाटन को जाने के लिये मरुस्थल में से होकर जाने की स्वीकृति मात्र चाहता था। उसने इसके लिये घोघा राणा को उत्कोच तक दी; परन्तु उस स्वाभिमानी राजपूत ने घोघागढ के चौहानों को युद्ध के लिये पुकारा ताकि म्लेच्छ सेना के उमड़ते हुए तूफान को रोका जा सके। यह एक महान् कार्य था। घोघाराणा और उसके वीरपुत्र आक्रमणकारियों के मुकाबिले में बहुत ही थोड़े थे। परन्तु उनमें बला का साहस था। नब्बे वर्षीय घोघा राणा सिंह के समान गरजता था। उसमें रुद्र और परशुराम का सा तेज और पराक्रम था। वह आग उगलने लगा। उसने घोषणा करदी कि महमूद को वह एक अंगुल मार्ग भी नहीं देगा। कोई एक सहस्र राजपूत इकट्ठे करके उसने उन्हें किले के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर नियुक्त कर दिया। यह उसके मान-सम्मान का प्रश्न था। उसका धर्म और संस्कृति घातक संकट में थे। वह कैसे चुप बैठ सकता था ?

परन्तु महमूद यथार्थवादी सैनिक था। वह अनावश्यक और व्यर्थ के झगड़ों में पड़ना नहीं चाहता था। उसने चौहान योद्धाओं की शक्ति को जान लिया था। वह जानता था कि किले पर आक्रमण करने का अर्थ यह है कि उसे कुछ महीनों अथवा वर्षों तक वहाँ रुकना पड़े। वह आक्रमण में विलम्ब करने के पक्ष में नहीं था। घोघा राणा का मान रखते हुए उसकी सेना घोघागढ के पास से निकलने लगी। घोघा राणा के लिये, जो युद्ध-परम्पराओं में पला सरदार था, यह सब असह्य था। उसने अपने सैनिकों को महमूद की सेना का पीछा करने की आज्ञा दी। यह कोरा पागलपन था। परन्तु इस संघर्ष में कई भावनाएँ कार्य कर रही थीं। यदि मन्दिर का पतन हो गया तो हमारा जीवन मृत्यु से भी बुरा है। और यदि इस आक्रमण से मन्दिर बच गया तो हम मर कर भी जीवित रहेंगे। इस प्रकार मन्दिर के मरुस्थल-द्वार का महान् प्रहरी और हिन्दू धर्म तथा संस्कृति का एक अजेय पुरुष घोघा राणा अपने सैनिकों को प्रेरित कर रहा था। "जय सोमनाथ" के जयकारे गुँजाते हुए घोघा राणा और उसके मुट्ठी भर सैनिक महमूद की भागती हुई सेना पर टूट पड़े। यह मृत्यु को घाटी में वीरों का महाप्रयाण था। घोघराणा और उसके वीर सैनिक लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुए। वे अपनी पैतृक सम्पत्ति के रक्षार्थ अपने प्राणों पर खेल गये। घोघागढ़ की समस्त महिलाओं ने जौहर कर अपने को प्रचण्ड अग्नि में सौंप दिया। इस युद्ध में महमूद का भी भारी नुकसान हुआ। परन्तु उसने शीघ्र ही अपनी सेना को संगठित करके सोमनाथ-पाटन की तरफ कूच कर दिया।

सामन्त और नन्दीदत्त को राह में महमूद के शिविर दिखायी पड़े। सामन्त बड़े चातुर्य से महमूद से भेंट करने में सफल हो गया और अवसर पाकर उसके प्राण लेने की चेष्टा भी की; परन्तु महमूद किसी प्रकार बच गया। महमूद ने अतीव सजगता के साथ सामन्त का उठा हुआ हाथ पकड़ लिया और उसे क्षमा कर दिया। सामन्त ने बताया कि वह घोघा राणा चौहान का पोता है। महमूद एक वीर योद्धा था। उसने सामन्त के महान् साहस और निश्चय की जी खोलकर प्रशंसा की तथा सामन्त के साथ एक रक्षक भेज दिया। उसने अपने सैनिकों को सम्बोधित करके कहा—"अल्लाह ने मुझे नयी जिन्दगी बख्शी है। वह मुझे सफल-मनोरथ भी

करेगा। जो हो, मैं तो सोमनाथ-पाटन जाने का निश्चय कर चुका हूँ। तुम चलो चाहे न चलो।" बस फिर क्या था! महमूद की इस वक्तृता से सैनिक उल्लास में भर गये।

× × ×

घोघा राणा अब एक वीर-गाथा का विषय बन गया। धर्म-युद्ध के लिये उसका हिम-हृदयों में आग लगा देनेवाला सन्देश गाँव-गाँव और नगर-नगर में सुनाया जा रहा है। गुजरात के सीमावर्ती गाँवों में महमूद की तूफानी सेना को रोकने के लिये एक-एक व्यक्ति घोघा राणा के बलिदान से उत्साह तथा प्रेरणा पा रहा था। जनता की देशभक्ति एवं धार्मिक भावनाओं को जाग्रत करने के लिये घोघा राणा एक शक्तिशाली प्रतीक बन गया था। सामन्त ने, जो कि चौहानों में अकेला ही रहगया था, सोमनाथ-पाटन पहुँचकर गंगसर्वज्ञ को सारी दुःखान्तपूर्ण गाथा कह सुनाई—

"गुरुदेव, यहाँ महमूद की महान् शक्ति की किसी को खबर नहीं। चाहे वह कुछ भी है, परन्तु उसके व्यक्तित्व में जादू तथा आकर्षण है। युद्ध-चातुरी में वह अद्वितीय है। उसकी सेना सागर के समान अथाह और विशाल है।"

"पुत्र, क्या भगवान सोमनाथ की अनन्त शक्ति एवं दया में विश्वास नहीं रहा?"

"मेरा विश्वास तो दृढ़ तथा अटल है। परन्तु मुझे आपके इन्द्रियासक्त नरेशों की बुद्धि में सन्देह है। वे लोग भावी महान् संकट को नहीं समझते। वाक्पतिराज, घोघा राणा और बालमदेव उस तूफान के आगे नहीं ठहर सके। मैंने महमूद की सेनाएँ देखी हैं तथा उनमें घूमकर उनकी शक्ति का अनुमान लगाया है। वह दूसरा त्रिपुरासुर है।"

सामन्त ने अपने गुरुदेव को मन्दिर खाली करने की सम्मति दी; परन्तु गंगसर्वज्ञ इस प्रस्ताव से सहमत नही हुआ। इसे उसने अपनी भावना की पराजय समझा। उसने घोषणा करदी कि वह लिंग को न हटाने का दृढ़ निश्चय कर चुका है तथा आवश्यकता पड़ने पर वह म्लेच्छ और लिंग के बीच खड़ा होकर प्राण दे देगा। सामन्त को गंगसर्वज्ञ के साथ वाद-विवाद करने में कुछ लाभ प्रतीत नही हुआ। उसने बताया कि भीमदेव की सेना को वहाँ लाकर एक संयुक्त मोर्चा स्थापित किया जा सकता है। इस बात को सबने स्वीकार कर लिया और उसे अनहिलवाड़ा में जाकर भीमदेव से मिलने के लिये नियुक्त कर दिया। पाटन जाने से पूर्व वह गंगा और चौला से मिला। उनकी स्नेहपूर्ण सहानुभूति से उसके घावों की जलन कुछ कम हो गई।

धर्म-युद्ध के लिये भीमदेव की पुकार पर कच्छ, सोरठ, श्रीमल, लाट और कोंकण के नरेश कटिबद्ध हो गये। अपने पुराने भेदभाव भुलाकर वे सब भीमदेव के साथ इस कार्य में सहयोग करने लगे।

सोमनाथ के मन्दिर की रक्षा में भृगुकच्छ से दादू चालुक्य, जूनागढ़ से राव रत्नादित्य, कच्छ से कामो लखानी और आबू से त्रिलोचन परमार अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर आ गये। भीमदेव को इस धर्मयुद्ध का नेता मान लिया गया। पाटन धार्मिक अचलता एवं सांस्कृतिक स्वाधीनता का प्रतीक बन गया। भीमदेव की प्रेरक पुकार और नेतृत्व ने महमूद की

सेनाओं के प्रतिरोधार्थ एक सजीव दीवार खड़ी करदी। वह अब अपनी राजधानी के बाहर महमूद से दो-दो हाथ करने के लिये लालायित हो उठा। उसके साथियों में इस बात पर मत-भेद हो गया कि स्वयं पहले हल्ला बोल दिया जाय अथवा प्रतिरोधात्मक युद्ध किया जाय। भीमदेव पहले हल्ला बोलने को श्रेयस्कर समझता था। परन्तु उसके मन्त्रियों ने उसे अधिक सावधान और क्रियात्मक होने का परामर्श दिया। इसी अवसर पर सामन्त आ निकला और उसने अपने आने का उद्देश्य बताया। वह महमूद की शक्ति को कम समझनेवाले नरेशों की मूर्खता से क्षुब्ध हो उठा था। उसने भीमदेव से कहा—

"महमूद की सेना को मार भगाने की मूर्खतापूर्ण बातें सुनकर मैं थक गया हूँ। आप लोगों को यह मालूम नहीं कि महमूद की सेना अपेक्षाकृत कितनी शक्तिशाली तथा वह स्वयं कितना व्यवस्था-कुशल सैनिक है। शत्रु की सेना गिनती में हमसे कहीं अधिक है। मुझे तो ऐसा लगता है कि महमूद के रूप में भगवान रुद्र का कोप हमारी मूर्खता एवं फूट का दण्ड देने आया है।"

सामन्त ने ये शब्द बड़े भावपूर्ण आवेश के साथ कहे। महमूद को पराजित करना ही उसकी एकमात्र इच्छा थी। दामोदर मेहता ने सामन्त के इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि अनहिलवाड़ा-पाटन को छोड़कर सोमनाथ-पाटन के स्थान पर युद्ध किया जाय। भीमदेव ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करके अपनी सेना को सोमनाथ-पाटन की तरफ कूच करने की आज्ञा दी।

× × ×

सोमनाथ-पाटन में गंग सर्वज्ञ ने मन्दिर की समस्त व्यवस्था भीमदेव को सौंप दी। उसे मन्दिर का रक्षक नियुक्त कर दिया गया। पुरुष-केसरी भीमदेव अपने गुरु से विनम्रता-पूर्वक बोला कि मैं तो भगवान की इच्छा का एक खिलौना मात्र हूँ। एक महा भयानक शत्रु हमारे सिर पर चढ़ आया है, भगवान की इच्छा हुई तो हम उसे समाप्त कर देंगे। गंग सर्वज्ञ से लिंग को किसी अन्य स्थान पर ले जाने की फिर विनती की गई। परन्तु वह ऋषि अपने निश्चय पर दृढ़ था। उसने कहा—

"सृष्टि-रचना से पूर्व भगवान शिव ने अपनी आत्मा को यहाँ स्थापित किया था। और प्रलय के अवसर पर यह लिंग यहीं रहेगा। मैं सदा अपने इष्टदेव के साथ रहूँगा। म्लेच्छ जो चाहे सो कर ले। मैं तो चट्टान की भाँति यहीं खड़ा हूँ।"

भीमदेव ने अपनी रक्षा-पंक्तियों की तुरन्त व्यवस्था कर ली। महिलाओं, बच्चों तथा वृद्धजनों को सुरक्षित स्थान पर भेज दिया गया। बस्ती में केवल गंगा और चौला ही रह गईं। चौला ने तो स्वयं को भगवान् सोमनाथ के अर्पण कर दिया था। उसे विचार आया कि भीमदेव भगवान् की प्रेरणा से ही इस धर्मयुद्ध के लिये कटिबद्ध हुआ है। इस बलवान योद्धा के प्रति उसके मन में स्नेह और प्रेम जागृत हो गया। चौला के प्रेम ने भीम-देव की वीर भावना को और भी चमका दिया। धर्म-युद्ध प्रारम्भ हुआ। महमूद की सेना ने मन्दिर के सामने मोर्चे सँभाल लिये। कतिपय विजयों से उन्मत्त महमूद के सिपाही बड़े

उल्लास में थे। भीमदेव और उसके योद्धा धर्म-युद्ध लड़ने के लिये गुजरात की परम्परागत वीरता से अनुप्राणित हो रहे थे। महमूद की सेनाओं का संगठन बड़ी योग्यता से किया गया था। उनके शस्त्रास्त्र भी अद्भुत थे। हरे रंग का साफा पहने, महमूद अपनी सेना के मध्य में था। उसकी ओर मुँह किये महल पर खड़ा भीमदेव ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे परशुराम की आत्मा ने देह धारण करली हो। एक ही क्षण में तीक्ष्ण और घातक बाणों की वर्षा होने लगी। भीमदेव ने अद्भुत साहस और वीरता दिखाई। मन्दिर के महल के सभी द्वारों की गुजरात के नरेश रक्षा कर रहे थे। परमार द्वारका-द्वार पर अपने प्राणों की बाज़ी लगा कर डटा हुआ था। उसकी मृत्यु से राजपूतों का उत्साह सौगुना बढ़ गया। गंग सर्वज्ञ ने परमार को आशीर्वाद दिया तथा भीमदेव एवं अन्य नरेशों से अपना कर्तव्य पूरा करने की प्रेरणा की। चौला के लिये यह स्थान कैलाश के समान था और भीमदेव मानो रुद्र के कोप का मूर्त्त रूप हो। उसे ऐसा लग रहा था मानो भगवान् रुद्र ने त्रिपुरासुर के संहारार्थ स्वयं शस्त्र सँभाल लिये हों। उसने त्रिपुरासुर को भागते हुए देखा तो शंकर के अनन्त प्रेम और दया से विभोर हो गई। चौला इस दैवी आनन्द मे भगवान शंकर के गीत गा ही रही थी कि भीमदेव आये। चौला ने अर्द्धजागृत अवस्था में कहा—"पार्वती और परमेश्वर।"

× × × ×

सामन्त और नन्दीदत्त अनहिलवाड़ा-पाटन से वापस आये। उन्होंने घोघा राणा की वीरता और पराक्रम की गाथा सुनाई। धर्म-युद्ध का सन्देश देने मे घोघाराणा की आत्मा ने जनता के मन और मस्तिष्क को प्रज्ज्वलित कर दिया। सामन्त ने भीमदेव को बताया कि दामोदर मेहता महमूद का पीछा कर रहा है और यवन मारवाड़ तथा उज्जयिनी की सेनाओं के बीच घिर जायगा। यह समाचार सुनकर भीमदेव बड़ा प्रसन्न हुआ और उसका धन्यवाद किया। "सामन्त, तुम केवल मनुष्य नही हो। तुम तो दैवी आत्मा हो।"

"हाँ, केवल मनुष्य नही; नही तो इन कष्टों ने मुझे समाप्त कर दिया होता।" सामन्त ने उत्तर दिया।

भीमदेव ने कहा—"ऐसे शब्द अपने मुँह से न निकालो। तुम मेरे दाहिने हाथ हो। सामन्त को भीमदेव और चौला के प्रेम का पता चला तो उसने उसे शीघ्र विवाह कर लेने की सम्मति दी। गंग सर्वज्ञ ने विवाह-संस्कार सम्पन्न करके युगल जोडी को आशीर्वाद दिया। शिवराशि और अन्य लोग जो चौला को त्रिपुरसुन्दरी का अवतार समझते थे, यह समाचार पाकर भयभीत हो गये। उनका विश्वास था कि इस कृत्य से संसार में प्रलय आ जायगी और मन्दिर नष्ट हो जायगा।

अगले दिन महमूद की सेना फिर चढ़ आई, परन्तु मन्दिर के द्वार तोड़ने में सफल न हो सकी। कपटी शिवराशि एक गुप्त मार्ग से ग्यारह हिन्दू और एक मुसलमान सैनिकों को दुर्ग की दीवार के अन्दर ले आया। एक दूसरे देशद्रोही दादू ने जूनागढ का द्वार खोल दिया। अब क्या था? महमूद की सेना बाढ के समान अन्दर घुसने लगी। भीमदेव को इस छल-कपट का पता चला तो उसने शत्रु-सेना की बाढ को रोकने के लिये अपनी पूरी शक्ति ल[illegible]

दी। वह बड़ी वीरता से लड़ा। उसके शरीर पर कितने ही वार आ गये। उसके सैनिक जी-तोड़ कर लड़े तथा वीरगति को प्राप्त हुए। उनका यश कभी मिट नहीं सकेगा, उनका आत्म-बलिदान गुजरात के इतिहास में अमर रहेगा। वे गुजरात में नवीन जागृति के उत्थान के लिये मरे। गंग सर्वज्ञ के जीवन का यह समय अत्यन्त दुःखान्त था। उसकी चालीस वर्ष की तपस्या जैसे व्यर्थ हुई जा रही थी और उसकी श्रद्धा के पाँव डगमगा रहे थे। परन्तु मानव-सुलभ दुर्बलता का यह क्षण विलीन हो गया। उसे भगवान की माया का गम्भीर अर्थ समझ में आने लगा। उसे इस बात से दुःख हुआ कि उसी का शिष्ट शिवराशि पवित्र मन्दिर के पतन का कारण बना है। उसे भगवान रुद्र अत्यन्त कुपित दिखायी दिये। वे जैसे तीसरा नेत्र खोल कर विध्वंस की अग्नि में सारे स्थान को लपेट लेना चाहते थे। भीमदेव लड़ता-लड़ता अचेत-सा हो गया। उसके शरीर पर अनगिनत घाव लगे थे उसके जीवन की ज्वाला बुझा चाहती थी। परन्तु गंग सर्वज्ञ ने सामन्त और विमल से कहा कि वे भीमदेव को किसी सुरक्षित स्थान पर उठा ले जायँ। उसे विश्वास था कि यदि भीमदेव बच गया तो गुजरात फिर जी उठेगा।

महमूद की सेना नगर को लूटने और आग लगाने लगी। मूर्ति तोड़ने के अपने चिर-वांछित स्वप्न को पूरा करने के लिये महमूद ने मन्दिर में प्रवेश किया। यह बड़ा ही भयावना दृश्य था। मूर्ख शिवराशि मन्दिर की पवित्रता की रक्षा की दुहाई देने लगा और बहुत-सा धन तथा बहुमूल्य मणि-माणिक भेंट किये। परन्तु महत्त्वाकांक्षी विजयी महमूद ने उत्तर दिया—"काफिर! महमूद मूर्तियों का व्यापारी नहीं; वह मूर्ति-भंजक है। घृणा-भरे शब्दों में से महमूद ने देशद्रोही शिवराशि को एक ओर ढकेल दिया। मन्दिर के आन्तरिक भाग में प्रवेश किया तो महमूद वहाँ के सौन्दर्य तथा विशाल धन-वैभव को देखकर आश्चर्य-चकित रह गया। वृद्ध गंग सर्वज्ञ मूर्ति के सामने खड़ा होकर शिव-महिम्नस्तोत्र का पाठ कर रहा था। अब वह और उसके भगवान ही इस प्रलय में बच रहे थे। महमूद ने उसे एक ओर हटने को कहा तो उसने उत्तर दिया—"यवन, मैं और मेरा भगवान सदा एक साथ रहे हैं। हमें कोई लौकिक शक्ति अलग नहीं कर सकती। महमूद यह सब सुनने को तैयार नहीं था। उसने तलवार का एक भरपूर हाथ मारकर गुरु को समाप्त कर दिया। और तब गुर्ज मार कर मूर्ति के तीन टुकड़े कर डाले।

मारवाड़ और उज्जयिनी की सेनाएँ महमूद की सेना पर आ चढ़ीं। सोमनाथ पाटन की दुःखान्त घटना सुनकर अन्य बहुत-से योद्धा भी इन हिन्दू सेनाओं में आकर मिल गये। उनसे बचने के लिये महमूद ने अपनी सेना कच्छ की ओर भेज दी। परन्तु यहाँ भी उनकी खूब गत बनी और यवन सेना को महान् कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं तथा राह में ही वह सब नष्ट हो गई।

भीमदेव को उपचारार्थ कण्ठकोट ले जाया गया। वहाँ उसके अच्छा होने की आशा बँधने लगी। चौला की दशा बड़ी शोचनीय थी। उसका संसार चूर-चूर हो गया था। उसे खम्भात ले गये।

कुछ समय पश्चात् विमल यह समाचार लाया कि भारत के नरेशों ने भीमदेव को

शिरोमणि स्वीकार कर लिया है। भीमदेव के संकेत से सोमनाथ-पाटन के स्थान पर एक नये मन्दिर का निर्माण होने लगा। परन्तु चौला की मानसिक ज्योति जैसे विलीन हो गई। सामन्त भी शिथिल पड़ गया था। समय पाकर चौला के एक पुत्र हुआ। उस पर चारों ओर प्रसन्नता की लहर-सी दौड़ गई। वह सोमनाथ-पाटन गई और नये मन्दिर के निर्माण-कार्य का निरीक्षण करने लगी। उसने सब मानवीय-आशाएँ छोड़ दीं और अन्तिम समय की प्रतीक्षा करने लगी। शरद्-पूर्णिमा को मन्दिर में बड़ी धूमधाम के साथ मूर्ति की प्रतिष्ठा होने लगी। नये मन्दिर के गुम्बजों में से "जय सोमनाथ" की गगन-भेदी ध्वनियाँ उठने लगीं। सोम, रावण और श्रीकृष्ण ने सत्युग, त्रेता और द्वापर में यह मन्दिर बनवाया था और भीमदेव कलियुग में इसका पुनः निर्माण करके गौरव का अनुभव कर रहा था। भीमदेव ने चौला को वचन दिया था कि वह इस अवसर पर भगवान शंकर के सम्मुख नृत्यगान कर सकेगी। इस वचन से जैसे चौला की आत्मा जाग उठी। उसे गंग सर्वज्ञ और गंगा की पुकार सुनाई देने लगी।

वह अपने भगवान् सोमनाथ में फिर लय हो जाय। वह नृत्य करने लगी। उसकी मानसिक वेदना उसके करुणामय गीतों में छलकने लगी। भगवान सोमनाथ प्रसन्न हो गये। उसके जीवन की अभिलाषा पूर्ण हुई। वह नृत्य करती हुई भावावेश में धरती पर गिर पड़ी और सोमनाथ के साथ मिल कर एक हो गई। भीमदेव और अन्य नरेश इस नृत्य और मृत्यु को देख कर आश्चर्य-चकित रह गये। सामन्त अत्यन्त दुःखी मन से सभा-मण्डप से निकल कर बढ़ते हुए अन्धकार में खो गया।

: ४ :

'पाटन नी प्रभुता'—इस उपन्यास का सम्बन्ध सम्वत् ११५० विक्रमीय से है। पाटन-नरेश कर्णदेव अपनी मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं। राजप्रासाद का वातावरण कूटनीति तथा दल-बन्दी से दूषित हो रहा है। जैन-लोग, जिन्होंने गुजरात के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, अब भी अपनी शक्ति को और दृढ़ करने तथा पाटन के राज-परिवार पर अपना अधिकार बनाये रखने की योजनाएँ बना रहे हैं। वे चिरकाल से पाटन-राज्य को एक सशक्त जैन-राज्य में परिणत करने का स्वप्न देख रहे हैं और अब नरेश के असाध्य रोग में उन्हें अपना स्वप्न पूरा होता दीख रहा है। वे राजपूत सरदार जिन्हें प्रधान मन्त्री मुंजाल पाटन के प्रभुत्व में ले आया था, जैनियों के इन मनसूबों से विक्षुब्ध हो गये और वे कर्णदेव की मृत्यु के उपरान्त इन जैनियों की शक्ति-परीक्षा लेने की सोचने लगे।

तब से तेरह वर्ष पूर्व चन्द्रावती की राजकुमारी मीनल देवी मंजुल के महान् व्यक्तित्व से आकृष्ट कर, कर्णदेव से विवाह करने के लिये दक्षिण से पाटन आई थी। उसका हृदय मुंजाल के समक्ष हो गया था। कर्णदेव से उसने इस आशय से विवाह किया था जिससे वह मुंजाल के निकट रह सके। भला ऐसा विवाह कहीं सफल हो सकता था? परन्तु मुंजाल की सूझ-बूझ से महारानी और नरेश के सम्बन्ध यथावत प्रेमपूर्ण हो गये। उनका पुत्र जयदेव, राज-सिंहासन पर बैठने के लिये अभी बच्चा ही था।

पर मीनलदेवी महत्त्वाकांक्षी महिला थी। वह अधिकारमद से अन्धी हो रही थी। इस समय तक वह नाममात्र को महारानी थी और वह राज्य पर एकाधिकार प्राप्त करने के स्वप्न देखती रही थी। अब उसे अनुभव हुआ कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये सफलता-पूर्वक मंच बनाया जा सकता है, परन्तु इसमें मुंजाल सबसे भारी बाधा था। 'उसको प्रसन्न करने की नीति तो मुझे कहीं की नहीं छोड़ेगी', उसने अपने मन में विचारा। एक मनोवैज्ञानिक क्षण में, एक जैन साधु आनन्दसूरि, जो जैन मत को गुजरात में राजधर्म के रूप में फैलाने की भावना से रह रहा था, आया और मीनलदेवी उसकी चिकनी-चुपड़ी बातों में आ गयी। आनन्दसूरि एक विचित्र व्यक्ति था। वह दूसरा रासपुटिन था। उसने अपनी कूटनीति तथा धर्माडम्बर से रानी पर जादू-सा कर दिया। उसकी धर्मान्धता महत्त्वाकांक्षा के साथ मिलकर एक स्वर हो गयी। वह रानी का प्रिय भाजन बन गया तथा विनाश और कलह के बीज बोने लगा।

इस कलह-पूर्ण पृष्ठभूमि के विपरीत मुंजाल का व्यक्तित्व महान् और महत्त्वपूर्ण है। मुंजाल केवल प्रधान मन्त्री नहीं था। पाटन राज्य का वास्तव में सर्वसत्ताधारी कर्णदेव नहीं मुंजाल ही था। वह एक महान् नियामक था। उसकी प्रतिभा, बुद्धिमत्ता और आत्म-त्याग की भावना पाटन की प्रजा के लिये साहस और विश्वास का अजस्र स्रोत थी। उसके लिये अधिकार एक पवित्र धरोहर या विश्वास के समान था। पूर्णाधिकार पाकर उसकी सद्भावना एवं आत्मत्याग और भी निखर उठा। वह कपटी आनन्दसूरि के भुलावे में नहीं आया बल्कि पहली भेंट में ही उसने उसे ताड़ लिया। उसने आनन्दसूरि को अपने ही जाल में उलझाने की एक तरकीब ढूँढ निकाली। आनन्दसूरि मुंजाल को शक्तिहीन देखना चाहता था। यह उसकी सब से बड़ी अभिलाषा थी। मुंजाल भी इससे अनभिज्ञ नहीं था। यदि मीनलदेवी आनन्दसूरि के साथ मिल जाय, तो वह अपने प्रतिद्वन्द्वी दलों में फूट डाल कर गुजरात में भगवान महावीर की पवित्र पताका फहरा देगा। और इस से मीनलदेवी को पूर्ण शक्ति एवं अधिकार मिल जायेंगे—उसका भी चिरकाल का स्वप्न पूरा हो जायगा। यह विचार कर आनन्दसूरि मीनलदेवी के पास गया।

आनन्दसूरि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये कटिबद्ध हो कर गया था। मीनल ने पूछा—"यदि आप पाटन के प्रधान मन्त्री हो जायँगे तो आप क्या करेंगे?" आनन्दसूरि ने राजनीति में धर्मान्धता के महत्त्व को जतलाते हुए उत्तर दिया—"मैं जैनधर्म की नीति चलाऊँगा और विजय पर विजय पाता हुआ समस्त देश में भगवान महावीर की पुण्य-पताका फहरा दूँगा।"

"वाह, वा! आपने तो मेरे मन की बात छीन ली। जैनी शक्ति सम्पन्न हो गये तो पाटन दूसरा चंद्रावती बन जायगा।"

"महारानी, इसका भी उपाय है। मुंजाल को हटा दो।"

"कौन मुंजाल? इन तेरह वर्षों में मुझे उससे सहारा और शक्ति मिली है।"

"नौकर चाहे कितना भी स्वामिभक्त हो, वह किसी समय भी धोखा दे सकता है? उसमें नरेश की सी कल्पना-बुद्धि आ ही नहीं सकती। मुंजाल को जैनियों से निबटने के लिए

चन्द्रावती भेजा जा सकता है। शान्तिचन्द्र को पाटन का रक्षक बनने को प्रेरित किया जाय।" आनन्दसूरि ने अपना कपट-जाल खोल दिया।

× × ×

प्रधान सूबेदार देवप्रसाद अपने मरणासन्न राजा कर्णदेव से अन्तिम भेंट करने आया। उसने अपने पुत्र त्रिभुवन को हंसा (मुंजाल की बहन) के साथ अपने विवाह की करुणाजनक कहानी सुनाई कि किस प्रकार मुंजाल की सहायता से मीनलदेवी ने उसे पाटन में नज़रबन्द किये रखा। त्रिभुवन मुंजाल के पास अपनी मां को वापस लाने के लिये गया। वह बहुत गिड़गिड़ाया पर मुंजाल ने एक न सुनी। मुंजाल की स्वामिभक्ति यह बलिदान मांगती थी और वह इतना त्याग कर सकने में समर्थ था।

कर्णदेव चल बसा। उसकी मृत्यु के साथ ही कलह के द्वार खुल गये। मुंजाल बड़े असमंजस में पड़ा। वह प्रजा का शान्तिपूर्ण संगठन चाहता था। एक राजनीतिज्ञ के नाते वह इस सख्ती से बवंडर को दबा देना चाहता था। और इसी में वृहत्तर गुजरात एवं पाटन का गौरव था। एक क्षण के लिये निराशा हुई। उसने राज्य के हितार्थ अपनी प्रिय पत्नी, पुत्र, बहन और परिजनों-पुरजनों तथा महत्त्वाकांक्षाओं का त्याग किया। और अब मीनल उसकी नीति की जड़ों पर कुठाराघात कर रही है। क्या वह विद्रोह कर उठे, पाटन पर अधिकार करके उसे बन्दी बना ले?

आनन्दसूरि की योजना को कार्यान्वित होते देखकर पाटन के लोग चकित रह गये। मुंजाल पर भी वार हुआ। मीनल ने मुंजाल की संरक्षता को ठुकरा दिया। वह सत्तारूढ़ होने के लिये स्वतन्त्र थी। उसके समस्त गुण क्रियाओं में परिणत हो गये। यद्यपि उसने अपना राजनीतिक गुरु किसी और को बना लिया था, तथापि उसके हृदय में मुंजाल के प्रति प्रेम की एक शक्तिशाली अन्तर्धारा प्रवाहित हो रही थी। फिर भी उसकी भावना पर उसके बाह्य संघर्ष ने विजय पाई।

शान्तिचन्द्र को अधिकार दे दिये गये और मुंजाल को मालवा-नरेश से लड़ने के लिए दूर भेज दिया गया। पाटन में देवप्रसाद को बन्दी बनाने की योजना विफल हो गई। वह बचकर पाटन के बाहर मुंजाल से मिल गया है। मीनल क्षुब्ध हो उठी। परन्तु प्रत्येक बाधा से उसकी प्रकृति की कोई उत्तम स्तर उभरने लगी और उसका विकासोन्मुख व्यक्तित्व और भी खिल उठा। वह अपने मन में सोचती कि क्या मुंजाल इतना महत्त्वपूर्ण है। उसने अदम्य उत्साह से अपने मार्ग पर अग्रसर होने का दृढ़ निश्चय कर लिया। कोई वस्तु उसे भयभीत नहीं कर सकेगी। उसे अपने हृदय के कतिपय द्वार उन्मुक्त मिले। अचानक ही हंसा को मुक्त करके अपने पति देवप्रसाद को पाटन पर आक्रमण न करने को प्रेरित करने पर नियुक्त कर दिया गया। जयदेव से झगड़ा करने पर हंसा का पुत्र त्रिभुवन घायल हो गया। सैनिक उसे मार डालने ही वाले थे कि मीनल ने यह घोषणा करदी कि यदि उसकी मां हंसा अपने वचन को पूरा करे तो उसके प्राण बच सकते हैं। हंसा इससे सहमत हो गई। माँ और पुत्र का

मिलाप हुआ । यह दृश्य दर्शनीय था । परन्तु मीनल अपनी चाल चल रही थी । वह हंसा की पार्थिव भावुकता से पूरा-पूरा लाभ उठाने की चिन्ता में थी । हंसा उसकी बात मान गई है । त्रिभुवन को प्रसन्न के संरक्षण मे छोड़कर वह अपने पति से मिलने चल दी जिससे वह कई वर्षों से अलग रही थी ।

इधर देवप्रसाद मुंजाल से मिलकर पाटन पर चढ़ाई करने का विचार कर रहा था । परन्तु मीनल ने उसको एक न चलने दी । पूर्व-योजनानुसार हंसा देवप्रसाद से मिली । इतने वर्षों पश्चात् मिलने पर उनके हृदयों में प्रेम की धारा उमड़ पड़ी । देवप्रसाद भावावेग में कहने लगता है—

"मैं संसार और उसके वैभव की क्या परवाह करता हूँ ? तुम्हारी गोद ही मेरा संसार है और मैंने इसे पा लिया है ।"

अब चढ़ाई करने की योजना खटाई में पड़ गई । मीनल को एक कूटनीतिक विजय हुई ।

अपने उद्देश्य में सहायता पाने के लिये मीनल आनन्दसूरि को साथ लेकर चन्द्रावती की तरफ चल पड़ी । मार्ग में उनकी मुंजाल से भेंट हो गई । मीनल क्रोध के मारे लाल-पीली हो रही थी । उसने बड़े कटु और तीखे शब्द कहे । परन्तु शान्तप्रकृति मुंजाल ने उत्तर दिया—

"भूलना मेरे स्वभाव में नहीं है । मैंने ही तुम्हें महारानी की पदवी तक पहुँचाया है । अब ऐसा प्रतीत होता है कि सोलंकी-वंश के विनाशार्थ तुम इस कलह का कारण बन रही हो । और मेरे लिये एक निष्ठाहीन, हृदयहीन क्रूर..."

घृणा से उन्मत्त होकर उसने अपने शस्त्र फैंक दिये । उन्होंने उसे बन्दी बना लिया । मुंजाल ने तो यह सब जानबूझ कर किया था । परन्तु मीनल यह समझी कि उसने एक और मैदान मार लिया ।

पाटन अब स्वामिहीन है । राष्ट्र की आवाज़ कुछ समय के लिये मन्द पड गई । जनता मीनल की इन करतूतों से क्षुब्ध हो उठी । लोग उससे युद्ध करने के लिये संगठित हो गये । त्रिभुवन और प्रसन्न ने, जो अब प्रेम-सूत्र एवं प्रणयपाश में जकड़े जा चुके थे, उनको विद्रोह के लिये उभार दिया । जनता की दृष्टि में मीनल और उसके जैन साधु ने पाटन की मान-मर्यादा को धूलि में मिला दिया था । विद्रोह का नेता त्रिभुवन शपथ लेता है कि जब तक वह जीवित है, मीनल पाटन में वापस नहीं आ सकती ।

आनन्दसूरि ने एक आसुरी षड्यन्त्र रचा । उसने निर्दयतापूर्वक उस महल में आग लगवा दी जहाँ हंसा और देवप्रसाद सो रहे थे । भयानक आग की लपेट में आकर वे छज्जे पर से महल के नीचे बहनेवाली नदी में कूद पड़े । इससे धर्मान्ध जैन साधु बड़ा प्रसन्न हुआ । वह उनके पीछे-पीछे चल दिया कि कहीं वे बच न जायँ । नदी के प्रवाह से संघर्ष करते-करते देवप्रसाद थककर चूर हो गया और हंसा ! वह तो मर ही चुकी थी । देवप्रसाद उसे अपनी बाँहों में ले जलमग्न हो जाता है । ऐसी मृत्यु के लिये तो देवता भी तरसते

होंगे ! आनन्दसूरि ने अब संतोष की सांस ली। चलो भगवान् महावीर का एक वैरी समाप्त हुआ !

अपने माता-पिता की दुःखान्त मृत्यु का समाचार पाकर त्रिभुवन पागल हो गया। उसने बदला लेने के लिये अपना हृदय वज्र कर लिया। पाटन की प्रजा यह जानकर और भी क्रुद्ध हो उठी कि इस घृणित अपराध में उनकी राजमाता का हाथ है। अब यह स्पष्ट दीख रहा था कि यदि मीनल पाटन में वापस आ जाय, तो राज्य में शान्ति नहीं रह सकेगी।

परन्तु मीनल पाटन में वापस आ गई और उसने चम्पानेर-द्वार के बाहर डेरे डाल दिये। मुरारपाल ने उसे जन-विद्रोह के समाचार सुनाये और कहा कि अब पाटन पर त्रिभुवन राज्य कर रहा है। मीनल ने इस संकट से निकलने के लिये एक कपट-जाल रचा। उसने प्रसन्न को अपने पास बुलाया और उसे बड़ी चतुराई से समझा-बुझाकर समझौते के लिये उसके पति त्रिभुवन पर ज़ोर देने को कहा। उसने भावना के प्रत्येक स्तर को छुआ। परन्तु प्रसन्न उसकी बातों में नहीं आई। उसने स्पष्ट शब्दों में उससे कह दिया कि राजकुमार जयदेव को आप मेरे साथ कर दीजिये और स्वयं नर्मदा के किनारे जाकर तपस्या करने चली जाइये।

मीनल क्रोधोन्मत्त होकर बोली—"अशिष्ट लड़की, याद रख, मीनलदेवी राजमाता के रूप में पाटन में प्रवेश करके रहेगी। यदि ऐसा न हुआ, तो भाड़ में जाय पाटन; मुझे इसकी भी परवाह नहीं।" परन्तु प्रसन्न ने उसकी एक न सुनी। अन्त में हार कर मीनल अपने शिविर में वापस आ गयी। उसने क्षितिज में विद्रोह की ज्वाला लपलपाते देखी। उसका अहं चूर-चूर हो गया। स्थिति पर कैसे काबू पाया जाय ? खोयी हुई मान-मर्यादा को फिर से कैसे प्राप्त किया जाय ? अधिकार-लालसा के मद से चूर होकर वह जैसे पागल हो गई। वह मुंजाल को भी खो बैठी। क्या उसे यह सबकुछ करना शोभा देता था ? एक प्रकार से मुन्जाल ने ही उसके अन्तर्चेतना को जगाया था और उसने मुंजाल को परे हटा दिया। क्या ही अच्छा होता यदि वह मुंजाल की बुद्धिमत्ता, उच्च कूटनीतिज्ञता एवं अथाह शक्ति से लाभ उठा सकती ? मीनल अपने आध्यात्मिक पतन पर सिर धुनने लगी। सोलह वर्ष का प्रणय पूर्ण अतीत उसकी आँखों के सामने झूल गया। उसका घायल हृदय मुंजाल के लिये छटपटाने लगा। मुंजाल के वीरोचित बलिदान एवं आत्मत्याग की स्मृति ने मीनल के दर्प को चूर-चूर कर दिया। वह सिसकियाँ भरने लगी। उसके मन में फिर उदात्त भावनाएँ लहराने लगीं।

इसके पश्चात् एक ऐसा स्थल है जो कला के विचार से इस पुस्तक का सर्वश्रेष्ठ अंश है। मुंजाल उसी गौरव और महानता के साथ आता है और मीनल अपने कृत्यों के लिये भावनापूर्ण शब्दों में क्षमा-याचना करती है। वह अपने अपराधों को खुले हृदय से स्वीकार करती है। वह पूर्णतया आत्म-समर्पण कर देती है। इन पावन क्षणों में किसी प्रकार के रूढ़िगत दबाव दिखाने की आवश्यकता नहीं थी। मीनल ने विनयपूर्वक अपना हृदय खोलते हुए कहा, "आप जनता के आदर्शों का दर्पण रहे हैं। मैं बुरी तरह असफल हुई

हूँ। अब मैं समझी कि केवल अधिकार-प्राप्ति एक व्यर्थ स्वप्न है। मैं सर्वस्व-त्याग के लिये तैयार हूँ। हाँ, केवल अपने पुत्र के लिये राजमुकुट चाहती हूँ। मुंजाल, मुझे फिर मार्ग दिखाओ।"

मुंजाल ने दृढ़तापूर्वक कहा—"मैंने नेतृत्व करने का कार्य छोड़ दिया है।" कहने को तो मुंजाल ने यह कह दिया, पर मीनल के इस नवीन निश्छल रूप ने उसके हृदय में तूफान-सा उठा दिया। भावना की विजय हुई। मुंजाल और मीनल दोनों प्रेम के प्रकाश से दीप्त हो उठे। "मैं वही मुंजाल हूँ, कोई और नहीं"—मुंजाल के स्निग्ध शब्दों से मीनल को रोमांच हो आया और वे दोनों आत्मविभोर हो आलिंगन का आत्मीय आनन्द लेने लगे।

अब मीनल वह मीनल नहीं थी। उसने पाटन की सेवा में अपना सर्वस्व-त्याग करने का निश्चय कर लिया। उसने आनन्दसूरि के कपटपूर्ण धर्माडम्बर की भर्त्सना करते हुए उसे अपने यहाँ से निकाल दिया। राष्ट्र की साकार भावना मुंजाल पाटन जाता है और घायल देश-भक्त जनता को अपनी ओर कर लेता है। प्रसन्ना और त्रिभुवन विवाह कर लेते हैं तथा अपना जीवन पाटन का गौरव बढ़ाने में लगा देते हैं। मीनल अब राजमाता है। वह पाटन में ही रहेगी और पाटन के लिये रहेगी। अपनी विजय की बेला में मुंजाल एक अद्भुत प्रकार की शिथिलता का अनुभव करता है। उससे त्राण पाने के लिए वह तीर्थाटन करने का विचार करता है। इस अवसर पर मीनल उससे लिपट कर विनय करती है—"प्रिय मुंजाल! तुम्हारे साथ मैं किसी दुःख को दुःख नहीं मानती और तुम्हारे साथ के लिए मैं सब तरह का मूल्य चुकाने को तैयार हूँ।" मीनल ने उसको जतला दिया कि अब वह अपने कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं हो सकता। यदि वह ऐसी गम्भीर परिस्थिति में शासन-यंत्र छोड़ देगा, तो पाटन अनाथ हो जायगा।

गुजरात को भी उसकी आवश्यकता है और मीनल को भी। प्रेम ने उन दोनों को एक सांचे में ढाल दिया है। वे सदा पाशविक भावनाओं से दूर रहे हैं और उनका प्रेम स्वर्गीय है। भावी उनसे कुछ चाहती है। अब मीनल और मुंजाल एक नये स्वर्ग की रचना करेंगे।

पाटन पर एक नई आशा और आनन्द का दृश्य उदय होता है। "जय सोमनाथ" के तुमुल घोष के मध्य जयदेव सिंहासनासीन होता है। त्रिभुवन उसका अभिभावक बन जाता है। मुंजाल ने देश मे नवीन शक्ति का संचार कर दिया, उसकी इच्छा-शक्ति को जगा दिया एवं राजनीतिक विचारों को प्रेरणा दी। वह गुजरात का एक गौरवशाली निर्माणकर्ता था।

गुजरात नो नाथ—चार वर्ष बीत गये। नवयुवक राजा बड़े संकट में पड़ गया। लाट देश में त्रिभुवनभाल, कर्णवती और खम्भात में ऊदो मेहता अपनी शक्ति संगठित करने लगे। अपनी महत्त्वाकांक्षा मे असफल रहकर उदा खम्भात के जैनियों को भड़काता रहा। उसने जैनधर्म के रक्षक का स्वांग भरा और इसी वेश में उसने अपने अधिकार-क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयत्न किया। मुंजाल और मीनल दोनों तीर्थयात्रा गये हुए थे। वृद्ध मंत्री शान्तु मेहता ही पाटन की शासन-व्यवस्था कर रहा था। मुंजाल और मीनल दोनों तीर्थयात्रा को गये हुये थे। पाटन की शासन-व्यवस्था का भार वृद्ध मंत्री शान्तु मेहता के कन्धों पर था।

अवन्ती के सेनापति उबक ने अचानक पाटन पर हल्ला बोल दिया। शान्तु मेहता ने नीति से इस बला को टालने का प्रयत्न किया, परन्तु शान्ति-सन्धि की शर्तें तय होने से पहले ही, त्रिभुवनपाल का एक निष्ठावान मित्र काक आ प्रकट हुआ। इस व्यक्ति ने आगे चलकर गुजरात के भाग्य-निर्माण में महत्त्वपूर्ण एवं निर्णयात्मक भाग लिया। इस गौरवहीन सन्धि पर पाटन की जनता के हृदय क्रोध और घृणा से भर गये। मुंजाल भी वापस आ गया और उसने जयदेव को इस कार्य में भाग लेने की सम्मति दी। इस आकर्षण-पूर्ण नाटक में मुंजाल, महाभारत के श्रीकृष्ण के समान, नियामक एवं नियंत्रक का कार्य करता रहा और जयदेव अर्जुन के समान अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहा। मुंजाल का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता था। समस्त महत्त्वपूर्ण हलचलों के पीछे उसी का हाथ था। वह वस्तुस्थिति को समझने मे बड़ा प्रवीण था। उसका निर्णय कभी अन्यथा सिद्ध नहीं हुआ। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से उसने कार्य करके इतिहास बना डाला।

काक लाट का एक ब्राह्मण योद्धा था। वह बड़ा अभिमानी तथा निडर व्यक्ति था। उसने कई युद्धों में विजय पाई थी। वह बड़ा फुरतीला तथा कुशाग्रबुद्धि-योद्धा था। वह अपने मित्रों से प्रेम तथा सद्भावना रखता था। वह पाटन की राजनीति के भँवर में कूद पड़ा। उसने जयदेव से कहा कि त्रिभुवनपाल को आदेश देवे कि वह सोरठ के राव नवघन को चढ़ाई करने से रोक दे। नवघन को मार भगाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। जयदेव ने काक का सुझाव मुन्जाल से कह सुनाया। उसने प्रशंसा-भरे स्वर मे कहा—"हाँ, मुझे ऐसा लगता है कि तुमने मेरे मन की बात छीन ली है।" अभिमानी शिष्य ने उत्तर दिया—"मैं भी तो आपका शिष्य ही हूँ न ?"

काक मुंजाल से मिला तथा उसके उग्र विचारों को जानकर आश्चर्य-चकित रह गया। मुंजाल ने उसे समझाया कि मालवा के साथ समझौता करने से मर्यादा भंग हो जायगी और उसके पास एक वशवर्ती राज्य बन कर रह जायगा। काक को खम्भात भेज दिया गया जो कि जैनियों का एक महान् दुर्ग था। ऊदो जिसने कभी मुंजाल का स्थान लेना चाहा था, अब खम्भात का शासक था। अपनी महत्त्वाकांक्षा में असफल रहकर ऊदो जैनियों को भड़काता रहा। उसने जैनमत के रक्षक होने का स्वांग भरा तथा इसी वेश में अपने राजनीतिक क्षेत्र को विस्तृत करने लगा। दूरदर्शिता के विचार से मुंजाल ने उसे कर्णवती से हटा दिया था। इससे उद्यान की आशाओं पर पानी फिर गया। जब काक के खम्भात में प्रवेश किया तो उसे ज्ञात हुआ कि जैनी लोग अजैनियों तथा मुसलमानों को बिना सोचे-समझे पकड़ रहे हैं। काक यहाँ सेना की शक्ति तथा नैतिक साहस का अध्ययन करने आया था। वह राज्य का अतिथि था। उसमें साहसिक कार्य करने की लालसा थी। इतने में एक वृद्ध उसे मिला और उसने अपने बेटे की बरबस दीक्षा को रोकने की प्रार्थना की। काक उसे बताने को उद्यत हो गया। दीक्षा-स्थान पर पहुँचकर उसने लड़के को महान् यन्त्रणा में देखा और उसका पीछा करने का विचार स्थगित कर दिया। उसके पश्चात् उसे एक और अभियान का सामना करना पड़ा। उसे पता लगा कि प्रसिद्ध कवि रुद्रदत्त वाचस्पति की लड़की को किसी

व्यक्ति के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह किये जाने पर विवश किया जा रहा है। उस युवती का नाम मंजरी था। पिता मर चुका था। उसकी मां उसका विवाह खम्भात के शासक उद्यान के साथ करना चाहती थी। मंजरी जो कि संस्कृत-साहित्य और उसको संस्कृति में गहरे पैठी हुई थी, एक जैन के साथ विवाह करने का विचार तक न कर सकती थी। मंजरी अपनी मूर्ख माता के साथ इस अनुचित एवं घृणित प्रस्ताव के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क करने लगी। पर स्वार्थी मां ने उसे धमकाते हुए कहा कि उसको या तो उद्यान से विवाह करना होगा, या दीक्षा लेनी होगी—इन दो विकल्पों में से एक स्वीकार करना ही पड़ेगा। काक यथावसर आ पहुँचा और मंजरी को मुक्त करा कर ले गया। आधी रात को काक और मंजरी कर्णावती की तरफ़ भाग गये। अब मंजरी अपने-आप को एक विचित्र परिस्थिति में पाती है। वह बड़ी ही सजग एवं कोमल-स्वभाव युवती थी। साधारण परिस्थिति में वह ऐसे अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति से बात करना ही पसन्द न करती, परन्तु बानक कुछ ऐसा बन गया कि उसे उसके साथ यहाँ आना पड़ा। काक उसे बड़ा ही कठोर, अशिष्ट, मूर्ख एवं प्रेरणाहीन व्यक्ति जान पड़ा। वह एक प्रकार से अपनी ही जीवन-मदिरा से मस्त थी। मंजरी की सुकुमार सौन्दर्य-भावनाओं को काक जैसे मिट्टी के माधो से मिलकर जैसे ठेस-सी लगी। यह सत्य है कि काक के निस्वार्थ प्रयत्नों के कारण ही वह बन्धनमुक्त हुई थी, परन्तु उसमें स्वाभिमान और अहं इतना अधिक था कि वह ऐसे असंस्कृत एवं क्षुद्र व्यक्ति के साथ अधिक बोलना भी पसन्द नहीं करती थी। वह उसकी कृतज्ञ तो थी परन्तु दोनों के संस्कारों में इतना उग्र भेद था कि पाटा नहीं जा सकता था। उसके सौन्दर्य में मोहिनी थी। उसका सुशिक्षित मस्तिष्क ऊर्ध्वगामी था। काक के लिये तो यह एक नितान्त अपूर्व अनुभव था। उसे ऐसा लग रहा था मानो वह स्वर्ग में आ गया हो। अन्ततोगत्वा वे कर्णावती पहुँचे। वहाँ उसे बताया गया कि त्रिभुवनपाल नवघन के प्रतिरोधार्थ पंचाल की ओर गया हुआ है। वह भी पंचालेश्वर गया और अपने स्वामी त्रिभुवनपाल से मिला। बड़े घमासान का युद्ध हुआ और नवघन को पराजित करके जीवित बन्दी बना लिया गया।

पाटन के युवक-नरेश की यह महान् विजय अवन्ती से अभी हाल में ही किये गये समझौते का प्रतिकार थी। उबक ने अब शान से पाटन में प्रवेश करके दरबार किया। वह अपने स्वामी से यह प्रस्ताव लेकर आया था कि पाटन और अवन्ती के राज-परिवार जयदेव तथा अवन्ती की राजकुमारी के विवाह द्वारा एक दूसरे के साथ मिल जायें। पाटन के लोग जानते थे कि उबक की शर्तों पर अवन्ती के साथ समझौता करना एक चाल थी।

परन्तु कूटनीतिज्ञ चाणक्य के लिये कोई वस्तु अजेय न थी। उसने कहा कि पाटन मेरा बालक है उसके विकास तथा उन्नति के लिये उसने अपना मन और मस्तिष्क लगा दिया। मीनल का अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं था, वह तो उसी में खो गयी थी। उनकी सबल आत्मिक एकता एक ऐसी इच्छाशक्ति एवं भौतिक शस्त्र बन गयी थी जिसके सामने जयदेव के मार्ग में रोड़ा अटकानेवाली कोई शक्ति नहीं ठहर सकती थी। मुंजाल की उपस्थित ही राज्य-रक्षा का सबसे बड़ा प्रमाण था। इससे प्रजा में भी संरक्षण का विश्वास उत्पन्न हो गया।

पर नवयुवक नरेश दुविधा में पड़ा था, वह अक्सर कहा करता, जाने मैं वास्तविक नरेश कब बनूँगा! मैं तो केवल नाम का राजा हूँ। सारी शक्ति तो मुंजाल के हाथ में है। मैं स्वच्छन्द नहीं हूँ। मैं सारे भारत को विजय करने का स्वप्न देख रहा हूँ। मैं राज्य करना चाहता हूँ। नाम का राजा बनकर रहना नहीं चाहता। इसी उधेड़-बुन में उसने एक दिन अपनी मां से कहा, "मैं अपनी विवशता से थक गया हूँ। मैं पाटन की पताका सारे देश पर फहराना चाहता हूँ।" मां ने गर्व से उसे कहा, इतने अधीर न हो; बल्कि अपनी शक्ति संगठित करो। मुंजाल और मीनल ने उसे कहा कि वह अवन्ती के प्रस्ताव को स्वीकार न करे। उसे यह भी समझा दिया कि अगले दिन जब उबक निर्णय जानने के लिये दरबार में आये, तो उससे किस तरह बात करनी चाहिये।

उबक पाटन की शक्ति और उस वैभव को देखकर इस बात का कायल हो जाता है कि मुंजाल के रहते पाटन को जीतना असम्भव है। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जयदेव ने पंचालेश्वर के युद्ध के योद्धाओं को पुरस्कार दिया तथा खम्भात की अजैनी अरक्षित जनता को तंग करने के अपराध में ऊदो मेहता का तिरस्कार किया। काक को भट्टराज की पदवी से विभूषित किया गया। जयदेव ने बड़े गौरव से उबक को सम्बोधित करते हुए कहा कि उसे मालवा की राजकुमारी के साथ विवाह का प्रस्ताव स्वीकार नहीं है। दरबारियों को बड़े ढंग से उसने अपनी ओर किये रखा। यह उसकी पहली विजय थी, परन्तु ऊदो और उसका साथी कीर्तिदेव क्षुब्ध हो उठे। मुंजाल ने प्रसन्न होकर कहा, "यह लड़का निश्चित रूप से अपने पुरखाओं से भी अधिक यशस्वी होगा तथा महान् से महान् कूटनीतिज्ञ की भी इसके सामने एक न चल सकेगी।"

एक और सर्ग में मंजरी के स्वप्न-देश तथा उसके नायकों का दिग्दर्शन कराया गया है। पाटन की प्रभुता की प्रसन्ना—काश्मीरादेवी उसे काक के साथ विवाह करने के लिये फुसलाती है। मंजरी की भावनाएँ, विचार तथा सपने अनुसूइया और पांचाली के समान महान् थे।

वह अपनी महान् विद्वत्ता एवं उच्च संस्कृति के कारण साधारण मनुष्य को पसंद नहीं करती थी। उसके विचार में एक मांसल पिण्ड के साथ, चाहे वह कितना ही वीर और धीर क्यों न हो, विवाह करना तथा जैन मत ग्रहण कर लेना आदर्श के सर्वथा प्रतिकूल, बल्कि मृत्यु से भी बुरा था। यह आध्यात्मिक मृत्यु के समान था। वह कालिदास की कला के अद्भुत-रस भरे देश में भ्रमण करती रही है तथा उसके नायक दिव्य एवं देदीप्यमान व्यक्ति हैं। यहाँ बसनेवाली मानवीय मूर्तियाँ, जिनमें दिव्यता की एक भी किरण नहीं है, उसकी दया की पात्र हैं। कैलाश के समान अजेय परशुराम उसकी कल्पना में बसा हुआ था। काक—अशिक्षित एवं असंस्कृत काक—उसकी दृष्टि में भाग्य का सैनिक था। उसका अभिमान काश्मीरा के सुझाव के विरुद्ध विद्रोह कर उठता है। काश्मीरा ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा—"मंजरी, तुम महान् हो।" मंजरी ने अपना हृदय उस पर खोल दिया, केवल वीरता ही संसार में उच्च पदवी तक नहीं पहुँचा सकती।

"तब ?"

"इसके लिये सबसे आवश्यक वस्तु है संस्कृति एवं शिष्टता। यदि ब्राह्मण सांस्कृतिक विशेषता एवं शुद्धता को खो बैठे, तो समाज मे विश्रृंखलता फैल जायगी और संसार को व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायगी।" मंजरी का स्वाभिमान एवं सांस्कृतिक चेतना चीत्कार कर उठी। उधर काक ने भी विचार किया और यह बात स्वीकार कर ली कि वीर होने के बावजूद वह बौना है तथा गम्भीर नहीं है। परन्तु मंजरी की धारणा उसके अभिमान को एक चेतावनी है। उसने निश्चय कर लिया कि वह उसकी आँखों में ऊँचा उठके तथा मंजरी का नायक बन कर रहेगा।

एक और विचित्र घटना यह हुई कि ऊदो के पंजे से बचने के लिए मंजरी ने काक के साथ विवाह करने की स्वीकृति दे दी। यह भी योग्यता एवं उपयोगिता के लिए किया गया। मंजरी ने काक से वचन लिया कि विवाह के पश्चात् तुरन्त ही वह अपने दादा के घर जायगी। काक अनमने मन से सहमत हो गया।

काश्मीरा प्रसन्न है। उसने काक और मंजरी के गुप्त विवाह की सब व्यवस्था की। जब संस्कार हो चुका, तो काक उदास था और अभिमानी मंजरी के मन मे अनिश्चित भविष्य के लिये तीव्र उत्सुकता भर रही थी।

काक और मंजरी के बीच असमानता स्पष्ट दीख रही है। काक को अब भी यह आशा है कि विवाह से वे एक दूसरे के निकट आ जायँगे तथा मंजरी की उसके प्रति अविचार भावना मिट जायगी। सैनिक की सरलता के साथ वह उसे अपनी बनाने की व्यर्थ चेष्टा करता है। वह उसका आलिंगन करने के लिए आगे बढ़ता है तो मंजरी बड़े जोर से उसे पीछे हटा देती है। वह उसे साफ-साफ कह सुनाती है। उसके पशुत्व ने उसे मंजरी की आँखों में और भी गिरा दिया। मंजरी ने काक की खूब ही भर्त्सना की। काक भी उसके इस विचित्र व्यवहार पर जल-भुन गया और अपने वचनानुसार उसे जूनागढ़ ले जाने का निश्चय कर लिया। परन्तु एक भूल से एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। योजना कार्यान्वित होने से पहले ही, मंजरी अपने पुराने प्रशंसक ऊदो के हाथों में पड़ जाती है। वह उसे एक दूर स्थान में ले जाकर एक निर्जन मकान में बन्द कर देता है।

इधर कीर्तिदेव ने मुंजाल से भेंट की, उसके द्वारा क्रूर आक्रमणकारियों के विरुद्ध गुजरात और भारत के सभी नरेशों के एक संयुक्त मोर्चे का नेतृत्व करने की मुंजाल ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में अपील की।

उसने मालवा के साथ समझौता कर लेने की भी युक्ति सामने रखी और कहा कि उत्तर की ओर से यवन-सेना बढ़ती आ रही है। यदि उसको मार भगाने के लिये हम सब संगठित न हो सके, तो सब राज्य तहस-नहस हो जायेंगे। इस समय उन सब को संगठित करने की बड़ी आवश्यकता है। यह कार्य मुंजाल जैसा जन-विश्रुत एवं महान् राजनीतिज्ञ ही कर सकता है। परन्तु मुंजाल इससे कहीं गम्भीर था। वह कीर्तिदेव के प्रस्ताव से सहमत नहीं हुआ। उसे इस तथाकथित शुभ कार्य में भी व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष एवं प्रतिस्पर्द्धा की गन्ध

आई। उसके विचार में ये राजा चक्रवर्ती होने का स्वप्न देख रहे थे। कीर्तिदेव अपने उद्देश्य को असफल देखकर बड़ा निराश हुआ और इसी आवेश में उसने मुंजाल को खरी-खोटी सुना डाली।

मीनल और काश्मीरा मुंजाल पर दूसरा विवाह कर लेने का ज़ोर देती रहती हैं। उन्हें ऐसा लगा कि साथी के बिना मुंजाल बड़ी शीघ्रता से वृद्धावस्था में पदार्पण कर रहा है। बहुत दिनों से मुंजाल बड़ा शिथिल तथा श्रान्त दिखायी पड़ रहा था। वह अपने में ही गुम-सुम सा रहने लगा था। कोई वस्तु ऐसी अवश्य है जिसने उसकी आत्म-चेतना की गहरी तहों को छेड़ दिया है। कभी-कभी एकान्त में मुंजाल अपने अतीत के खँडहरों में भी जा निकलता है। वह अपनी प्रिय पत्नी फूलकुँवरि से कितना प्रेम करता था। मीनल के उसके जीवन में प्रवेश करने के पश्चात् वह उस पर कितना निर्दय हो गया था। अपने इकलौते बेटे को देश-निकाला तक दे दिया था—ये सब दृश्य एक-एक करके उसकी आँखों के सन्मुख झूलने लगे। वह चीत्कार कर उठा। केवल मृत्यु ही उसे इन वेदनाओं से छुटकारा दिलायेगी। मीनल, मुंजाल की बढ़ती हुई उदासी को देखकर बड़ी चिन्तित हुई और उसे दूसरा विवाह कर लेने को प्रेरित किया। परन्तु बुद्धिमान् मुंजाल ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इस पुस्तक में वह अर्द्धरात्रि का दृश्य जिसमें मुंजाल और मीनल एक दूसरे पर अपना हृदय खोल देते तथा इस समस्या पर वार्तालाप करते हैं, सौन्दर्य और कला की एक अत्युत्तम कृति है। मीनल ने अनिच्छुक मुंजाल को जीतने के लिये अपने साहस, कोमलता, प्रेरणा, प्रेम और भावना, जो उसके नारी-हृदय में छिपे हुए थे, सब का प्रयोग किया। उसने विनती की—"तुम मरुस्थल में एकाकी ताड़-वृक्ष के समान हो। संसार तथा हमारे अपने ही संयमों ने मुझे तुम से दूर-दूर रखा है।" मीनल रोने लगी।

मुंजाल ने कहा—"जीवन के दूसरे पक्ष की ओर भी देखो! मुझे तुमसे प्रेरणा मिली है। अप्राप्य को प्राप्त करने की शक्ति मिली है। मेरे मन में तुम बसी हो। तुमसे मुझे शक्ति और बल मिला है। मेरे अस्तित्व के तन्तुओं में तुम्हारा प्रेम बना हुआ है। मैं अपनी जड़ को कैसे काटूँ?

मीनल ने अपने टूटे हृदय से कहा—"मुंजाल, तुम हम दोनों की ख़ातिर ही विवाह कर लो।"

"क्यों?"

"जब तक तुम अकेले हो, हमारे हृदयों में दाग बने रहेंगे। हमारे प्रेम में पाप की गन्ध आयेगी।"

"पाप! यह हमारे निर्मल और निर्दोष अस्तित्व पर एक भयानक आरोप है।" मुंजाल को जैसे धक्का-सा लगा।

"हमारे सामाजिक और नैतिक बन्धनों में रहने के बावजूद हमारे प्रेम में वासना गहरे पैठी हुई है। हमारे हृदय एकस्वर में धड़कते हैं। यह बन्द होना चाहिये।" मीनल ने अपनी आत्मा की व्यथा उगल दी।

मीनल मुंजाल को विलग करना नहीं चाहती। वह आदर्श प्रेम की ज्वाला में अपने हृदय का बलिदान करना चाहती थी। मुंजाल मीनल की उदारता से प्रभावित हो गया।

परन्तु उसने यह स्पष्ट कर दिया कि वह त्याग को भोग-विलास के जीवन से श्रेयस्कर समझता है। मीनल और मुंजाल का दिव्य मिलाप एकबार फिर इस पर स्वीकृति की छाप लगा देता है। शुद्ध और दिव्य प्रेम की विजय होती है। इन विचित्र आत्माओं को सशक्त बनाकर यह आध्यात्मिक संकट का समय निकल जाता है।

मुंजाल के संकेत पर कीर्तिदेव को बन्दी बनाकर वहीं लाया जाता है जहाँ अपहृत मंजरी रखी गई थी। उधर काक बड़ा चिन्तित था और मंजरी का अता-पता जानने को उत्सुक। बड़ी कठिनाई के बाद उसे मंजरी का पता मिला—मंजरी—अभिमानिनी और मनमोहिनी मंजरी का। मंजरी ने उसे बताया कि कीर्तिदेव भी वहीं बन्दी है। उसके प्राण भी बचाने चाहियें। काक मंजरी की दृढ़ता देखकर दंग रह गया। वह उनकी रिहाई की व्यवस्था करने के लिये वापस चला गया। इसी बीच में मुंजाल कीर्तिदेव से जेल में मिला और उसको कहा कि यदि वह जयदेव के अधीन सेवा करना स्वीकार कर ले, तो उसे मुक्त किया जा सकता है। किन्तु अभिमानी और उद्दण्ड कीर्तिदेव ने इसे ठुकरा दिया। दोनों में बड़ा उग्र संलाप हुआ। मुंजाल एकाएक बोल उठा कि यवनों से लड़ने के बहाने कीर्तिदेव लक्ष्मवर्मा को चक्रवर्ती बनाना चाहता है। दोनों में ठन जाती है और मुंजाल तलवार का एक भरपूर हाथ उस पर चलाना चाहता है कि अचानक पीछे से किसी ने उसका हाथ पकड़ लिया। उसने मुड़कर देखा तो काक खड़ा था। काक ने मंजरी को मुक्त कर दिया। कीर्तिदेव को अब वास्तविकता ज्ञात हुई कि वह मुंजाल का लड़का है। पिता-पुत्र के मिलाप का यह दृश्य मर्मस्पर्शी है। अब मंजरी एक पावन मनोदशा में थी। वह काक के महान् गुणों को समझने और सराहने लगी। अब उसे काक अपने योग्य वर जान पड़ रहा था।

जयदेव ने सोरठ में राणक के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनी। वह उस पर मुग्ध था। वह काक को राणक के पिता के पास विवाह का प्रस्ताव देकर भेजता है। काक इस कठिन उद्देश्य को लेकर चला। मार्ग में उसे खेंगरा मिला। नवघण का वृद्ध राजा अपनी मृत्यु-शय्या पर पड़ा है। उसने अपने पुत्रों से जयदेव को अधीन करने की अन्तिम अभिलाषा कही। खेंगर ने इस काम को पूरा करने का बीड़ा उठाया। वह अपने पिता की अन्तिम अभिलाषा को अवश्य पूरा करेगा।

मंजरी कवि के कल्पना-संसार से बाहर आ चुकी है। काक की वीरता, भक्ति एवं प्रेम उसके मन और मस्तिष्क पर छा गये हैं। उसकी शिक्षा पूर्ण हुई। उसका श्रेष्ठ संस्कृति-जन्य अभिमान कपूर के समान उड़ चुका है। अब उसे ज्ञात हुआ कि काक के साहस एवं सामरिक चातुर्य के कारण ही ऊदो, नवघन, खेंगर तथा कालभैरव पर विजय पायी जा सकी है। प्रसन्नचित्त, मधुर एवं कोमल मंजरी अब काक के प्रेम पर आत्मोत्सर्ग करने को तैयार थी। काक भी मंजरी के इस नये रूप से परिचित था। वह भी उसके हृदय के भावों को समझता है। उन दोनों पर अब प्रेम का वरद हस्त था। काक और मंजरी दोनों उषाकाल के सौन्दर्य-सा प्रेम का आनन्द लूटने लगे। वे ज्योति, शान्ति, प्रसन्नता एवं अनन्तता के प्रदेश में विहार करने लगे।

काक की खेंगर से मैत्री थी। अब वह अपने आप को बड़ी विषम परिस्थिति में पाता है। खेंगर राणक के साथ है और जयदेव के गुप्तचर उनके पीछे लगे हुए हैं। काक जानता है कि राणक बड़ी कठोरहृदय स्त्री है और वह खेंगर से प्रेम करती है। राणक ने उसे बता दिया कि जीवित या मृत वह सदा खेंगर के साथ रहेगी। काक ने अपने आपको विचित्र दशा में पाया; परन्तु एक वीर की भाँति उसने पीछा करनेवाले दल से राणक और खेंगर को बचाने में सहायता की। अब क्या था। काक बन्दी हुआ और जयदेव के सामने लाया गया। जयदेव क्रोध से जल रहा था। यह उसकी मान-मर्यादा का प्रश्न था। उधर मीनल अपने बेटे का विवाह राणक से नहीं करना चाहती थी। वह काक के उद्देश्य की असफलता पर प्रसन्न थी। मीनल और मुंजाल ने जूनागढ़ पर आक्रमण करने की योजना बनाई। लाट में भी विद्रोहात्मक अशान्ति फैल रही थी। त्रिभुवनपाल को उसे शान्त करने की आज्ञा दी गई। कीर्तिदेव के मन में एक संघर्ष-सा उठ खड़ा हुआ। उसका अवन्ती में पालन-पोषण हुआ था। उसका मन अपने राज्य की सेवा करने को मचल रहा था। मुंजाल ने उसकी इस मानसिक दुविधा को समझ लिया और अपने बेटे को अवन्ती वापस आने को कहा। इस प्रकार त्रिभुवनपाल, कीर्तिदेव और काक तीनों वहाँ से चले गये और जंगल के एकाकी विशाल वृक्ष के समान मुंजाल शान्त और अचल खड़ा था।

: ५ :

'रा जा धि रा ज'—इसी शृंखला का तीसरा उपन्यास है 'राजाधिराज।' इसमें विशाल दृश्य, घटनाएँ एवं महान् पात्र हैं। वातावरण में पुष्कलता है। मुंजाल और मीनल अदृश्य शक्तियाँ हैं वे बहुत कम वास्तविक संघर्ष में भाग लेती दिखाई पड़ती हैं। द्वेष और वैर-भाव के वशीभूत होकर जयदेव सोरठ पर आक्रमण कर देता है। यह युद्ध वर्षों तक चलता है। जयदेव गुजरात का पर्याप्त भू-भाग विजय कर लेता है। परन्तु जूनागढ़ का दुर्ग अजेय है। उसे अचानक आक्रमण करके अपने अधीन करना है। उसका मन तो राणक में है। उसी के सौन्दर्य ने उसे इतने संघर्ष के लिए उद्यत एवं प्रेरित किया है। काक को जो अब भृगुकच्छ का शासक था, जयसिंह ने सहायता और परामर्श के लिये अपने पास बुलाया। उसके प्रस्थान पर, लाट के देश-भक्त विद्रोही, जो कि पाटण की पराधीनता का जुआ उतार फेंकने के इच्छुक थे, अपने आप को एक विद्रोह के लिये संगठित कर लेते हैं। मंजरी—वीरात्मा मंजरी—विद्रोहियों से युद्ध करने के लिये रक्षा-पंक्तियों का निर्माण करती है। उसने बड़े धैर्य तथा साधन जुटाने की शक्ति का परिचय दिया। मंजरी ने बड़ी वीरता से इस कठिन परिस्थिति का सामना किया तथा दुर्ग में शरण ले ली। वहाँ वह हर मूल्य पर रहेगी।

अन्ततोगत्वा बहुत दिनों के बाद जूनागढ़ की लड़ाई समाप्त हुई। खेंगर वीरगति को प्राप्त हुआ। जयदेव इस आशा से कि शायद वह उससे विवाह करले, निडर, क्रुद्ध तथा उदास राणक को ले चला। जयदेव ने बड़े-बड़े फुसलावे दिये परन्तु राणक टस-से-मस न हुई। उसने खेंगर की चिता के साथ जलने का दृढ निश्चय कर लिया था। यहाँ पर वस्तुस्थिति के अनुकूल

मुन्शीजी ने बड़े ही तीक्ष्ण एवं करुणाजनक वातावरण की सृष्टि की है। जयदेव बड़ा क्रुद्ध है। वह सोचता है कि अपनी गौरवपूर्ण विजय को चार-चाँद लगाने के लिये उसे राणक से विवाह करना ही चाहिये। एक मनोवैज्ञानिक क्षण में काक वढ़वाण के स्थान पर, जहाँ कि जयदेव डेरे डाले पड़ा था, आ निकलता है। खेंगर के पुराने मित्र के रूप में काक ने सोचा कि उसे राणक के सतीत्व की रक्षा करनी चाहिये। उसके सामने यह बड़ा कठिन तथा नाजुक काम था। उसने दृढ़तापूर्वक अपने स्वामी से इस घातक अनुष्ठान को त्याग देने की प्रार्थना की; परन्तु जयदेव तो क्रोध और काम में अन्धा हो रहा था। एक कूटनीतिज्ञ की दूरदर्शिता एवं फुरती के साथ उसने गुजरात के हित की बात की। उसने बलपूर्वक जयदेव को एक तहखाने में बन्द कर दिया। यह एक महान् कार्य था। मुंजाल, मीनल और जयसिंह की रानी लीलादेवी समय पर आ निकले और बिगड़ी बात बन गयी।

वीर और सती राणक अपने पति की चिता के साथ भोगावा नदी के तट पर जल मरी। काक को भृगुकच्छ की भयानक स्थिति का पता चला जहाँ कि मंजरी विद्रोहियों से अभी तक दुर्ग की रक्षा कर रही थी। परन्तु दशा बड़ी चिन्तनीय थी। भूख के मारे दुर्ग के कितने ही आदमी चल बसे। घबराई हुई और शिथिल मंजरी काक के लिये चिल्ला रही थी। वह जीवन और मृत्यु से जूझ रही थी। इस विषम परिस्थिति में उसने काक जैसे वीर-योद्धा की वीर पत्नी का उत्तम चरित्र प्रकट किया। काक बहुत देर में पहुँचा। वह इस हृदय-विदारक दृश्य को देखकर भी विचलित नहीं हुआ। मंजरी ने अत्यन्त करुणापूर्ण परिस्थिति में काक की बाँहों में दम तोड़ दिया। मंजरी की मृत्यु के दृश्य को मुन्शीजी ने जिस संयम, वास्तविकता एवं निर्भयता के साथ अंकित किया है, वह प्रशंसनीय है।

कुछ लोगों ने इसकी आलोचना भी की है कि मुन्शीजी ने मंजरी को किसी सामान्य युक्ति से बचा लिया होता, तो क्या ही अच्छा था। परन्तु मुन्शीजी जीवन के कटु सत्य की अभिव्यंजना के लिये अपनी कल्पना का अनुसरण करते हैं। उनकी कला जीवन को विशुद्ध रूप में अंकित करती है। वे इतने महान् कलाकार हैं कि तथाकथित 'सुखद अन्त' के लिये अपनी कला को बलि नहीं दे सकते। यह उपन्यास 'राजाधिराज' जयदेव के भृगुकच्छ के बाज़ारों मे विजयोत्सव के बीच समाप्त होता है। मुंजाल, काक और योद्धाओं के यूथ के यूथ जुलूस में दिखाई देते हैं। काक को प्रधान सेनापति बना दिया जाता है। इस प्रकार स्वर्गीय मंजरी की मनोकामना पूर्ण हुई। जयदेव की अभूतपूर्व विजयों के उपलक्ष्य मे चारों ओर आनन्दोत्सव मनाये जा रहे हैं। राज-पताका बड़े गर्व से दुर्ग पर लहरा रही है और भृगुकच्छ के बाज़ार "जय सोमनाथ" के जयकारों से गूँज रहे हैं।

: ६ :

'पृथ्वी वल्लभ'—यह एक गद्य-काव्य तथा एक उत्कृष्ट कलाकृति है। इससे लेखक की सुसंस्कृत एवं समृद्ध काव्य-चेतना का पता चलता है। इस की कथावस्तु अवन्ती-नरेश मुंज से सम्बन्धित है जो सम्वत् १०५२ विक्रमीय में वहाँ राज्य करता था। इसके दो प्रधान

पात्र हैं—मुंज और मृणालदेवी। मुंज को शक्ति एवं मानवता के प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया है। एक प्रकार से वह पूर्ण मनुष्य है एवं सौन्दर्य और जीवन के प्रेम के लिये कोई शक्ति उसकी भावनाओं को कुचल नहीं सकती। जीवन के अन्तिम वर्षों में, जब कि शारीरिक अवयव बिखरनेवाले हुए, उसका हृदय चरम विकास की ओर अग्रसर हुआ। मृणालदेवी एक सशक्त मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। उसके चरित्र-चित्रण से पता चलता है कि लेखक नारी-हृदय की ग्रंथियों का कितना कुशल जानकार है। मुंज और मृणाल दोनों सौन्दर्य के तेजोमण्डल में न्हा रहे से प्रतीत होते हैं।

'पृथ्वीवल्लभ' एक यूनानी दुःखान्त कलाकृति का स्मरण दिलाता है। वह कारा में ज़ंजीर से जकड़ा पड़ा है। उसमें भावना की ऊष्मता एवं मृत्यु के मुँह में आकर भी जीने की शक्ति है। इसको समझने में बुद्धि असमर्थ है कि ऐसी श्रेष्ठ और महान् आत्मा इस प्रकार कारा में कष्ट कैसे उठाती है। जब मुंज और तैलप दोनों को एक स्थान पर लाया जाता है, तो दृश्यों मे अद्भुत व्यंग की अभिव्यंजना मिलती है। अन्तिम दृश्य का सर्वोत्कृष्ट मनोभाव हमें संसार और उसके नियमों की विषमता का पूर्ण आभास करा देता है। मुंज की मृत्यु मनुष्य की अद्भुत शक्ति एवं उसके अजेय मन की घोषणा है। हमारी यह तरल भावना और दृढ हो जाती है कि उसकी मृत्यु में जीवन के स्थिर मूल्यों की उत्तम अभिव्यक्ति की गयी है। यहाँ निराशावाद का लेश मात्र भी नहीं। सांसारिक क्षुद्रता, कुरूपता एवं असहनशीलता लोप हो गयी है और आध्यात्मिक आह्लाद की चिनगारी प्रज्ज्वलित हो रही है।

विषय और निर्वाह की शैली में पूर्ण सामंजस्य है और पुस्तक तीव्र व्यक्तिगत अनुभूति के प्रकाश से आलोकित है। यह शुद्ध कविता है और उसमें मानसिक विकास का पूर्ण सामर्थ्य है। अद्भुत सौन्दर्य और शक्ति की भावपूर्ण उक्तियों मे निहित आनन्द-विलास, रंग और संगीत का सम्मिश्रण, चित्ताकर्षक लय और असाधारण शक्ति—'पृथ्वीवल्लभ' की कला की ये कुछ-एक विशेषताएँ हैं।

सम्वत् १०५२ वि० की बात है। 'पृथ्वीवल्लभ' महान् अजेय मुंज ने अपनी विजयों से सब तत्कालीन नरेशों को अपने अधीन कर लिया था। वह चक्रवर्ती सम्राट् है। उसने युद्ध और शान्ति की विजय प्राप्त की है। वह कृपाण और लेखनी का समान अधिकार से प्रयोग करता। उसका दरबार कवियों, कलाकारों एवं विद्वानों से भरा रहता था। मुंज कला और संस्कृति को संरक्षण देने में गौरव समझता था। उसके असाधारण पराक्रम की कथाएँ बन गयी थीं। अवन्ती आर्य संस्कृति का केन्द्र और मुंज उसका एक सुन्दरतम पुष्प है। उसका जन्म-शत्रु तैलंगान का नरेश तैलप, जो कि कई बार उससे पराजित हो चुका है, अन्त में उसके प्रधान सूबेदार भिलम की सहायता से मुंज को पराजित करने में सफल हो जाता है। मुंज को बन्दी करके तैलंगाना की राजधानी मानियाखेत लाया जाता है।

तैलंगाने पर वास्तव में तैलप की छत्तीस वर्षीया बहन मृणालदेवी शासन करती थी। उसी ने तैलप का पालन-पोषण किया और शिक्षा-दीक्षा दी थी। राज्य की शासन-व्यवस्था उसी

के हाथ में थी। सोलह वर्ष की आयु में वह विधवा हो गयी थी। इस प्रकार वह आत्मत्याग का जीवन बिताने लगी और शरीर की स्वाभाविक माँगों को भी दबाती रही। अब वह निराश थी। उसकी आत्मा जैसे दब गई थी। अतः उसका जीवन-प्रवाह जीवन-कला के विपरीत ही प्रवाहित था। उसने अपने व्यक्तित्व से समस्त सौन्दर्य-उपादानों का उन्मूलन करने की चेष्टा की एवं अपने मन से मानव-सुलभ दया-भावना को भी निकाल बाहर किया। वह एक जड़ नारी बन गयी थी। उसके भयानक अहं ने उसे और भी भयावह बना दिया था। वह जीवन को आधारभूत भावनाओं एवं सहजज्ञान से सदा जूझती रही। एक धार्मिक उत्साह के साथ वह अपनी प्रजा के जीवन को भी उसी साँचे में ढालने लगी। उसने राज्य में नाट्यगृहों तथा आमोद-प्रमोद के अन्य स्थानों को भी बन्द करा दिया। उत्सवादि समाप्त हो गये। कवियों, संगीतज्ञों एवं कलाकारों को देश-निकाला दे दिया गया। प्रजा में चारों ओर शोक, खिन्नता और उदासी का अन्धकार छा गया। हास्य अपराध एवं प्रसन्नता पाप हो गयी। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं उन्नति के स्थान पर प्रजा पर कड़ा नियन्त्रण तथा दबाव डाला जाने लगा। उसका जीवन कठोर, शुष्क तथा क्रूर हो गया। मृणालदेवी ने जीवन से इस पलायन के लिये धर्म की आड़ ली तथा संन्यास की बात सोचने लगी।

परन्तु उसकी इस आत्मसंयमी कठोरता की पूरक उसकी शक्ति और अधिकार-लालसा थी। वह तेलंगाना राज्य की देवी थी और मुंज की पराजय से उसके अत्यधिक अभिमान को बड़ा संतोष हुआ। उसके जीवन का सर्वोत्तम क्षण आ पहुँचा। वह मुंज का अपमान करके उसे मृत्यु के मुंह में ढकेलना चाहती थी।

× × ×

आज का दिन एक महान् दिवस है। तैलप अपनी राजधानी में विजय-प्रवेश कर रहा है। जलूस में राजबन्दी मुंज बड़ी शान से चल रहा है। उसको देखकर दर्शकों के हृदय आश्चर्य से भर आये। उसके शारीरिक गठन और चालढाल में कोई वस्तु अदृश्य अवश्य है। उसका व्यक्तित्व देवतुल्य मधुर है। ऐसा प्रतीत होता है कि मृत्युलोक की जनता में ज्योति, प्रेम और आनन्द की सदेह आत्मा चल रही हो। उसने जनता पर दृष्टि डालकर उनके मनों को मोह लिया। लो, कठोर मृणाल भी उसकी मुस्कान से मुग्ध हो गयी।

तैलप इसको कैसे सहन कर सकता था। उसने मुंज को तुरन्त मार डालने की आज्ञा दे दी। परन्तु मृणाल पहले उसके हृदय और आत्मा को जानना चाहती थी; बाद में उसको मृत्युदण्ड देना। इस काम के लिये उन्होंने राजबन्दी को एक काष्ठ के पिंजरे में रखने का निश्चय कर लिया।

स्नेहशून्य, विरक्त एवं अभिमानिनी मृणाल को यह देख कर धक्का-सा लगा कि मुंज कारागार में भी प्रसन्न है। उसकी महान् आत्मा उन्मुक्त थी और उसका मानसिक साम्राज्य ज्यों का त्यों बना हुआ था। वह जीवन के रहस्यों पर कभी गाता, कभी हँसता एवं कभी विचार-मग्न हो जाता। मृणाल ने सोचा कि मुंज निर्लज्ज है, उसे इसका दण्ड मिलना चाहिये। वह धमकियाँ देकर उसे भयभीत करना एवं कठोर शब्दों से उसे मर्माहत करना चाहती है।

परन्तु वह अपने मन में एक अकथनीय तथा अभूतपूर्व मधुर कौतूहल का अनुभव करती। इस से उसके मन में निराशा एवं घृणा जाग उठती। वह मुंज के गौरवपूर्ण व्यक्तित्व से पूर्णतया अभिभूत हो गयी। मुंज ने उसमें यह अदृश्य परिवर्त्तन देखा, तो एक दिन उससे कह ही दिया—"तुम मुझे पराजित करने आयी थीं, परन्तु स्वयं पराजित हो गयी हो। इससे अधिक प्रसन्नता की बात और क्या हो सकती है? तुमने निस्सन्देह एक भारी भूल की है।" ये शब्द मृणाल के हृदय के अन्तरतम छोरों में प्रवेश कर गये और वह क्रुद्ध होकर उसके 'दूषित विचारों' की भर्त्सना करती वहाँ से चली गयी। परन्तु उसके अन्तर में एक नवीन चेतना-सी उभरने लगी।

मुंज कटहरे में खड़ा है। नगरवासियों को उसका उपहास करने, उसपर थूकने तथा पत्थर मार-मारकर उसका अन्त कर देने के लिये बुलाया गया है। ऐसी हीनता तो वीर से वीर पुरुष को भी आत्मसमर्पण पर उतारू कर देगी। परन्तु यहाँ तो परिस्थिति ही भिन्न थी। जो लोग उसे तङ्ग करने के लिये आये थे, वही जैसे उसके सम्बन्धी हो गये हों। उसका इतना बड़ा प्रभाव था कि उन्होंने हुलास की लहर अपने हृदय में लहराती हुई-सी अनुभव की। मुंज उदासी के छितराव का प्रतीक-सा जान पड़ने लगा। उसका व्यक्तित्व सर्वत्र आनन्द, संगीत एवं नृत्य की वर्षा करता-सा प्रतीत होने लगा। जन-समूह उसके भावपूर्ण व्यक्तित्व से अभिभूत हो गया। यहाँ हम मुन्शीजी की तत्सम्बन्धी रचना का कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

> मृणाल की मनोदशा उसकी भृकुटियों एवं धीमी-धीमी चाल से जान पड़ती थी। परन्तु उसका मन पूर्ववत् स्थिर न था। उसका आत्मविश्वास भी डगमगा चुका था। उसकी आकृति बड़ी गम्भीर दिखायी दे रही थी। अंगरक्षक एवं मशालची उसकी यह मनःस्थिति देखकर भयभीत हो गये थे। सारे साम्राज्य का भाग्य उसके हाथों में था। जब कारा के रक्षक ने उसे इस बेला में वहाँ आते देखा, तो वह पाषाण-प्रतिमा-सा खड़े का खड़ा रह गया। उसका मन किसी भावी अप्रत्याशित अनिष्ट से व्यग्र हो उठा।
>
> कारा का कपाट खुला और मशालची ने आज्ञा पाकर मशाल का मुख अन्दर की ओर कर दिया और स्वयं एक तरफ को हट गया।
>
> मृणाल कारा में प्रविष्ट हुई और उसमें आस-पास फैले अन्धकार की अभ्यस्त होने का प्रयत्न करने लगी।
>
> मुंज एक कोने में अपनी बाँह पर सिर टिकाये लेट रहा था। मृणाल की पग-चाप सुनते ही उसने धीरे से अपना सिर ऊपर उठाया और बड़े मीठे शब्दों में मृणाल से कहने लगा—"शत-शत स्वागत! मैं तुम्हारी ही बाट जोह रहा था।"
>
> शब्द साधारण थे। परन्तु मुंज के कहने का ढंग इतना स्नेहपूर्ण था कि मृणाल के कठोर एवं रूखे संयम तथा प्रतिरोध की कड़ियाँ एक-एक करके टूट गयीं।
>
> मृणाल : मेरे लिये?

पृथ्वीवल्लभ, जो अभी तक फर्श से सटा बैठा था, बोला, "हाँ तुम्हारे लिये। मुझे विश्वास था कि तुम यहाँ आये बिना रह नहीं सकोगी। कहिये प्रसन्न तो हैं आप ?"

उसकी आवाज ने कारागार में एक अद्भुत मोहिनी भर दी। उसकी आँखों की सजीव मुस्कान मशाल के धुँधले प्रकाश में साफ दिखाई दे रही थी। मृणाल ने पूर्ण निश्चय के साथ अपने हाथ अपनी कमर पर रखते हुए, अपने मनस्ताप को छिपा कर कहा—"मुंज, मुंज, या तो तुम धूर्त हो, अथवा जो तुम समझते हो उसको स्वीकार करने का तुममें नैतिक साहस नहीं है। मैं यहाँ किसी व्यक्तिगत स्वार्थ से नहीं, परन्तु तुम्हारी स्थिर आत्मा को चलाने आई हूँ। मैं तुम्हारी इस पापपंकिल आत्मा को सीधे मार्ग पर लगाने आई हूँ।"

मुंज ने शान्त भाव से उत्तर दिया—"मृणालवती, किसी का भला करने के विचार से किसी की सहायता करना कोई मूल्य नहीं रखता।"

निराशा में मृणाल ने अपना हाथ माथे पर रख लियाऔर कहा—"अपने लिये कोई किसी दूसरे का कैसे भला कर सकता है।"

मुंज उठ बैठा और शान्तिपूर्वक पूछने लगा—"दूसरों के लिये क्यों? मैंने दूसरों के साथ भलाई की है। मैंने भी दीनों की सहायता की है तथा दुखियों को प्रसन्न किया है। परन्तु यह सब-कुछ मैंने उनकी भलाई के लिये नहीं किया था। यह मैंने अपने स्वार्थ के लिये किया था। उनकी भलाई करने में मुझे प्रसन्नता मिली, इसलिये मैंने उनके साथ भलाई की। इससे मेरे अहंकार को तुष्टि मिली। इससे मुझे प्रसन्नता मिली। दूसरों के साथ भलाई करने का ढिंढोरा पीटना अपने अहंकार को संतुष्ट करने का एक ढंग है।

इस पर मृणाल ने अपने मन से प्रश्न किया कि क्या वह सचमुच मुंज के साथ भलाई करने अथवा अपने ही अहं को संतुष्ट करने आई है? विचार करने पर उसे अनुभव हुआ कि मुंज के शब्दों में सत्यता है। फिर भी उसने बड़ी निर्भीकता से उत्तर दिया—"इससे पता चलता है कि तुम कितने निर्लज्ज हो।"

मुंज ने मुस्कराते हुए कहा—"सम्भव है। अब बताओ कि तुम मुझे कहाँ जानेको कहती हो ?"

मृणाल कहा—"निष्कलंक पवित्रता के मार्ग पर।"

मुंज ने सहसा अपना सिर उठाया—"निष्कलंक पवित्रता ? मृणालवती, केवल अपवित्र लोगों को ही पवित्र बनने की ज़रूरत है। तुम मुझे क्या सिखाती हो ? तुम एक राजकुमारी हो, तुम राजसी वातावरण में पली हो। अपनी शक्ति में अपने आप को पूर्ण समझती हो। तुम्हें अधिकार-मद हो गया है। तुम मुझे क्या शिक्षा दे सकती हो ? और मुझे और सीखना भी क्या है ?"

"कितना अहंकार है !" उसने घृणा से कहा।

"तुम चाहे इसे अहंकार कहो। परन्तु तुम्हें शायद मेरे जीवन की कहानी मालूम नहीं। मैं एक निराश्रय माँ का त्यक्त बालक था। और आज मैं पृथ्वी-वल्लभ हूँ। जंगली सिंहिनियों ने मुझे अपना दूध पिला कर पाला है। हाथियों ने मुझे पंखा झला है। मैंने गलियों में भीख माँगी है तथा सिंहासनों का दान दिया है। मैंने दुखी लोगों के लिये अपना जीवन संकट में डाल देखा है तथा सुखी लोगों के टुकड़े उड़ा दिये हैं। मैंने सुन्दर रमणियों के सौन्दर्य को लूटा है तथा लक्ष्मी के समान सुन्दर युवतियों के सिर काट दिये हैं। मैंने वेदों का अध्ययन किया है तथा संन्यासियों का-सा कठोर जीवन बिताया है जो देवताओं को भी दुर्लभ है। मैंने शृंगारी कविताएँ लिखी हैं तथा सब तरह के संहार के रक्त से अपने हाथ रँगे हैं। मुझे अब और क्या चाहिये ?" यह कह कर उसने अपना सिर पीछे हटा लिया तथा उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा।

अपना जीवन-वृत्त कहते उसका चेहरा सान्ध्य-गगन के समान दीप्त हो उठता था। वह कुछ समय निर्निमेष नेत्रों से उसकी तरफ देखता रहा; फिर मैत्री-पूर्ण स्वर में कहा—"मृणालवती ! मैंने चाहे कैसा भी जीवन बिताया है, मैं प्रसन्न हूँ। मैं अपवित्रता को जानता ही नहीं। तुम मुझे क्या सिखाओगी ?"

मृणाल अवाक् थी। उसका गला भर आया था और मन स्थिर था।

"हाँ, तुम्हीं को अभी बहुत कुछ सीखना है। तुम जीवन के आनन्द को जानती ही नहीं। तुम्हें अभी फूलों की सेज का रहस्य जानना है। तुम्हें अभी आनन्दित करनेवाले नृत्य का भेद मालूम करना है।"

मृणाल ने क्रोध में अपना हाथ उसको चुप रहने का आदेश देने के प्रयत्न में उठाया। परन्तु मुंज इधर ध्यान दिये बिना कहता गया—"और एक प्रेमी के भुजापाश में . . . . ."

मृणाल दाँत पीसकर बोली—"दुष्ट !"

मुंज हँस दिया। वह उठ खड़ा हुआ। मृणाल के समीप आकर बोला—"तुम्हें अभी उन मोतियों को चुनना है जो आनन्द-सागर को मथकर प्राप्त किये जाते हैं।"

मृणाल ने दाँत पीसते हुए कहा—"धूर्त ! निर्लज्ज ! कल ही तुम्हें तुम्हारे भाग्य को सौंप दिया जायगा।" उसकी आँखों में जैसे खून उतर आया हो। क्रोध के मारे उसकी भवें तन गयीं और माथे की नसें उभर आयीं। परन्तु मुंज ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"बहुत अच्छा, भूल न जाना। मैं कल शाम को तुम्हारी फिर प्रतीक्षा करूँगा।"

मृणाल आग-बबूला होकर बोली—"क्या कहा ? मेरी प्रतीक्षा करोगे ?"

"हाँ," मुंज ने उत्तर दिया, "तुम्हें यह सब-कुछ सिखाना होगा।"

"चाण्डाल, अपनी जबान को लगाम दे।"

मुंज ने शान्तभाव से कहा—'मेरी जबान, यह तो तुम-जैसी कई अभिमानिनी

एवं कठोर स्त्रियों को अपने वश में कर चुकी है। तुम्हारी मुक्ति इसीमें है कि तुम पृथ्वीवल्लभ को प्रेम करो और वह तुम्हें प्रेम करे।"

क्रोध में भरकर मृणाल ने अपना भरपूर हाथ मुंज के मुंह पर मारा। उसने उसकी बाँह पकड़ ली और अपने निकट खींच लिया, उसके प्रतिरोध के पूर्व ही मुंज ने उसके काँपते अधरों का चुम्बन ले लिया।

मृणाल को जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो। उसकी आँखें भय के कारण भयावह हो गयीं। वह काँपती, भयभीत वहाँ खड़ी थी और पृथ्वीवल्लभ उसके सामने बड़ी भावुकता से मुस्कराते हुए उसकी ओर देख रहा था।

मृणाल : अंगरक्षक !

"साम्राज्ञी !"

"इस दुष्ट के हाथ बाँधे क्यों नहीं गये ?"

मुंज ने धीरे से कहा—"हाँ, रणमल्ल, हथकड़ी लाओ जिससे कि हृदय की कड़ियाँ टूट जायँ, अन्यथा वे मेरा गला घोंट देंगी।"

मृणाल सिंहिनी के समान उग्र दीख पड़ रही थी। रणमल्ल और दूसरे अंगरक्षकों ने मुंज को हथकड़ियाँ पहना दीं।

"रणमल्ल, इस पापी ने मेरे हाथ का स्पर्श किया है, इसका हाथ दाग़ दो।"

सन्तरी ने निराश होकर पूछा—"अभी ?"

मृणाल गरजकर बोली—"और कब ?"

रणमल्ल भय के मारे काँप रहा था। उसने एक बरछी ली और मशाल की अग्नि में उसके तीखे सिरे को गरम करने लगा। बड़ी अधीरता से मृणाल ने अपना पाँव धरती पर पटकते हुए गरज कर कहा—"जल्दी करो, देर क्यों कर रहे हो ?"

"मैं तैयार हूँ।" रणमल्ल ने दूसरे सन्तरियों को पुकारकर मुंज के हाथ पकड़ने को कहा।

मुंज ने विनम्रतापूर्वक कहा—"मृणालवती, तुम यह व्यर्थ कष्ट क्यों करती हो। तुम्हारे स्पर्श से मेरी नस-नस में ज्वाला जाग उठी है। उनको आग से जलाने की क्या आवश्यकता है।"

इसके उत्तर में मृणाल ने रणमल्ल को आदेश दिया---"जल्दी करो !"

रक्षकों ने मुंज के जकड़े हुए हाथों को पकड़ने की कोशिश की; परन्तु हथकड़ी लगी होने पर भी उसने उन्हें बहुत देर तक अपने पास न आने दिया।

मृणाल ने अपने ओठ काटते हुए कहा—"पामर, कापुरुषो, यदि तुम तुरत ही मेरे आदेश का पालन नहीं करोगे, तो तुम्हें मरवा डालूँगी।"

अन्तिम बार पूरा जोर लगाकर वे मुंज का दायाँ हाथ पकड़ने में सफल हो गये। मुँज उन पर हँस रहा था। सन्तरी श्रम के कारण हाँपने लगे थे।

रणमल्ल ने बरछी का लाल गरम सिरा मुंज के हाथ पर रख दिया, परन्तु

उसने उफ़ तक नहीं की। मांस जलने लगा। उसकी दुर्गन्ध कारा में फैल गई।

जब दुर्गन्ध आई, तो मृणाल ने बस करने के लिये कहा।

अपने स्वभावानुसार मुंज ने घृणा के लहजे में शान्तभाव से कहा, "बस इतनी-सी बात थी? यदि मुझे यह मालूम होता कि तुम इतने भर से प्रसन्न हो जाओगी, तो मैं अपना सारा हाथ खड़े-खड़े जला देता।"

मृणाल के पास इसका कोई उपयुक्त उत्तर नहीं था। वह चलने लगी।

"मृणालवती कल अवश्य आइये—इस घाव की मरहम पट्टी के लिये—"

क्रोध और घृणा के आवेश में मृणाल वहाँ से चल दी। वह अब अपने आप को धिक्कार रही थी। उसे अपनी पराजय का अनुभव हुआ। परन्तु वह अपनी विवशता से भी अभिज्ञ थी। वह महान् मानसिक दुविधा में थी। क्रोध और आनन्द की भावनाएँ उसे विकल कर रही थीं। वह अपनी मनोदशा को उगल नहीं सकती थी और न ही आन्तरिक भावनाओं को दबा सकती थी। वह मुंज दो क्षेत्रों में मनःयुद्ध कर रही थी। उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह बुरी तरह हार गयी है। मुंज को झुकाने के लिये उसकी राजशक्ति एवं तीस वर्षों की तपस्या दोनों असमर्थ रही हैं। इसके विपरीत उसके रक्त में एक नयी लहर दौड़ रही है। उसका हृदय और मस्तिष्क जैसे फिर से जाग उठे हों।

× × ×

मुंज को राज-दरबार में लाया गया तथा उसे आज्ञा दी गयी कि यदि वह अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहता है, तो वह विजयी नरेश के पाँव धोये। यह एक प्राचीन रीति थी। राजबन्दी को अपनी प्राण रक्षा के लिये यह करना पड़ता था। परन्तु महान् मुंज से यह आशा करना कि वह तैलप के पाँवों में गिर कर अपनी जान बचाने की खातिर उसके पाँव धोयेगा, दुराशामात्र थी। मुंज जीवन और मृत्यु में कुछ अन्तर नहीं मानता था। उसने जीवन और मृत्यु दोनों पर विजय पा ली थी। स्वभावतः उसने इस शर्त को ठुकरा दिया और घृणा से पानी के कलसे को पाँव की ठोकर मार दी। अपनी पराजय से क्षुब्ध तथा विवशता के क्रोध में तैलप अपनी तलवार खींच कर मुंज को मारने के लिये तैयार हो गया। परन्तु लोग यह देख-कर हैरान रह गये कि मृणाल ने भाई का हाथ पकड़ लिया और उसे कहा कि रक्षाहीन बन्दी को इस प्रकार नहीं मारना चाहिये। यह आर्य धर्म के सब नियमों के विरुद्ध है। तैलप तिलमिला कर रह गया।

× × ×

मृणाल एक मधुर अचेतनावस्था में है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका व्यक्तित्व किसी दिव्य ज्योति से चमक रहा हो। वह अत्यन्त व्याकुल थी तथा पुनर्जागृति की वेदना का अनुभव कर रही थी। वह भावना के वशीभूत थी, वह चोरी से मुंज के पास गयी और बोली—"मैं तुम्हें बाँधने आयी थी, परन्तु स्वयं बँध गयी हूँ।" उसके मन में इस भावना से संतोष हुआ कि उसकी लम्बी तपस्या से उसे आत्म-ज्ञान तो प्राप्त हो गया। यह शिव-स्वप्न कब तक रहेगा? फिर भी मुंज वहाँ एक बन्दी ही तो था। वह कारागार में देर तक उसके पास रहती।

जनता का उसपर सन्देह करना स्वाभाविक ही था। वह ऐसी भ्रम में डालनेवाली बात अधिक देर नहीं चलने देगी। मुंज के प्राण बचाना आसान नहीं और उसके बिना उससे रहा भी नहीं जाता। मृणाल मानसिक उलझन में थी। मुंज ने उसे एक तरकीब सुनायी कि वह तैलप को मार कर उसे अवन्ती ले जायगा। मृणाल ने कहा—"हे पृथ्वीवल्लभ, मैं तुम्हारे अधीन हूँ परन्तु मैं अपने भाई के वध की दोषभागी नहीं बन सकती। आओ हम अवन्ती भाग चलें।"

इसी कथा के साथ-साथ एक उपकथा और है जिसमें भिल्लम के उत्थान-पतन का चित्र उपस्थित किया गया है। भिल्लम तैलप से पराजित हो कर स्यूनदेश के राज्य से हाथ धो बैठा। तैलप ने उसे तैलंगाने का प्रधान सूबेदार नियुक्त कर दिया। भिल्लम और उसकी वीर पत्नी लक्ष्मीदेवी अपने दिन मनियाखेत में घोर उदासी में काट रहे हैं। भिल्लम ने ही मुंज को बन्दी बनाया था। भिल्लम और लक्ष्मी उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं जब वे स्वतन्त्र होंगे और वह दिन तभी आ सकता है जब उनकी पुत्री विलास का विवाह तैलप के लड़के सत्याश्रय से कर दिया जाय। ऐसा अनुमान था कि विवाह के बाद भिल्लम अपने देश लौट कर अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लेगा। सत्याश्रय और विलास दोनों की शिक्षा-दीक्षा मृणाल-देवी की देख-रेख में हो रही है। वे दोनों एक दूसरे से प्यार करने लगे हैं।

× × ×

मुंज के साथ, बंदियों के रूप में कवि भी लाये गये थे। परन्तु उन्हें भिल्लम के हस्त-क्षेप पर छोड़ दिया गया। फिर भी कुछ समय तक उन्हें उसने महल में नज़रबन्द किये रखा। उनमें एक कवि रसनिधि था जो 'अवन्ती का भोज' के नाम से विख्यात् था। वह विलास के सम्पर्क में आ जाता है और नित्यप्रति साहित्य, जीवन और कला पर दोनों में वाद-विवाद होता है। रसनिधि बड़ा सुसंस्कृत एवं कोमलस्वभाव व्यक्ति था। विलास का तरुण हृदय ऐसे स्वप्नदृष्टा पुरुष की ओर थोड़ा भावनामय हो गया। उसके प्रवचनों से विलास के हृदय की नयी वीथियाँ खुलने लगीं। अनजाने में ही विलास यह अनुभव करने लगी कि रसनिधि की तुलना में सत्याश्रय कितना कठोर और शुष्क पुरुष है। मृणाल के साथ धर्म-विषय पर बात करना मूर्खता नहीं तो और क्या है और जीवन-आनन्द की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को मारना कितना बुरा है।

लक्ष्मीदेवी की सहायता से दोनों मुंज से रात को मिलने तथा उसे अवन्ती भाग जाने के लिये प्रेरित करने की योजना बनाते हैं। रसनिधि दल के आगे-आगे चला। वे एक गुप्तमार्ग द्वारा कारागार में जाने में सफल हो गये। रसनिधि ने मुंज से प्रार्थना की कि वह अवन्ती की प्रजा के हित के विचार से ही उसकी बात मान ले। उसकी बात सुनकर मुंज हँस दिया और उसे अपने नये प्रेम का रहस्य बतला दिया। भोज और दूसरे लोग घबरा गये। तब मुंज ने उन्हें अगले दिन आने को कहा जिससे मृणाल भी साथ चल सके। दल वापस फिरा।

× × ×

अब मृणाल एक मनोवैज्ञानिक भूल कर बैठती है। उसके मन में एक संघर्ष चल

रहा था—क्या वह मुंज के साथ भाग जाय अथवा कोई ऐसा उपाय ढूँढ़ निकाले जिससे वह जीवन पर्यन्त मुंज के साथ मनियाखेत में रह सके? अन्त को उसे विचार हुआ कि उसे मार्ग मिल गया है। उसने सत्याश्रय को बुलाकर क्षत्रियों का सारा षड्यन्त्र बता दिया। उसने उससे कह दिया कि षड्यन्त्र को शुरू में ही विफल कर दिया जाय परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाय कि संघर्ष की अवस्था में मुंज पर आँच न आने पाये। योजनानुसार भोज और उसके साथी रात को मुंज से कारा में मिलते हैं। उसकी योजना विफल कर दी जाती है। सत्याश्रय भोज पर वार करता है। दोनों में लड़ाई होती है। भोज उसे पराजित कर लेता है, परन्तु विलास को खो देता है। सत्याश्रय विलास को मार्ग में देख लेता है। वह उसका सिर काट लेता है। तैलप को मुंज और मृणाल के गुप्त मिलाप तथा प्रेम का पता चला तो क्रोध के मारे उन्मत्त हो गया और अपनी बहन के इस अशोभनीय पतन के लिये उसकी भर्त्सना की।

यहाँ से उपन्यास का अन्त आरम्भ होता है। भिल्लम और लक्ष्मी दुःख और क्रोध में मनियाखेत छोड़कर अपने देश की राह लेते हैं। उन्होंने तैलप का प्रभुत्व त्याग दिया है।

अब कहानी अपने दुखान्त-अन्त की ओर अग्रसर होती है। अन्तिम दृश्य बड़ा ही रोमांचकारी एवं विशाल है। इसका प्रभाव बड़ा तीव्र है। तैलप ने नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया कि मुंज सात दिन तक शहर में दर-दर की भीख माँगेगा और फिर मृत्यु के घाट उतार दिया जायगा। हथकड़ी-बेड़ियों में जकड़ा हुआ मुंज, हाथ में प्याला लिये मनियाखेत में भीख माँगता है। परन्तु इससे उसके आध्यात्मिक प्रभाव एवं ज्योति में कुछ अन्तर नहीं पड़ा और न ही उसके मन का संतुलन एवं गम्भीरता ही विक्षुब्ध हुई। राजसी चाल-ढाल के साथ वह दर्शकों में, जो कि उसकी प्रशंसा ही कर रहे थे, प्रकाश और आनन्द बिखेर रहा था। शान्त तथा निर्भय, अपने अन्त से निश्चिन्त कि उसे हाथी से कुचलवाया जायगा, मुंज जनता के साथ मनोविनोद कर रहा था।

इधर तैलप प्रसन्न था कि कुछ ही क्षण में उसका महान शत्रु मौत के घाट उतार दिया जायगा। बेचारी मृणाल की दशा बड़ी दयनीय थी। मुंज ने उसे सहारा दिया।

> वह निस्संकोच भाव से उस स्थान पर जहाँ मृणाल खड़ी थी, पहुँच कर मुस्करा दिया। उसकी मुस्कान में एक मोहिनी थी।
>
> "मृणालवती, कहो क्या हाल है?" मृणाल इसके उत्तर में मुस्करा तो नहीं सकी, परन्तु मुंज की मुस्कान और आवाज ने उस पर जादू कर ही दिया था। वह मन्द-मन्द मुस्काने लगी; परन्तु उसका मुँह दुःख से आच्छादित था। उसकी आँखों में आँसू छलछला रहे थे। उनकी दृष्टियाँ मिलीं, जैसे उन्होंने आलिंगन कर लिया हो। "अब तुम मुझे क्या दे सकती हो?" पृथ्वीवल्लभ ने बड़ी कोमलता से पूछा—"जो-कुछ तुम्हारे पास था, वह तो मेरे अर्पण कर चुकी हो।"
>
> इन शब्दों ने मृणाल को पागल-सा बना दिया। भावना का सागर उसके हृदय में लहराने लगा। वह दुःख-अवसर को भूल गयी और अपने प्रियतम को प्रेमपूर्ण नेत्रों से निहारने लगी।

"मेरे सुन्दर, डरो मत। दुनिया बड़ी दुष्ट तथा मूर्ख है। और यह सदा ऐसी ही रहेगी। तुमने अपने जीवन को सुन्दर बना लिया है," कहकर वह मुंज के पाँवों में गिर पड़ी—

"पृथ्वीवल्लभ, मुझे क्षमा करो, मैं ही तुम्हारे वध का कारण हूँ।" यह कहकर मृणाल ने मुंज के पाँव की धूलि अपने मस्तक पर लगा ली।

"तुम? मेरी मृत्यु का समय तो मेरे जन्म के समय ही निश्चित हो गया था। इसमें तुम क्या कर सकती हो?"

तैलप यह सब-कुछ देख न सका। उसने मृणाल को मंच पर से घसीट लिया। नागरिकों और सैनिकों की आंखें आँसुओं से तर थीं।

"तैलप, तुम मेरे प्रति अपने क्रोध को इस बेचारी स्त्री पर क्यों निकाल रहे हो?"

"चुप, नीच कहीं का!"

"मैं चुप क्यों रहूँ?" मुंज ने मुस्कराते हुए पूछा—"तुम्हें चाहिये कि तुम अपना मुँह बन्द रखो, क्योंकि तुम्हारी विजय के क्षण का अन्त हो रहा है।"

क्रोध के मारे तैलप एक शब्द भी मुँह से न निकाल सका।

मुंज का मुखमण्डल तेजोमय हो रहा था। वह चारों ओर देखकर मुस्कराया तथा उच्च स्वर में कहने लगा—"मूर्ख, तुम नहीं देखते। मेरा भोज, सिंह-हृदय भोज, अवन्ती में मेरे सिंहासन पर विराजमान है? स्यूनदेश में तुम्हारा जागीरदार भिल्लम अब मुझ से प्रतिकार की भावना नहीं रखता। तुम्हारी बहन और तुम्हारी प्रजा अब तुम्हारी नहीं, मेरी है। यह किस की जीत हुई; मेरी या तुम्हारी?"

तैलप ने कहा—"मेरा हाथी अभी बता देगा कि किसकी विजय हुई।" मृणाल को मंच पर छोड़कर वह आगे बढ़ा।

मुंज ठहाका मार कर हँस दिया—"क्या यह तुम्हारी विजय होगी? तुमने मुझे अपनी इच्छानुसार झुकाने की कोशिश की, परन्तु मैं अभिमान के साथ सिर ऊँचा किये मर जाऊँगा। तुम्हें अपने ऊपर अभिमान है। तुम एक नरेश को मार कर एक घोर अपराध करोगे। अब तुम्हीं कहो, विजयी कौन है, तुम या मैं?" मुंज की भर्त्सना से भरी, गरजती आवाज़ सभी प्रजाजन सुन रहे थे।

तैलप ने उत्तेजित होकर अपने ओठ काट लिये। उसकी आँखें द्वेष से चमक रही थीं। उसने सैनिकों से कहा—"इसे वहाँ ले जाओ।"

मुंज ने पूछा—"क्यों? मैं स्वयं वहाँ जा रहा हूँ।" यह कहकर वह राजसी गौरव के साथ हाथी की ओर चला। सारी जनता की आँखें उस पर लगी हुई थीं। साँस रुके हुए थे। मुंज बड़े शान्तभाव से आगे-आगे चला। तैलप और

कुछ सिपाही उसके पीछे-पीछे।

वह आकर कुछ क्षण हाथी के निकट खड़ा रहा। तैलप के आदेश से उसकी बेड़ियाँ काट दी गयीं। अब मुंज तन कर खड़ा हो गया। उसने कन्धों तक लहराते हुए अपने बालों को पीछे किया और जनता तथा मृणाल की ओर देखने लगा। उसकी आँखें अतुल शक्ति से चमक रही थीं। उसके अधरों पर मधुर और गौरवपूर्ण मुस्कान खेल रही थी। जनता काँप रही थी। कुछ पुरुष और स्त्रियाँ सिसकियाँ भरने लगीं। मृणाल उसकी ओर पागल के समान देख रही थी। सैनिक जड़ यन्त्र के समान अपना कर्त्तव्य पालन कर रहे थे।

मुंज ने धीरे से कहा—"तैलप, देखो, पृथ्वीवल्लभ के लिये मंच तैयार हो गया है।"

तैलप यह सुनकर ओठ चबाने लगा। उसके मन में क्रूरता जाग्रत हो गयी। वह निराश भी था। सोचने लगा कि अपनी मृत्यु को सामने खड़ी देखकर भी मुंज निर्भीक है। वह एक विजयी के समान खड़ा है। वह मुंज के आत्म-विश्वास को डिगाने के एक और अवसर की खोज में था।

"इधर आओ, नहीं तो मैं अपने आदमियों को बुलाऊँ?"

मुंज ने घृणा से तैलप को देखा और हाथी के सूँड के निकट चला गया। वहाँ जाकर वह रुक गया; जैसे हिचकिचा गया हो। तैलप बोला—"क्या डर गये?"

"जब पृथ्वीवल्लभ डरने लगेगा, धरती धँस जायगी। मूर्ख! मैं केवल सोच रहा था।"

"क्या?"

मुंज ने अभिमान से ऊपर देखते हुए उत्तर दिया—"मैं केवल यह सोच रहा था कि सरस्वती और लक्ष्मी अब विष्णु के पास चली जायँगी। विजय कार्तिकेय के घर की राह लेगी। परन्तु जब मुंज चला जायगा, तो सरस्वती अकेली रह जायगी। उसे यह भी ज्ञान नहीं रहेगा कि कहाँ जाय।" यह कहकर उसने अतीव घृणा से तैलप की तरफ पीठ करली और हाथी को सम्बोधित करके कहा—"गजराज, पृथ्वीवल्लभ, तुम्हारे पास आया है।" हाथी विचार-मग्न-सा शान्त खड़ा था। वह कौतुक से अपनी सूँड हिलाने लगा। मुंज इस पर प्यार से हाथ फेरने लगा। अन्त में बड़े धैर्य से वह सूँड के साथ लिपट गया। महावत ने अंकुश मारा। हाथी ने मुंज को सूँड में लपेट कर ऊपर उठा लिया।

हाथी ने अपनी सूँड ऊपर उठा कर फिर नीचे करली। वह बार-बार यही करता रहा। दर्शक आँखों में आँसू भरे हुए पृथ्वीवल्लभ को उसकी लपेट में मुस्कराता देख रहे थे। उसकी आँखें अभिमान से चमक रही थीं। सूँड की

लपेट में वह ऐसा लग रहा था मानो भगवान श्रीकृष्ण कालीनाग के फन पर साभिमान खड़े हों। हाथी घरघरा कर अपनी सूँड को एकदम ऊपर ले गया। मुंज ने "जय महाकाल" का जयघोष किया।

दर्शक भयभीत खड़े थे। मृणालवती की करुणापूर्ण चीत्कार आकाश का हृदय चीर रही थी।

मुंज को हाथी ने पाँव के नीचे छिपा लिया। फिर पाँव को जोर से दबाया। चटकने की आवाज़ हुई और हाथी ने अपना पाँव हटा लिया।

धरती पर पृथ्वीवल्लभ का शव पड़ा था।

यहाँ पर इस महान् ग्रन्थ का अन्त होता है। यह उपन्यास यद्यपि मुन्शीजी के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों की अपेक्षा छोटा है, परन्तु इसका कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है, इसको सफलता-पूर्वक रंग-मंच पर खेला एवं इसका फिल्म भी बनाया जा चुका है।

जीवन-दर्शन

श्रीनिवास आयंगर

मुन्शीजी ने केवल सैंतीस वर्ष की अवधि मे अनेक कार्य किये हैं। आरम्भ के पच्चीस वर्ष तो शिक्षण और परीक्षण के निकाल देने होंगे। इसे देखते हमें मानना पड़ता है कि मुन्शीजी के जीवन मे कर्तृत्व-शक्ति का अक्षुण्ण स्रोत है। उनमें चाव का संग्रह और भण्डार है जिससे उन्हें कठिन जीवन-यात्रा मे समर्थन और पुनर्पोषण प्राप्त होता है, और जो उन्हें दृढ़ पथ-प्रदर्शन प्रदान करता है; जीवन से सम्बद्ध तूफानों, बवण्डरों और भूकम्पों के समय उनकी मानसिक दृढ़ता को अक्षुण्ण रखता है। कर्तृत्व-शक्ति आसानी से सफल नहीं हुआ करती—पुस्तकें किसी यांत्रिक ढंग से नहीं लिखी जातीं, व्याख्यान भी अपने-आप—अनायास नहीं दे दिये जाते। अधिकार और द्रव्य प्राप्त करने की आकांक्षा से ही राजनीतिज्ञ या सफल वकील नहीं बना करते। इसी प्रकार शिक्षाशास्त्री, पत्रकार, समाज-सुधारक, राजनीतिक आन्दोलक—ये सब किसी न किसी रूप मे काम इसलिये करते हैं कि वे वैसा किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि जन्मजात नियति, पैतृक गुण—परम्परा और वातावरण की जटिलता तथा अर्जित सफलताएँ आदि ऐसी बातें हैं जो कर्तृत्व-शक्ति का प्रयास बढ़ाती हैं। अन्तिम व्याख्या मे यह कहा जा सकता है कि मनुष्य इस आकर्षण से बँधा होता है, यद्यपि अन्तिम रूप मे वह उस आकर्षण का रूप और शक्ति स्वयं निर्धारित करता है। इस आकर्षण—ध्येयपूर्ण कर्तृत्व-शक्ति को 'जीवन-दर्शन' कह सकते हैं, जो वास्तव में मनुष्य की अन्तर्निहित आध्यात्मिक और सुस्पष्ट बौद्धिक आवेग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

तो भी 'दर्शन' या 'तत्वज्ञान' का अनेक अर्थों मे प्रयोग होता है। इसीलिए विशेष प्रसंग मे इसके प्रयोग का स्पष्टीकरण आवश्यक है। इस शब्द का अर्थ ऑक्स-फोर्ड शब्दकोश के कोशकार एच० एफ० और एच० जी० फ़ाउलर ने "बुद्धिमत्ता या ज्ञान के प्रति प्रेम" और कार्डिनल न्यूमैन ने "बौद्धिक दक्षता या पूर्णता" किया है। यह शब्द किसी भी विषय की सामान्य दृष्टि के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। विशेष रूप मे—'तत्वज्ञान'—शब्द का अर्थ विश्व की उत्पत्ति और ईश्वर, प्रकृति और आत्मा तथा अमरता एवं मृत्यु से सम्बन्धित है।

वास्तव में हम सभी कभी-कभी न्यूनाधिक रूप में दार्शनिक बन जाते हैं। क्योंकि हम

सभी—हम में से जो सबसे कम और अज्ञात बौद्धिक हैं वे भी—कभी-कभी इस अबोध्य विश्व के क्लान्तिकारक भार से अभिभूत हो जाते हैं; सहसा एक भूकम्प आ जाता है तो हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं; हमारे हाथों से गाण्डीव अनायास छूट जाता है और हमारा मस्तिष्क उन्मादजनक चक्कर खाने लगता है। हमें आदि और अन्त में अवश्य ही यह प्रश्न करना पड़ता है कि आखिर यह सब किसलिए? मैं कौन हूँ?—न जाने कहाँ से आया हूं? यहाँ मेरा कर्त्तव्य क्या है? इस संसार में मुझे किस बात की आशा करनी चाहिए?

यंत्रणा और तत्त्वज्ञान से चमत्कारपूर्ण आत्म-दर्शन हुआ करते हैं। जिस प्रकार अशिक्षित किसान में भी फ़सल की बिलकुल उपज न होने या कोई पारिवारिक विपत्ति आ जाने पर तत्त्व-ज्ञान जाग उठता है, उसी प्रकार किसी तर्क-भ्रान्त अतिशय मूढ़ में भी विपरीत परिस्थिति के कारण कुचले जाने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ऐसे आत्मदर्शन या आन्तर-परीक्षा में किसी का व्यक्तिगत रूप में कष्ट उठाना आवश्यक नहीं होता, क्योंकि इससे लम्बी (जीवन) यात्रा समाप्त होने तक पक्ष-वृद्धि और सुपुष्टि होती जाती है, पवित्र स्थल की प्राप्ति हो जाती है और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ताएँ समाप्त हो जाती हैं। तब दूसरे के दुःख के लिए सहानुभूति और अपनी यंत्रणाओं के लिए चिन्ताहीनता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

धीरे-धीरे अध्ययन और चिन्तन अनुभव तथा योग के उच्चतम अभ्यास द्वारा एक साधारण व्यक्ति भी एक-एक ईंट रखकर अपने व्यक्तिगत जीवन-दर्शन का वह सुविशाल भवन निर्मित कर लेता है जिससे वह अगली तैयारी की रंगशाला का भी काम लेता है और सुरक्षित शरण-स्थल का भी। ऐसे व्यक्तिगत जीवन का दर्शन किये बिना—चाहे उसकी रूप-रेखा अस्पष्ट और उसका क्रियात्मक प्रयोग अनिश्चित ही क्यों न हो—मनुष्य मानवता से निम्न श्रेणी में आ जायगा और पशुता से आगे न बढ़ सकेगा। जीवन-दर्शन या तत्वज्ञान के द्वारा ही जन-सामान्य परिस्थितियों के धक्के सहन कर सकते हैं—इतना ही नहीं, वे उन धक्कों से पैदा हुई कठिनाइयों पर विजय पा लेते हैं और उनका उपयोग रचनात्मक कार्यों तक में कर डालते हैं। किसी के भी व्यक्तिगत जीवन-दर्शन की सामग्री विभिन्न स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है—उससे भवन-निर्माण में विलम्ब भी हो सकता है और अलादीन के जादू की सृष्टि की तरह वह उच्चतम प्रकाश के द्वारा क्षण भर में भी निर्मित हो सकता है—किन्तु दोनों का परिणाम सार रूप में एक ही होता है।

केण्ट, हेगल या अध्यापक अलेग्ज़ैण्डर की तरह मुन्शीजी साहसी विचारक नहीं हैं; न तो वे इस बात को करते हैं और न अभिलाषा रखते हैं कि वे राणाडे या राधाकृष्णन् की तरह तत्वज्ञान के गहन विद्यार्थी बनें; वे श्री अरविन्द जैसे योगी और आध्यात्मिक विचारक का भी अनुकरण नहीं करते; पर मुन्शीजी ने अपने जीवन भर अपनी क्रियाओं—क्रियाशीलताओं के लिये तत्वज्ञान का आधार अवश्य ढूँढ़ा है। गाँधीजी के समान सीमित क्षेत्र और अपेक्षा-कृत न्यून शक्तियुक्त अस्त्रों द्वारा उन्होंने संघर्ष और सत्य के प्रयोग किये हैं—विचार को कार्य-रूप में परिणत किया है और फिर कार्यरूप से परितापहीन आत्म-परीक्षा में बदल दिया है—बारी बारी से उन्होंने अपने तत्वज्ञान को क्रिया की निहाई पर रखा है और उससे

क्रिया के लिये नये स्रोत प्राप्त किये हैं। इस प्रकार मुन्शीजी की जीवन-वृत्ति का उतार-चढ़ाव उनके तत्त्वज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है। उनका तत्वज्ञान क्रियात्मक प्रयोग से उत्पन्न होता है; किन्तु उनकी जीवन-प्रवृत्ति के यह दोनों परिवर्त्तनशील रूप, वास्तव में एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जो उनके बाहरी और भीतरी जीवन के प्रदर्शक हैं।

अपने आरम्भिक जीवन के दिनों में मुन्शीजी पर विभिन्न पुस्तकों, व्यक्तियों और आदर्शों की छाप पड़ी है। मानव व्यक्ति-रूपी पुष्प एक-एक पंखड़ी करके खिलता है और महान् ग्रन्थों और महान् पुरुषों के विचारों से परिपोषण द्वारा उसे विशालता (पूर्णता) और सौन्दर्य प्राप्त होता है। मुन्शीजी का जन्म गुजरात के सांस्कृतिक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था, इसलिए उनका विकास ऐसे वातावरण में हुआ जो विशुद्ध आर्य-हिन्दू संस्कृति का था। और उसकी जड़ में भी आर्य संस्कृति थी या नहीं? इसका उत्तर मुन्शीजी के ही शब्दों में सुनिए—

"किसी भी व्यक्ति के शब्दों और कार्य-सम्पादन के पीछे हम सदा उसके व्यक्तित्व की खोज कर सकते हैं; व्यक्तित्व के पीछे सौन्दर्य, शक्ति और संदर्शन का सामंजस्य होता है; इसके पीछे प्रधान उद्देश्य, और उससे भी पीछे वह विचार होता है जिसके द्वारा उद्देश्य परिचालित होते हैं, व्यक्तित्व में सामंजस्य स्थापित होता है और शब्दों तथा कार्यों पर जीवित प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार आर्य संस्कृति के सामाजिक, साहित्यिक और सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी सफलताओं के पीछे दो अमर ग्रन्थों की छाप है और ये हैं रामायण और महाभारत। इन ग्रन्थों के पीछे सैकड़ों विभिन्न स्रोतोंवाली वह प्रेरणा है जो श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता के द्वारा जीवन के अमर सन्देश के रूप में प्रदान की है।"

ग्रन्थों में उच्चतम स्थान गीता को प्राप्त है। श्री अरविन्द के शब्दों में "यह संसार का महानतम पवित्र ग्रन्थ है और यह एक राष्ट्र और उसकी संस्कृति को पुनर्जीवित करने की शक्तिशाली निर्माण-क्षमता रखता है।" और मुन्शीजी ने भी अपने जीवन के विभिन्न अवस्थान्तरों में, जीवन-दर्शन का मानचित्र बनाने में और क्रिया तथा शक्ति दोनों के छिपे स्रोतों को कार्य रूप में परिणत करने में गीता को ही क्षमताशाली माना है।

फिर भी, यह स्वाभाविक है कि मुन्शीजी ने अपने बचपन से लेकर किशोर और युवा अवस्था के आरम्भिक दिनों तक विचारों की अपेक्षा व्यक्तियों को अधिक महत्व दिया है—पहले इक्के-दुक्के महान् व्यक्तियों की ओर आकर्षित हुए, फिर उनके विचारों की ओर। यौवन के वसन्त-काल में धैर्य की अपेक्षा उत्तेजना अधिक होती है—थोड़े से चुने हुए पक्के फलों की अपेक्षा उन दिनों अत्यधिक कच्चे फल लग जाते हैं। संशुद्ध और समुच्च शक्ति की अपेक्षा प्रबल रूप से फूट निकलनेवाली क्षमता अधिक होती है। वसन्त और ग्रीष्म से गुज़र कर ही पतझड़ का शान्त समय आता है—यही हाल युवावस्था की उन्मुक्त नई शक्ति का है, उसके नये-नये प्रयोग और सम्पर्क तथा जीवन-यात्रा के कठोरतर अनुभवों के द्वारा मनुष्य विषाद और बुद्धि लेकर आनन्द के द्वार पर पहुँच जाता है।

बाल्यावस्था से ही मुन्शीजी बहुत से व्यक्तियों के प्रति प्रेम, प्रशंसा, आदर और श्रद्धा की भावना-रज्जु से बँध गये थे। वे स्वयं ही सरल रूप में इस बात को स्वीकार करते

हुए लिखते हैं :—

"बचपन से ही मुझे इस बात का भान हो गया कि मैं नितान्त एकाकी जीवन में विकसित नहीं हो सकता। मेरा विकास दूसरे व्यक्तित्वों के प्रभाव से ही हो सकता है। मैं अपने पिताजी की पूजा करता; पर अभी मैं लड़का ही था कि उनकी मृत्यु हो गयी। मैं अपनी माँ को प्रेम करता था, यद्यपि आरम्भ में वह श्रद्धा का रुख नहीं धारण कर चुका था। मेरे मन में एक-दो मित्रों के प्रति बड़ी प्रशंसा का भाव था।......एक प्राध्यापक ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया; उसके पश्चात् श्री अरविन्द की ओर भी मेरा ध्यान गया जो कुछ दिन मेरे प्राध्यापक रह चुके थे। जब मैं बम्बई वकालत करने आया तो मैं उन प्रसिद्ध वकीलों का प्रबल प्रशंसक बन गया जिनके साथ मुझे काम करने का अवसर मिला। उसके अनन्तर मैं अपनी पत्नी से प्रेम करने लगा।..... बाद में मेरे आराध्य देवों में गाँधीजी का नाम भी जुड़ गया।"

ऐसा प्रतीत होता है कि बंग-भंग के दिनों में श्री अरविन्द भी "मेरी कल्पना में अनवरत रूप में बसे थे और कुछ वर्षों तक मैं उनसे प्रेरणा प्राप्त करता रहा।"

मुन्शीजी का एक और प्रिय महापुरुष था नेपोलियन बोनापार्ट, जिसका एबॉटकृत जीवनचरित उन्हें अतिशय प्रिय था—युवावस्था तक वे उसके वैसे ही प्रशंसक बने रहे जैसे अर्जुन श्रीकृष्ण के थे—वे उसे ही अपना घर, अपना आश्रयस्थल और अपना मित्र मानते थे।

मुन्शीजी पर, टेनिसन के उलिसस की भाँति जो कुछ देखते उसकी गहरी छाप पड़ जाती थी। आरम्भ से ही वह अपनी सारी शक्तियों का सदुपयोग करने की आकांक्षा रखते थे और उस अस्पष्ट आकांक्षा को कठोर सत्य बनाना चाहते थे। जो शिक्षा उन्होंने कालेज में प्राप्त की थी उसने उन पर लोहे की जंजीरों का बन्धन लगा दिया—विदेशी विचारों की छाप लगादी। इससे उनमें 'सजीव प्रवञ्चना' की भावना आगयी और इससे वे उस तरह के बौद्धिक विकास में लग गये जो जीवन को उद्देश्य-वंचित करनेवाला और उसे मिथ्या बनानेवाले आदर्शों के विश्वास से पूर्ण था। दूसरी ओर मानो इस सन्तुलन की पूर्ति के लिये मुन्शीजी के जीवन में अन्य शक्तियाँ भी काम कर रही थीं जिन्हें श्री अरविन्द के 'ब्रह्मतेज' का जीवित उदाहरण कह सकते हैं—उन शक्तियों और पुस्तकों से मिलनेवाले व्यक्तियों—पाश्चात्य साहित्य के महापुरुषों—शेक्सपियर, कार्लाइल, शेली और विक्टर ह्यूगो द्वारा निर्मित महान् चरित्रों का उन पर प्रभाव पड़ा, इसलिये उनमें विश्वास की सृष्टि हुई—स्वप्न और अविश्वास ने उन्हें विचलित नहीं किया—और वे इस (विश्वास) के साथ आगे बढ़ने में समर्थ हुए।

मुन्शीजी पर अनेक ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है, किन्तु गीता उन सब में मुख्य है। तो भी, गीता कोई सरल ग्रन्थ नहीं है। वह क्रियात्मक तत्त्वज्ञान का पथ-प्रदर्शक और रचनात्मक कार्य की व्यवस्था-संहिता है। प्रकट रूप में तो इसका अर्थ सरल है, क्योंकि गीता का मौलिक ज्ञान अर्जुन जैसे व्यक्ति को दिया गया था, जो बड़ा सैनिक तो था; पर विचारक

के रूप में दुर्बल था, और यह ज्ञान तब दिया जा रहा था जब रक्त-प्लावक महाभारत के युद्ध के आरम्भ में विरोधी सेना सामने खड़ी देख रही थी और उसकी द्विविधा और आकर्षण की भावना बढ़ रही थी। परन्तु गीता की अधिक व्याख्या और चिन्तन गत दो सौ वर्षों में अधिक हुआ है, और आज यदि हम पत्तों के समूह और शाखाओं पर उत्सुक दृष्टि डालेंगे तो उसके निर्मल नीर से वंचित ही रह जायँगे। मुन्शीजी ने बुद्धिमत्तापूर्वक स्रोत की ही खोज करली है और वे पिछली शताब्दियों की व्याख्यार्थक वृद्धि में पड़कर नहीं बहके। तो भी उन्होंने अरविन्द घोष के ग्रन्थ—'गीता पर निबन्ध' स्वर्गीय लोकमान्य तिलक के 'गीता-रहस्य' और गीता पर गाँधीजी के लेखों का अध्ययन अवश्य किया है और वे इनसे लाभान्वित हुए हैं।

इसी प्रकार यद्यपि मुन्शीजी अनेक व्यक्तियों की ओर आकृष्ट हुए हैं और उनके द्वारा प्रभावित भी हुए हैं, किन्तु ऐसे व्यक्तियों में प्रमुख स्थान कुछ ही को दिया जा सकता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकर, रामानुज, चैतन्य, मीराबाई, तुलसीदास, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, श्री अरविन्द और गाँधीजी के नाम मुन्शीजी के आराध्य देवों या अर्द्ध-देवों में गिनाये जा सकते हैं। यद्यपि वैसे तो और भी व्यक्ति हैं जिनके प्रति मुन्शीजी अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं, किन्तु इन में से दो ऐसे हैं जिन्होंने मुन्शीजी के जीवन और विचार पर सबसे अधिक प्रभाव डाला है और वे हैं श्री अरविन्द और गाँधीजी। उन्हें वे क्रमशः "आर्य संस्कृति के 'ऋषि' और आधुनिक (युग के) निर्माता" कहते हैं। इन दो प्रकाशवान सूर्यों के बीच आकर्षण से खिंचते एक सचेत नक्षत्र की भाँति मुन्शीजी कभी इधर सरकते रहे हैं तो कभी उधर; किन्तु ऐसा करके भी उन्होंने अपना एक मध्यवर्ती मार्ग बना लिया है।

मुन्शीजी के सामने प्रायः ऐसे प्रश्न अनिश्चित समयों पर आया करते हैं कि मुझे क्या करना चाहिए? मुझे किस बात की आशा रखनी चाहिए? ये उनके पुराने और परीक्षित प्रश्न हैं और ये उनसे कर्म की माँग करते हैं। प्रत्येक व्यक्तिगत और सार्वजनिक संकट-काल में ये प्रश्न उनके सामने आ जाते हैं। अपरिपक्वता के दिनों में एक बार मुन्शीजी वैराग्य के द्वारा स्थिरता और अनुशासन प्राप्त कर कर्म-साधक बनने की आशा रखते थे। उन्हीं दिनों उन्होंने लिखा था—

"तब मैंने निश्चय किया कि मैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और श्रवण-शक्ति पर नियंत्रण प्राप्त कर लूँ। मैंने अपने ऊपर कठोर अनुशासन लागू करते हुऐ भोगेन्द्रियों के इन आनन्दों से मुख मोड़ लिया, पर शीघ्र ही मुझे अनुभव हुआ कि मेरी व्यक्तिगत प्रकृति कितनी शक्तिशाली है। मेरे सामने सुन्दर रूप नृत्य करने लगे और मैंने साहित्य में उनकी सृष्टि कर दी। मैं फ़र्श पर सोता था; पर मेरा मस्तिष्क कोमल पुष्पों का स्पर्श करने को लालायित था। पत्तों का मर्मर शब्द और सुदूर से आती हुई वंशी की मधुर ध्वनि मेरे अंग-अंग में सिहरन पैदा कर देती। मेरी प्रकृति ने मुझे बाध्य किया कि मैं आत्म-दमन का निषेधात्मक सिद्धान्त न अपनाऊँ। वर्षों के निरर्थक प्रयत्न के पश्चात् मैं समझ सका कि मैं अपनी प्रकृति के विरुद्ध नहीं चल सकता।"

किसी भी गुण या वस्तु के धारण करने में बुराई नहीं है; हाँ, उसकी दासता में

अवश्य विकृति आ जाती है। संसार की अच्छी वस्तुओं के उचित भोग में बुराई नहीं है, पर धन, आनन्द और अधिकार-प्राप्ति के पीछे पागल की तरह लग जाने में विकृति अवश्य है, क्योंकि उसकी भीषण क्षुधा का कोई अन्त नहीं होता।

जीवन की अगली अवस्था में मुन्शीजी ने संसार के आकर्षण और भावावेग के सामने आत्मसमर्पण कर दिया और कुछ साहसपूर्ण और विजयी संयुक्त वर्षों तक तो उन्होंने साहित्य, कानून, राजनीति और सामाजिक कार्यों में उच्चतम सफलता प्राप्त कर ली, और जब उनकी प्रथम उत्तेजना समाप्त हुई तथा जीवन की प्रकट प्रकाश-रेखाएँ उन पर अधिक मात्रा में पड़ीं तो उन्हे परितृप्ति मिली और उनका भ्रम दूर हो गया। हम यहाँ उनके सरल आत्म-प्रकाश का परिचय देनेवाला एक और उद्धरण प्रस्तुत करते हैं —

"दिन पर दिन मेरे लिए जीवन वह रूप धारण करता जा रहा था जैसे कोई अपनी कमाई की मुहरें गिन-गिनकर उनका जोड़ लगाता जा रहा हो।...... हमारी बार (वकील-मण्डल) के प्रमुख भारतीय और बृटिश वकील विवेकशील और खरे व्यक्ति थे; पर उनके लिए संसार बहुत कुछ था। मुहरें जमा करना, अदालत में अवसर आते ही दम्भोक्ति और हास्य करना, प्रत्येक आदर्श की बात पर नाक-भौं सिकोड़ना, गन्दी कहानियाँ सुनाना या निन्दात्मक कलंक-कथा का वर्णन करना और सन्ध्या का समय काटने के लिए शराब का प्याला या ब्रिज (ताश) का खेल ही उनके जीवन का मंगल-कार्य होता था। इसमें आश्चर्य नहीं कि ऐसी सभ्यता जिसका आधार ही धन का अर्जन, अधिकृतिकरण और भोग मात्र हो, वह इससे बढ़िया बानगीवाले पुरोहित नहीं पैदा कर सकती।

"मैं इस जीवन-क्रम को भंग करने का साहस नहीं रखता था। मैं उससे केवल कतराता था। मेरा मस्तिष्क बार-बार अस्पष्ट रूप में और दुर्बलतापूर्वक मनु, याज्ञवल्क्य और मिताक्षरा की ओर जाता था जो शुल्क देने की क्षमता देखे बिना न्याय किया करते थे। और मैं प्रायः एक स्वप्न की-सी स्थिति में धन कमाने और खर्च करने की अपेक्षा किसी ऊँचे उद्देश्य के लिए व्याकुल हो उठता था।"

"मैं अपने वस्त्राच्छादन के लिए पश्चिम के ढंग पर निर्भर करता था और कभी-कभी खाद्य के लिए भी। किन्तु मुझे वह सामाजिक जीवन अप्रिय था जिसमे कि अपनी स्थिति के कारण मुझे पड़ना ही पड़ता था।

"मैं नीरस करोड़पतियों से भी मिलता और पाश्चात्य ढंगों का अनुकरण करनेवाले राष्ट्र-विरोधियों से भी, और उनसे मौसम के बारे में बातचीत करता। मैं चेहरे पर पाउडर पोतनेवाली मस्तिष्क-शून्य महिलाओं के साथ चाय पर बैठता और उन्हें जड़बुद्धि-जनक कहानियाँ सुनाने का अभ्यास करता रहा। मैं उन लोगों साथ भी मिलता-जुलता जिनके लिए जीवन दूभर बन गया था और जो उसकी माप किसी शानदार क्लब की मेम्बरी या 'गोल्फ़' की गति से ही करते

थे। मैं उन पार्टियों में भी सम्मिलित हुआ जहाँ हिन्दुस्तानी लोग टिनों मे बन्द यूरोपीय खाद्य खाते, मूल्यवान मदिरा पीते और नवयुवतियों के बारेमें रस ले-लेकर बातें करते थे।"

"एकाध अवसर पर मैंने किसी व्यक्तिगत संघर्ष की स्मृति में विशुद्ध साहित्यिक सौन्दर्य प्राप्त किया था; परन्तु अब उसको क्षुद्र शौर्य का महत्व भी नहीं दिया जा सकता। मैंने देखा कि सच्ची साहित्यिक कला तो मेरे हाथ से निकली जा रही है। मैं उस बिल्ली की तरह बन गया जो अपनी ही पूँछ पकड़ने के लिए चक्राकार दौड़ती है; पर उसे कभी पकड़ नहीं पाती।"

संक्षेप मे सफलता सड़े समुद्रीय फल की तरह स्वाद में कड़वी होती है और परितृप्ति उसके छिद्रों द्वारा बीमारी भेज देती है। जब मुन्शीजी ने बारडोली-सत्याग्रह की यन्त्रणाएँ अपनी आँखों देखीं तो उनका दुःख और भी बढ़ गया।

बारडोली-सत्याग्रह के समय से मुन्शीजी गाँधीजी, सरदार बल्लभभाई पटेल और ब्रिटिश नौकरशाही का निहत्थे होकर भी मुकाबला करनेवाले किसानों के घनिष्ठ सम्पर्क मे आये। कुछ हिचकिचाहट और अनिच्छा के साथ, फिर भी धीरे-धीरे और निश्चित रूप में अनिवार्यतः मुन्शीजी ने गाँधीजी के अनोखे अस्त्र सत्याग्रह के आकर्षण को स्वीकार किया। हवा में एक गति थी—वातावरण में अनिश्चितता एवं दुस्सह प्रपीड़न भरा था और आकाश में बादल घिर रहे थे। लाहौर कांग्रेस ने 'पूर्ण स्वराज्य' की घोषणा कर दी थी और संक्षुब्ध जन-समूह ने आज़ादी की प्रतिज्ञा ले ली थी—सर्वत्र सनसनी भरी सम्भावनाओं की बाट देखी जा रही थी। १३ मार्च, १९२९ ई० को गाँधीजी ने नमक का कानून भंग करने के लिए डाण्डी-यात्रा आरम्भ कर दी।

अन्त में मुन्शीजी ने देखा कि वे अब इस बार संघर्ष के निष्क्रिय दर्शक-मात्र नही रह सकते जिसमें एक दुर्बल बुड्ढा भारत के भूखे जन-समूह का प्रतीक बनकर ब्रिटिश सरकार के असीमित साधनों के विरुद्ध डट गया है। कुछ समय हृदय की खोज करने के पश्चात् मुन्शीजी ने भी आत्म-समर्पण कर दिया—

"चंगेज़खाँ और नेपोलियन ने तलवार के बल पर सैनिक भर्ती की थी। पर उस व्यक्ति (गाँधीजी) की भर्ती का ढंग उससे भी बुरा था, क्योंकि यह शरीर को नहीं, आत्मा को यंत्रणा देता था। उनकी प्रत्येक दिन की कूच मेरे लिए गहरी उत्तेजना और असह्य यंत्रणा लाती थी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो मैं तीन बार का अभिशप्त दास हूँ और एक ऐसी उच्च श्रेणी की चक्की में जोत दिया गया हूँ जिसे मुझे सदा पीसते ही जाना पड़ेगा। मैं अपने देश की सेवा मे क्यों नहीं हूँ? मैं जिन आदर्शों का पालन करता रहा हूँ उनके लिए आज क्यों नहीं उठ खड़ा होता? मुझ में गुजरात के एक साधारण देहाती के बराबर भी साहस क्यों नहीं है? जब समस्त गुजरात सामूहिक रूप से एक मानव के रूप में खड़ा हो रहा है, तो फिर मैं, जो सदा उसकी विशालता की दुहाई देता रहा हूँ, संघर्ष से दूर क्यों हूँ? जब राष्ट्र ने एक युद्ध विघोषित कर दिया है तो मैं चुपके से काश्मीर की सैर को क्यों भागना चाहता हूँ?"

"मैं इस स्थिति को और सहन नहीं कर सका, और मैंने आत्मसमर्पण कर दिया।"

यहाँ मुन्शीजी जिन्होंने दस वर्ष पहले कांग्रेस का परित्याग इसलिए कर दिया था कि गाँधीजी ने उस (कांग्रेस) के मत में परिवर्त्तन कर दिया था; अब फिर उसमें सम्मिलित हो गये, क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि "उस मत के बाहर सच्चा राजनीतिक जीवन नहीं है।"

मुन्शीजी को तत्काल कांग्रेस के साथ इस पुनर्सम्मिलन का पुरस्कार—छः मास के कारावास और २००) अर्थदण्ड के रूप मे मिल गया।

जनवरी १९३२ में मुन्शीजी फिर जेल भेज दिये गये और तीसरी बार दिसम्बर १९४० में भी। इस बीच दो वर्ष से अधिक समय तक मुन्शीजी ने बम्बई सरकार के गृह-मन्त्री का कार्य-भार सँभाला। उन दिनों कांग्रेसी प्रधान मंत्री श्री बाला साहब खेर थे। मुन्शीजी ने अपने कार्यकाल तक अपना कार्यभार अपनी विशेष योग्यता के साथ वहन किया; किन्तु यह उनके राजनीतिक कार्यों या शासन-निपुणता के उल्लेख का स्थान नहीं है। यहाँ तो हम मुन्शीजी के सत्याग्रह-सम्बन्धी ध्येयों और साधनों से ही सम्बन्ध रखते हैं। उनके मतानुसार सत्याग्रह रचनात्मक प्रतिरोध है और गाँधीजी का टेकनीक यद्यपि उनके हाथों विशेष चमक प्राप्त कर चुका है, पर है वास्तव में उतना ही प्राचीन जितने कि वेद हैं। अपनी तीसरी जेल-यात्रा के समय मुन्शीजी ने लिखा था—

> "मेरी स्वतन्त्रता के बालुकाकण तेजी से गिर रहे हैं......। मुझे न तो खेद है न ईर्ष्या-द्वेष। पर मुझे अपने कार्य-कलाप का विश्लेषण तो करना ही है।"
>
> "क्या मेरा कार्य शुद्धत: यांत्रिक है?
>
> "नहीं; यह तो मैं अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कर रहा हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास हो चुका है कि कर्त्तव्य का और कोई मार्ग नहीं है। मेरे विश्वास का आधार राजनीतिक नहीं है। इसकी जड तो हमारी आत्मा के अमर विधान की गहराई में सन्निहित है।"

सत्याग्रही अपने विरोधी से सरलता और दृढ़ता के साथ कहता है—"मैं यहाँ हूँ। यही मेरी सचाई है। मैं तुम्हें दुःख नहीं पहुँचाऊँगा। मैं अपनी बात पर दृढ़ रहूँगा; तुम अपनी इच्छा के अनुसार चल सकते हो; मैं अपनी सचाई का परित्याग करने की अपेक्षा मृत्यु का सामना प्रसन्नतापूर्वक कर लूँगा।" मुन्शीजी के कथनानुसार इस प्रकार की क्रिया को 'रचनात्मक प्रतिरोध' कहते हैं जो उच्च आदर्श की पूर्ति के लिए काम में लायी जाती है—एक विशेष अत्याचार या असद् को दूर करने मात्र के लिए नहीं। और 'रचनात्मक प्रतिरोध' में वह शक्ति और सार्वभौमता होती है जो गाँधीजी के मतानुसार मानवता के लिए एकमात्र आशा है। मुन्शीजी गाँधीजी से इसलिए सहमत हुए कि उनका यह कार्य विशुद्ध हिन्दू-अनुशासन के सार-रूपेण अनुकूल है। जिस वक्तव्य से हम ऊपर उद्धरण दे चुके हैं उसके अनुसार इस प्रकार का अहिंसापूर्ण रचनात्मक प्रतिरोध तपस्या के समान है—

> "तप—अर्थात् कष्ट-सहन द्वारा प्रतिरोध उतना ही प्राचीन है जितनी कि मानवीय आत्मा है। ऋग्वेद में एक सुन्दर मंत्र है जिसमे बतलाया गया है कि पुरुष की बलि विश्व के विकास के लिए किस प्रकार होती थी। आदिम दृष्टान्त यह है कि शहीदों

ने ईसाई मत को मानवता की अनवरत प्रेरणा देने के लिए शेर का सामना किया और वे सूली पर भी चढ़े ।......रचनात्मक प्रतिरोध अनवरत यौवन का रहस्य है जिससे अनन्त जीवन की सृष्टि होती है ।......देवाधिदेव महादेव की तरह यह सबका अस्तित्व समाप्त कर देता है; पर जिस किसी का स्पर्श वह करता है उसमें नवजीवन का प्रवाह आरम्भ हो जाता है ।"

और जैसा कि मुन्शीजी का विश्वास है—"गाँधीवाद भविष्य की एकमात्र आशा है ।" वे गाँधीजी के अनुयायी बनने में सन्तुष्ट थे और अहिंसा के बारे में उनके मत से पूर्णत: सहमत थे ।

सन् १९४१ में जब वे जेल से बाहर आये तो मुन्शीजी ने देखा कि अब वे सभी कल्पनीय परिस्थितियों में विशुद्ध अहिंसा के सिद्धान्त से नहीं सहमत हो सकते । इसीलिए उन्होंने गाँधीजी को अपना यह विश्वास लिखने का साहस किया—

"चूँकि ढाका, अहमदाबाद, बम्बई और अन्य स्थानों में पाकिस्तान क्रियात्मक रूप धारण कर चुका है, इसलिए यह स्पष्ट है कि हमारे जीवन के अगले कुछ वर्षों तक इस प्रकार के दंगे होना एक सामान्य बात हो जायगी । यदि युद्ध भारत की सीमाओं पर आ जाता है और शान्ति स्थापित करने मे बृटेन की मशीनरी असमर्थ हो जाती है और यदि संगठित हिंसा के द्वारा भीतरी शक्ति के लिए साधनों द्वारा विभाजन लाने का प्रयत्न होता रहा तो इस प्रकार के दंगे और भी अधिक और गम्भीर रूप में होंगे । यदि जीवन, घर और पवित्र स्थान और स्त्रियों की प्रतिष्ठा पर गुण्डागीरी का आतंक इसी प्रकार रहा तो मेरी दृष्टि मे आत्मरक्षा के लिए संगठित प्रतिरोध एक अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाता है, फिर चाहे वह प्रतिरोध कोई भी रूप क्यों न धारण करे ।"

किन्तु गाँधीजी का मनोभाव यह था कि कांग्रेस में ऐसे लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है जो अहिंसा पर सदैव दृढ़ न रह सकते हों । इसके अनुसार, यद्यपि मुन्शीजी के मन पर बड़ा बोझ और खिंचाव पड़ा, फिर भी वे कांग्रेस से अलग हो गये । बाद में वे कांग्रेस के पार्लियामेण्टरी कार्यक्रम में सम्मिलित हो गये जिसके अनुसार सार्वजनिक अशान्ति होने पर पशुबल का सहारा लेना भी ठीक समझा गया और इस प्रकार उनका कांग्रेस से फिर विधिवत् सम्बन्ध हो गया ।

पहले की तरह मुन्शीजी ने एक बार फिर देखा कि वे कठोर आत्म-प्रतिवादपूर्ण जीवन नहीं व्यतीत कर सकते और अहिंसा के सिद्धान्त की अच्छी तरह परीक्षा कर लेने के पश्चात् उन्होंने अपनी असफलता स्वीकार कर ली, क्योंकि यह स्पष्ट था कि अहिंसा में चाहे जो क्षमता हो, उनका स्वभाव ऐसा है कि वह सभी परिस्थितियों में उसे स्वीकार नहीं कर सकते । अपनी असफलता के बारे में स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने सरल भाव से स्वीकार किया है—

"मैं जानता था कि मैं उस मानदण्ड से हीन सिद्ध हो रहा हूँ जो सर्व-

व्यापक है और जिसे छोड़कर भागा नहीं जा सकता; पर मेरा स्वभाव यह विरोध करता है कि अच्छे कार्य के लिये न केवल हिंसा की उपेक्षा ही की जा सकती है, बल्कि वह (हिंसा) प्रशंसनीय और आवश्यक भी हो जाती है। मेरा सत्य यही था। मुझे दुःख हुआ। मैंने अनुभव किया कि मैं छल कर रहा हूँ। ऐसा प्रतीत हुआ कि अहिंसा के प्रति स्वीकृत सचाई का जो व्रत मैंने ले रखा है उसके नीचे मैं अपनी कायरता को शरण दे रहा हूँ। दोष अहिंसा के विधान का नहीं था। मेरा व्यक्तिगत स्वभाव विभिन्न रुख प्रकट कर रहा था। मैंने देखा कि लोग पशुबल के सामने अपनी कायरता छिपाने के लिये अहिंसा को रक्षावस्त्र बना रहे हैं। मैंने बेचैनी के साथ दिन बिताये और बिना नींद लिये रातें काटीं। मुझे बार-बार यही आवाज सुनायी देती थी—

स्वभाव-जनित कार्य,
चाहे कितने ही अपूर्ण क्यों न हों,
मनुष्य को भगाते (हराते) नहीं।

"मैंने जब अपने कार्य और विश्वास के विभेद को मिटा दिया तो मुझे अनुभव हुआ कि अब मैं सचाई पर हूँ।"

अहिंसा के बारे में गाँधीजी के साथ समझौता न होने पर मुन्शीजी ने उनका साथ छोड़ दिया; पर इस प्रकार वे गीता के सन्देश के अधिक निकट आ गये और स्व० लोकमान्य तिलक और श्री अरविन्द के दृष्टि-बिन्दु के अधिक अनुकूल बन गये। शान्ति, निश्चय ही उस आदर्श के विधानों में से एक है, किन्तु अकेले अहिंसा के आधार पर वह किसी लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकती। ऐसा न हो, तो गीता के धर्म-युद्ध का विचार गाँधीजी की अहिंसा से मेल नहीं खा सकता। किन्तु ऐसा कहने का अर्थ यह नहीं है कि अहिंसा कोई व्यर्थ का अस्त्र है। ऐसे असंख्य अवसर होंगे, जब व्यक्तिगत या राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय योजनाओं में अहिंसा ही एकमात्र सम्भव क्रियात्मक अस्त्र हो सकती है।

तब मुन्शीजी गीता की ओर लौट पड़े। गाँधीवाद ने उनमें वह शक्ति और अनुशासन की भावना भर दी थी जिससे वे अपने-आपके प्रति सच्चे हो सकें और केवल महात्माजी की पूजा करने के बदले उनके साथ सत्य के पुजारी बन सकें। अब वे समझ गये कि उनका अस्त्र भले ही पूर्ण हो, पर वे अपने स्वभाव को नहीं छिपा सकते। उन्होंने गीता के आदर्श, गीता की क्रिया-विधि और गीता की ही रहस्यपूर्ण सचाई स्वीकार की। गीता की यह मूलभूत धारणा है कि भगवान, कृष्ण की भाँति नश्वर शरीर धारण करके आये और उन्होंने अर्जुन को गीता की प्रेरणा द्वारा अपने को जानने-पहचानने, अपने निकट आने और अपने ही सदृश बन जाने का अवसर दिया। और जैसा कि मुन्शीजी ने बार-बार कहा है, अर्जुन तो हम सभी हैं।

मुन्शीजी के 'जीवन-दर्शन' पर जहाँ तक वैध रूप से उनके जीवन से अलग बहस की जा सकती है, यह इस प्रकार गीता का ही तत्त्वज्ञान है। यह (तत्त्वज्ञान) एक अनोखे व्यक्ति के उस जीवन की रसायनशाला में परीक्षित हो चुका है जिसमें विचार, अभिलाषा, प्रयत्न, सन्देह

आशा, सफलता, पाँव पीछे हटाना, आंशिक पूर्ति और अमर विश्वाससभी सम्मिलित हैं। जन्म भर के परीक्षण और भूलों के बाद—सफलता की प्रतिध्वनि और प्रकट रूप में प्रदर्शित विफलता के फलस्वरूप मुन्शीजी अब जान गये हैं कि कोई अपने स्वभाव की प्रभुत्वसूचक माँग से बच नहीं सकता और उसके अनुसार ही उसे स्वकर्म और स्वधर्म—दूसरे शब्दों में सर्वोच्च कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है। जान लेना ही पर्याप्त नहीं होता; ठीक रीति से कर्म करना ही सब कुछ है—ज्ञान, कर्म, भक्ति, आत्मसमर्पण, विचारों के साधन, क्रियाओं, भावनाओं, युक्तिसंगतताओं के द्वारा 'होना'—अर्थात् उस—परमात्मा के समान बनना—उसमें मिलना मनुष्य का असीम ध्येय है। हम यह निबन्ध मुन्शीजी के जीवन की रचनात्मक कला के भाव को ठीक रीति से व्यक्त करनेवाले उद्धरणों के साथ समाप्त करते हैं—उस भाव को, जिसे उन्होंने विवेकपूर्वक क्रियात्मक रूप दिया है—

"मैंने संघर्ष किया है; योगी के रूप में किया है, हो सकता है कि वह अपरिष्कृत और आरम्भिक रूप में किया हो। इस संघर्ष में 'होना' और 'करना' दोनों एक अविभाज्य क्रिया सिद्ध हुई हैं।

"ऐसी अवस्था में संघर्ष तो 'करना'—अर्थात् अपने आप को कर्म द्वारा प्रकट करना है—यह है स्वयं बनने और अपना निजी स्वरूप व्यक्त करने की क्रिया।

"महान् व्यक्तित्व की क्रियाएँ स्वाभाविक रूप में और स्वतःप्रवृत्त होती हैं—उसका प्रकाश अपने आप फैलता है। इस प्रकार कर्म के द्वारा अपने व्यक्तित्व को प्रकाशित करने का अर्थ है वह संघर्ष जिसके लिये अर्जुन का आह्वान किया गया था। वह वास्तविक युद्ध का रूप धारण कर सकता है, प्रतिरोध की क्रिया बन सकता है या केवल करुणा का रूप धारण कर सकता है—यही नहीं, वह भाषण, पुस्तक या संगठन-प्रदर्शन का रूप भी धारण कर सकता है और यह भी हो सकता है कि यह इच्छा को वशीभूत करने या क्रोध को शान्त करने के प्रयत्न तक ही सीमित रहे; किन्तु यह एक गतिशील इच्छा का शक्तिशाली प्रकाशन है। ऐसी स्थिति में योगी होना और संघर्ष करना एक ही कर्म है।"

मुन्शीजी के जीवन-दर्शन में तीन मुख्य कूल हैं। एक तो प्रतिवाद नहीं—स्वीकृति; दूसरा निवारण नहीं—संबोध; और तीसरा दमन नहीं—पूर्णाङ्गी करण। रहा मुन्शीजी का व्यक्तित्व, सो वे तो अब भी जीवन की रचनात्मक कलामें पूर्णतः व्यस्त हैं—'होने' के शक्तिशाली प्रयत्नों में तल्लीन हैं क्योंकि सदा की भाँति अब भी मानते हैं कि "धर्म जीवन है, और उसका आधार है 'भगवद्गीता' का वह प्रकाश, जो उसे जीवित रखता है।"

स्ने हा ञ्ज लि

: १ :

क ला

कला और सौन्दर्यबोध

रंगनाथ दिवाकर

मनुष्य की विभिन्न परिभाषाओं में से एक यह भी है कि वह एक विवेकपूर्ण प्राणी है। सम्भवत: यह मनुष्य-जाति के बारे में अत्यन्त चापलूसी भरा वर्णन है। यदि हम मनुष्य के रहन-सहन और चाल-ढाल की परीक्षा करें तो हम उसे अविवेकी ही पायेंगे; हाँ, बीच-बीच में उसमें कुछ स्पष्ट विवेक आ जाया करते हैं। कौन कह सकता है कि ये संसार का ध्वंस करनेवाले युद्ध विवेकपूर्ण हैं? कौन कह सकता है कि विभिन्न देशों के लोगों में जो विलक्षण रीति-रिवाज प्रचलित हैं और जिनसे मनुष्य इतना अधिक अनुरागपूर्वक चिपका रहता है, वे विवेकपूर्ण हैं? कौन कह सकता है कि नशीली वस्तुओं के निर्माण के लिए करोड़ों रुपये व्यर्थ खर्च करना विवेकपूर्ण है?

कभी-कभी मनुष्य को हँसता हुआ जीव कहा जाता है। मनुष्य के निकटतम विभिन्न जीवधारी अपनी विविध भावनाएँ मुखाकृति की रेखाओं द्वारा प्रकट करते हैं; किन्तु कोई यह नहीं कह सकता कि वे हँस सकते हैं या हँसते हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य में हँसने का गुण है जो सम्भवतः इसलिए है कि वह इतनी भूलें करता है। और वह इस दिशा में इतना अग्रसर हो चुका है कि उसने उन भूलों के साथ-साथ हँसने की कला का विकास इसलिए कर लिया है जिससे वह मूर्खता की भावना का परित्याग कर सके।

मनुष्य को अग्नि-भक्षक नहीं तो अग्नि-भोक्ता के रूप में भी बताया गया है। यह सच है कि अपने उपयोग के लिए अन्य कोई भी जीवधारी अग्नि का उपयोग नहीं कर सकता। उनमें अधिकांश तो आग से डरते हैं और तब तक उससे दूर भागते हैं जब तक कि उन्हें उसका उपयोग करना नहीं सिखा दिया जाता। अनेक शताब्दियों से मनुष्य अग्नि का उपयोग करता आया है और अनेक प्रकार से उसकी सहायता लेता रहा है। यह भी इसीलिए है कि मनुष्य उन वस्तुओं से सन्तोष नहीं कर लेता जिन्हें प्रकृति ने उसके निकट प्रस्तुत कर रखा है। इस प्रकार वह प्रकृति से जो कुछ पाने में असफल हो जाता है उसकी पूर्ति अग्नि से कर लिया करता है।

पर मनुष्य की इन परिभाषाओं में से एक भी सन्तोषजनक नहीं है। मैं तो मनुष्य

की परिभाषा इस रूप में करना चाहूँगा कि वह प्रकृति के मार्ग में थोड़ी अभिवृद्धि करना चाहता है और उसमें सौन्दर्यबोध भी होता है। वस्तुत: करोड़ों वर्षों से मनुष्येतर प्राणी अपने जीवन की गतिविधि में कोई भी परिवर्त्तन किये बिना चले आ रहे हैं। प्रकृति की देन में वे न तो कोई आविष्कार कर सके हैं और न कहीं कोई अभिवृद्धि हो सकी है। दूसरी ओर मनुष्य ने इसमें अपनी ओर से बहुत-कुछ मिला दिया है और एक प्रकार से धरती का रूप ही बदल कर रख दिया है और प्रकृति में ऐसी वस्तुओं का समावेश कर दिया है जो उसकी अपनी हैं। इसके अतिरिक्त उसने अपने कलाबोध-द्वारा जीवन मे सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है। इसके कारण वह अन्य जीवधारियों से भिन्न हो जाता है।

जीवन में स्वाभाविक प्रणाली, पद्धति और मार्ग में कला ने कुछ अभिवृद्धि करदी है। वस्तुतः कला की परिभाषा का उल्लेख करते हुए यह कह देना ही पर्याप्त हो जाता है कि वह प्रकृति पर एक सुधार है। कला सदा प्रकृति के साथ किसी और वस्तु के मेल या अभिवृद्धि को कहते हैं। वह अभिवृद्धि क्या है? यह स्वाभाविकतया विभिन्न परिस्थितियों मे अलग-अलग होती है। मनुष्य केवल जीवित नहीं रहता, बल्कि ऐसे ढंग से जीवन व्यतीत करता है जो शुद्ध एवं प्राकृतिक रूप से भिन्न होता है। मेरी समझ में तो कला वह फल है जिसका निर्माण सभ्य मनुष्य ने पृथ्वी और स्वर्ग को मिलाने के लिए किया है।

कला का प्रकृति में सम्वर्द्धन है, यह कला की ठीक परिभाषा नहीं है। ज्यों ही मनुष्य पेड़ में से छाल निकालकर उसे अपनी कमर में बाँधता है, वह प्रकृति में कुछ-न-कुछ सम्वर्द्धन करता है। पर इस क्रिया को कला कहलाने के लिए लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। जब महीन बुनी हुई कमख़ाब या सुन्दर साड़ी पहनी जाती है तो यह कहा जाता है कि कला का प्रदर्शन हुआ है। इस प्रकार हम 'उपयोगी कला' और 'ललित कला' के बीच के अन्तर को पहचान सकते हैं; किन्तु वास्तव में इस की पहचान कठिन है और प्रायः उपयोगी कला, ललित कला में मिश्रित हो जाती है। सम्भवत: हम यह कह सकते हैं कि जो तत्काल काम में आये और कलातत्त्वों की दृष्टि से अपर्याप्त सौन्दर्य से युक्त हो, उसे 'उपयोगी कला' की श्रेणी में रखना होगा, जब कि उपयोगी कला का भी जहाँ विकास हो जाता है वहाँ उसके द्वारा सौन्दर्य-तत्त्व का विकास हो जाता है। यहीं हम उसे ललित कला कहते हैं। ललित कला का गुण उपयोगिता या उसके अभाव पर निर्भर नहीं करता; बल्कि वह सौन्दर्य-तत्त्व के सम्मिश्रण पर निर्भर करता है। किन्तु सौन्दर्य भी तो उपयोगी चीज़ है और वह हमारे उच्च और सूक्ष्म स्वभाव के विकास के लिए आवश्यक है। यदि जीवन और उसके भौतिक अस्तित्व के लिए काम आनेवाली वस्तुएँ सौन्दर्य-तत्त्व से शून्य हों तो मेरी समझ में हमारा जीवन पशुओं के समान निम्न कोटि का हो जायगा और फिर हम सांस्कृतिक अस्तित्व का उच्चतर निर्माण न कर सकेंगे।

आखिर यह भौतिक शरीर हमारे लिए बहुत अधिक है। यह हमारे विकास का यंत्र है। इसको स्वच्छ एवं सुव्यवस्थित रखकर ही हम अस्तित्व के उच्च शिखर पर पहुँच सकते हैं। जब हम अपनी चेतना को शरीर की व्यस्तता से स्वतंत्र और स्वस्थ रखेंगे तभी

परवर्ती कार्यक्षेत्र में प्रवेश पा सकेंगे और उस उच्च अस्तित्व का आनन्द प्राप्त कर सकेंगे जो हमारे लिए संचित है। वास्तव में हम विनाश की जोखों पर ही अपने शरीर की उपेक्षा कर सकते हैं। जब तक हम उसे अनुकूल न बना लेंगे—उसका सुर न मिला लेंगे तब तक हम ललित कला के क्षेत्र में प्रवेश पाने योग्य नहीं हो सकेंगे। हम अपने इस शरीर की तुलना वाद्ययंत्र से कर सकते हैं। यदि यह बेसुरा हो—उसमें अनुकूलता का अभाव हो, तो हमें इससे मेल युक्त संगीत प्राप्त करने में निराश ही होना पड़ेगा, अथवा यदि हम इसकी आधुनिक उपमा दें, तो इसे रेडियो के समान कह सकते हैं और जब तक हम इसका सुर अपने चतुर्दिक फैले अनन्त संगीत के साथ न मिलायें तब तक हम उस आनन्द-भूमि में प्रवेश न कर सकेंगे।

ऐसी दशा में हम उपयोगी कला और ललित कला को सगी बहनें कह सकते हैं। जीवन को पूर्ण बनाने के लिए दोनों आवश्यक हैं। ग्रन्थों में उपयोगी कला और ललित कला की चर्चा साथ-साथ की गयी है और हमारे प्राचीन ग्रन्थों में तो अठारह विद्याओं और चौंसठ कलाओं का वर्णन है। इस उपयोगी कला को ललित कला से जिस भिन्न रूप में वर्णित किया गया है वह उसकी उपयोगिता या भौंडापन अथवा लालित्य के कारण नहीं बल्कि उसके सौन्दर्य-तत्व के कारण है।

कला, बोध-क्षमता, साधन और टेकनीक अर्थात कलापद्धति के अनुसार स्वाभाविक-तया विभिन्न रूपों में होती है, किन्तु कला के सिद्धान्त और उद्देश्य में साद्यन्त सादृश्य है। चाहे साहित्य हो या चित्रकला, संगीत हो या मूर्ति-निर्माण, अथवा कोई भी अन्य ललित कला हो, फिर भी मनुष्य इनका उपभोग इसीलिए करता है कि वह अपनी उत्कट प्रेरणा को ऊँचाई पर पहुँचा सके। कला का माध्यम या पद्धति चाहे जो हो, पर सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, उसका समादर और उपभोग सभी कलाओं का सार है। इसी को कला का उद्देश्य कहा जा सकता है। सूचना उपदेश और शिक्षा तो कला के लिए नैमित्तिक साधन हो सकते हैं। यदि हम में वह सब साधन हों, पर सौन्दर्य न हो, तो हम कह सकते हैं कि कला नहीं है। यदि सौन्दर्य है पर ये आनुषंगिक साधन उसमें नहीं हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें इन सभी नैमित्तिक साधनों का अभाव है—हम यह कह सकते हैं कि उसमें कला है। सौन्दर्य ही कला की आत्मा है और सौन्दर्य-बोध वह विज्ञान है जो कला के सौन्दर्य से सम्बन्ध रखता है। सौन्दर्य की भावना और उसकी अभिव्यक्ति की चाह सभी कलाओं का आधार है। माध्यम का चुनाव तो कलाकार परिस्थिति और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार किया करता है। कोई भी कलाकार तथ्यवादी है या आदर्शवादी, वह अपना कार्य किसी ध्येय को सामने रखकर करता है या यों ही, पर जब तक वह सौन्दर्य की सृष्टि और कलात्मक रूपों में भावों की अभिव्यक्ति करता है वह सच्चा कलाकार होने का दावा कर सकता है।

कलाकार का मन कभी-कभी ही उन बन्धनों से विच्छिन्न और मुक्त होता है जो उसको परिसीमित कर रखते हैं, और ऐसे समय पर ही उसे प्रेरणा प्राप्त होती है। जब वह प्रेरणा प्राप्त कर लेता है तब वह सौन्दर्य का विचार प्राप्त करता है और उसकी प्रशंसा करके उसके

सम्बन्ध में चिन्तन करता है और कुछ क्षण के लिए उससे अभिन्न बन जाता है। हम यह कह सकते हैं कि कलाकार सौन्दर्य के किसी-न-किसी अभिन्न स्वरूप के द्वारा ही असीम की उपासना करता है।

केवल यह पर्याप्त नहीं है कि कला जीवन की सभी महान् और उत्तम वस्तुओं की भाँति केवल गिने-चुने लोगों की अपनी वस्तु बनकर रहे। यह सच है कि ललित कला सार रूप में अभिजात वर्ग की वस्तु है, क्योंकि उसकी सृष्टि बहुत थोड़े लोग कर पाते हैं। किन्तु आधुनिक युग में जबकि व्यक्ति और समाज की अखण्डता और एकीकरण होने जा रहा है तो ललित कला को केवल कुछ लोगों के आनन्द-भोग की सामग्री तक परिमित रखना न तो आवश्यक ही है और न सम्भव ही। इस विषय से सम्बद्ध व्यक्तियों का कर्त्तव्य है कि वे देखें कि ललित कला का समादर जनता द्वारा होता है और उच्च श्रेणी के लोगों के द्वारा भी। हमें यह कहने की छूट नहीं है कि जनता उसे नहीं समझती। यदि वह नहीं समझती तो समझनेवालों का कर्त्तव्य है कि वे उसके समझने की क्षमता उत्पन्न करें, आखिर अनिवार्य शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा को सार्वभौम बनाने का अभिप्राय तो यही है कि सभी युगों की शिक्षाओं का फल जनता को भी चखने को मिले। ललित कला के सम्बन्ध में भी हमारा यही प्रयत्न होना चाहिए। आरम्भिक शिक्षा में भी किसी-न-किसी रूप में ललित कला का समावेश हो जाना चाहिए। केवल बौद्धिक शिक्षा तो असन्तुलित वस्तु है। उससे मनुष्य पूरा या सम्पूर्ण अर्थ में परिपूर्ण मानव नहीं बन पाता। किसी भी व्यक्ति के निर्माण-तत्त्व में शरीर, मन, नैतिक समझ और सौन्दर्यमय व्यक्तित्व तथा बौद्धिक अस्तित्व ये सभी सम्मिलित होते हैं। यदि शिक्षा का ध्येय इन सभी निर्माण-तत्त्वों का विकास करना है तो यह समझ लेने की बात है कि सौन्दर्य-बोध प्रारम्भिक शिक्षा के तत्त्वों में सम्मिलित किया जाना चाहिए।

उपयोगी कला और ललित कला दोनों ही के क्षेत्र में मनुष्य की प्रगति की माप उसकी सफलताओं द्वारा की जाती है। यदि हम यह कहें कि हम छः हज़ार वर्ष पूर्व के बर्बरों और अपने पूर्वजों से अधिक सभ्य हैं तो इसका कारण तो हमें कलाक्षेत्र के विकास को ही मानना पड़ेगा। किन्तु जब हम वास्तविक स्थिति की व्याख्या करते हैं तो यही पाते हैं कि प्रगति अधिक नहीं हुई है। जब हम अपने शिथिल और मन्द दैनिक जीवन का परीक्षण करते हैं और यही पाते हैं कि उसमें ललित कला को बहुत कम भाग प्राप्त होता है तो हमें कहना पड़ता है कि हमारे जीवन में उसकी उपस्थिति की अपेक्षा अभाव ही अधिक स्पष्ट है।

मध्य वर्ग के शिक्षित लोगों के घरों में हम प्रायः यही देखते हैं कि दीवारों पर चित्रों और सजावट का अभाव है, सिवा इसके कि कहीं-कहीं शायद आपको पाश्चात्य ढंग के अद्भुत सस्ते पुनर्चित्रण मिल जायँ। संगीत से तो प्रायः सारा परिवार शून्य ही होता है, और मूर्ति-कला का तो हम यहाँ स्वप्न भी नहीं देख सकते—हाँ, कहीं-कहीं देवताओं की शोभा-शून्य मूर्तियाँ भले ही दिखायी दे जायँ। सम्भवतः मेज़ पर कुछ विदेशी पेपरवेट भी यत्र-तत्र दिखायी दे जायँगे। जब चतुर्दिक यह अवस्था हो तो क्या हमारे परिवार ललित कला के विकास पर गर्व कर सकते हैं? केवल यही पर्याप्त नहीं है कि हम बड़े-बड़े कला-संग्रहालय ही स्थापित

करें। ललित कला तो ऐसी वस्तु है जो हमारे जीवन में प्रविष्ट हो जानी चाहिए और जिसकी अभिव्यक्ति न केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में प्रत्युत हमारे बोले हुए शब्दों और इंगित तथा चेष्टाओं में भी होनी चाहिए। अन्ततः ललित कला को कोई ठोस चीज़ होने की अपेक्षा जीवन की प्रवृत्ति ही कहेंगे। यह कला एक ऐसी आकांक्षा है जो जीवन की सभी विभिन्नताओं में सौन्दर्य के रूप और उसके आमोद को भर लेना चाहती है।

उदाहरण-स्वरूप हम चित्रकला को ही लें। चित्रकार रेखा और रंग लेकर ही काम करता है। उसकी परीक्षा इस बात से की जाती है कि वह इनका उपयोग इस रूप में करे जिससे सौन्दर्य की रूप-सृष्टि हो जो मनुष्य के सौन्दर्यबोध को प्रभावित कर सके और इस प्रकार दर्शक में सौन्दर्य के सम्मान का आह्वान हो सके। कोई भी कलाकृति जितनी ही अधिक सुन्दर होगी वह उतनी ही सत्य के निकट होगी। कोई भी व्यक्ति वास्तविक कला की जितनी ही प्रशंसा करता है वह सौन्दर्य की आत्मा के साथ एकाकार हो जाता है। वह अपने व्यक्तित्व और सीमितता को खोकर उस सौन्दर्य-सागर में विलीन हो जाता है जिस तक पहुँचने के लिए कला एक मार्ग है। कला की प्रत्येक कृति वस्तुतः अनन्त की एक झाँकी है, और कोई भी कलाकार जितना ही महान् होगा वह हमें सीमितताओं से अनन्त में पहुँचाने के लिए उतना ही शक्तिशाली होगा।

राग-रागिनियों का चित्राभिव्यंजन

मोतीचन्द्र

भारत की चित्रकला का इतिहास अजन्ता से आरम्भ होता है और यह कोई दो सहस्र वर्ष पुराना है। इसमें भी बहुत से अन्तर हैं, जिनमें एक तो अजन्ता के ही आरम्भिक और अन्तिम चित्रों के बीच दिखाई देता है। इनमें सबसे अधिक अन्तर अवकाश-काल, रंगमहल, कैलाश, इलोरा के समय से कल्पसूत्र और कल्काचार्य कथा की सचित्र जैन-पांडुलिपियों के बीच की अवधि है। इन पांडुलिपियों के चित्र भारत की प्राचीनतम चित्रकला के उदाहरण हैं जो अब तक प्रकाश में आ चुके हैं। फिर भी उपर्युक्त दोनों कालों के बीच का अन्तर ताड़पत्र पर अंकित उन बौद्धकालीन पांडुलिपियों से भर जाता है जो बंगाल और नेपाल में चित्रित की गई थीं। पर इससे हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस बीच जनता में सुलेखन और चित्रण के प्रति उदासीनता आगई थी। इसके विपरीत ऐसे साहित्यिक सन्दर्भ उपलब्ध हैं जिनसे यह बात असन्दिग्ध रूप में सिद्ध हो जाती है कि भित्ति-चित्र, काष्ठ-फलक और सूती वस्त्र पर किये गये ये लघुचित्रण पर्याप्त रूप से मिलते थे। तो भी 'राजस्थान और हिमालय में ही, जहाँ मुगल-प्रभाव का अपेक्षाकृत कम प्रवेश हो सका, भारतीय चित्रकला की प्राचीन परम्पराएँ अक्षुण्ण रह सकीं।

राजपूत कालीन-चित्रकला का ब्रजभाषा-काव्य से घनिष्ठ सम्पर्क है, जो वैष्णव मत के पुनर्जीवित होने पर विकसित हुआ। जिस युग में ये चित्र प्रस्तुत किये गये उन दिनों भक्ति की प्रधानता थी। कविगण ऐसी पद्यरचना करते थे जिससे कृष्ण का प्रेम अमर बन जाय, गायक आत्मप्रेरक और मधुर स्वरों में गोपियों के साथ कृष्ण के छल-गान गाते थे और चित्रकार कृष्ण और गोपियों की प्रेमलीलाओं का चित्रण करते थे। समूचे वैष्णव-साहित्य के नायक भगवान् कृष्ण ही हैं, और उस दैवी गोपिका राधा तथा गोकुल की अन्य गोपिका-समूह के साथ उनके प्रणय का सजीव और मोहक वर्णन किया गया है। ब्रजभूमि में ही ईसा की सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ऐसी काव्य-शैली प्रचलित हो गई जो कृष्णाराधना के प्रबल भावावेग से संश्लिष्ट थी। इस शैली के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य और उनके सुपुत्र विट्ठलनाथ थे। उनके अनुयायियों में सूरदास का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अपने काव्य-गान की राधा

को भगवान कृष्ण की भक्ति में अर्पित किया; उनके पश्चात् बिहारी हुए जिन्होंने सूरदास का अनुसरण किया और कृष्ण के प्रणय-प्रसंग पर एक रहस्यमय जादू डाल दिया। इस मत की विख्यात् शिष्या मीराबाई थीं जिन्होंने अपना सब-कुछ कृष्णार्पण कर दिया और मधुर स्वर में गाया—

मेरे तो गिरिधर गोपाल
दूसरा न कोई।

इन काव्यों में एकमात्र उपास्य देव भगवान कृष्ण हैं, जिनसे सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है और जो प्रेम-द्वारा प्राणिमात्र की रक्षा करते हैं। दूसरी ओर राधा अपना तन, मन और आत्मा कृष्ण को अर्पण करके मानवीय आत्मा की उच्चता का आदर्श बन गई। इन वैष्णवों ने जिस धर्म का उपदेश किया उसके द्वारा उन्होंने भक्तों के मन में यह भावना भर दी कि वे कृष्ण की सेवा में पूर्णत: आत्मसमर्पण कर दें। जनता के हृदयों को दी गई यह प्रेरणा, ब्राह्मणों के कठोर तत्वज्ञान, शुष्क बुद्धिवाद और तान्त्रिकों की निरर्थक और घृणित क्रियाओं की प्रतिक्रिया थी। इस भक्ति-धारा में कुछ नया ही अनुसन्धान किया गया था—ऐसे उपास्यदेव का अनुसन्धान जिसकी पूजा भी की जा सके, साथ ही जिसे प्रेम भी किया जा सके, और जिसे अपने अभाव-अभियोग भी सुनाये जा सकें। भक्तों को कृष्ण में एक ऐसे आदर्श की प्राप्ति हुई जिससे उनकी सभी आशाएँ पूरी होती थीं। कृष्ण का जीवन संन्यास—त्याग के जीवन में उसके प्रयुक्त भावार्थ का विरोधाभास था। वैष्णवों ने जब एक बार उन्हें पा लिया तो वे प्रार्थी के रूप में उन्हीं में लीन हो गये। इसके पश्चात् उनका साहित्य, उनका संगीत, उनके नृत्य और उनके चित्रण सभी अपने नायक और प्रभु भगवान् कृष्ण की गौरव-गुण-गरिमा का बखान करने में संलग्न हो गये।

इसी युग में राजपूत-शैली के चित्रकारों ने अपनी भक्ति-भावना को मूर्त्त बनाने के लिए उसका धारावाहिक चित्रण आरम्भ कर दिया जिसे रागमाला के नाम से विभूषित किया गया। इसमें संगीत-सम्बन्धी भावों का वर्णन रंगों और रेखाओं द्वारा किया गया, राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला और उनके मिलन और विरह की गाथा विभिन्न रूपों में चित्रित की गई। पर अच्छा होगा कि रागमाला की चर्चा करने से पूर्व राग-रागिनियों की परिभाषा और उनके ऐतिहासिक विकास को समझ लिया जाय।

'राग' शब्द की उत्पत्ति 'रंज' से हुई है जिसका अर्थ है रँग जाना, रंग से भर जाना, लाल हो जाना, चमकना, प्रभावित होना, प्रेरित होना, रस या भाव के आवेश में बह जाना। इसीलिए संगीत में 'राग' का अर्थ है मन का रंग—अर्थात् मनोभाव। 'संगीत रत्नाकर' के टीकाकार ने राग की परिभाषा वह संगीत-खण्ड बताया है जो सप्त स्वरों, वर्णों अथवा ध्वनि के विभिन्न प्रकारों की उत्तमता के कारण प्रशंसा का आह्वान करता है।[1]

१ संगीत रत्नाकर, भाग २, पृष्ठ १९०, पूना, १८९७। राग विवेक और संगीत-सार संग्रह पृष्ठ ३९, कलकत्ता १८७९।

इस प्रकार राग और रागिनियाँ केवल विशिष्ट परिभाषा के द्वारा ही ज्ञात नहीं हैं, बल्कि अपनी अभिव्यंजना और आह्वान की शैली पर भी उनका स्वरूप टिका हुआ है।

इस समय भारतीय संगीत का जो ज्ञान हमें प्राप्त हो सका है उसे देखते हुए यह कहना कठिन है कि राग-रागिनियों की शैली का अस्तित्व कब से है। साहित्य में जहाँ-कहीं इनका थोड़ा-बहुत सन्दर्भ मिलता है, उससे हमें रागों की उत्पत्ति का पर्याप्त परिचय नहीं मिलता। रागों का परिचय सर्व प्रथम हमें 'पंचतन्त्र' में मिलता है। गायक, गधे और सियार के सम्वाद में गर्दभ महाशय ने छत्तीस रागिनियों का वर्णन किया है जिसका अर्थ परम्परागत छत्तीस रागिनियां ही हो सकता है।[1] पर 'पंचतन्त्र' में उन छत्तीस रागिनियों के नामों का वर्णन नहीं है।

रागों के प्रथम गायक तांत्रिक बौद्धवाद के चौरासी वज्रायण सिद्ध थे। उनमें से पहले का नाम सरहपा था जिसका विकास ६३३ ई० में हुआ। ये सिद्ध विभिन्न रागों में पद्यरचना करते थे जिनकी सूची नीचे दी जाती है। साथ ही कोष्ठकों में सिद्धों के नाम भी दिये गये हैं। इस सूची का संकलन 'बौद्ध-गान व दोहा' से किया गया है—

१. राग गौड़	... ...	विरूप, ८
२. राग मारु	... ...	गन्दरीप, ६
३. राग गुञ्जरी	... ...	गन्दरीप, ११
४. राग पटमंजरी	... ...	भूसुक, १२
५. राग देवकारी	... ...	भूसुक, १६
६. राग देसाख	... ...	कन्हपा, १६
७. राग भैरवी	... ...	सरहपा, ५७
८. राग कामोद	... ...	भूसुक,, ४२
९. राग धनाश्री	... ...	दोम्भीप, २५
१०. राग रामकरी	... ...	सन्तीप, २७
११. राग वराटी	... ...	भूसुक, ३६
१२. राग सिबारी : आसावरी	... ...	सन्तीप, ३१
१३. राग वरादी	... ...	सवरप, ४३
१४. राग मलादी	... ...	भूसुक, ४७
१५. राग मालश्री	... ...	सरहपा, ६०
१६. राग मालसी गौड़	... ...	कन्हप, ६१
१७. राग बंगला	... ...	भूसुक, ६६

१ श्री फाक्स स्ट्रैंग्वेज़ की 'म्यूज़िक आफ़ हिन्दुस्तान' पृष्ठ ८२। जर्नल आफ़ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १४—३, पृष्ठ २२४। पर राहुलजी इससे सहमत नहीं हैं। (गंगा जन० १६३३ पृष्ठ २२४)

१८. राग-रागिनी वेद ... ... गालन्धरपा[1]

भारतीय संगीत में दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम है जयदेव का, जिन्होंने अमर गीति-काव्य 'गीत गोविन्द' की रचना की है। इसमें भावुकता और कोमलता की चरम सीमा है और इस दृष्टि से यह एक अनूठा ग्रन्थ है।

कवि ने प्रत्येक खण्ड की रचना निश्चित राग और ताल पर की है। यह सर्वप्रथम अवसर प्रतीत होता है जब रागों का उपयोग गीति-काव्य के लिये और मन को रंजित करने के उद्देश्य से किया गया। वास्तव में, गानों के अभिप्राय से रागों का उपयोग एक निश्चित और मौलिक उपकरण है। अवमानिता राधा (गीत गो० ७, १५) और व्यंगीकृत कृष्ण (गीत गो० ३, ७) ने गुजरी में अपने भाव व्यक्त किये हैं, यद्यपि साथ ही इन रागों का उपयोग भगवान् के विभिन्न अवतारों की प्रार्थना और स्तुति के भावों को प्रकट करने के लिए (गीत गो० १, २) किया गया है। जयदेव ने वसन्त राग का उपयोग वसन्त-सौन्दर्य का वर्णन करने के अतिरिक्त राधा-कृष्ण की प्रणय-लीलाओं के वर्णन में भी किया है (गीत गो० ७, १४) मालव राग का उपयोग 'गीत गोविन्द' में केवल दो बार किया गया है और वह भी विरोधी अर्थों में।[2] एक तो भगवान् के आह्वान और स्तुति में, दूसरा कृष्ण मिलन के लिये राधा की प्रबल आकांक्षा में।[3] गौड़ मालव (गी० गो० ७, १३) राग का उपयोग राधा-कृष्ण के मिलन-वियोग का विलाप प्रकट करने के लिये किया गया है। गुणकरी (गी० गो० १, ११) के द्वारा भी इसी प्रकार के भाव प्रकट किये गये हैं।[4]

केदार राग (गी० गो० ५, ११) में कवि ने कृष्ण से मिलने के लिये राधा के दृढ़ विश्वास का वर्णन किया है। (गी० गो० ४) शोकाकुल स्वर में कृष्ण से पृथक् होने के पश्चात राधा के विरह का वर्णन है। वराड़ी (गी० गो० ५, १०) राग में राधा से विलग होकर कृष्ण अपनी विरह-वेदना प्रकट करते हैं। रामकली (गी० गो० १, ४) में कृष्ण का प्रणय-गान उभरता है और राग कर्नाटक (गी० गो० ४, ८) राधा की विरहाकुलता का ज्वलन्त प्रतीक है।

राग-रागिनियों के इतिहास में दूसरे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हुए हैं सारंगदेव, जिनके मतानुसार रागों की संख्या दो सौ चौंसठ है।[5] उन्होंने जिन रागों का वर्गीकरण किया है वे बहुत पहले ही अप्रचलित हो चुके थे। 'संगीत-रत्नाकर' के रचयिता ने उन रागों से कुछ के नाम गिनाये हैं, और उनका वर्णन 'रागमाला' में भी मिलता है।

अब ऐसे रागों की चर्चा उपयुक्त होगी जिनके द्वारा विशिष्ट भावों की सृष्टि

१ गंगा, जनवरी १९३३, पृष्ठ ५३

२ गीत गोविन्द १, १; और ११, ६

३ 'रागमाला' के एक चित्र में भी यही भाव व्यक्त किया गया है। देखिए आर० ८८४८, फोलियो १५

४ आर० २८२१, फोलियो १५

५ संगीत रत्नाकर २, १९

होती है। मालश्री और तक्का वीरता, उत्तेजना और आश्चर्य उत्पन्न करते हैं।[1] टोडी के द्वारा आह्लाद की सृष्टि होती है[2] और बंगाला के द्वारा परम आनन्द,[3] भैरव राग द्वारा अरुचि और त्रास उत्पन्न होते हैं।[4] राग वरादी और गूजरी से प्रेम-रस का उद्रेक होता है।[5] राग हिंडोल के द्वारा वीरता और आश्चर्य के भाव जाग उठते हैं।[6] धनासी (धनाश्री) के द्वारा आतंक और वीरता के भाव जन्म लेते हैं।[7] ककुभ और आसावरी रागों के द्वारा करुण-रस की अभिव्यक्ति होती है और ललित राग का उपयोग केवल वीर-रस जगाने के लिए किया जाता है।[8]

यह बात ध्यान देने की है कि यद्यपि 'संगीत रत्नाकर' के कुछ रागों को 'रागमाला' के चित्रण का आधार बनाया गया है, पर उनके द्वारा जिन भावों की सृष्टि होती है वे वही नहीं हैं जो मौलिक रूप में सारंगदेव को अभीष्ट थे। इस अन्तर का कारण बिलकुल स्पष्ट है। वैष्णववाद की उत्ताल तरंगों ने प्रेम-भाव के सामने और सभी रसों को दबाकर अपने अधीन कर लिया था। कविता अपने युग का प्रतिनिधित्व करती है और कीर्तन के रूप में संगीत वैष्णव-अनुष्ठान का एक अंग बन गया जिसके द्वारा राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला, कलह, पुनर्मिलन, मिलन और विरह की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई। चित्रकारों ने भी इसी का अनुसरण किया। अतः यह स्वाभाविक था कि रागमाला में भी प्रेम (शृंगार) रस को अन्य रसों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता।

यह कहना सहज नहीं कि रागों की उत्पत्ति कवि-कल्पना से हुई या वे लोकगीत अथवा रहस्य-गान से लिये गये। परम्परागत हिन्दू-विचारों के अनुसार रागों के चार स्रोत माने गये हैं—

१. स्थानीय प्रसिद्ध गान,
२. काव्य-सृष्टि,
३. रहस्यवादियों के भक्ति-रसपूर्ण गान और
४. संगीतशास्त्रियों की रचनाएँ।

इन चारों स्रोतों पर पृथक्-पृथक् विचार इस प्रकार किया जा सकता है—

१. यह मानना युक्तियुक्त है कि अधिकांश परम्परागत रागों की उत्पत्ति स्थानीय

१ संगीत-रत्नाकर २, ७०, ७२ और ९१
२ वही ७६
३ वही ७७
४ वही २, ७९, ८१
५ वही २, ८६ और ८९
६ वही ९५
७ वही १००
८ वही १११ और ११३

गानों से हुई है, जैसा कि उनके नामकरण से भी प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ मालवी[१] खम्भावती[२], देवगन्धार[३], कान्हड़ा[४], बिलावल[५], आसावरी[६], केदारा[७], बंगाली गौड़ी[८], कन्नौजी[९], भूपाली[१०], सौराष्ट्र[११], आदि नामों से यह सिद्ध होता है कि आरम्भ में ये गान स्थानीय थे, और इनका नामकरण संगीत के कलावन्तों ने किया था।

२. यह निष्कर्ष तो निर्विरोध है कि कुछ रागों की सृष्टि, संगीतकारों की कवि-कल्पना से हुई है। इस प्रकार के रागों के स्पष्टतम उदाहरण हैं—हिंडोल, दीपक, वसन्त, ललित (कोमल सुन्दर) और विभास। इन रागों के नामकरण में संगीतकारों की कवि-कल्पना ने ऊँची उड़ान का परिचय दिया है। पर इन रागों का भावात्मक मूल्य सिद्ध करने के लिए संगीत-सिद्धान्त प्रस्तुत करने के प्रयत्न नहीं किये गये। संगीतकारों ने केवल समुचित अवसरों के लिए उनकी यथातथ्योपयोगिता निर्द्धारित की थी, या विभिन्न मानवीय आकांक्षाओं द्वारा उनके अनुराग प्रदर्शित किये थे।

३. रागों का तीसरा स्रोत है योगियों और भक्तों के भक्तिरस-प्रधान गान। गाने जब रागों में सम्मिलित हुए तो उनका नामकरण इस प्रकार किया गया कि उनका भक्ति और योग के साथ सम्बन्ध प्रकट हो सके। योगी, भैरव और भैरवी की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई होगी।

१ यह मालवा (मध्य भारत) में उद्भूत रागिनी है।

२ यह रागिनी सम्भवतः कैम्बे (खम्भात राज्य) में प्रचलित हुई जो खम्भात की खाड़ी के किनारे स्थित है।

३ इसकी उत्पत्ति प्राचीन गन्धार में हुई होगी जो अब अफ़गानिस्तान के अन्तर्गत है।

४ यह सम्भवतः कर्नाटक से उत्पन्न हुई जो प्राचीन काल में कन्नड़ कहलाता था। इसे कर्नाट भी कहते हैं।

५ यह रागिनी बलावली (ज़िला मिदनापुर) बंगाल में प्रचलित हुई जिसका नाम अब बीरकल है।

६ यह रागिनी 'सबरा' के लोकगीतों से उत्पन्न हुई प्रतीत होती है, चौरासी सिद्धों में विख्यात सिद्ध सान्तिया ने सर्वप्रथम इसका उपयोग किया था। सम्भव है कि एक दूसरे सिद्ध सबरया ने इस राग को अस्तित्व में ला दिया हो (गंगा, जनवरी १९३२ पृष्ठ २४७)।

७ हिमालय का एक भाग जहाँ शिवजी केदार के नाम से पूजे जाते हैं।

८ यह रागिनी गौड़ (मध्य बंगाल) से प्रचलित हुई।

९ जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, इसकी उत्पत्ति कन्नौज से हुई जो अब फ़र्रुखाबाद (युक्तप्रान्त) का एक प्राचीन नगर है।

१० भोपाल इसी नाम के राज्य की राजधानी है।

११ सूरत अथवा सौराष्ट्र से सम्बद्ध।

४. रागों का चौथा स्रोत है संगीतकारों की रचनाएँ जो प्रायः उनके नाम पर हुआ करती थीं। उदाहरण के लिए रामकली, जो मूलतः रामकृति के नाम से विख्यात् थी, 'राम' नामक किसी संगीतकार की रचना है। इसी प्रकार सारंग, जैसा कि इसके नाम से प्रतीत होता है, सारंगदेव की रचना है, जो भारतीय संगीत के एक महान् व्याख्याकार और निर्देशक थे।

रागों के सम्बन्ध में एक बड़े महत्व का विचारणीय प्रश्न है ध्यान-मन्त्रों की उत्पत्ति। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है सारंगदेव ने अपने प्रत्येक राग में करुण-रस प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात—ठीक काल बताना सम्भव नहीं है—किसी लेखक, सम्भवतः हनुमान् ने ध्यान-मन्त्र की प्रणाली विकसित की, उसके द्वारा राग-रागिनियों का रूप निर्द्धारित किया, उन्हें दृश्य रूप दिया। फिर भी यह कोई नया विषय नहीं था, क्योंकि इसने तो केवल उपास्य देवी-देवताओं को मूर्त्त रूप देने की भारतीय कलाकारों की प्रचलित प्रथा को ही अपनाया था। मध्ययुग की साधना-माला में ऐसे मन्त्रों का समावेश है जिनमें उपास्य देवी-देवताओं को दृश्य रूप देने की क्रिया पूरी व्याख्या के साथ वर्णित है। इससे संगीतकारों को भी प्रोत्साहन मिला होगा, क्योंकि उन्होंने राग-रागिनियों को देवता और देवी समझ लिया और वे उनका आह्वान ध्यान-मन्त्रों द्वारा करने लगे। राग-रागिनियों को चित्रण का रूप देने के लिए ध्यान-मन्त्र सामान्यतः हिन्दी में लिखे जाते थे, यद्यपि कभी-कभी संस्कृत श्लोकों[1] का व्यवहार भी हुआ है। यहाँ कुछ अधिक प्रचलित संस्कृत श्लोकों के सारांशों का उल्लेख उपयुक्त होगा जो 'रागमाला' की कुछ राग-रागिनियों के आधार प्रतीत होते हैं—

१. भैरवी "स्फटिक शिला-निर्मित एक सुन्दर भवन में, जो एक झील के बीच में स्थित है, विशालाक्षी भैरवी रागिनी कमल-पुष्पों से शिव की पूजा करती है। उसने अपने गान में शुद्ध स्वर का प्रयोग किया है। इस प्रकार की है रागिनी भैरवी।"[2]

रागमाला में ठीक इसी प्रकार की रागिनी का रूपक चित्रित किया गया है।[3]

२. टोड़ी "उसका सीधा तना हुआ शरीर कुन्द पुष्प और हिम के समान सुन्दर है; उस पर काश्मीरी कपूर का लेपन हुआ है। इस प्रकार वीणा-धारिणी रागिनी टोड़ी हरिण को प्रसन्न कर रही है।"[4]

३. आसावरी—इस रागिनी का वर्णन हनुमान् ने इस प्रकार किया है—"वह श्रीखंड पर्वत के शृंग पर विराजमान है। उसका वस्त्र मयूर-पंख से निर्मित है। गजमुक्ता-निर्मित सुन्दर माला उसके गले में शोभायमान है। चन्दन वृक्ष से आकृष्ट होकर सर्प उसके शरीर पर आ लिपटे हैं। यही नील वर्ण आसावरी है।"[5]

१ जानसन कलेक्शन, इण्डिया आफ़िस, पुस्तक ३६

२ संगीत-सार संग्रह, पृष्ठ ४४ ३ बी० एम० आर०, २८२१, फ़ाल० २

४ चित्रण में इसका रूपक देखने के लिए देखिए आर० २८८१, फाल० २

५ संगीतसार संग्रह पृष्ठ ७८

४. मालवश्री—"आम्र वृक्ष के नीचे रक्त कमल-धारिणी विराजमान है। उसका सीधा शरीर आभायुक्त है। उसके ओठों पर मन्द मुस्कान है। यह मालवश्री है।"[१]

५. रामकली—"उसका नीलमणि के समान शरीर स्वर्णाभूषणों से चमक रहा है। यद्यपि उसका पति उसके चरणों पर गिरा हुआ है, फिर भी रामकली ने अपना गर्व स्थिर रखा है।"[२]

यहाँ हम इस बात पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे कि प्राचीन भारत में 'रागमाला' चित्रण का अस्तित्व था या वह केवल राजपूत-काल (सोलहवीं शताब्दी) के चित्रकारों का पुनःपरिवर्तित विषयमात्र है।

प्राचीन काल में इस प्रकार की चित्रकला के सम्बन्ध में हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते। उसका सीधा सन्दर्भ नहीं मिलता। फिर भी कला और नृत्य सम्बन्धी विशिष्ट विषयों के साहित्य में ऐसे उल्लेख हैं जो इस प्रकार की चित्रकला के अस्तित्व के द्योतक हैं। पहले इन सन्दर्भों में से कुछ पर विचार करना उपयुक्त होगा—

सर्वप्रथम भरत ने नाट्यशास्त्र में रंग और भाव का सम्बन्ध स्वीकार किया, और प्रत्येक रस के लिये एक पृथक् रंग का उल्लेख किया था। उनके वर्णनानुसार "रक्त, कृष्ण, श्वेत, श्याम रंगों का सम्बन्ध क्रुद्ध, भीषण, हास्य, प्रणय और करुणा रसों से युक्तियुक्त ढंग से है, यद्यपि यह कहना सहज नहीं कि भीषण-रस का नीले रंग से, आश्चर्य का नारंगी रंग से और वीर-रस का पीत वर्ण से क्यों सम्बन्ध है।[3] यह कहना भी कठिन है कि रागमाला के चित्रण में भी इन रंगों को उन्हीं भावों का आधार माना गया है। फिर भी यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि ध्यान-मन्त्रों में विभिन्न रागों के लिए पृथक्-पृथक् रंगों का उपयोग नाट्याचार्य भरत की शिक्षा का परिणाम है।

ऐसे चित्रण का एक और सन्दर्भ यदि हम 'वैणिका' गीतिकाव्य को व्यापक अर्थों म ले सकें—'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में है।[४] ये गीति-काव्यमूलक चित्रण वास्तव में क्या थे, इसके अनुसन्धान का हमारे पास कोई साधन नहीं है। 'वैणिका' यदि हम इसे व्यापक अर्थों में लें—अजन्ता, बाघ और सित्तान्नावासल के चित्रांकणों में मिलती है, जहाँ संगीत और नृत्य के द्वारा केवल मानव-मुग्धताओं का प्रदर्शन किया गया है। इस दृष्टि से तो राजपूत 'रागमाला', 'वैणिका' चित्रणों का क्रमागत रूप मात्र प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें भी मानव-मुग्धताओं का ही प्रदर्शन हुआ है।

'शिल्परत्न'[५] के रचयिता श्री कुमार ने भी ऐसे चित्रण का एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ

१ संगीतसार संग्रह पृष्ठ ३८
२ संगीतसार संग्रह पृष्ठ ४५
३ श्री दे कृत 'संस्कृत पोयटिक्स', खं० २, पृष्ठ ३४४
४ कामरिश कृत 'विष्णु धर्म पुराण', पृष्ठ ४५
५ शिल्परत्न चित्रलक्षण सं० १४३

अपने ग्रन्थ में किया है। उन्होंने उन चित्रों की सूची में जिन्हें प्लास्टर लगी दीवार पर नहीं बनाया जाता, रसचित्र का भी समावेश किया गया है। रसचित्र न्यूनाधिक रूप में इसी तरह का चित्रण है और 'रागमाला' तथा 'नायक-नायिका-भेद-चित्रण' के सदृश है।'[1]

चित्रकला पर वैष्णव-पुनर्जीवन के प्रभाव की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं और यह भी कह आये हैं कि कृष्ण को किस प्रकार व्यक्तिगत भगवान् मानकर भक्तगण अपने तन-मन की सेवाएं अर्पित करते हैं। लाक्षणिक दृष्टि से वर्णित कृष्ण, भगवान् के उच्चतम रूप थे जिससे मिलने के लिए गोपी-रूपी आत्मा कठिन प्रयत्न करती है। इसी विचार को सरल रूप में जनताके सन्मुख रखने के लिए वैष्णवों ने नायक-नायिका-भेद की प्रणाली विकसित की थी जिसके द्वारा नायक और नायिका के बीच प्रेम-भाव व्यक्त होता है, उनकी प्रेम-लीला प्रदर्शित होती है, उनका विवाह और मिलन प्रकट होता है और उसके कृत्रिम कलह अभिनीत होते हैं। 'राग-माला' के चित्र भी इस प्रवृत्ति से नहीं बच सके, और उनमें से अधिकांश में कृष्ण और राधा की प्रेम-लीला ही अभिवन्दित हुई है।

आठ नायिकाओं[2] में से 'रागमाला' में दो का चित्रण प्रायः देखने में आता है। पहला है अभिसन्धिता नायिका का चित्रण, जो नायक के फुसलाने पर भी कि वह अपना मान छोड़ दे, उस दर्प का परित्याग नहीं करती। रागिनी रामकली[3] इसी नायिका का आदर्श उदाहरण है। प्रायः सभी राजस्थानी रागमालाओं में इस रागिनी का चित्रण इस प्रकार किया गया है कि नायिका ने पति की ओर से मुख फेर लिया है और पति उसे मनाने के लिए उसका चरण-स्पर्श कर रहा है। दूसरा चित्रण है प्रोषितपतिका नायिका का, जो पति के विछोह का दुःख सहन करती है। आर, २८२१ फोलियो ३१ में रागिनी कामोद को प्रोषितपतिका नायिका के रूप में चित्रित किया गया है। वह भी नायक की विरह-वह्नि से पीड़ित दिखाई गई है।

कुछ रागिनियों के चित्रण में नायिका की प्राप्ति के लिए योग की रहस्यपूर्ण प्रवृत्तियाँ दिखाई गई हैं। इस प्रकार रागिनी देवगन्धारी[4] अपने नायक का प्रेम प्राप्त करने के उद्देश्य से, उसके नाम का जप करती हुई योगाभ्यास में तल्लीन दिखाई गई है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति रागिनी मलारी के चित्रण में भी दिखाई देती है जो विरह से पीड़ित होकर योगाभ्यास करती है।

'रागमाला' के चित्रों में मानवस्वरूप का चित्रण करने में सहानुभूतिपूर्ण समझ से काम लिया गया है। पुरुषों का चित्रण हिन्दुओं की प्राचीन परम्परा के अनुसार ही हुआ है। वे लम्बे-चौड़े स्कन्धोंवाले, बड़े जबड़ों और चौड़ी छातीवाले दिखाये गये हैं। उनकी

---

१ कुमारस्वामीकृत 'रस लक्षण-आशुतोष स्मारक पुस्तक'१, पृष्ठ ६०.

२ कुमारस्वामी के मतानुसार अष्ट नायिकाएं हैं—स्वाधीनपतिका, उत्का, वासक-शय्या, अभिसन्धिता, खंडिता, प्रोषितपतिका, विप्रलब्धा और अभिसारिका, रसिकप्रिया, पृष्ठ ८८।

३ देखिए बी० एम० आर० २८२१, फोल० १०।

४ बी० एम० आर० २८१, फॉल० १६

सुविकसित मांसपेशियाँ सीधी और चिकनी हैं। उनकी लम्बी भुजाएं, विभिन्न मुद्राओं में मुड़ी हुई हैं, उंगलियाँ और प्रशस्त ललाट, विशाल नेत्र और चिकना चर्म अभ्रान्त रूप में अजन्ता की परम्परा के अनुसार अंकित किये गये हैं। इन चित्रों में जिन स्त्रियों को प्रदर्शित किया गया है वे भी प्राचीन भारत की महिलाओं की सी हैं। उनका आकार मध्यम, कटि-प्रदेश क्षीण स्तन उन्नत और नेत्र विशाल हैं। उनकी कोमलता और सलज्जता में प्राचीन चित्रकला का प्रभाव स्पष्ट बोलता है। राजपूत-कालीन शैली के चित्रकारों के लिए स्त्री के चित्रण का शृंगारात्मक मूल्य था और वे उनके सिर के प्रत्येक पहलू, हाथ के प्रत्येक इंगित का और शरीर की प्रत्येक वक्ररेखा का चित्रित करने में पूरा श्रम करते थे। उनके लिए स्त्री भगवान् की अत्याश्चर्यजनक और आकर्षक सृष्टि थी और इसीलिए उन्होंने इसे अपना पवित्र कर्त्तव्य माना कि उनका स्वरूप उत्तम रूप में चित्रित करें। स्त्रियों के प्रति यह पूज्य भाव सारी भारतीय चित्रकला में अजन्ता के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता।

'रागमाला' में प्रकृति का चित्रण बड़ी सहानुभूति के साथ किया गया है। यह सत्य है कि इन चित्रों में अंकित प्रकृति कहीं-कहीं हमें भयान्वित भी करती है, पर उसे सदा कल्याण कारिणी देवी के रूप में दिखाया गया है और मानव-भावनाओं के साथ उसका भाव भी बदलता है जो सदा आनन्द-वर्द्धक और सहायक सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए हम वसन्त-सेना में प्रकृति के चित्रण को ले सकते हैं। यहां नये पात्रों से सजे वृक्ष भी वसन्तकालीन मुग्धता से नाचते-गाते मानव का साथ देते हैं। मधु-माधवी रागिनी का चित्रण करने में गरजनेवाले मेघ और कौंदनेवाली दामिनी की सृष्टि नायिका पर प्रहार करने के लिये की गई है।

पशुओं का चित्रण क्रूरता प्रदर्शित करने के लिए कहीं नहीं किया गया और 'रागमाला' में कहीं भी आखेट (शिकार) नहीं दिखाया गया है। पक्षी और पशु मनुष्य के प्रिय पात्र के रूप में प्रदर्शित किये गये हैं और 'बंगाली' के निकट तो सिंह को लेटा हुआ अंकित किया गया है। हरिण स्वभाव से ही अनुभूति-सम्पन्न कोमल जीव हैं, पर वह टोडी के पास पहुँचने में लज्जा का अनुभव नहीं करता। रागिनियों के आस-पास मयूर निर्भय होकर नाचते हैं सर्प तक अपने विष का परित्याग कर आसावरी के निकट आ जाते हैं जो उन्हें सहलाती है इन चित्रों में वैष्णव-भावना का सर्वत्र समावेश हुआ है। इसे आदर्श और मानवतापूर्ण भी कह सकते हैं। सभी को जीवित रहने और प्रेम करने का अधिकार है। फिर भला मूक जीवों के प्रतिकूल भावना कैसे प्रदर्शित की जाती।

'रागमाला' चित्रण का प्राचीनतम उदाहरण है। तेईस रागनियों[१] की उत्पत्ति कहां से हुई, इसका अन्तिम निर्णय नहीं हुआ है, यद्यपि कुमारस्वामी का संकेत है कि आरम्भिक राजपूत 'रागमाला' की उत्पत्ति सन् १६०० ई०[२] के आसपास हुई और इसका सम्बन्ध उन चित्रों से है जो ओरछा और दतिया में विकसित हुए थे। फिर भी यह संकेत उस

१ कुमारस्वामी कृत राजपूत-पेंटिंग १, पृ० १२
२ कैटलाग ऑफ़ इंडिया क्लेक्शन्स, बी० पृ० ३

स्थापत्य कला के सामान्य चित्रणों पर आधार-भूत है जो इन चित्रणों में प्रदर्शित हुए हैं और जिनमें खुदे पद्य की भाषा उनकी परिचायक है। इन चित्रों की आयु का निर्णय करने में कठिनाई यह है कि कुछ बाद के चित्र भी उसी आरम्भिक शैली के चित्रों के सदृश हैं। उदाहरण के लिए फ्रेंच संकलन में रागिनी-चित्रों का जो संग्रह है उसमें इस शैली के आरम्भिक युग के सभी चिह्न आडम्बरपूर्ण सजावट, स्त्रियों की पारदर्शी अर्चनियां (ओढ़नियां) आदि होते हुए भी यह स्पष्ट है कि ये बाद की रचनाएँ हैं, जिनका निर्माण सम्भवतः अठारहवीं सदी में हुआ होगा। जॉनसन के संग्रह (इंडिया आफ़िस) की ४३ वीं पुस्तक में ११७०; ए० एच० मुहर से भी प्रतीत होता है कि राजपूत कालीन-शैली के आरम्भिक युग का काल-निर्णय हमारे लिए एक समस्या बन गया है। पहली झलक में रंगों की सरलता और आडम्बर-बाहुल्य देखकर उन्हें आरम्भिक युग की रचनाएं कहा जा सकता है। पर उनका फ्रेंच संकलन के नमूनों से जो दृढ़ सादृश्य है उससे इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि वे अठारहवीं शताब्दी के चित्र हैं।

राग-रागनियों के विकास में सबसे अधिक प्रगति सत्रहवीं और अठारहवींशताब्दियों में हुई। 'रागमाला' सम्बन्धी अधिकांश चित्र भी इसी काल के हैं। राजपूतकालीन-शैली की चित्र-कला का मुख्य-केन्द्र जयपुर था, जहां दो प्रकार की रागमालाएं चित्रित हुई हैं, एक पर मुगल-चित्र-कला का प्रबल प्रभाव है, दूसरी शुद्ध हिन्दू-प्रभाव को लिये हुए है। दूसरी का चित्रण-काल सम्भवतः सत्रहवीं शताब्दी के अन्त का है। (ब्रिटिश म्यूज़ियम आर० २८२१)। कुमारस्वामी के कथनानुसार ये चित्र ओरछा में अंकित किये गये। उसके दो आधार हैं। एक तो यह कि उसकी स्थापत्य कला ओरछे के कुछ स्थानों की स्थापत्य कला से सादृश्य रखती है और दूसरा यह कि उन पर खुदी लिपि की भाषा बुन्देलखण्डी है।[1] फिर भी हम डा० कुमारस्वामी की इस बात से सहमत नहीं हैं। इन चित्रों में जिस स्थापत्य-कला का प्रदर्शन हुआ है वह स्पष्टतः जयपुरी है।[2] और जो पद्य इस पर लिखा हुआ है उसकी भाषा हमें किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचाती। यह बिल्कुल सम्भव है कि कविता की रचना बुन्देलखण्ड में हुई हो और चित्रण-कार्य जयपुर में। इसका एक सुन्दर उदाहरण केशवदासकृत 'रसिकप्रिया' है जिसकी पद्य-रचना तो बुन्देलखन्ड में हुई थी, पर उसका उपयोग अधिकांश रूप में पहाड़ी कलम के चित्रकारों ने किया था।

जयपुर की भांति 'रागमाला' के चित्रण का महत्त्वपूर्ण केन्द्र दिल्ली, आगरा और लखनऊ थे। इनके चित्रण मुग़ल-प्रणाली के थे और उनमें धार्मिकता की अपेक्षा सजावट की ओर अधिक ध्यान दिया गया था। इन चित्रों में कृष्ण को अपेक्षाकृत कम प्रदर्शित किया गया है, और ये दैवी मनोरंजन की अपेक्षा मानवीय मनोरंजन की वस्तु अधिक हैं। इन में से किसी एक शैली से, हम निश्चित रूप में नहीं कह सकते कि किससे, जॉनसन के संग्रह की पुस्तक ४२, ४३ और ४४ का

---

१ कुमारस्वामी कृत कैटलाग्स आफ़ इंडियन क्लेक्शन्स वी० पृ० ४४। ४५

२ हर्लिमन कृत पिक्चरस्क इंडिया, प्लेट २४७, इसमें एक राजभवन का बरामदा ठीक उसी तरह का है जैसा इन चित्रों में चित्रित किया गया है।

सम्बन्ध है। चित्रकारों के नाम चित्रों के नीचे अंकित हैं, जो राजपूत कालीन-शैली की मौलिक कला से विलग हो गये हैं। इनमें राग--रागिनियों का वर्गीकरण विभिन्न रूपों में हुआ है और उन्हें मूर्त्त रूप देने के लिए नये ध्यान-मन्त्र प्रयोग मे लाये गये हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी रागमाला-चित्रण का ह्रास-काल है और इस अवधि के चित्र ब्रिटिश म्यूज़ियम की एड० २६, ५५०, आर०, ८८३,८ और आर० ८८३६ चित्रावलियों में सुरक्षित हैं। ये चित्र पुराने चित्रों की प्रतिलिपियां प्रतीत होते हैं। उनमें एकस्वरता और सजीवता का अभाव है। और वे उन सामान्य चित्रों के सदृश प्रतीत होती हैं जिन्हें प्रमुख वैष्णव तीर्थ नाथद्वारा के बाज़ारों से खरीदा जा सकता है। डा० कुमारस्वामी ने एड० २६,५५० का उद्गम-स्थान जयपुर इसी आधार पर बताया है कि उसकी भाषा जयपुरी बोली से मिलती है।

कांगड़ा के चित्रकारों ने राग-रागिनियों के विषय को नहीं अपनाया और वहां से अभी तक कोई अंकित राग-चित्र प्राप्त नहीं हुआ, यद्यपि कांगड़ा के पहाड़ी चित्रों में अभिसन्धिता नायिका के प्रदर्शन का हेत्वाभास राजस्थानी 'रागमाला' की रामकली रागिनी आदि चित्रों के ही रूप में किया गया है। 'मधु-माधवी' के समय में रागिनी 'ककुभ' का विषय प्रदर्शित करने के लिए महिला और मयूर के हेत्वाभास को कांगड़ा[1] के चित्रकारों ने भी अपनाया है।

जिस पहाड़ी कलम द्वारा 'रागमाला' का चित्रण हुआ है उसकी दूसरी महत्त्वपूर्ण शाखा को 'बसौली' के नाम से श्री घोष और श्री गांगुली ने विख्यात् किया है। वे चित्र जिनका सम्बन्ध कांगड़ा के निकटस्थ बसौली की पहाड़ी रियासत से है, जहाँ किसी समय बालौरिया वंश का राज्य था, कांगड़ा के चित्रणों से पृथक् आसानी से पहचाने जा सकते हैं, क्योंकि उनमें प्रस्तुत की गई पुरुषाकृति कांगड़ा-चित्रण की आकर्षक और बारीक कृतियों से निम्नतर है।[2] श्री घोष के मतानुसार राग-रागिनियों के बहुत चित्र जिन्हें कुमारस्वामी ने जम्मू का बताया है, बसौली के ही हैं। इस प्रकार गूजरी, रामकली, देवगन्धारी, देवगिरी, भारमन्दी के चित्रों को कुमारस्वामी ने अपने 'राजपूत पेंटिंग' में बसौली[3] का बताया है। श्री घोष ने इन चित्रों मे कुछ को पर्याप्त रूप में प्राचीन[4] माना है। इन चित्रों की अप्रचलित शैली को ही प्राचीनता के प्रमाण का द्योतक नहीं माना जा सकता, जैसा कि हम राजपूत-शैली की प्रारम्भिक युग की चित्रकला की चर्चा करते हुए कह चुके हैं। संगीत में राग रागिनियों के विकास और 'रागमाला' चित्रण की विविध शैलियों की चर्चा के पश्चात् उनके वशिष्ट विज्ञान की चर्चा भी अप्रासंगिक न होगी। विशेष रूप से आरम्भिक शैली के सम्बन्ध मे, जो बाद के कुछ परिष्कृत

१ कुमारस्वामी कृत कैटलाग्स आफ़ इण्डियन कलेकशन्स सी० सी० सी० सी ४, पृ० २०४, सी० सी० सी० सी० ४ आदि

२ गांगोली कृत 'मास्टर पीसेज़ आफ़ राजपूत पेंटिंग्स,' पी० एल० १६।

३ घोष कृत 'बसौली स्कूल आफ़ राजपूत पेंटिंग' पृ० ६.

४ उन्होंने इनमें से कुछ को राजपूत आदिम चित्रणों के काल—सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी का माना है। पूर्ववत पृ० ५

चित्रणों की अपेक्षा घटिया होने पर भी स्पष्टतः महत्वपूर्ण कृतियों का कारण है, यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है। जहाँ तक इन चित्रों की आश्चर्यपूर्ण रूपरेखा का सम्बन्ध है, उनमें यथार्थ रूप-चित्रण के बदले उसका संकेत मात्र किया गया है। सुन्दर रंगों के प्रयोग की दृष्टि से भी ये चित्र अद्वितीय हैं। कुमारस्वामी के शब्दों में "उनकी स्पष्ट विशेषता है चित्रण की सजीवता और उनके रंग।" पहली विशेषता का यह अर्थ हुआ कि वे रूप-निर्माण पर अधिक जोर नहीं देते और इंगित मात्र में बहुत कुछ कह जाते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि इनके रंग मीनाकारी के समान चमकदार हैं और स्थिति-स्थापन में सुसंगठित कौशल के परिचायक हैं। चित्रकार का लक्ष्य मनोरम चित्र की रचना नहीं, बल्कि तथ्य स्पष्ट कर देने की ओर रहता है। अन्य विशेषताएँ हैं इन चित्रों की समुचित और अनिवार्य भावात्मक प्रतिक्रियाएँ।[1] रागमाला के चित्रकार का आदर्श रागिनी भैरवी के चित्र बी० एम० प्रिंट्स एंड ड्राइंग्स, १९२४,१२, २८, ०१ से स्पष्ट होता है। चित्रकार ने न तो नायिका और उसकी सेविकाओं के नियंत्रण में अधिक सावधानी और सूक्ष्मता दिखाई है और न वह मुगल-कालीन चित्रकला की प्रकृति-सम्बन्धी प्रवृत्तियों से प्रभावित हुआ है—विशेषकर भूखण्ड और पशुओं के चित्रण में तो उसने ऐसा ही किया है। उसके लिए अपनी शैली के अन्य चित्रकारों के समान कला का कार्य केवल व्यक्तियों के वाह्य रूप चित्रण, सुन्दर रंगों और ठीक रूप-रेखा में भर देना ही नहीं था बल्कि मुख्य रूप में उस अनुभूति और भावना का प्रदर्शन था जो जनता के मस्तिष्क और हृदय को आन्दोलित करती थी, जिसके सम्पर्क में चित्रकार रहता था। रागिनी भैरवी और उसकी परिचारिकाएँ केवल भक्ति-रस में डूबी हुई हैं। चित्रकार ने उनमें श्रद्धा और आनन्द की भावना अंकित करने का प्रयत्न किया है। चित्रकार, रंगों के सूक्ष्म प्रयोग और सजावट के बारीक अंकण पर जोर नहीं देता। उसने तो विशेषतः भक्ति-रस की अभिव्यक्ति की है, और उसकी कृतियों पर इसी मूल दृष्टि से विचार करना चाहिये। इस प्रकार के चित्रों द्वारा तत्कालीन जनता की अवस्था, धर्म, तत्वज्ञान तथा जीवन का स्पष्ट परिचय मिलता है। संक्षेप में यों कहना होगा कि शैली के द्वारा काल का ज्ञान हो जाता है।

वह युग परिवर्त्तन का युग था। बाद के चित्रों में रूप-रेखा की पूर्ति की ओर विशेष अभिरुचि दिखाई देती है। इंडिया आफिस लन्दन के रीडिंग रूम में जानसन-संग्रह के जो चित्र दीवारों पर लगाये गये हैं उनमें से कुछ की रूपरेखा में चित्रकार ने बहुत परिश्रम किया है। मानवीय रूप चित्रित करने में अधिक स्वाभाविकता की प्रकृति और भूखण्ड एवं पशु-पक्षियों का[2] चित्रण उनमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। मुगलों के आगमन से चित्रकार तथ्यांकन के अतिरिक्त रचना की परिष्कृति की ओर भी अग्रसर हुए। युग-परिवर्तन के साथ-साथ भक्ति-रस के प्रति प्रखर भावावेगपूर्ण उत्साह ठण्डा पड़ने लगा। चित्रकार जनता के

१ कुमारस्वामी कृत 'हिस्ट्री आफ़ इंडियन और इंडोनीशियन आर्ट' पृ० १२९

२ इण्डिया आफ़िस, रीडिंग रूम फोलियोज़ १२४, २५६, २५८, २६०, २६३ और २६४

हृदय में धार्मिक भावना जाग्रत करने का विचार कम करने लगे। कला पूर्णतः धर्म की सेवा की वस्तु नहीं रह गई। वह मनुष्य की आर्थिक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने की अपेक्षा उसकी अन्य आकांक्षाओं की पूर्ति में लग गई। यह परिवर्तन बाद के चित्रों के वस्त्र, परिधान, सजावट के सामान आदि में स्पष्टतः दिखाई देता है। प्राचीन रागमालाओं में वस्त्र-निर्मित वस्तुओं का चित्रण करने और उन्हें सूक्ष्मतम सजावट से भरने की पर्वाह नहीं की जाती थी। किन्तु अठारहवीं शताब्दी में चित्रकार वस्त्र-परिधान का चित्रण बड़ी ही परिष्कृति और यथार्थता के साथ करने लगे। संक्षेप में कह सकते हैं कि 'रागमाला' के आरम्भिक काल की चित्रण-शैली प्रबल मनोभाव की द्योतक थी, बाद के चित्रों में भावों का कम ख़याल रखा गया है और सजावट का अधिक।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रभातकाल से ही राजपूत-कालीन शैली की चित्रकला का ह्रास आरम्भ हो गया। आरम्भिक रागमालाओं की भाव-प्रधान शैली और सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की अधिक सांसारिक और सजावट-भरी शैलियाँ अग्राह्य हो गईं और इसके फलस्वरूप जिस शैली का विकास हुआ वह अपरिमार्जितता की ओर अधिक झुकी। उस काल के चित्रों में मानव रूप का चित्रण स्पष्टतः अपरिमार्जित है और रंगों में वह ताजगी और चमक नहीं रह गई जो आरम्भिक चित्रों में थी। वस्त्रों और आभूषणों के चित्रों में भी परिष्कार और विविधता का अभाव हो गया। स्थापत्य कला की बारीकियों के प्रदर्शन का दायित्व ही चित्रकार ने एकदम भुला दिया। कमल-सरोवर सरीखी सजावट की वस्तु के चित्रण में भी प्रारम्भिक युग के चित्रों का सा आकर्षण और सौन्दर्य नहीं रहा। यह शैली वस्तुतः युग की चित्रण-परम्परा की परिचायक है।

हिन्दू-बौद्ध मन्दिर-उद्यान

महेन्द्रसिंह रन्धावा

वैदिक कालीन आर्यों को प्रकृति से बहुत अनुराग था। वे मध्य एशिया की पुष्पाच्छादित सुरम्य उपत्यकाओं से भारत के खुले मैदानों में आये थे और भिन्न जलवायुवाले इस नये निवासस्थान में भी वृक्षों और फूलों के प्रति उनका प्रेम बराबर बना रहा। फूल के लिए 'सुमन' शब्द की कल्पना इस तथ्य का प्रतीक थी कि फूल को देखकर आर्यों का मन मुग्ध हो उठता था। इससे स्पष्ट है कि वे सुन्दर फूलों को कितना चाहते थे और उनमें सौन्दर्यबोध की भावना कितनी गहरी थी।

ऋग्वेद में प्रकृति की उन शक्तियों का गुणगान किया गया है जो वृष्टि और वज्र-ध्वनि का कारण हैं। आर्यों को वनों और नदियों से प्रेम था—उन शक्तिशाली नदियों से जो वर्षाऋतु में चक्राकार घुमाव से बहती और फेन उठाती हुई आगे बढ़ती हैं, और उन वनों से भी उनको कुछ कम प्रेम नहीं था जिनकी शोभा बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार के विलक्षण वृक्ष विद्यमान हैं।

अब आर्य सुन्दर, कमल पुष्प और प्रचुर सूर्य-प्रकाश के देश भारत में आगये थे जहाँ हिमालय के बर्फीले तुषार-क्षेत्रों से नीचे बहकर उत्तर भारत के धूलि-भरे मैदानों को सींचनेवाली गंगा ने अपनी जीवनदायिनी धारा से हमें पवित्र किया है, जहाँ सूर्य की महाप्रकाशित रश्मियाँ सारे नभमण्डल को अद्भुत ज्वलन्त आभा से प्रदीप्त रखती हैं, कमल-अच्छादित झीलें प्रातः-कालीन धूमिलता से छाई रहती हैं—जहाँ के विस्तृत भूभाग पलाश के उज्ज्वल-रक्त पुष्पों से लदे रहते हैं, मरुस्थलों में गर्म और शुष्क वायु बहकर मीलों तक मृग-मरीचिका का प्रस्तार करता है। इस प्रकार आर्यों का यह नूतन निवासस्थल भारत एक आश्चर्यजनक मिश्रित भूमि है।

मध्य एशिया से स्थानान्तरित होकर आर्यों को अपने गुलाब और अन्य स्थानीय फूल छोड़ने पड़े जिन्हें वे चिरकाल से देखते आये थे। जो भी हो, भारत के वनों में उन्हें ऐसे वृक्षों के दर्शन हुए जो अपने फूलों की आभा से विस्तृत भू-भाग को सुनहरे और नारंगी रंगों से सुशोभित करते हैं। उनका प्रवेश ऋतुओं और वनों की ऐसी भूमि में हो गया जहाँ ऐसे वृक्ष

उत्पन्न होते हैं जिनके पत्ते वर्षा के पहले ही झड़ जाते हैं और प्रायः सुनहरे-पीले और श्वेत-रक्त एवं बैंजनी फूलों से लद जाते हैं। यह मध्य एशिया के घास-भरे जलवायु से बिल्कुल भिन्न है, क्योंकि वहाँ तो प्रतिवर्ष फूलनेवाले फूलों की उपज दर्शनीय होती है।

उत्तर भारत में सूर्य की अतिशय गर्मी के कारण सभी हरियाली और वनस्पतियाँ झुलस जाती हैं और यहाँ के वनों में वर्ष में एक बार फूलनेवाली वनस्पतियाँ बहुत ही कम हैं। इस जलवायु-सम्बन्धी तथ्य ने हिन्दू और बौद्ध काल में उद्यान की पद्धतियों पर बड़ा प्रभाव डाला है, और इसीलिए उन उद्यानों में मुख्यतः शोभावर्द्धक फूलों के वृक्ष लगाये जाते रहे हैं—जाड़ों में फूलनेवाले पुष्प-वृक्ष उनमें नहीं लगाते थे, क्योंकि उन्हें उत्पन्न करने के लिए कृत्रिम सिंचाई के साधनों की आवश्यकता होती थी। प्रति वर्ष एक बार फूलनेवाले जो पौदे उस समय उत्पन्न किये गये उनमें सदाबहार और तुलसी उल्लेखनीय हैं। इनमें सदाबहार तो वर्षा-काल में बड़ी आसानी से उग आता है और उसके लिए अतिरिक्त सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती।

प्राचीनकाल में हिन्दू, जलाशयों—सरोवरों के निकट वृक्षों के कुंज लगाते थे। इन सरोवरों में कभी-कभी कमल भी खिलते थे। सिंचाई के कृत्रिम साधन—नहर और नालियाँ आदि—मुगलों के समय से आरम्भ हुए हैं और उन दिनों वर्ष में एक बार खिलनेवाले अनेक पुष्प उगाये जाने लगे थे जिनमें पोस्त के फूल और कुमुदिनी आदि मुख्य हैं।

बौद्ध-पुरोहित अपने देवालयों के चतुर्दिक् फूलों के कुंज बनाया करते थे। उनको बहुत अवकाश था, और उनके चारों ओर शान्त वातावरण होता था जिससे उन्हें मानसिक शान्ति प्राप्त होती थी। पुष्प-वाटिका लगाने के लिए ऐसी स्थिति आदर्श होती है। वास्तव में उद्यान-कला के विकास का घनिष्ठ सम्पर्क मन्दिरों और मठों से रहा है। भारतीय बौद्ध तो अपने यहाँ अशोक और कदम्ब अधिक लगाते थे; पर चीन के बौद्ध महन्त बहुत ही दुर्लभ पुष्प-वृक्ष उत्पन्न करते थे और उन्हें सुरक्षित रखते थे। वट-वृक्ष उनके लिए भी बहुत पवित्र था, क्योंकि उसी के नीचे गौतम को बोधिसत्व प्राप्त हुआ था और वे बुद्ध बने थे। इसीलिए वट-वृक्ष को बौद्ध लोग 'बोधी' वृक्ष कहते हैं।

ईसा से २६० वर्ष पूर्व सम्राट् अशोक ने राजमार्ग के किनारे वट (बर्गद) और आम्र के वृक्ष लगाये थे जिससे बटोहियों को शीतल छाया मिले। दिल्ली में अशोक की जो सातवीं लाट है उसमें ये शब्द खुदे हैं—"भगवान् का प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहता है—'मनुष्यों और पशुओं को छाया प्रदान करने के लिए मैंने वट-वृक्ष और अमराइयाँ—आम की वाटिकाएँ लगायी हैं।"

कनिष्क-काल—ईसा से ७८-१०१ वर्ष पश्चात् की कुछ बन्धनियों और आड़बन्द-स्तम्भों की खोज डॉ० फ्यूरर ने की है जो सन् १८८८ से १८९१ ई० तक लखनऊ म्यूजियम के क्यूरेटर थे। उनकी इस खोज से प्राप्त यह ऐतिहासिक सामग्री "स्त्री और वृक्ष" के नाम से संग्रहीत है। यह सामग्री मथुरा नगर के निकटवर्ती एक प्राचीन ध्वंसावशेष—कंकाली टीला में प्राप्त हुई थी। इस सामग्री के एक चित्रांकण में यह दिखाया गया है कि एक नग्न सुन्दरी

आनन्द-मुद्रा में पुष्पित अशोक वृक्ष के नीचे खड़ी है। उसके सिर से कमल-पुष्प की माला बँधी हुई है। दूसरे चित्रांकण में हम यह देखते हैं कि एक मनोरम स्तनोंवाली स्त्री के एक हाथ में तलवार है और दूसरे हाथ से वह कदम्ब के स्वर्ण-कन्दुक के सदृश फूल को छू रही है। स्त्री के स्तन की मृदु गोलाई कदम्ब-पुष्प के सदृश वर्तुलाकार है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह सॉफ ब्रूनर के विख्यात् चित्रण "चन्द्रमा के चार रूप" में से उठकर वहाँ आगयी है। चम्पक के से एक वृक्ष की पत्तियों और पुष्पों के पुंज में एक और अनुपम सुन्दरी का चित्रांकण उसी पत्थर पर किया गया है। वृक्षों के साथ स्त्रियों के चित्र किस बात के प्रतीक हैं? स्वर्गीय डॉ० आनन्द कुमारस्वामी के कथनानुसार इन स्त्रियों का वृक्षों के साथ चित्रण उर्वरता का द्योतक है। पर इसमें अतिरंजन प्रतीक होता है। इसमें एक और चित्रांकण ऐसा है जिसमें एक स्त्री प्रपात के नीचे स्नान करती दिखायी गयी है। इस प्रकार का दृश्य उर्वरता का प्रतीक कठिनाई से कहा जा सकता है। इसका स्पष्ट अर्थ तो यही है कि इन चित्रांकणों द्वारा तत्कालीन ऐसे पुष्प-वृक्षों—अशोक और कदम्ब—का प्रदर्शन किया गया है जिन्हें लोग अपने प्रतिदिन के जीवन में प्रिय समझते थे। अशोक के पीतवर्ण और लाल रंग के पुष्प-गुच्छ रेशम के से चमकीले ताम्रवर्ण किसलय-पुंज और गहरे पल्लव के बीच से परियों की भाँति झाँकते हुए किसे प्रिय न लगेंगे। अशोक उन इने-गिने वृक्षों में से है जिन्होंने आर्यों के भारत आने पर उनका ध्यान आकर्षित किया था।

अशोक का उल्लेख रामायण में भी मिलता है—जब अपहृत सीता लंका लायी गयीं तो वे रावण के प्रासाद से विलग अशोक वाटिका में ही ठहरी थीं। यह अशोक वसन्त का अग्रदूत और शोक-विनाशक है और देवाधिदेव महादेव का प्रियतम पवित्र वृक्ष है। उन दिनों वसन्त ऋतु में अशोक-पुष्प-परिचारिका नामक प्रिय त्योहार मनाया जाता था। उस समय अशोक पुष्प का चयन नवयुवतियों द्वारा कराया जाता था। ये स्त्रियाँ सुन्दर साड़ियाँ पहनकर अपने चमकीले केशों के जूड़ों में लाल-पीले पुष्पों के गुच्छ खोंसती थीं। सुन्दरी नवयुवतियों के साथ अशोक वृक्षों का ऐसा घनिष्ट सम्पर्क था कि तत्कालीन मान्यता के अनुसार किसी सुन्दरी युवती के पद से अशोक पर आघात करने पर ही उसमें फूल आते थे। इसीलिए नृत्य के पश्चात् नवोढा सुन्दरियाँ अपने बायें पग से उस वृक्ष के तने पर आघात किया करती थीं। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में अशोक पुष्प को जगाने के लिए बड़ा ही सुन्दर दृश्य प्रस्तुत किया है। नाटक की नायिका मालविका अपने प्रेमी राजा अग्निमित्र को मुग्ध करने के लिए अशोक वृक्ष के नीचे नृत्य करती है। वृक्ष को देखकर वह कहती है—"यह अशोक है जिसे मेरे पद-स्पर्श की आवश्यकता है। इसने अभी फूल नहीं धारण किये हैं।"

वह नाचती है और अपने बायें पैर से अशोक पर आघात करके कुमारिकोचित गर्व से कहती है—

"यदि यह अशोक अब भी पुष्पित नहीं हुआ तो यह उसकी नीचता होगी।"

स्पष्ट है कि अशोक वृक्ष का भारतीय परम्परा में एक विशेष स्थान है। आश्चर्य नहीं कि अशोक ने इतना स्थान प्राप्त कर लिया था। समृद्ध भारत के उस युग में कोई भी वाटिका अशोक के बिना पूर्ण नहीं समझी जाती थी।

कदम्ब में गेंद के से पीले फूल लगते हैं जो सावन में इस वृक्ष की चिकनी हल्की हरी पत्तियों के कारण दूर से ही और वृक्षों से भिन्न दिखायी देते हैं। कदम्ब का सम्बन्ध प्रायः कृष्ण से प्रदर्शित किया जाता है, क्योंकि उन्हें अपनी प्रेयसी राधा के साथ बाँसुरी बजाते हुए इसी वृक्ष के नीचे दिखाया गया है। श्रीकृष्ण मथुरा के निकट निवास करते थे इसलिए इस क्षेत्र में कदम्ब का वृक्ष अधिक विख्यात और व्यापक है। कृष्ण के चित्रांकण बहुधा कदम्ब के नीचे ही किये गये हैं और मथुरा की जिस बन्धनी के रमणी-चित्रांकण का वर्णन ऊपर किया गया है वह इसी प्रकार के चित्रांकणों में सम्मिलित है।

अजन्ता की गुफाओं में जो चित्रण ईसा की प्रथम शताब्दी से सन् ·०० ई० तक किये गये हैं वे केवल बौद्धकालीन कला के परिचायक नहीं हैं और उस काल की विकसित भारतीय चित्रकला का ही परिचय नहीं देते, बल्कि वे हमें उस समय के जन-सामान्य के जीवन का परिचय भी देते हैं। उन स्त्रियों में से कुछ के जूड़ों में फूलों के गुच्छ प्रदर्शित किये गये है। स्त्रियों के गले में पुष्पमालाएँ भी चित्रित की गयी हैं—उन्हें फूलों के ही कंगन भी पहनाये गये हैं। वास्तव में फूल तो शिरोभूषण का एक अनिवार्य अंश था। हम उसी चित्रांकण में यह भी देखते है कि सुश्रृंगारमयी रमणियाँ पलँगों पर लेटी एक हाथ में नीले मुकुद लिए प्रेम कर रही हैं।

कालिदास ने अपने काल की स्त्रियों के श्रृंगार का वर्णन करते हुए 'मेघदूत' मे कहा है—"अलकापुरी की स्त्रियाँ लोध्र-पुष्प का उबटन अपने मुख-मण्डल पर मलती हैं, कनपटियों पर माध्य या बालकुन्द-पुष्प धारण करती हैं और उनके जूड़े के नीचे कुरुवक-पुष्प लटकते हैं। उनके कानों का श्रृंगार शिरीष-सुमनों से होता है। वर्षाऋतु में इन आकर्षक रमणियों के केशो में कदम्ब-पुष्प शोभा देते हैं और वे अपने हाथों में गुलाबी रंग के कमल लिये रहती हैं।"

अब भी महाराष्ट्र की स्त्रियां अपनी वेणियों में फूल लगातीं और चमेली के फूल से बने कंगन कलाइयों में धारण करती हैं। इस प्रकार वे बहुत आकर्षक लगती हैं। ग्रीष्मऋतु के दिनों में चमेलो और बेले के हारों का उपभोग सारे भारत में प्रसिद्ध है, क्योंकि भारतीयों में सुगन्ध की तीव्र परख है और उनकी घ्राणशक्ति अन्य देश के ऐसे लोगों की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है जो सुगन्ध की पर्वाह नहीं करते। यूरोपियन, वाटिकाओं की परख आँखों से करते हैं और उन्होंने रंग-बिरंगे वर्ष में एक बार फूल देनेवाले पौदों का विकास किया है; भारतीयों ने फुलवाडी की कसौटी अपनी नाक को बनाया है और वे अपने पुष्पोद्यान सुगन्धित वृक्षों और गुल्मों से ही भरते हैं।

स्वभावतः हर कोई यह जानने के लिए उत्सुक होगा कि हमारे पूर्वज दो सहस्र वर्ष पूर्व किस प्रकार आनन्द-भोग करते रहे होंगे। वात्स्यायन ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'कामसूत्र' में—जो हिन्दुओं के सौन्दर्यबोध का विश्वकोश है और लगभग ४०० ई० में लिखा गया है—उनके आनन्द-भोग की झाँकी दी है। उसमें सुखपूर्ण भौतिक जीवन का वर्णन है और 'परलोक' की सड़ाँद और निराशावाद की वे बातें नहीं हैं जो बहुत बाद में जोड़ दी गयी हैं। प्रेमीगण रात के समय खुले आकाश में उत्सव मनाना पसन्द करते थे और दिन में उद्यानों

के छायादार कोनों को प्रेम-क्रीड़ा के लिए चुनते थे। स्त्रियाँ एकान्त में फूलों की सेज बिछाती थीं। वे फूलों की माला धारण किये हुए उस प्रेम-शय्या पर अपने प्रीतम की प्रतीक्षा करती थीं। जयदेव ने अपने 'गीत गोविन्द' में मुग्ध होकर राधाकृष्ण के आनन्द-विहार का वर्णन करते हुए वृक्ष की छाया में लगी फूलों की सेज का वर्णन किया है। कालिदास ने कमल-दल के वस्त्र और पुष्पमाला-धारिणी शकुन्तला के सौन्दर्य का अद्भुत वर्णन किया है। वह अपने प्रेमी दुष्यन्त से उस जारुल वृक्ष की छाया में मिलती है जो कृष्ण-लोहित पुष्पों से लदा है और जिसकी लम्बी शाखाएँ चिकनी पत्तियों से ढकी हैं तथा ओस-कण-सिञ्चित भूमिस्थ दूर्वादल का स्पर्श करती हैं। उसका शरीर उन वस्त्रों से ढका है जो वल्कल से बने हैं और उसके सुन्दर जंघे कदली के समान चिकने और गोल हैं जो उस आदिकालीन अपर्याप्त आच्छादन के अन्दर से दिखायी दे रहे हैं। उसके काले केशों की वेणियों में श्वेत चमेली पुष्प के गुच्छ गुँथे हुए हैं और जारुल वृक्ष के नीचे बिछी श्वेत चमेली की शय्या पर आनन्द से लेटी हुई शकुन्तला बहुत ही मधुर और आकर्षक प्रतीत होती है। वह दृश्य देवताओं के देखने योग्य है। जब दुष्यन्त उसके पास आता है तो शकुन्तला के गुलाबी ओठ आनन्द से सिहर उठते हैं और उसके मृगवत् लोचनों में अनुराग और भोग की भावना प्रदर्शित होती है। उसके गले की रेखाएँ श्वेत कुमुदिनी के सदृश हैं और उसकी लज्जालुतापूर्ण मुस्कान उसकी मुक्तावत् दन्तपंक्तियों को प्रकट कर देती हैं। कैसी आकर्षक स्त्री है—दीपशिखा के समान सौन्दर्यवाली। कण्व ऋषि की पर्णकुटी से हवन की उत्तम उग्र सुगन्ध प्रेमियों के इस कुंज तक वायु के साथ पहुँचती है और सामने सरोवर में गुलाबी रंग के कमल-पुष्प अपने लम्बे डंठलों पर सुशोभित हैं। वायु में पुष्पों की मधुर सुगन्ध भरी हुई है और प्रेमीद्वय प्रियतम अनुभूति के संसार में आत्मविभोर होकर एक दूसरे में तल्लीन होगये हैं।

स्त्रियाँ पुष्पों के सभी साज-शृंगार सीखती थीं। गृहतल को विविध ज्यामिति-रेखाओं की बानगियों में फूलों द्वारा सजाना, भांति-भांति के हार गूँथना और सुगन्धियाँ तैयार करना वे जानती थीं। स्नान के जल में चन्दन की सुगन्ध डाली जाती थी और राजा-रानी तथा सम्पन्न घरों की गृहिणियाँ ऐसे सुगन्धित जलों में डुबकियाँ लगाकर सुगन्धित और प्रसन्न होकर बाहर निकलती थीं। कालिदास के प्रसिद्ध नाटक में हम पढ़ते हैं कि शकुन्तला के स्तनों पर उशीर (खस) का आवरण था और कलाइयों में कमल-नाल का कंगन। माथे पर उन दिनों शीतल-सुगन्धमय चन्दन का लेप होता था और फूलों की डालियाँ घरों के अन्दर रखी जाती थीं। वसन्तसेना-जैसी नर्तकियों का बड़ा आदर होता था, और पाटलीपुत्र, कोशम्बी, तक्षशिला और वैशाली की वारांगनाएँ और खेलियाँ शासक-श्रेणी के लोगों द्वारा संरक्षण प्राप्त करती थीं। इनमें से कुछ तो वाटिकाओं में सुरा की दुकानें रखती थीं और अपने प्रशंसकों को अपनी फूलों से सजी दुकानों की एक खिड़की में बैठाकर सुरा-पान कराया करती थीं। खिड़कियों में एक से एक सुन्दरी बाला वीणा बजाने के लिए बैठती थी और मधुर स्वर से प्रमोद्रेक करने-वाले भावपूर्ण गान गाया करती थी उसके मोहक स्वर का चढ़ाव-उतार वीणा के तारों के प्रकम्प के साथ हुआ करता था। फूल खिलने पर पुष्पोद्यान में सुरापान की प्रथा भारत की

प्राचीन उद्यान स्थित सुरा की दुकानों की पद्धति से मिलती-जुलती है।

वात्स्यायन ने चार प्रकार के उद्यानों का वर्णन किया है। इनमें से प्रमदोद्यान तो राजा-रानियों के आनन्द-भोग के लिए होते थे। दूसरे वे उद्यान होते थे जहाँ राजागण अपने दरबारियों के साथ शतरंज खेलकर, नर्तकियों के नृत्य देखकर, विदूषकों की हास्यजनक बातें सुनकर अपना समय काटते थे। तीसरे उद्यान वे वृक्ष-वाटिकाएँ थीं जहाँ मंत्रिगण और दरबारी वारांगनाओं के साथ आनन्द-भोग करते थे। चौथा और अन्तिम था नन्दनवन जो भगवान् इन्द्र को समर्पित किया जाता था और उन्हीं के निमित्त होता था। वात्स्यायन ने कहा है कि नगर या ग्राम में भवन ऐसे स्थान पर बनाये जायँ जहाँ जलाशय निकट हो और उद्यान बाहर। धनाढ्य नागरिक ऐसे विशाल भवनों में ही रहते थे जो सरोवर अथवा नदी के निकट बने होते थे। सरोवरों में कुमुदिनी और कमल उत्पन्न किये जाते थे। लाल हंस, श्वेत राजहंस, बत्तक आदि इन सरोवरों मे रखे जाते थे। भवन से मिली हुई वाटिका में पीपल या नीम की मोटी डाल में एक झूला अवश्य डाला जाता था और वर्षा ऋतु में जब हवा बन्द हो जाने पर गर्मी बढ़ जाती और वर्षा आने के पूर्व वायु अवरुद्ध-सा हो जाता, तो ये झूले विशेषरूप से काम में लाये जाते थे। ज्येष्ठ और आषाढ़ के शुष्क और उष्ण महीने घरों के अँधेरे कमरों में बिताये जाते थे और वर्षाकाल—में लोग वृक्षों के नीचे काम भी करते और विश्राम भी। उद्यानों में शुक, सारिका, मैना और चकोर के पिंजड़े वृक्षों की डालियों से टाँग दिये जाते थे। अमराइयों से कोयल की 'कू कू' की कर्ण-प्रिय ध्वनि और प्रतिध्वनि प्रातःकाल से सन्ध्या तक सुनायी देती, मयूर की मधुर ध्वनि और उसके पंखे के समान छितराये हुए इन्द्रधनुष के सदृश शोभायुक्त नीले-हरे पंख शोभा देते थे। सूर्यास्त से सूर्योदय तक सारी रात पपीहा की 'पी कहाँ, पी कहाँ' की रट उन प्रेम-विह्वल हिन्दू युवकों के हृदय में सहानुभूतिपूर्ण भावना जगाता जो वन में बाँसुरी बजाते अपनी प्रणयिनी के खोज में फिरा करते थे।

उन कुछ महीनों को छोड़कर जब वायु का मुक्त प्रवाह होता अथवा जब शीत ऋतु की रातें बहुत ठण्डी होतीं, लोग प्रायः खुले स्थानों में ही रहते थे। इस प्रकार घर के बाहर का जीवन व्यतीत करने के कारण लोग भवन-निर्माण और उसकी सजावट की उपेक्षा करते और घर केवल भाण्डार के रूप में काम में लाते थे। इसी कारण भारतीय घरों का अन्तर्भाग सजावट की दृष्टि से अपूर्ण दीखता था—सामने से सुन्दर और चमकीला बनाया जाता था और भीतर से सुनसान और सजावट से शून्य होता था।

प्राचीन हिन्दू और बौद्ध उद्यानों में किस प्रकार के वृक्ष और लता-गुल्म पैदा किये जाते थे, यह प्रश्न विचारणीय है। रामायण, महाभारत, स्कन्दपुराण, कालिदास की रचनाओं और चरक, सुश्रुत में इनके वर्णन मिलते हैं। मन्दिरों के चित्रांकणों और शिलालेखों में भी वृक्षों को सुन्दर रूप में चित्राङ्कित करने की प्रथा रही है। अशोक और कदम्ब के अतिरिक्त हम इनमें निम्नलिखित वृक्षों को चित्राङ्कित रूप में देखते हैं—

१-चम्पक या स्वर्ण-पुष्प (अमलतास), २-शिग्रू (सैंजन), ३-करवीर या प्रतिहास, ४-लक्ष पलास (ढाक), ५-चमरक (कचनार), ६-शाल्मली (सेमल), ७-दाड़िम

(अनार), ८-पारिजातक, ९-दसू, १०-नागवृक्ष ।

फूलवाले वृक्षों और लता-गुल्मों में जो अधिक प्रिय थे उनकी नामावली इस प्रकार है—१-यूथिका (जूही), २-मल्लिका (मोतिया), ३-चम्पक (चम्पा), ४-हेम-पुष्पिका (पीली जूही), ५-मालती, ६-नवमल्लिका (मोगरा), ७-सुषेन (करोंदा), ८-मदन या बकुल, ९-निपा ।

संस्कृत-ग्रंथों में जिन छायादार वृक्षों के नाम मिलते हैं उनकी तालिका इस प्रकार है—१-प्लाक्ष (पाकर), २-अम्लिका (इमली), ३-अरिष्ट (नीम), ४-शिंशुप (शीशम), ५-तिश्य फल या अमलक (आमला), ६-शिरीष (सिरिस), ७-करमरंग (कमरक), ८-शाल वृक्ष ।

कुछ वृक्षों को विशेष रूप से पवित्र माना जाता था अतः उद्यानों में भी इन्हें सर्व-प्रथम स्थान दिया जाता था—१-नीम, २-शिरीष ३-परुशक (फालसा), ४-बेल, ५-पुनाग । उद्यानों में अन्य वृक्ष इनके पश्चात् लगाये जाते थे । विभिन्न दिशा के उद्यानों के लिए पृथक्-पृथक् प्रकार के फूल लगाये जाने का आदेश किया गया है ।

भारतवर्ष में जितने पुष्प-वृक्ष उगते हैं उन्हें हिन्दुओं ने पवित्र माना है । कदम्ब का सम्बन्ध श्रीकृष्ण से है, अशोक-वृक्ष प्रेम के देवता कामदेव को समर्पित किया गया है । पलाश (ढाक) के लाल फूलों को वन्य-शिखा कहा गया है जिसे भगवान् बुद्ध ने पवित्र घोषित किया था । सेमल के लाल-कटोरी के समान पुष्प शिव को प्रिय हैं । कचनार के श्वेत फूल विष्णुप्रिया लक्ष्मी को प्रिय हैं जिनका लाक्षणिक चिह्न नील-कमल है । सदाबहार के फूल कालीदेवी को प्रिय हैं ।

वृक्ष मिट्टी और जलवायु के परिचायक भी होते हैं । पलाश क्षार-युक्त भूमि में ही पैदा होता है, और कैथ अच्छे जल-वायु का परिचायक है ।

अब भी मन्दिरों के निकट साधु-सन्त इन वृक्षों को लगाते हैं जो प्रायः नदियों के ऊँचे तटों पर अपनी कुटियाँ बनाना अधिक पसन्द करते हैं । गंगा और अन्य पवित्र नदियों के किनारे घाटों के पास अब भी ऐसे मठ-मन्दिर हैं जो प्राचीन हिन्दू-उद्यानों के परिचायक हैं । बम्बई और पूना के बीच में खण्डाला के निकट 'लानोली ग्रोव' नामक एक ऐसा स्थान है जो श्रीमती विलियर्स स्टुअर्ट की खोज के अनुसार प्राचीन बौद्ध मठ का अवशिष्ट ऐतिहासिक चिह्न है ।

हिन्दुओं के लिये फूल आवश्यक हैं, क्योंकि प्रातःकाल पूजा के समय उन्हें उनकी आवश्यकता पड़ती है । ये फूल भक्तों की अपनी फुलवाड़ी के ही होने चाहिये, क्योंकि दूसरों की वाटिका के फूल से पूजा करें तो उतना पुण्य नहीं होता । चीन और जापान के लोगों ने भी पूजा में फूलों का उपयोग भारत से सीखा है ।

भारत में यह विश्वास सर्वसामान्य मे जम गया था कि वृक्षों के भी रक्षक देवता होते हैं और वे हैं यक्ष । मथुरा के आड़बन्द स्तम्भ में हम इन यक्ष-कन्याओं को आम्र वृक्ष के नीचे खड़ी हुई चित्रांकित पाते हैं । सामान्यतः वृक्षों को उत्पादन का चिह्न माना जाता था ।

महाभारत में एक माता और उसकी पुत्री की ऐसी कथा है जिन्होंने दो वृक्षों का आलिंगन करके विश्वामित्र और यमदग्नि को पुत्र रूप में प्राप्त किया।

सन्तान की कामना करनेवालों के लिये उन दिनों वट-वृक्ष विशेष रूप में प्रिय माना जाता था। 'दुम्मेध जातक' में बताया गया है कि लोग वट-देव की पूजा पुत्र-पुत्रियाँ, प्रतिष्ठा और धन-प्राप्ति के लिए करते हैं। 'हत्थीपाल जातक' में कहा गया है कि एक दरिद्र स्त्री के सात पुत्र थे। उससे पूछा गया—"ये पुत्र किससे पैदा हुए हैं?" उसने उत्तर दिया—"मैंने उस देवता की पूजा की थी जो इस वृक्ष में रहता है।" और वट वृक्ष की ओर इंगित करके बोली "उसीने ये पुत्र प्रदान किये।" इसी प्रकार सन्तान की कामना करनेवाली स्त्रियाँ पीपल की भी पूजा करती हैं।। पीपल की पूजा तो आज भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। इसे काटना निषिद्ध है।

गुप्तवंश तथा अन्य हिन्दू राजवंशों के उपकारपूर्ण शासनकाल में भारत में बहुत दिनों तक शान्ति रही है। लोगों का जीवन अपेक्षाकृत सुखी था और वे बहुत-से त्यौहार मनाते थे। विशेषकर ये त्यौहार विशिष्ट ऋतुओं के हुआ करते थे और उनमें बड़ा आनन्द और उत्सव मनाया जाता था। प्राचीन सरवस्ती नगरी मे 'शालभञ्जिका' त्यौहार बड़े उत्साह और धूमधाम के साथ मनाते थे। यह नगरी संयुक्त प्रान्त के वर्तमान गोंडा ज़िले में थी। इस उत्सव में सन्तान-प्राप्ति के लिये शाल वृक्ष के फूलने पर उसकी पूजा इसी त्यौहार के अवसर पर की जाती थी।

प्राचीन भारत में प्रेम के देवता कामदेव के सम्मानार्थ 'सुवसन्तक' त्यौहार मनाया जाता था। प्रत्येक ग्राम में पुरुष और स्त्री दोनों ही नृत्य और गान करते थे। सुवसन्तक त्यौहार वसन्त-पंचमी के नाम से अब भी प्रचलित है। इन दिनों सरसों फूलती हैं। स्त्रियाँ वसन्ती रंग की साड़ियाँ पहनती हैं और पुरुष वसन्ती रंग की पगड़ियाँ बाँधते हैं। इन वस्त्रों का रंग सरसों के फूल के रंग का होता है। नवयुवतियाँ वसन्त की देवी को भेंट करने के लिये कलशों पर नये उपजाये हुए अन्न के अंकुर प्रदर्शित करती हुई निकलती हैं और गंगा-यमुना 'दीपदान' करती हैं। यह बड़ा मनोरम दृश्य होता है। अँधेरी रात में, मन्दिर-शृंगों की प्रतिच्छाया में नौका पर बैठे भक्तों का प्रतिबिम्बित छायाचित्र, तरंगित प्रकाशमाला का जल पर प्रवाह और नदी की मध्यधारा में पहुँचकर क्षितिज में उसका विलोप यह सब दर्शनीय होता है। दीप-प्रकाश की प्रकम्पित लौ विभिन्न ज्यामितिक आकार में जल-तल पर तैरायी जाती हैं। कुछ दीप उग्र रूप में जलते हैं, कुछ का प्रकाश मध्यम होता है और अन्त में ये सब गंगा की क्रुद्ध धारा में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार यह 'दीप-दान' वस्तुतः मानव जीवन का प्रतीक होता है।

भारतीय पुष्प-वृक्षों में कचनार वसन्त का अग्रदूत माना जाता है। फागुन में उसकी पत्तियों से रहित शाखाओं से गुलाबी, श्वेत और आसमानी-बैंजनी रंग के फूल निकलते हैं और लगभग एक मास तक वसुधा की शोभा बढ़ाते हैं।

सेमल के सुन्दर वृक्ष की पत्तों से रहित शाखाओं पर खिले हुए लाल फूल देखकर, उष्णदेशीय तोतों का ध्यान आ जाता है जिनका रंग लाल होता है। सेमल के फूलों की पंखड़ियाँ खाने के लिए मैना और कौआ बड़ी संख्या में फूलों के पास एकत्रित होकर चहकने-चिल्लाते हैं। चैत मास के मध्य तक वसन्त ऋतु अपने पूर्ण यौवन पर पहुँच जाती है। वायु-मण्डल आम के बौरों की सुगन्ध से भर जाता है। इस समय अशोक पीले और लाल फूलों के गुच्छों से ढक जाता है, और उसकी भारावनत शाखाएँ उस अग्निशिखा से लदे फूलों का भार कठिनाई से सँभालती प्रतीत होती हैं।

पलाश चैत-वैशाख में खिलता है। उसके खिलने पर और सभी फूल उसके सामने महत्त्व-शून्य हो जाते हैं। जिस पलाश अथवा जिस ढाक की ओर जाड़ों में कोई ध्यान भी नहीं देता, उनमें अब हर टहनी से तीनों पत्तों को गिराकर उन की जगह नंगी और ठूँठ शाखाओं में गहरी भूरी कलियाँ लद जाती हैं। मुड़ी और टेढ़ी शाखाओं में लगी हुई ये भूरी कलियाँ जब खिलती हैं तो इनका रंग चमकीला-लाल हो जाता है और ऐसा लगता है कि सारे वन को आग लग गयी है। इसी-लिए संस्कृत-साहित्य में पलाश-पुष्पों को 'वन्य अग्नि' की उपाधि दी गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि वासन्ती चटकीले फूलों की साड़ी पहने हुए वनवासिनी ज्वाला खड़ी है। भूमिस्थित दृश्यावली में ढाक के वृक्ष सुन्दरता और आकर्षण भर देते हैं। ऊसर भूमि का विस्तृत क्षेत्र चटकीले रंग की शोभा से प्रज्ज्वलित हो उठता है।

पलाश-वन के फूलों का वह दृश्य मैं कभी नहीं भूल सकता जो मैंने संयुक्त प्रान्त के अन्तर्गत रायबरेली के खीरों ग्राम के निकट देखा था। चतुर्दिक पलाश वृक्ष सुशोभित थे। उनके खिलने का सौन्दर्य अमराई की गहरी हरी पृष्ठभूमि में और भी निखर आया था। पलाश की रक्त मूँगे की सी शाखाएँ गहरी हरी पृष्ठभूमि में अतिशय मनोरम प्रतीत हो रही थीं। पलाश वृक्षों के सम्मुख गेहूँ का पका खेत प्रभातकालीन वायु के झकोरों से सुनहरी हिलोरों का निर्माण कर रहा था। मेरे मन में झट यह विचार आया कि पलाश के एक-एक वृक्ष का आलिंगन करूँ। चटकोले टेसू के फूलों का तीव्र रंग गेहूँ के हल्के सुनहरे रंग के विरोधाभास से कोमलतर हो गया था। वास्तव में वह दृश्य प्रसिद्ध यूरोपीय चित्रकार गॉगिन की कूँची से चित्रित होने योग्य था।

पलाश के फूल आने के समय में ही होली का त्यौहार मनाया जाता है। चैत के लग-भग हमारे देश के अधिकांश पुष्प-वृक्षों में फूल आते हैं और तभी भारत की वसन्त ऋतु अपने पूर्ण यौवन पर आजाती है। वायु में उष्णता भर जाती है जो शरीर में सुखद अवसाद की सृष्टि करती है और जिससे शरीर में शिथिलताजनित सुख उत्पन्न होता है। उन दिनों सभी नगरों और गाँवों में होली का त्यौहार मनाते हैं और गाने-बजाने तथा उत्सव मनाने की लोकप्रथा प्रचलित है। सभी लोग बन्धनमुक्त हो जाते हैं और प्रणय-संगीत में अवरुद्ध भावनाओं के द्वार खोल देते हैं। टेसू और कुसुम के फूलों के रंग लोग एक दूसरे पर खुले रूप से बरसाते हैं। प्रेमीगण एक दूसरे के मुख-मण्डल पर अबीर-गुलाल मलते और इस प्रकार स्पर्श का आनन्द लेते हैं जो और समय पर सार्वजनिक रूप में निषिद्ध है।

वैशाख तक हमारे सभी वृक्षों में नई कोंपलें आ जाती हैं। पाकड़ वृक्ष की ताँबे की सी सुन्दर नई पत्तियाँ बहुत आकर्षक लगती हैं। रातें सुखद होती हैं तथा तरीवाले स्थलों में असंख्य जुगनू, तारों की भाँति चमकते हैं। जुगनुओं के ऐसे ही दृश्य को देखकर सरोजिनी नायडू गा उठी थीं—"वे सुनहरी ज्वाला लिये क्षणिक प्रवाह में अधर-नृत्य का जाल बुनते हैं।"

जब वैशाख में समस्त वायु-मण्डल नीम और शिरीष के फूलों के सौरभ से भर जाता है तो अनायास ही मन में कोमल भावों की तरंगें उठने लगती हैं। यही वह ऋतु है जब प्रभातकालीन सूर्य की किरणें महुवे के रक्त वर्ण पत्तों पर एक नया ही दृश्य उपस्थित करती हैं। यदि पास ही गुलमुहर के चटकीले लाल फूल भी खिले हुए हों तो इस दृश्य में नई ही प्राण-प्रतिष्ठा हो उठती है। वसन्त ऋतु अधिक नहीं टिकती—प्रतीक्षा नहीं करती, क्योंकि ग्रीष्म ऋतु फूलों को झुलसाती-कुम्हलाती बड़े वेग से इस धरा पर पदार्पण करती है। भले ही ग्रीष्म ऋतु में वृक्षों के फूल झुलस कर धराशायी हो जायँ, पर ये वृक्ष ऐसा कहते प्रतीत होते हैं कि फूल फिर भी तो खिलेंगे। ऐसे ही अवसरों पर मैंने पुरातन हिन्दू-बौद्ध मन्दिर-उद्यानों की वास्तविक महत्ता को समझने का प्रयत्न किया है जिनकी चर्चा से प्राचीन साहित्य ओतप्रोत है। क्या हम फिर से इन वृक्षों के खोये हुए साम्राज्य को पुन: स्थापित कर सकेंगे?

खजुराहो की दो मूर्तियाँ

वृन्दावनलाल वर्मा

चन्द्रमा थोड़ा-सा ही चढ़ा था। बरगद के पेड़ की छाया में चाँदनी आँख-मिचौनी खेल रही थी। किरणें उन श्रमिकों के देहों पर बरगद के पत्तों से उलझती-बिदकती-सी पड़ रही थीं। कोई लेटा था, कोई बैठा था, कोई अधलेटा। खजुराहो के निवासियों और मन्दिरों में चहल-पहल थी।

जो बैठा था उससे एक श्रमिक ने कहा, "बीसल, महोबे से जो कारीगर आज आया है, कहता था कि मन्दिर के गर्भगृह के चारों ओर दीवार में बारीक जाली का काम किया जाय तो कैसा रहे ?"

बीसल बोला, "कठिन नहीं है। कोमल जाति के पत्थर में बारीक से बारीक जाली छेदी जा सकती है, परन्तु अपने यहाँ प्रथा नहीं है।"

"हाँ, मन्दिरों में देखी तो हमने भी नहीं हैं, परन्तु महोबेवाले ने क्यों कहा ? मन्त्री ने कहा होगा।"

"मन्त्री ने कहा हो या न कहा हो, मुल्तान से जो कारीगर लौटे हैं वे जाली, बेल-बूटे और पत्तियों के काम को ही बहुत-कुछ समझने लगे हैं। उस काम में परिश्रम अधिक है, पर मन की उड़ान के लिए उकास कम है। और फिर गुरु लोगों ने जो नाप-तौल, आकार-प्रकार मन्दिरों के बनाने और सजाने के लिए सत्युग से निश्चित कर रक्खे हैं उनकी अवहेलना कैसे की जा सकती है ? पत्थर में जालियाँ और बेल-बूटे बनाने में विवेक ही कितना लगाना पड़ता है ?"

"बहुत सीधा भी नहीं है। उस में जो पच्चीकारी की जाती है वह तो बहुत परिश्रम लेती है।"

"बहुत कठिन भी नहीं है। उसमें आदर्श को मूर्त्त करने के लिए कहाँ स्थान है ?"

बीसल की बात आक्षेप करनेवाले की समझ में नहीं आई। बीसल पढ़ा-लिखा था और अन्य शिल्पी उसको गुरु मानते थे। गूढ़ बात को समझ न पाने पर हाँ में हाँ मिलाने और स्थगित अवसर की ताक में बने रहने की कुछ परम्परा-सी थी, पर उस श्रमिक ने फिर भी नम्रता

के साथ पूछा—

"बीसल, आदर्श को मूर्त्त करना क्या ?"

उत्तर मिला, "अपने यहाँ आँखों के सामने नित्य आनेवाले स्त्री-पुरुषों की आकृति को पत्थर या पत्र पर नहीं उतारते; श्रद्धा, भक्ति, वासना, लालसा, मोह, विशालता के भावों को हृदय में मथकर फिर उनको लक्षणों के अनुसार सुन्दरता की लचकों और लोचों में बिठलाते हैं। मेरा प्रयोजन इसी से था।"

"पर—पर गर्भगृह के चारों ओर जालीदार पत्थर लगा देने से गुरुओं की बतलाई गई परिपाटी का बिगाड़ कहाँ होता है ? निषेध तो सुना नहीं है, परन्तु तुम हम सब से बहुत अधिक पढ़े-लिखे और जानकार हो; यदि हो तो बतलाओ।"

"यह तो सोचो कि गर्भगृह में स्थित देवता को कुछ समय के लिए विश्राम भी मिलना चाहिए या वह जाली में से निरन्तर देखता ही रहे ?"

गर्भगृह के द्वार के पट खुलने और बन्द होने का समय नियुक्त था। यह बात प्रश्न करनेवाले को मालूम थी और तुरन्त ध्यान में आ गई। उसने हामीं भी भर दी, परन्तु उसके भीतर किसी ने कहा—"देवता तो सर्वदा और सर्वत्र सजग रहता है और मन्दिर के भीतर और बाहर स्त्री-पुरुषों के नंगे और अश्लील प्रतिबिम्ब हैं, क्या देवता उनको न देखता होगा ?..." और आगे सोचने का साहस उसमें न था। बीसल ने भी कुछ सोचा।

: २ :

परम्पराजन्य श्रद्धा और अन्धभक्ति भी मन के भीतर की ठेस को पूरे प्रकार से न दबा सकी— न तो उस शिल्पी की और, कम से कम थोड़े से अंशों में, न बीसल की।

मन्दिर बन चुका। कालञ्जर से चन्देल-नरेश गण्ड का मन्त्री देखने के लिये आया। निरीक्षण के उपरान्त उसने बीसल और उसके सहयोगी शिल्पियों और श्रमिकों की सराहना की, पुरस्कार बाँटे।

दूर-दूर के नर-नारी उत्सव देखने के लिए आये थे। अश्लील मूर्तियों को देखकर थोड़े-बहुतों ने नाक-भौं सिकोड़ीं। उनके विचार ने सान्त्वना दी—"शिवजी को ठगने के लिए कामदेव ने जो जाल फैलाया था उसकी प्रतिमाएँ ही तो मूर्तियाँ हैं, और शिव जैसे अडिग, निश्चल और स्थिर रहे उसके प्रतीक मन्दिर के भीतर हैं।"

यह सान्त्वना कहीं खुले रूप में कहीं मन ही मन खजुराहो के उन मन्दिरों के निकट आनेवाले सभी जनों के भीतर उभार पा रही थी।

वसन्त-पंचमी से लेकर चैत्र की अमावस्या तक यह उत्सव कम-बढ़ रूप में चलता रहा।

एक दिन बीसल के उस सहयोगी ने कहा, "गुरु बहुत से लोग कहते हैं यह संसार निस्सार है, केवल माया है; परन्तु मन्दिर के बाह्य भाग की इन मूर्तियों को देखकर, जिनको पत्थर से हमीं लोगों ने गढ़ा है, यह बात तो मन में नहीं रमती। लगता है जैसे वासना-का फूल ही सब-कुछ हो, जैसे इस प्रकार का जीवन ही सुखदायक हो।"

बीसल बोला, "भाई, इन मूर्तियों की अश्लीलता मोहक नहीं है, इनका सुडौलपन ही आकर्षक है। माया अश्लील और वीभत्स है, माया का रचनेवाला सुडौल है। सुडौलपने का स्मरण रक्खो और वीभत्स को मन में न बसने दो। बस।"

"माया का रचनेवाला सुडौल! समझा नहीं।"

"इन मूर्तियों की अश्लीलता को मोह का रूप देनेवाला उनका सुडौलपन ही है न? अंग-उपांग उनके बेडौल कर दो, फिर वे सब पैशाचिक और भयावनी हो जायँगी। पुष्पधन्वा का काम मोहमय है, परन्तु वह स्वयं सुन्दर और सुरूप है।"

बीसल के सहयोगी का मन नहीं भरा। परन्तु किसी कुण्ठा ने उसकी जिज्ञासा का दमन कर दिया। फिर भी वह दूसरे रूप में प्रकट हुई।

"संसार में कितनी दुर्बलता है! अपनी आँखों के सामने कितने जर्जर और अस्थि-पंजर-वाले नर-नारी नित्य आते-जाते हैं—कितने वृद्ध और रोगग्रस्त। जीवन की निस्सारता का क्या यही वास्तविक रूप नहीं है?"

"उसके अनन्तर अवसान का? मृत्यु का?"

"हाँ, मैं भी यही कहना चाहता था।"

"परन्तु समय तो बाल्य, मध्याह्न, अपराह्न, अस्त और रात्रि में बँटा हुआ है, उसके एक ही अंग पर सबसे अधिक ध्यान क्यों लगाया जाय?"

"कामवासना के भिन्न-भिन्न दृश्य-रूपों के साथ ही, उनकी बराबरी पर, यदि जर्जर, अस्थि-पन्जर नर-नारियों की कुछ मूर्तियाँ भी रक्खी जायँ तो कैसा रहे? लोग स्मरण रक्खेंगे कि किसी दिन यह अवस्था भी सुडौल देह की हो जायगी इसलिए बहुत पहले से ही उसका सामना करने के लिए जीवन को सुधरे हुए रूप में चलाया जाय।"

बीसल विचार करने लगा। कुछ क्षण बाद बोला, "बनाऊँगा। बनाकर मंत्री महाशय के सामने रक्खूँगा। यदि उन्होंने मान लिया तो जैसा तुमने कहा है उसी भांति उनको रखवा दिया जायगा। साथ-साथ और बराबरी पर तो वे मूर्तियाँ न रह सकेंगी, परन्तु उनके ठीक नीचे रख दी जायँगी। लोग सहज ही उनको निरख सकेंगे।"

: ३ :

बीसल और उसके सहयोगी शिल्पी मनुष्य-देह के सारे अंगों से परिचित थे, उसके निरे ढाँचे से भी। उत्सव की समाप्ति के पहले ही उन लोगों ने बड़े श्रम और कौशल के साथ एक वृद्ध और वृद्धा की मूर्तियाँ बनाईं। मूर्तियों की हड्डी-पसलियों पर, पत्थर में ही, खाल उढ़ाई; सिर पर गञ्ज, माथे पर रेखाएँ और चेहरे पर झुर्रियाँ, आँखें धसी हुईं, आँखों के नीचे गड्ढे, आँखों में अभिव्यक्ति-विहीनता सब राई-रत्ती स्पष्ट और सम्यक्।

बीसल और उसके सहयोगियों ने उन मूर्तियों को शिव-मन्दिर के बाह्यकक्ष में अश्लील मूर्तियों के नीचे जा रक्खा।

जनता ने देखा और मन्त्री ने भी।

अस्थि-पंजर की मूर्तियों को देखते ही मन्त्री को एक धक्का-सा लगा। अन्त में इस

देह का यह होना है ! बार-बार यह भाव मन्त्री के मन में उठा। फिर उसकी आँख उत्सव के प्रमोदों में इधर-उधर मग्न, रंग-बिरंगे वस्त्र पहिने हुए, हँसते-खेलते नर-नारियों पर घूमी। क्या ये सब इन मूर्तियों को देखकर इसी प्रकार की विरक्ति को अपने मानस पर अंकित कर सकेंगे ? अंकित करने के बाद फिर ? मन्त्री के मन में प्रश्न उठे। उसकी दृष्टि अश्लील मूर्तियों की ओर गई। ये प्रसून-परिमल के उन्माद हैं, प्रमाद हैं और कदाचित् प्रपात। ये भी अवहेला, उपेक्षा और ग्लानि दे सकती हैं—सम्भव है विरक्ति भी, मन्त्री ने सोचा। क्या दोनों को एक ही स्थान पर रहने दिया जाय ? एक के प्रभाव का मर्दन दूसरी मूर्ति करेगी ? अथवा दोनों प्रकार की मूर्तियाँ परस्पर-सहयोग से एक ही परिणाम पर मानव को पहुँचाते रहने का क्रम स्थापित करेंगी ? विरक्ति पर। मन्त्री का विवेक निर्णय न कर सका। उत्सव के उल्लास के साथ आँख-मिचौनी-सी खेलती हुई जनता के एक भाग ने भी उन मूर्तियों को नेत्रों से टटोला।

किसी ने क्षण के एक अंश में अश्लील मूर्तियों पर आँख को घुमाकर हड्डी-पसलीवाली मूर्तियों पर देर तक ध्यान को ठहराया, ओठ बिदराये और चल दिया, कोई दोनों प्रकारों पर एक साथ दृष्टि डालता हुआ आगे बढ गया—ध्यान उसका एक पर भी स्थिर न हुआ। कुछ-लोग मन्त्री के व्यक्तित्व और व्यक्तित्व को ढकनेवाले वस्त्रों और आभूषणों को देखते रहे।

एक सुन्दरी वहाँ होकर निकली। अश्लील मूर्तियों को देखते ही उसका चेहरा लाल हो गया। बीसल को देखकर वह लजाई, अस्थिपंजरवाली मूर्तियों पर जैसे ही उसकी आँख गई वह काँप गई और फिर भ्रू संकुचित करके वहाँ से तुरन्त चली गई।

बीसल ने यह सब परखा।

मन्त्री कोई भी निर्णय न कर सका।

उसने बीसल से कहा, "तुम्हारी छेनी-हथौड़े के सूक्ष्म शिल्प पर सारे पुरस्कार न्योछावर हैं। तुम इन दो मूर्तियों को जहाँ चाहो रक्खो, तुम्हारे ही निर्णय पर छोड़ता हूँ।"

मन्त्री चला गया। बीसल निश्चय-अनिश्चय के द्वन्द्व में झूलने लगा।

: ४ :

बीसल के मन में किसी ने कहा, "तुम्हारी दोनों कृतियाँ शिल्पकौशल की पराकाष्ठा हैं, दोनों एक ही जीवन के भिन्न-भिन्न रूप हैं......परन्तु,......" किसी ने भीतर ही भीतर टोका—

"पर क्या सौन्दर्य अश्लीलता से अलग नहीं किया जा सकता ? क्या सुरूप की रेखाएँ, लोचें, लचकें वीभत्स के बाहुओं में भर देनी चाहिएँ ?"

बीसल ने सोचा, "तो क्या तांत्रिक भ्रम में हैं ?"

एक क्षण उपरान्त वह एक निर्णय पर पहुँचा, "हों या न हों, परन्तु बहुजन उनकी बातों को मानते हैं, उनकी अन्तर्निहित वासनाओं को सन्तोष देने के लिए हमलोगों के शिल्प का उपयोग किया है। हम कर भी क्या सकते थे ?"

अश्लील मूर्तियों के वीभत्स से ध्यान को हटाकर बीसल ने उनके अंग-सौन्दर्य और रचना-कौशल पर जमाया, फिर अस्थि-पंजरवाली मूर्तियों को देखा।

बीसल ने जर्जता की उन दोनों मूर्तियों को मन्दिर से हटा दिया। मन्दिर के कुछ दूर एक घेरे में खण्डित, अनगढ़ और अस्वीकृत मूर्तियों का संग्रह था। उन्हीं में बीसल ने इन दोनों मूर्तियों को रख दिया। उनकी रचना पर उसको हर्ष था और रचना के परिणाम पर विषाद।

"क्या जीवन यह नहीं है? और क्या वह भी जीवन नहीं है? यदि जीवन का अन्त इन हड्डियों, पसलियों में ही है और उसका विकास उन मूर्तियों में ही, तो फिर जीवन के किस अङ्ग की मूर्तियाँ बनाया करूँ?"

किसी ने बीसल के भीतर से उत्तर दिया, पसीना बहाते और हँसते-खेलते हुए यदि क्रम से अस्थि-पंजर भी बन जाओ तो चाहे तान्त्रिक कुछ कहें और चाहे श्रमण-श्रावक कुछ, तो बुरा भी क्या है?

खजुराहो के मन्दिर-समूह के निकट ही हड्डी-पसलियों और झुर्रीदार खालवाली वे दोनो मूर्तियाँ एक घेरे में रक्खी हुई हैं। खजुराहो के मेलों में सम्मिलित होनेवाले लोग इनको भी देखते हैं, परन्तु क्या वे कुछ वैसा ही सोचते होंगे जैसा बीसल ने सोचा था?

: २ :

संस्कृति

सृष्टि-लीला

क्षितिमोहन सेन

एक बार कुछ लोगों ने आकर दादू से पूछा कि भगवान् ने यह जो सृष्टि रची है उसका कारण क्या है? दादू ने हँसकर जवाब दिया "जिन्होंने इस मोहिनी सृष्टि की रचना की है उन्हीं से जाकर पूछो कि हे मालिक! समझाकर बताओ कि क्यों एक से अनेक बनाया—

जिन मोहिनी लीला रची, सो तुम्ह पूछो जाइ।
अनेक एक थें क्यों किये, साहिब कह समुझाइ॥

एक से उत्पन्न बहुधा-विचित्र यह सृष्टि उन्होंने क्यों बनाई, द्वैत या अद्वैत तत्त्व से अपनी सुविधा के अनुसार विश्व-लीला समझ लेने का सुयोग उन्होंने क्यों नहीं दिया—यह रहस्य हम नहीं जानते। भगवान् के सिवाय कोई भी इस रहस्य को समझ नहीं सकता। स्पष्ट ही यह सृष्टि-लीला मनोमोहिनी है—फिर भी इसे समझना कठिन है। नित्य, अनादि, अनन्त परब्रह्म की रचित है यह सृष्टि; तो फिर अनित्य और क्षण-भंगुर क्यों है? यदि यह क्षण-भंगुर है तो भगवान् की कौन-सी लीला इसमें प्रकट हुई? ज्ञानियों के एक समूह ने कहा है, सृष्टि मिथ्या है—माया प्रपंच है। प्रेमी मर्मी ने सुनकर कहा "यह कैसी बात। सृष्टि तो अन्तर की लीला का प्रकाश है। इसका नित्य नवीन रूप तो अन्तर की लीला का प्रकाश है। इसका नित्य नवीन रूप तो होना ही चाहिए। माता का सन्तान के प्रति जो प्रेम है वह कभी आलिंगन में, कभी चुम्बन में, कभी गान में कभी शान्त-स्पर्श में प्रत्येक क्षण नवीन-नवीन रूप में अपने को प्रकाशित करता है। इसीलिये सन्ध्याकालीन लालिमा की भांति अहेतुक नित्य-नूतन इस जगत में आनन्द तो सदा नित्य-नूतन भाव से अपनी लीला-प्रकाश करना चाहता है—इसीसे कविवर वल्लभदेवजी ने कहा है—

इह सरजसि मार्गे चञ्चलो यद् विधाता
क्षणगणित गुणदोषो हेतुशून्यत्वमुग्धः।
सरभस इव बालः क्रीड़ितैः पांशु पूरैः
लिखति किमपि किञ्चित तच्च भूयः प्रमार्ष्टि।

इस सृष्टि-लीला के संसार की ओर मैंने देखा; क्या देखता हूँ, विधाता धूलिमय मार्ग में क्रीड़ा-परायण शिशु के समान बैठे हुए हैं। अगणित गुण-दोष से भरा हुआ है यह खेल, तो भी इस खेल में किसी उद्देश्य का तक़ाजा नहीं है, इस आनन्द से ही शिशु के समान उनका चित्त मुग्ध है। आनन्द से अधीर शिशु के समान ही मुट्ठी में धूल भर-भरकर उनका खेल चल रहा है, प्रतिक्षण वे न जाने कितनी चीज़ें बनाते हैं और फिर पोंछकर फेंक देते हैं। एक बार बनाना और एक बार बिगाड़ना—शिशु की भांति ही उनकी अहैतुक लीला चल रही है।

दादू ने कहा है, विधाता शिल्पी है। शिल्पी क्या कभी कह सकता है कि मेरे मन में जैसा था वैसा रच दिया है, इस रचना से ही मेरी चरम तृप्ति है।

विधाता का अनुपम प्रेमानन्द क्या किसी भी प्रकार तृप्त हो सकता है? असीम के उस भावानन्द का दुस्सह भार क्या कोई एक विशेष रूप या कोई एक विशेष सीमा सह सकती है? इसीलिये दादू ने कहा है, उस अलख अल्लाह का प्रकाश कैसा है, नहीं बताया जा सकता। उनके भावानन्द के भार से समस्त रूप चूर्ण-विचूर्ण होते जाते हैं—

दादू अलख अलाह का कहु कैसा है नूर,
दादू बेहद हद नहीं रूप-रूप सब चूर।

इसी बात को उनके शिष्य रज्जबजी ने कहा है कि घटी-यंत्र जिस प्रकार कुएँ की गहराई से पानी निकालता है और फिर खाली होकर उसी गहराई में नीचे उतर जाता है, फिर से भरने के लिये उसी प्रकार प्रत्येक रूप और आकार (घट) उस अतल गम्भीर से अनुपम आनन्द-रस लेकर प्रकाशित हो रहा है। उस रस को ढालकर रिक्त घट फिर अतल गम्भीर में उतर जाता है और इस प्रकार रूप का आगम और रूप का नाश होता है—

अतल कूप थैं सुभर भर्या, सब घट होवैं प्रकाश,
रीता उतरै सब नहीं, रूप आगम रूप नाश।

प्रत्येक रूप में उनके आनन्द का खेल चल रहा है, इसलिये समस्त रूप में उनका सहज विहार हो रहा है, इसीलिये वे निराकार सहजशून्य स्वरूप हैं। दादू ने इसीलिये कहा है—

सहज सुंनि सब ठौर है सब घट सब ही माँहि,
तहां निरंजन रमि रह्या कोइ गुण व्यापै नाँहि।

इसलिये रज्जब ने कहा है कि देखो रूप पर रूप, आनन्द की धारा के समान उनमे झर रहा है—

देखु रूप सब ही झरै, तासौं आनन्द धार।

पर्वत में धारा को जब एक विस्तृत आधार मिल जाता है तो वहां पानी इकट्ठा होकर ह्रद या सरोवर बन जाता है। यह विश्व ऐसा ही आधार है जहां भगवान् की आनन्द-धारा संचित होकर अपूर्व सरोवर के रूप में प्रकट होती है। भगवान् के समान ही उनकी

आनन्द-धारा भी पवित्र है और उस आनन्द-धारा से बना हुआ संसार-रूप सरोवर भी इसीलिये पवित्र है—अपवित्र, माया-प्रपंच और मृग-मारीचिका नहीं। इसीलिए दादू ने कहा है कि यह विश्व ही हरि-सरोवर है जो सर्वत्र सर्वभाव से परिपूर्ण है। उसका निर्मल जल सब जगह से पिया जाना चाहिये—

हरि सरवर पूरन सबै, जित तित पाणी पीव।

मन में आसक्ति रहने से मन अपवित्र रहता है, उस समय इस हरि-सरोवर का रस पान करना असम्भव है।

इस पवित्र प्रेम-सरोवर में सीमा और असीम की योग-लीला नित्य ही चल रही है। वहां आत्मा और परमात्मा में नित्य दोल-लीला चल रही है। प्रेम के इस समुद्र में आत्मा और परमात्मा एकरस के आनन्द के रसिक होकर झूल रहे हैं। इस सहज के समुद्र में प्रेम की तरंगें उठ रही हैं। वहां आत्मा और उसके स्वामी साथ-साथ सुख में और दुःख में झूल रहे हैं। इसी प्रेम-रस के 'दरियाव' में, जहां मिलन की तरंगे लहरा रही हैं, दादूदयाल अपने प्रियतम के साथ दिन रात आनन्द-केलि से भरपूर रहते थे—

दादू दरिया प्रेम का, तामैं झूलै दोइ।
इक आतम परमातमा, एकमेकरस होइ॥
दादू सरवर सहज का, तामैं प्रेम-तरङ्ग।
सुख-दुख झूलैं आतमा, अपने साईं संग॥
दादू दरियाव प्रेम-रस, तामैं मिलन तरंग।
भरपूर खेलैं रैन दिन, अपने प्रीतम संग॥

दोनों के बीच निरन्तर प्रेम की दोल-लीला चल रही है। इस प्रेम के खेल का सीमा और असीम दोनों के लिये समान मूल्य है, उसमें कमी-बेशी नहीं है। एक को छोड़कर दूसरा चल नहीं सकता। मनुष्य आंखों को छोड़कर देखने में असमर्थ है, और मनुष्य को छोड़कर आंखें नहीं देख सकतीं। मनुष्य शरीर के योग बिना आंखें शक्तिहीन हैं, और शरीर भी आंखों का आश्रय पाकर ही देखने में समर्थ होता है। उसी प्रकार से असीम हमारे ही अन्तर से ही विशेष आनन्द पाता है तथा हमारा आनन्द उसी के रंग से पूर्ण है और बिना उसके वह व्यर्थ है। इसीलिये दादू ने कहा है—

जेई नैना देह के जेई आतम होइ।
जेई नैना ब्रह्म के दादू पलटे दोइ॥

परब्रह्म असीम और अरूप हैं। वे अपने प्रेम की गाँठ बाँधते-बाँधते रूप और सीमा की ओर आये हैं। दादू कहते हैं, "उनके साथ साक्षात्कार करने के लिए हमें उसी गाँठ को खोलते-खोलते उलटे रास्ते से असीम और अरूप की ओर जाना होगा। जिसके साथ साक्षात्कार करना है वह मेरी ओर आयेगा और मैं उसकी ओर जाऊँगा। उलटे पथ से चलने पर ही साक्षात्कार हो सकता है। नहीं तो एक ही ओर मुँह करके अगर दोनों क्रम से चलते रहें तो फिर

साक्षात्कार होगा किस प्रकार से ?"

प्रेम में उनके साथ हमारा यही खेल चल रहा है। साधना में भी हमारा परस्पर-योग है। वे असीम हैं, इसीलिये हमसे बोले, "तुम सीमा हो, साधना के असीम ध्यान में तुम बैठो। और मैं भी रूप की माला लेकर साधक होकर बैठता हूँ। तुम्हारे अन्तर में अरूप का ध्यान निरन्तर चले और मेरी माला में रूप के दोनों का जप निरन्तर चलता रहे।" दादू कहते हैं, "कितना अटूट विश्वास उनका मेरे ऊपर है। मेरा ध्यान चले, या न चले लेकिन उनका जप बराबर चल रहा है ! यह देखो आकाश में ग्रहों, चन्द्रमा तथा ताराओं की दीप्ति-पूर्ण महामाला चल रही है। दिन-रात, उषा-सन्ध्या, ऋतु-ऋतु में, जन्म-मरण में, काल की माला का अनन्त जप चल रहा है। प्रत्येक रूप में प्रत्येक कण के आगम-स्थिति-निगम में नित्य रूप-अरूप का जप चल रहा है। हाय रे, क्या उसी जाप के साथ मेरे ध्यान का योग है ? हमसे जो अपराध हो रहा है वह विषम जपापराध ही है ! हे प्रभु, इतने बड़े विशाल विश्व—चराचर की माला क्या मेरे क्षुद्र ध्यान के साथ युक्त होने योग्य है ?"

"कौन कहता है कि तुम सामान्य हो ? तुम मेरे जप से जुड़े हुए हो। क्षुद्र माला में क्या तुम्हारे साधना के योग्य जप चल सकता है ? इसीलिये तो ग्रह-चन्द्र और ताराओं की विश्वमाला चल रही है।" इसीलिये तो दादू ने कहा है, "ऐसा निबिड़ जाप करो कि जिसमें सारी देह, सारा घट, सारा रूप 'दयामय, दयामय' कहकर पुकार उठे।"

सब तन तसबी कहै करीम, ऐसा करिये जाप।

सब आकार उसकी माला ही हैं—

दादू माला सब आकार की।

इस प्रसंग में दादू ने एक महातत्त्व की बात कही है। क्रम से रूप पर रूप जो चूर्ण होता जा रहा है, उसका कारण यह है कि असीम-अरूप के प्रकाश के भार को धारण करना उसके लिये सह्य नहीं है। और एक असाधारण बात दादू ने कही है, "गम्भीर कूप में तल से घट भरा हुआ ऊपर आता है और अपने जल को खाली कर फिर कुएँ में नीचे चला जाता है। उसी प्रकार से अरूप से रूप आकर अरूप अतल के रस को निःशेष भाव से दानकर फिर पूर्ण होने के लिये उसी अरूप के गभीर तल की यात्रा करता है। हम लोग क्या प्रत्येक रूप में उस गभीर दान को ग्रहण कर पाते हैं ? प्रत्येक रूप के द्वारा दिया हुआ यह अरूप रस का उपहार साधना के बिना कैसे लिया जा सकता है ? अन्तर के चिन्मय पात्र को छोड़कर वह रस कहाँ धारण किया जा सकता है ? प्रत्येक रूप, प्रत्येक क्षण उसी अरूप असीम के महा-रस का निःशेष रूप से दान कर रहा है, उसे धारण करने के लिये कितनी बड़ी साधना, कितना बड़ा आधार चाहिये।

इसके बाद दादू ने कहा है, "एक के बाद दूसरा रूप जब अरूप की गम्भीरता में यात्रा करता है तब वह पुकार-पुकारकर कहता जाता है, 'यह देखो, हम अरूप की ओर जा रहे हैं।' उस व्याकुल स्वर में सारा आकाश व्यथित हो उठता है। हमारी आत्मा भी उस समय व्याकुल होकर उनका संग पकड़ना चाहती है। मूर्तिमान सुन्दर पुकारकर कह गया,

'हे सुन्दरी, उसी अगम्य अगोचर की ओर मैं चला।' और दादू की विरही आत्मा भी आतुर हो उठ-उठकर उन्हीं के संग-संग भागती फिरती है।"

सुरति पुकारै सुन्दरी, अगम अगोचर जाइ,
दादू विरहिनि आतमा, उठि उठि आतुर धाइ।

रवीन्द्रनाथ ने कहा है—हे खेवे के नाविक, जब हाट उठ़ जाती है और सब लोग घाट की ओर चलने लगते हैं तो मेरे मन मे आता है कि मैं भी दौड़ चलूँ—

भांगिले हाट दले-दले
सबाइ जखन घाटे चले
आमि तखन मने करि
आमिओ जाइ धेये।
ओगो खेयार नेये।

उस सर्वमङ्गलाधार असीम एक को सब जप, सब तप, करके पाना होगा, "हे दादू! जिस एक से होकर सब आये और सभी जिस एक के हैं, उसी एक को कोई जान नहीं पाया! अनेक गुरुओं से अनेक सम्प्रदायों और मार्गों मे विभक्त होकर अनेक मत-मतान्तरो मे दलभुक्त होकर यह संसार पागल हो गया है!"

दादू सब थे एक के, सो एक न जाना।
जने जने का ह्वै गया, यहु जगत दिवाना।

जो संसार-समुद्र की एक अखण्ड नौका हैं उन्हीं को मनुष्य दलबन्दी करके खण्ड-खण्ड करने बैठा। सम्प्रदाय के अनुरूप अपना-अपना हिस्सा समझ करके सब उसे लेना चाहते हैं, परन्तु सभी एक संग ही अतल तल में चले जायेंगे, ऐसी समझ तो उन्हे नहीं है! ब्रह्म को सम्प्रदाय ने खण्ड-खण्ड करके बांट लिया, दादू कहते हैं कि पूर्ण ब्रह्म का त्यागकर लोग भ्रम के बन्धन म बँधे हुए हैं—

खंड-खंड करि ब्रह्म कौ पखिपखि लीया बाँटि।
दादू पूरन ब्रह्म तजि बँधे भरम की गांठि॥

उनको ग्रहण करने, उनकी पूजा करने का अर्थ ही उनकी साधना का साझेदार होना है, किसी प्रकार की भिक्षा माँगना अथवा कामना करना नहीं। उन्होंने अपने को मिटाकर सब जीवों में अपने को विलीन कर दिया, तुम भी वही साधना करो। अपने को मिटाकर अपना सर्वस्व, अपनी सेवा सब को निरन्तर अर्पित करो, व्यर्थ की दलबन्दी और न करना।

दादू भगवान् से पूछते हैं—हे प्रभु! तुम अपने इस तत्व को समझा दो जिससे सेवक भले ही तुम्हें भुला दे किन्तु सेवा उससे विस्मृत न हो—

सेवग बिसरै आप कौ सेवा बिसरि न जाइ,
दादू पूछै राम कौं सो तत कहि समझाइ।

उनकी सेवा इतनी परिपूर्ण है कि उन्होंने अपने को अपनी प्रत्येक सेवा के पीछे डाल रखा है। सेवा के चरम उत्कर्ष का आदर्श यही है। इसी कारण से ही हम संसार में उनकी

सेवा को स्वीकार करने पर भी उन्हें अस्वीकार कर सकते हैं। उससे उनकी सेवा का कुछ होता जाता नहीं है। उन्हे हम अस्वीकार भी कर सकते हैं। इसीसे यह प्रमाणित होता है कि उनकी अपूर्व आत्मत्यागमूलक सेवा का महत्त्व अनुपम है।

सेवा के भीतर अपने को इस प्रकार से वे ही खपा सकते हैं। जो चिन्मय नहीं है, असीम नहीं है वह अपने को सेवा के द्वारा निःशेष भाव से कैसे मिटा सकता है? वही लोग एक-एक व्यक्ति के नाम पर अलग-अलग सम्प्रदाय चलाया करते हैं। दादू ने कहा है कि धरती आकाश, चन्द्र, सूर्य, जल और पवन जो नित्य सेवा में लगे हुये हैं वे क्या किसी सम्प्रदाय के हैं।

ये सब हैं किस पंथ में, धरती अरु असमान,
पानी पवन दिन रात का, चन्द्र सूर्य रहिमान।

वस्तुतः स्वार्थ और अहमिका सेवा में बाधक हैं। सीमा और असीम के निरन्तर मिलन में व्यवधान-सृष्टि करते हैं। वे प्रेम के परिपंथी हैं। जब हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है तो प्राण अपने को उत्सर्ग कर देना चाहता है। यही प्रेम की नित्य आरती है। उस समय भक्त केवल यही कहता है—

तन भी तेरा मन भी तेरा तेरा पिंड परान,
सब कुछ तेरा तूँ है मेरा यह दादू का ज्ञान।

हमेशा से भावुक भक्तों के चित्त में यह प्रश्न उठता रहा है कि हे स्वामिन्! तुमने इस अपूर्व जगत को किस प्रकार रचा? कौन-सा आनन्द तुम्हारे चित्त में उद्वेलित हो रहा था? क्या तुमने अपने को ही रूप देना चाहा था और अपने को ही प्रकाशित करना चाहा था? क्या तुम्हारा लीलामय मन मान नहीं रहा था? क्या यह लीला ही तुम्हें अच्छी लगती है? क्या अपने अन्तर के भाव को मूर्त्त रूप देने में ही तुम्हें आनन्द मिलता है—

क्यों करि यहु जग रच्यो गुसाईं।
अरे कौन विनोद मन मांहीं॥
कै तुम्ह आपा परगट करणा।
कै यहु रचि लें मन नहिं माना॥
कैं यहु तुम्ह क्यौं खेल पियारा।
कै यहु भावै कीन पसारा॥

मनुष्य की भाषा में इन प्रश्नों के उत्तर देने की शक्ति नहीं है। जो सृष्टि भगवान के प्रेमानंद से उच्छ्वसित है उसका रहस्य समझने के लिये वैसा ही प्रेमानन्द चाहिये। भक्त के इस प्रश्न में ही उस आनन्द की झलक है। इसे मन और बुद्धि से नहीं समझा जा सकता। परिपूर्ण प्रेममय आनन्द के द्वारा ही उसे अनुभव किया जा सकता है। इसीलिये 'यह सब दादू अकह कहानी।'

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्

हजारीप्रसाद द्विवेदी

भारतीय धर्म-साधन का इतिहास बहुत जटिल है। साधारणतः इस धर्म-मत का अध्ययन करने के लिये वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य का अध्ययन किया जाता है। अब तक हमारे पास जो भी पुराना साहित्य उपलब्ध है वह आर्यभाषाओं में लिखित साहित्य ही है फिर चाहे वह संस्कृत में लिखा गया हो या पाली अथवा प्राकृत में। परन्तु एक बार यदि हम भारतीय साहित्य को सावधानी से देखें और भारतीय जन-समूह को ठीक पहचानने की कोशिश करें तो साफ मालूम होगा कि केवल आर्यभाषाओं में लिखित साहित्य कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, इस देश की जनता के विश्वासों और धर्म-साधनाओं की जानकारी के लिए वह पर्याप्त बिल्कुल नहीं है। आर्यों की पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आर्येतर जातियाँ इस देश में रहती हैं और उनमें से अधिकांश धीरे-धीरे आर्य भाषा-भाषी होती गई हैं। इन जातियों की अपनी पुरानी भाषाएँ क्या थीं और उन भाषाओं में उनका लिखित या अलिखित साहित्य कैसा था, यह जानने का साधन हमारे पास बहुत कम बच रहा है। यह तो अब माना जाने लगा है कि आर्यों से भी पहले इस देश में महान् द्रविड़ सभ्यता वर्तमान थी, उस सभ्यता के अनेक महत्त्वपूर्ण उपादान बाद में भारतीय धर्म-साधना के अविच्छेद्य अंग बन गये हैं; पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। द्राविड़ सभ्यता का सम्बन्ध सुदूर मिस्र और बैबिलोनिया तक स्थापित किया जा सका है और यद्यपि अब धीरे-धीरे पण्डितों का विश्वास होता जा रहा है कि द्रविड़ जाति (रेस) की कल्पना कल्पनामात्र ही नहीं है पर एक समृद्ध आर्य-पूर्व द्रविड़ सभ्यता की धारणा और भी पुष्ट हुई है।

इधर निषाद या कोल-भाषाओं के अध्ययन से एक बिलकुल नई बात की ओर पण्डित-मंडली का ध्यान आकृष्ट हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि इन कोल-भाषा-भाषी लोगों को जो अब तक जंगली समझकर उनकी उपेक्षा की गई थी वह एकदम अनुचित और निराधार है। इन भाषाओं का सम्बन्ध आस्ट्रेलिया और एशिया में फैली हुई अनेक जनभाषाओं से स्थापित किया गया है और यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि आज के हिन्दू समाज में अनेक ऐसी जातियाँ हैं जिनका मूल निषाद (आष्ट्रो-एशियाटिक या आष्ट्रिक) जातियों में खोजना पड़ेगा। हमारे

अनेक नगरों के नाम इस भाषा से लिये गये हैं, खेती-बारी के औजार और अन्य उपयोगी शब्दों के नाम इन भाषाओं के आर्यरूप हैं और हिन्दू धर्म में श्रद्धा और सम्मान पानेवाले बहुत से विश्वास मूलतः निषाद जातियों के हैं। प्रो० सिल्वांलेवी और उनके शिष्यों ने जिन थोड़े से भाषाशास्त्रीय तत्त्वों का रहस्य उद्घाटन किया है उनके आधार परअनुमान किया जा सकता है कि हमारे अनेक धर्मविश्वासों का मूल भी इन जातियों में खोजाजा सकता है।

पिछले कुछ वर्षों में सभी आर्येतर 'विश्वासों को द्रविड़' विश्वास कह देने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। इस प्रकार शिव और विष्णु की पूजा भी द्रविड़ विश्वास है, पुनर्जन्म और कर्मफल में विश्वास भी द्रविड़ सभ्यता की देन है और वैराग्य और कृच्छ्र तप पर जोर देना भी द्रविण विश्वास है। पर अब इस प्रकार की बातों की अधिक छानबीन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। सभी आर्य-पूर्व और आर्येतर विश्वास द्रविड विश्वास ही नहीं हैं; और भी कोई बात हो सकती है। सभी आर्यपूर्व और आर्येतर विश्वासों का मूल खोजना कठिन है।

हमारे देश के इतिहास का एक बहुत बड़ा विरोधाभास यह है कि अपेक्षाकृत नये ग्रन्थ अपेक्षाकृत पुरानी बातों को भी बता सकते हैं। इस प्रकार कूर्मपुराण की रचना छान्दोग्य उपनिषद् के बाद में हुई है परन्तु इसीलिये यह जरूरी नहीं कि कूर्मपुराण में कही हुई सभी बातें छान्दोग्य में कही हुई सभी बातों से नई ही हों। हो सकता है कि इस पुराण में संग्रहीत कुछ बातें छान्दोग्य से भी पहले की हों। जैन-आगमों का संकलन बहुत बाद में हुआ है पर इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि इन आगमों में संकलन-काल के पूर्व की बातें नहीं हैं। यही नहीं, यह भी हो सकता है कि एक अत्यन्त परवर्ती हिन्दी पुस्तक में किसी अत्यन्त पुरानी परम्परा का विकृत रूप उपलब्ध हो जाय। इस विरोधाभास का कारण क्या है, यह हमें अच्छी तरह जान लेना चाहिये।

जैसा कि बताया गया है कि इस देश में अनेक आर्य-पूर्व जातियाँ थीं। उनकी अपनी भाषाएँ थीं और अपने विश्वास थे। आर्यों को इन जातियों से पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा था। पुराणों में असुरों, दैत्यों और राक्षसों के साथ इन प्रचण्ड संघर्षों की कथा मिल जाती है। यह इतनी पुरानी बात है कि इन संघर्षशील जातियों को देवयोनिजात मान लिया गया है। कुछ पंडित ऐसा विश्वास करने लगे हैं कि ये घटनाएँ विश्वव्यापी जलप्रलय के पूर्व की ही होंगी। इस महाप्रलय का वर्णन सभी देशों के साहित्य में पाया जाता है, भारतीय साहित्य में तो है ही। कहा जाता है कि इस महाप्रलय में बहुत-कुछ नष्ट हो गया है और बची हुई मानवजाति को नये सिरे से संसार-यात्रा शुरू करनी पड़ी। इस जलप्रलय के पूर्व की सभी जातियों को 'देवता' मान लिया गया है। उनमें जो ज्यादा तामसिक मानी गईं उन्हें राक्षस, असुर आदि पुराने नामों से ही पुकारा गया, पर इन शब्दों से अर्थ दूसरा ही लिया गया। इन तामसिक शक्तियों को भी देवयोनिजात मानकर इनमें अनेक अद्भुत गुणों की कल्पना की गई। मैं स्वयं इस मत को सन्देह की दृष्टि से ही देखता हूँ पर इसमें शंका नहीं कि ये

संघर्ष बहुत पुराने और प्रायः भूले हुए जमाने के परम्परालब्ध कथानक हैं।

ये जातियाँ धीरे-धीरे आर्य भाषा-भाषी होती गई हैं। कुछ तो अन्त तक आर्य-भाषी नहीं बन सकीं और पहाड़ों, जंगलों और दूरवर्ती स्थानों में आश्रय लेकर अपनी भाषा और धर्मविश्वासों को कथंचित् जिलाये रख सकीं। जो लोग आर्य भाषा-भाषी हुए उन्होंने अपने विश्वासों को आर्यभाषा के माध्यम से कहना शुरू किया। इन वेद-बाह्य धर्म-साधनाओं का संस्कृत में आना बहुत बड़े विचार-संघर्ष का कारण हुआ। सन् ईसवी की प्रथम सहस्राब्दी में ही इस संघर्ष का आभास मिलने लगता है। सातवीं, आठवीं शताब्दी में तो किसी मत को वेद-बाह्य कहकर लोकचक्षु में हीन करने की प्रवृत्ति अपने पूरे चढ़ाव पर मिलती है और उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होकर प्रकट हुई है।

इस प्रतिक्रिया को न तो हम श्रमण-संस्कृति का प्रभाव कह सकते हैं और न इसे वेद-सम्मत मत कहने का ही कोई बहाना है। यह स्पष्ट रूप से वेद-विरोधी है। हम इसे वेद-बाह्य श्रमणेतर संस्कृति कहना चाहें तो कोई हानि नहीं है।

साधारणतः वेद-बाह्य भारतीय धर्म का प्रसंग उठने पर बौद्ध और जैन मतों की बात ही स्मरण की जाती है। परन्तु एक अन्य भावधारा भी इस देश में काफी प्रबल थी जो वेद-बाह्य भी थी और श्रमण-संस्कृति से भिन्न थी। इस वेद-बाह्य श्रमणेतर संस्कृति के विषय में अभी विशेष आलोचना नहीं हुई है क्योंकि एक तो इसका साहित्य बहुत कम बच पाया है, दूसरे जो साहित्य बचा भी है उस पर परवर्ती काल का रंग भी चढ़ गया है।

विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद हिन्दू-आचार्यों में एक ही विशिष्ट प्रवृत्ति पाई जाती है। वे किसी मत को जब हेय और नगण्य सिद्ध करना चाहते हैं तो उसे वेद-बाह्य या श्रुति-विरोधी घोषित कर देते हैं। सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद धीरे-धीरे इसका वेद-बाह्य और श्रुतिविरोधी घोषित किये गये सम्प्रदायों में अपने को वैदिक और श्रुतिसम्मत कहने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सबसे अचूक अस्त्र यह समझा गया है कि जो व्यक्ति वेदबाह्य कहे उसी को वेदबाह्य कहकर छोटा बना दिया जाय। शंकराचार्य ने पाशुपतों को वेदबाह्य कहा था और बाद में शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहाने का अपजस भोगना पड़ा। परवर्ती साहित्य में एकमत का आचार्य विरोधी दूसरे मत को प्रायः ही वेद-बाह्य कह देता है।

परन्तु जहाँ कुछ मत अपने को वेद-सम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे वहीं कुछ ऐसे भी मत थे जो अपने को खुल्लमखुल्ला वेद-विरोधी मानते रहे। कापाल, लाकुल, वाममार्गी तथा अन्य अनेक शाक्त और शैव मत अपने को केवल वेद-विरोधी ही नहीं मानते रहे बल्कि वेदमार्ग को निम्नकोटि का भी समझते रहे। इनके ग्रंथों में प्रत्येक वेदविहित मत को और नैतिक आदर्श को हीन बताया गया है। और अत्यन्त धक्कामार भाषा में आक्रमण किया गया है।

यद्यपि अन्त तक ये मत अपना वेद-विरोधी स्वर कायम नहीं रख सके। शुरू-शुरू में इनके धक्कामार और तिलमिला देनेवाले वचनों की पारमार्थिक व्याख्या की गई और बाद में उन्हें विशुद्ध श्रुतिसम्मत मार्ग सिद्ध किया गया।

उत्तर की अनेक जातियाँ और अनेक सम्प्रदाय इन आर्य-पूर्व सभ्यताओं की स्मृति वहन करती आ रही हैं। इन सम्प्रदायों के अध्ययन से हमें अनेक भूली बातों की जानकारी प्राप्त होगी।

यह समझना ठीक नहीं कि वर्तमान युग में प्रचलित लोक-जाति और लोक-कथानक तथा विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों की रीति-रस्म हमें केवल वर्तमान की ही बात बता सकते हैं। हो सकता है कि ये हमें घने अन्धकार को भेद सकने योग्य प्रकाश दें और हम अतीत के कुज्झटिकाच्छन्न काल में पैठ सकें।

मनुष्य के उत्थान-पतन का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। न जाने कितने मूलों से मनुष्य ने अपना धर्म-विश्वास संचय किया है। जातिगत और सम्प्रदायगत संकीर्णताओं से जर्जरित काल में यदि हम जान सकें कि मनुष्य कितना ग्रहणशील प्राणी है, वह किस निर्भयता के साथ संस्कृति के साथ चिपटे हुए सड़े छिलकों को फेंकता आया है और किस दुर्वार शक्ति से अन्य श्रेणियों के सत्य को ग्रहण करता आया है तो यह कम लाभ नहीं है। भारतीय धर्म-साधना का इतिहास इस दिशा में बहुत सहायक है।

हमारा वैदिक, बौद्ध, और जैन साहित्य बहुत विशाल है। बहुत बड़े देश और बहुत दीर्घ-काल को व्याप्त करके यह साहित्य लिखा गया है। देश और काल का प्रभाव इस पर सर्वत्र है। इनके निपुण अध्ययन से तत्कालीन अन्य मतों का भी कुछ आभास पाया जाता है। यह भी पता चलता है कि किस प्रकार ये मत अन्य मतों से प्रभावित होकर नया रूप ग्रहण करते आये हैं। जो लोग धर्ममत को अनादि और सनातन मानते हैं वे भूल जाते हैं कि सभी धर्म-विश्वास बदलते रहे हैं, कभी-कभी उनके स्थान पर एकदम नवीन विश्वास ने प्रतिष्ठा पाई है और कभी-कभी उनमें थोड़ा संस्कार हुआ है और उन्हें नया रूप प्राप्त हो गया है।

शास्त्र में कहा है 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' यह कथन ऐतिहासिक अर्थ में सत्य है। केवल धर्मग्रन्थों के अध्ययन से हम नहीं समझ सकते कि हमारे विश्वासों को वर्तमान रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ है। और भी पारिपार्श्विक परिस्थितियों का ज्ञान होना चाहिये। पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान और इतिहास की अविच्छिन्न धारा का ज्ञान भी आवश्यक है। नाना स्तरों में विभाजित हमारी सम्पूर्ण जनता ही हमारे अध्ययन का मुख्य साधन है। धर्म का तत्त्व और भी गहराई में है। वह सचमुच ही गुहा में निहित है। उस अन्धतिमिरावृत गुहा में जो भी प्रकाश पहुँचा सके वही धर्म-साधना के विद्यार्थी के लिये सम्माननीय है।

सिंहली भाषा

रघुवीर

'सीलोन' संस्कृत शब्द 'सिंहल' से लिया गया है। यह छोटा द्वीप भाषा और संस्कृति की दृष्टि से भारत का ही भाग है। उत्तरीय भाग मे भारतीय प्रवासी बसे हैं। शेष भाग में सिंहली बोली जाती है। इस भाषा का इतिहास बहुत प्राचीन है।

हमारे प्रसिद्ध सम्राट् अशोक के समय से भारत और सिंहल के प्रवासियों में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो गया था। जिस तरह हमारी अन्य प्रान्तीय भाषाओं ने अपने साहित्यिक शब्द संस्कृत से लिये उसी तरह सिंहली ने भी लिये हैं। सच तो यह है कि संस्कृत से साहित्यिक शब्द ग्रहण करने में सिंहली भी भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के ही सदृश है।

यद्यपि सिंहल के जनसाधारण की भाषा अपनी कुछ विशेषताओं के कारण प्रथम प्रयास में कठिनता से समझ में आती है, फिर भी इस भाषा में प्राचीन तत्त्व रह गये हैं जिनके कारण उत्तर भारत के लोग इसे सहज ही समझ सकते हैं। यदि कोई उत्तर भारतीय तीन मास ही सिंहल में निवास करे तो वह इस भाषा को समझ सकता है।

साहित्यिक सिंहली भाषा सीखने में भी अधिक समय नहीं लगता, क्योंकि उसकी शब्दावली संस्कृत और पाली से ली गई है। यद्यपि स्यामी बौद्धों की भाँति सिंहली बौद्धों की धार्मिक भाषा भी पाली है, फिर भी अन्य सिंहली विद्वान् आज तक अपनी भाषा के शब्दभण्डार को संस्कृत शब्दों से समृद्ध बनाते रहे हैं।

आयुर्वेद-चिकित्सा-प्रणाली सिंहल में प्रचलित है और केवल इसी कारण कई सहस्र शब्द संस्कृत से सिंहली में आगये हैं। इस प्रदेश में संस्कृत भाषा सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है और बोलचाल की संस्कृत को बौद्ध विद्वान् समझ सकते हैं। साहित्यिक भाषा में भी संस्कृत का विस्तृत प्रभाव दिखाई देता है।

सिंहली में नदी के लिये सामान्य शब्द 'गंगा' है। 'प्रपातय' जल-प्रपात को कहते हैं। पशु, पक्षी, मत्स्य, और कीड़ों को क्रमशः 'मृग' 'पक्षी' 'मत्स्य' और 'कृमिजाति' कहते हैं। पशु के लिये सिंहली साहित्यिक शब्द 'मृग' अथवा बोलचाल के शब्द 'मृगया' का प्रयोग भारत की वैदिक कालीन भाषा की याद दिलाता है। पीछे की भाषा में 'मृग' का अर्थ

केवल हिरण ही किया गया है। सांड़ के लिये सिंहली शब्द 'गौना' है जिसका उल्लेख पतंजली के महाभाष्य में मिलता है। यह एक अप्राप्य शब्द है और भाषा वैज्ञानिकों के लिए विशेष महत्वपूर्ण है। खच्चर के लिए सिंहली शब्द 'अश्वतर' है जिसका प्रयोग उत्तर भारत की बोल-चाल की भाषा में अब लुप्त हो गया है। भेड़िये को, साधारण सिंहली भी 'वृकया' कहते हैं (सवृक)। काल और ऋतुओं के लिये सिंहली शब्द 'कालऋतु विशेष' है। अर्द्धरात्रि 'मध्य-रात्रीय' और ग्रीष्मऋतु का मध्य सिंहलो में 'मध्यग्रीष्मकालय' कहलाता है। 'विनाडी और मोहोत' (मुहूर्त), सेकंड और मिनट के लिये सिंहली शब्द हैं। ऋतुओं के सिंहली नाम हमारे ही समान वसन्त, ग्रीष्म, शरद, हेमन्त, शीत, वर्षा हैं। सिंहल के ईसाइयों में भी संस्कृत नाम का प्रयोग ही उपयुक्त समझा जाता है।

कैथेड्रल को 'प्रधान देवस्थानय' और चर्च को 'देवस्थानय' कहते हैं। पाठशालाओं को 'पाठशालाव' और पथ-निर्देशक-स्तम्भ (साइन पोस्ट) को 'संज्ञाकणव' कहा जाता है। नगरशाला (टाउन हाल) को 'नागरिक शालाव' कहा जाता है। पत्नी को 'स्त्री' और 'भार्या' भी कहते हैं। उसके सुन्दर वर्ण' को वे 'शरीर वर्ण' कहते हैं। स्वास्थ्य को 'शरीरस्थिति' कहते हैं। सांप के काटने को 'सर्पदष्टव' कहते हैं। अतिसार को 'पाचनयय' कहते हैं और इसलिये विशूचिका 'वमनपाचनयय' हुआ। सर्जन को 'शल्य-वैद्य' और लेप को 'विलेपनय' कहा जाता है। पैरासोल छतरी को प्राचीन संस्कृत की भांति, 'आतपत्र' कहा जाता है। दोनों शब्दों का एक ही अर्थ होता है। पैरासोल ग्रीक से लिया गया है। ('पिरा' का अर्थ दूर और 'सोल' अर्थात् सूर्य) ये दोनों शब्द वास्तव में संस्कृत के 'परा' और 'सूर्य' हैं। उसी तरह आतपत्र में 'आतप' का अर्थ हुआ धूप और 'त्र' का अर्थ हुआ रक्षक।

बैठक के लिये सिंहली का शब्द 'संग्रहशालाव' बड़ा रोचक है। गैस को वे 'अग्नि-वायु' कहते हैं। 'तूर्यभांडय' का 'पियानो' के अर्थ में प्रयोग होता है। तूर्य एक वाद्य और भांडपात्र है।

व्यवसाय और व्यापार के लिये वे 'कमति' शब्द का प्रयोग करते हैं। रसायन-शास्त्रज्ञ को 'रसायनकारया,' अभियन्त्रा 'यन्त्रकारया' जौहरी को 'आभरणसादना,' मुद्रक को 'मुन्द्रांकणकारया' साइकल-निर्माता को 'रथचक्रसादना,' विद्यार्थी को 'शिष्य और अध्यायी' कहते हैं। बिल को 'गणनपत्र,' बुककीपर को 'गणनकारया,' औसत को 'सामान्यगणन', क्लर्क को 'लिपिकरुवा', लिमिटेड कम्पनी को 'सीमासहित समागम', डाइरेक्टर को 'क्रियाधिकारया' एन्जिन को 'यन्त्रय' स्टीमर को 'धूमनाव', फैक्टरी को 'कर्मान्त शालाव', इन्स्योरेन्स को 'उप-द्रवारक्षय' इन्स्योरेन्स पालिसी को 'उपद्रवारक्षक पत्रय' कहते हैं। स्टाक एक्सचेन्ज के लिये वे बहुत ही सुन्दर शब्द 'परिपण-व्यापार' और टेलिफोन के लिये 'दूरशब्दयंत्रय' प्रयोग में लाते हैं। कारडिनल नम्बर को 'मूलसंख्या' और आरडीनल नम्बर को 'क्रमवाचक संख्या' कहते हैं। विशेषण 'गुणवचन और क्रियावचन' कहलाता है। पर क्रियाविशेषण, संयोजक आदि के लिये एक ही सामूहिक शब्द 'निपातपद' का प्रयोग होता है। यह यास्क के निरुक्त के परम प्राचीन भारतीय व्याकरण के विभागीकरण के अनुरूप है।

'उपयोगी और आवश्यक मुहावरे' नाम सिंहली पुस्तक के लेखक ने एक स्थल पर कहा है—

"अवश्यन् प्रयोजनव्वु भाषा रीत्युनुकुल कियमन् सह वाक्ययम् ।"

'और' के लिये संस्कृत शब्द 'सह' पर ध्यान दीजिये। यह बोलचाल की सिंहली है। सिंहली में निस्संकोचता और विशुद्धतापूर्वक संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता है क्योंकि हमारी भाषाओं की तरह संस्कृत सिंहली की भी जननी है।

अब बीसवीं शताब्दी में प्रकाशित कुछ सिंहली पुस्तकों पर ध्यान दीजिये। 'अरबी निशोल्लास्व', अरेबियन नाइट्स का अनुवाद है। गुणवर्धन द्वारा लिखित 'आरोग्य दर्पणय' 'अतिसार निदान', १९१४, १९३१ में, अमर सूर्य द्वारा लिखित 'अधिराज्य ये इतिहासय', १९२७ में, गुरुसिंह द्वारा लिखित 'चित्रादर्शय,' 'लक्षणविधान' १९२१, १९१६ में, गुणवर्धन द्वारा लिखित 'धनोपायनक्रम', 'गद्यविनिश्चय' १९२७, 'गणितयय' १९२६, रणसिंहद्वारा लिखित 'गणितशास्त्रय,' १९१७ में, पेरेरा द्वारा लिखित 'गीतशिक्षा,' 'गीतविनोदय' १९२७, 'गर्भद्वारय' १९२१, 'ज्योतिषकथोपकथनय' १९२६, १९१९ में गुणरत्न द्वारा लिखित 'अभिनव शारीरिक विद्या व पिलिबन्द क्रीड़ा,' 'महामरीरोगविभागय' १९१४, १८८३ में, धर्मरत्न द्वारा लिखित 'मैथुन-संयोग सूत्र,' 'मनुष्याभिवर्नय', 'मद्यविभागय,' 'बीजगणितय' आदि-आदि। इन पुस्तकों के नामों से ही पता लग जाता है कि वे भिन्न-भिन्न विषयों की हैं।

आधुनिक सिंहली साहित्य को देखने से पता चलता है कि प्रकाशित पुस्तकों के लगभग पचास प्रतिशत नाम, साधारण उत्तर भारतीय बिना सिंहली का ज्ञान प्राप्त किये भी समझ सकता है।

भारतीय यात्रियों से भाषण करने में सिंहल निवासी संस्कृत शब्दों के प्रयोग करने में गौरव का अनुभव करते हैं।

सिंहल के एक प्राचीन विद्यालय से आ रहा था तो मुझे एक मित्र ने संस्कृत शब्दों में "पुनर्दर्शनाय" कहकर बिदा दी। इसका अर्थ है "हम पुनः मिलने के लिये बिदा होते हैं।"

भारतीय संस्कृति

गुलाबराय

'संस्कृति' शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है जिस का अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। अङ्गरेजी शब्द 'कल्चर' में वही धातु है जो 'एग्रीकल्चर' में है। इसका भी अर्थ 'पैदा करना, सुधारना' है। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी। जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। संस्कृति एक समूहवाचक शब्द है। जलवायु के अनुकूल रहन-सहन की विधियों और विचार-परम्पराओं से जाति के लोगों में दृढ़-मूल हो जाने से जाति के संस्कार बन जाते हैं। इनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी प्रकृति के अनुकूल न्यूनाधिक मात्रा में पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करता है। ये संस्कार व्यक्ति के घरेलू जीवन तथा सामाजिक जीवन में परिलक्षित होते हैं। मनुष्य अकेला रहकर भी इनसे छुटकारा नहीं पा सकता। ये संस्कार दूसरे देश में निवास करने अथवा दूसरे देशवासियों के सम्पर्क में आने से कुछ परिवर्त्तित भी हो सकते हैं और कभी कभी दब भी जाते हैं; किन्तु अनुकूल वातावरण प्राप्त करने पर फिर उभर आते हैं।

संस्कृति का बाह्य पक्ष भी होता है और आन्तरिक भी। उसका बाह्य पक्ष आन्तरिक का प्रतिबिम्ब नहीं तो उससे सम्बन्धित अवश्य रहता है। हमारे बाह्य आचार हमारे विचारों और मनोवृत्तियों के परिचायक होते हैं। संस्कृति एक देश-विशेष की उपज होती है, उसका सम्बन्ध देश के भौतिक वातावरण और उसमें पालित, पोषित एवं परिवर्द्धित विचारों से होता है।

भाषा संस्कृति का कुछ बाहरी अंग-सा है, फिर भी वह हमारी जातीय मनोवृत्ति की परिचायिका होती है। 'कुशल' शब्द को ही लीजिए वह हमारी उस संस्कृति की ओर संकेत करता है जिसमें कि पूजा-विधान की सम्पन्नता के लिए कुश लाना एक दैनिक कार्य बना हुआ था। जो कुश ला सकता था वह तन्दुरुस्त भी और होशियार भी समझा जाता था। 'प्रवीण' का सम्बन्ध वीणा से है—प्रकर्षः वीणायां प्रवीणः। हमारी भाषा में 'गो' से सम्बन्धित शब्दों का बाहुल्य है, जैसे (गोधूलि-वेला जिसमें विवाह जैसे शुभ कार्य सम्पन्न होते हैं) गोष्ठी, गवेषण (गाय की चाह या खोज के अर्थ-विस्तार द्वारा गवेषण का अर्थ 'खोज' हो गया, गवाक्ष (गौ की

आँख-खिड़कियों का आकार शायद पहले गोल होता होगा), गुरसी (अँगीठी गोरसी से बनी है जिसमें गौ का दूध औटाया जाता था), गोपुच्छ (नाटक के संगठन को गौ की पूछ के समान बताया गया है, अन्त में आकर मूल कथा ही रह जाती है और उसका फैलाव बन्द हो जाती है), गोमुखी (जिसके भीतर माला फेरी जाती है और जिसमें जल गिरता है उसे भी कहते हैं), गोपन (छिपाना, यह शब्द भी गो से सम्बन्ध रखता है—जो वस्तु पाली जाती है, सुरक्षित रक्खी जाती है वह छिपाकर भी रक्खी जाती है) आदि। यह बाहुल्य हमारे समाज में गौ की प्रधानता का द्योतक है।

भारत गरम देश है। यहां हृदय को शीतल करना महावरा है, किन्तु आंग्ल देश ठण्डा है, वहाँ की परिस्थिति के अनुकूल warm reception और cold treatment आदि महावरे हैं। Breaking the ice मौन भङ्ग करने के अर्थ में आता है। और ice ठंडे पन का प्रतीक है। मौन ठंडे पन का ही द्योतक है अंग्रेज़ी का प्रयोग killing two birds with one stone वहाँ भी हिंसात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है। हमारे यहाँ इसका अनुवाद हुआ है—'एक ढेले में दो पंछी' किन्तु उसमें वह मधुरता नहीं जो 'एक पंथ दो काज' में है? उसके कहते ही हमको "गोरस बेचन हरि मिलन, एक पंथ दो काज" की बात याद आ जाती है।

हमारी रहन-सहन, पोशाक आदि सभी बातें जातीय परिस्थिति, देश के वातावरण और देश की भावनाओं से सम्बन्धित हैं। जमीन पर बैठना, हाथ से खाना, नहाकर खाना, लम्बे-ढीले कपड़े पहनना, बेसिले कपड़ों को अधिक शुद्ध मानना, ये सब चीजें देश की आवश्यकताओं और आदर्शों के अनुकूल हैं। गरम देश में पृथ्वी का स्पर्श बुरा नहीं लगता। इसीलिए यहाँ जूतों का इतना मान नहीं है जितना कि विलायत में। यहां हाथ से खाने का चलन इसलिए हुआ कि यहाँ हर समय हाथ धोये जा सकते हैं। अन्न को भी देवता माना जाता है, उससे सीधा सम्पर्क अधिक सुखद और स्वाभाविक समझा जाता है। यहाँ नहाने के लिए जल की कमी नहीं और नहाने की आवश्यकता भी अधिक होती है, इसलिए नहाना धर्म का अङ्ग हो गया है।

इस देश में शरीर को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। इसीलिए लम्बे कपड़ों को जो शरीर को उभार में न लावें और उसे पूर्णतया ढक लें अधिक महत्व दिया जाता है। बेसिले कपड़े जैसे धोती, आदि नित्य सहज में धोये जा सकते हैं। उनकी सीवन में भी किसी प्रकार का मैल नहीं रह सकता है, इसीलिए वे अधिक पवित्र माने जाते हैं। हमारे यहाँ नंगे सर की अपेक्षा सर ढकना अधिक सांस्कृतिक समझा जाता है। ऐसा सभी पूर्वी देशों में है! यहूदियों के प्रार्थना-भवनों में भी नंगे सर नहीं बैठते। बाल भी शरीर के अंग होने के कारण ढके जाने की अपेक्षा रखते हैं।

इसी प्रकार देश के वातावरण और रुचि के अनुकूल ही मांगल्य वस्तुओं का विधान किया जाता है। फूलों में हमारे यहाँ कमल को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। इसका सम्बन्ध जल और सूर्य दोनों से है। वह जल में रहता है और सूर्य को देखकर प्रसन्न होता है। जल और सूर्य देश की महती आवश्यकताओं में से हैं, इसका दोनों से सम्बन्ध है। कमल ही सब प्रकार के शारीरिक सौन्दर्य का उपमान बनता है, चरण-कमल, नेत्र-कमल, मुख-कमल

आदि कमल की महत्ता के द्योतक हैं। "नव कंज लोचन कंज मुखकर कंज पद कंजारुणम्" इस छन्द में सभी अंग कमल बन गये हैं।

आम्र (रसाल) कदली, दूर्वादल, नारियल, श्रीफल (शरीफा) आदि को मांगल्य कार्यों में प्रमुख स्थान दिया जाता है। आम यहाँ का विशेष मेवा है। इसमें रस भरा रहता है और इसका बौर वसन्त का अग्रदूत है। हमारे यहाँ अश्वत्थ को भी विशेष महत्ता दी गई है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् की विभूतियों मे अश्वत्थ को माना गया है। भारतीय संस्कृति में जिन-जिन वस्तुओं को महत्ता दी गई है वे सब श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् की विभूतियों के रूप में आ गई हैं 'अश्वत्थः सर्व वृक्षाणां'। भगवान् बुद्ध को भी अश्वत्थ वृक्ष के ही नीचे बुद्धत्व प्राप्त हुआ था। स्थावर वस्तुओं में हिमालय को, सरिताओं में गंगा को, पक्षियों में गरुड़ को तथा ऋतुओं में वसन्त ऋतु को महत्ता दी गई है स्त्रीलिंग चीजों में कीर्ति, वाणी, स्मृति, बुद्धि और धृति (धैर्य) को महत्ता दी गई है। यह भी हमारी जातीय मनोवृत्ति का परिचायक है।

यह तो रहे संस्कृति के बाह्य अंग। संस्कृति के आन्तरिक अंगों पर भारत में विशेष बल दिया गया है। धर्मग्रन्थों में अच्छे मनुष्यों के जो लक्षण बतलाये गये हैं। मनुस्मृति में जो धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध धर्म के दश लक्षण बतलाये गये वे सब भारतीयों की मानसिक और आध्यात्मिक संस्कृति के अङ्ग हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में दिये हुए दैवी सम्पदावालों के लक्षण हैं जिनमें 'अभयं' को सबसे पहला स्थान दिया गया है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण (दूसरा अध्याय) सात्विक चीजों के लक्षण (सत्रहवं अध्याय) आदि सब भारतीय संस्कृति के अनुकूल सभ्य और शिष्ट पुरुष के लक्षण हैं। इससे सभी महाकाव्य ऐसे लक्षणों से भरे पड़े हैं। 'रघुवंश' में रघुकुल के राजाओं के जो गुण बतलाये गये हैं, वे न केवल भारत के सांस्कृतिक आदर्शों के परिचायक हैं, बल्कि उनसे अतीत का भव्य चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है।

दूसरों को दान देने के लिए ही जो सम्पन्न बनते थे (उनका धन दानाय था), सत्य के लिए ही मितभाषी बने हुए थे (मिथ्याभिमान के कारण वे कम बातचीत नहीं करते थे), वे यश के लिए विजय प्राप्त करते थे (धन राज्य छीनने के लिए नहीं), यश को अपने यहाँ अधिक महत्व दिया गया है। हमारे पूर्वज यश के लिए संसार की समस्त सम्पदा और वैभव त्यागने के लिए सदैव तत्पर रहते थे।

अर्जुन से भी श्रीकृष्ण ने अन्तिम अपील यही की थी 'यशो लभस्व' सन्तान के लिए (कामोपभोग के लिए नहीं, वरन् पितृ-ऋण चुकाने और समाज को अच्छे नागरिक देने के अर्थ) जो गृहस्थ बनते थे, बाल्यावस्था में जो विद्याध्ययन करते थे, यौवन में विषय भोग करनेवाले, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति को धारण करनेवाले और योग द्वारा शरीर को त्यागनेवाले (आजकल तो रोगेणान्ते तनुत्यजाम् की बात हो गई है) ऐसे रघुवंशियों के कुल का मैं (कालिदास) वर्णन करता हूँ यद्यपि मेरे पास वाणी का वैभव अधिक नहीं है। इस से पता चलता है कि प्रचीन भारत में त्याग, सत्य, यश, आश्रम विभाग और सामाजिक कल्याण की ओर अधिक

ध्यान दिया जाता था। संक्षेप में भारतीय संस्कृति के मुख्य-मुख्य अंग इस प्रकार बतलाये जा सकते हैं—

(१) आध्यात्मिकता—इसके अन्तर्गत नश्वर शरीर का तिरस्कार, परलोक और सत्य अहिंसा, तप आदि आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक महत्त्व देना, आवागमन की भावना, ईश्वरीय न्याय में विश्वास आदि बातें हैं। हमारे यहाँ की संस्कृति तपोवन-संस्कृति रही है जिसमें विस्तार ही विस्तार था—'प्रथम साम रव तव तपोवने प्रथम प्रभात तव गगने'। विस्तार के वातावरण में आत्मा का संकुचित रूप नहीं रह सकता था इसीके अनुकूल आत्मा का सर्वव्यापक-विस्तार माना गया है। इसीलिये हमारे यहाँ सर्वभूत हित पर अधिक महत्त्व दिया है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति'।

कीरी और कुञ्जर में एक ही आत्मा का विस्तार देखा जाता है। इसीसे गाँधीजी की सर्वोदय की भावना को बल मिला। हमारे यहां के मनीषी 'सर्वे सुखिनः भवन्तु, सर्वे सन्तु अनामयाः' का पाठ पढते थे।

नश्वर शरीर के तिरस्कार की भावना हमारे यहां के लोगों को बड़े-बड़े बलिदानों के लिये तैयार कर सकी। शिवि, दधीच, मोरध्वज इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। महाराज दिलीप ने गुरु की प्रसन्नता के लिये नन्दिनी नाम की गौ को चराने का व्रत धारण किया था। उसकी सिंह से रक्षा करने के लिये वे अपने प्राणों का भी उत्सर्ग करने को तैयार हो जाते हैं। वे सिंह से कहते हैं कि यदि तुम मुझ पर दया ही करना चाहते हो तो मेरे यश-शरीर पर दया करो पंचभूतों से बने हुए नाशवान शरीर के पिण्डों पर मुझ-जैसे लोगों की आस्था नहीं होती।

हमारे यहां का मार्ग साधना का मार्ग रहा है और तप, त्याग और संयम को महत्त्व दी गई है। क्या बौद्ध, क्या जैन और क्या वैष्णव सभी लोग इन गुणों की सराहना करते हैं।

हमारे यहां की आध्यात्मिकता मन और बुद्धि से परे जाती है। वह आत्मा का साक्षात् अनुभव करना चाहती है। यही भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों का अन्तर है। हमारे दर्शन का अर्थ आत्मा का दर्शन ही है, पश्चात्य देशों में वह बुद्धि-विलास के रूप में रहा है।

(२) समन्वय बुद्धि—आत्मा की एकता के आधार पर हमारे यहां अनेकता में एकता देखी गई है।

इसीसे मिलती-जुलती समन्वय-भावना है। हमारे विचारकों ने सभी वस्तुओं में सत्य के दर्शन किये हैं। उनका धर्म अविरोधी धर्म रहा है।

इसीलिये हमारे यहाँ धर्म-परिवर्तन को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। फिर भी संस्कृतियों का आदान-प्रदान हुआ है। तुलसीदासजी जैसे महात्मा ने जो भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं, समन्वय बुद्धि से ही काम लिया था। उन्होंने शैव और वैष्णवों का ज्ञान और भक्ति तथा अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का समन्वय किया था। आधुनिक कवियों में प्रसादजी ने भी अपनी 'कामायनी' में ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय किया है। मानव

कल्याण में ज्ञान, इच्छा किया का पार्थक्य ही बाधक होता है।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा पूरी क्यों हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की

(३) वर्णाश्रम विभाग—हमारी संस्कृति मे कार्य-विभाजन को बड़ा महत्त्व दिया गया है। समाज को भी चार भागों में बाँटा है और मानव-जीवन को भी। सामाजिक विभाजन बढते-बढते संकुचित और अपरिवर्त्तनीय बन गया। अपरिवर्त्तनीय बनने मे भी इतनी हानि न थी यदि सब का महत्व सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में एक-सा मान लिया गया होता। कुछ लोगों ने श्रेष्ठता का एकाधिकार कर लिया और 'पण्डितः समदर्शिनः' की बात भूल गये। हमारे सभी प्रचारकों और सुधारकों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई और उन सब में जोरदार आवाज रही भगवान् गौतम बुद्ध, सन्त कबीर और महात्मा गांधी की। पुरुष सूक्त ने तो चारों वर्णों को एक ही विराट् शरीर का अंग माना था—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी बाहू राजन्यः कृतः' शूद्र भगवान् के चरणों से निकले। इसी आधार पर कविवर मैथिलीशरणजी गुप्त ने उन्हें सुरसरि का सहोदर कहा है। एक ही शरीर के विभिन्न अंगों में कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता। सामाजिक संगठन का हमारे यहाँ बहुत ऊँचा आदर्श रक्खा गया था। वैदिक ऋषियों की तो यही भावना थी, लेकिन हम उसको भुला बैठे।

(४) अहिंसा, करुणा, मैत्री और विनय। इन चार गुणों को इसलिए ही रक्खा गया है कि इनके मूल में अहिंसा की भावना है और करुणा, मैत्री तथा विनय अहिंसा व्रत के पालन में सहायक होते हैं। हिंसा केवल वध करने मे ही नहीं होती है वरन् किसी के उचित भाग ले लेने और दूसरे के जी दुखाने में भी। इसीलिए हमारे यहां 'सत्यं ब्रूयात्' के साथ 'प्रियं ब्रूयात' का पाठ पढ़ाया गया है। करुणा प्रायः छोटों के प्रति होती, मैत्री बराबरवालों के प्रति और विनय बड़ों के प्रति, किन्तु हमको सभी के प्रति शिष्टता का व्यवहार करना चाहिए। विनय शील का एक अंग है, उसको बड़ा आवश्यक माना गया है भगवान् कृष्ण ने ब्राह्मण के विशेषणों में विद्या के साथ विनय भी लगाया 'विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे'। विनय भारतीय संस्कृति की एक विशेषता है। असांस्कृतिक लोग ही उद्धत होते हैं।

(५) प्रकृति प्रेम—भारतवर्ष पर प्रकृति की विशेष कृपा रही है। यहां सभी ऋतुएँ अपने समय पर आती हैं और पर्याप्त काल तक ठहरती हैं। ऋतुएँ अपने अनुकूल फल-फूलों का सृजन करती हैं। धूप और वर्षा के समान अधिकार के कारण यह भूमि शस्य-श्यामला हो जाती है। यहां का नगाधिराज हिमालय कवियों को सदा से प्रेरणा देता आ रहा है और यहां की नदियां मोक्षदायिनी समझी जाती रही हैं। यहां कृत्रिम धूप और रोशनी की आवश्यकता

नहीं पड़ती। भारतीय मनीषी जङ्गल में रहना पसन्द करते थे। प्रकृति-प्रेम के ही कारण यहां के लोग पत्तों में खाना पसन्द करते हैं। वृक्षों में पानी देना एक धार्मिक कार्य समझते हैं। सूर्य और चन्द्र दर्शन नित्य और नैमित्तिक कार्यों में शुभ माना जाता है। यहाँ के पशु-पक्षी, लता-गुल्म और वृक्ष तपोवनों के जीवन का एक अंग बन गये थे, तभी तो शकुन्तला के पतिगृह जाते समय उसके जाने की उन सबों से आज्ञा चाहते हैं—

पीछे पीवत नीर जो पहले तुमको प्याय।
फूल-पात तोरति नहीं गहने हू के चाय॥
जब तुम फूलन के दिवस आवत है सुखदान।
फूली अङ्ग समात नहिं उत्सव करत महान्॥
सो यह जाति शकुन्तला आज प्रिय के गेह।
आज्ञा देहु पयान की तुम सब सहित सनेह॥

हमारी संस्कृति इतने में ही से संकुचित नहीं है। पारिवारिकता पर हमारी संस्कृति में विशेष बल दिया गया है। भारतीय संस्कृति में शोक की अपेक्षा आनन्द को अधिक महत्व दिया गया है। इसीलिए हमारे यहाँ शोकान्त नाटकों का निषेध है। भारत में आतिथ्य को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। अतिथि को भी देवता माना गया है 'अतिथि देवोभव'।

हमारी संस्कृति के मूल अंगों पर प्रकाश डाला जा चुका है। भारत में विभिन्न जातियों के पारस्परिक सम्पर्क में आने से संस्कृति की समस्या कुछ जटिल हो गई। पुराने जमाने में द्रविड़ और आर्य संस्कृति का समन्वय बहुत उत्तम रीति से हो गया था। इस समय मुस्लिम और अंग्रेजी संस्कृतियों का और मेल हुआ है। हम इन संस्कृतियों से अछूते नहीं रह सकते हैं। इन संस्कृतियों में से हम कितना लें और कितना छोड़ें, यह हमारे सामने बड़ी समस्या है। अपनी भारतीय संस्कृति को तिलाञ्जलि दे इनको अपनाना आत्महत्या होगी। भारतीय संस्कृति की समन्वयशीलता यहाँ भी अपेक्षित है किन्तु समन्वय में अपना न खो बैठना चाहिए। दूसरी संस्कृतियों के जो अंग हमारी संस्कृति में अविरोध रूप से अपनाये जा सकें उनके द्वारा अपनी संस्कृति को सम्पन्न बनाना आपत्तिजनक नहीं। अपनी संस्कृति चाहे अच्छी हो या बुरी, चाहे दूसरों की संस्कृति से मेल खाती हो या न खाती हो, उससे लज्जित होने की कोई बात नहीं।

दूसरों की संस्कृतियों में सब बातें बुरी ही नहीं हैं। हमारी संस्कृति में धार्मिक कृत्यों में एकान्त-साधना पर अधिक बल दिया गया है, यद्यपि सामूहिक प्रार्थना का अभाव नहीं है। मुसलमानी और अंग्रेजी सभ्यता में सामूहिक प्रार्थना को अधिक आश्रय दिया गया, यद्यपि एकान्त-साधना का वहां भी अभाव नहीं। हमारे कीर्तन आदि तथा महात्मा गांधी द्वारा परिचालित प्रार्थना-सभाएँ धर्म में एकत्व की सामाजिक भावना को उत्पन्न करती आयी हैं। हमारे यहाँ सामाजिकता की अपेक्षा पारिवारिकता को महत्त्व दिया गया है। पारिवारिकता को खोकर सामा-

जिकता को ग्रहण करना तो मूर्खता होगी किन्तु पारिवारिकता के साथ-साथ सामाजिकता बढ़ाना श्रेयस्कर होगा। भाषा और पोशाक में अपनपत्व खोना जातीय व्यक्तित्व को तिलाञ्जलि देना होगा। हमे अपनी सम्मिलित परिवार की प्रथा को इतना न बढ़ा देना चाहिए कि व्यक्ति का व्यक्तित्व ही न रह जाय और न व्यक्तित्व को इतना महत्व देना चाहिए कि गुरुजनों का आदर भाव भी न रहे और पारिवारिक एकता पर कुठाराघात हो। कपड़े और जूतों की सभ्यता और कम-से-कम कपड़ा पहनना और नंगे पैर रहने की सभ्यता में भी समन्वय की आवश्यकता है। अंग्रेजी सभ्यता में जूतों का विशेष महत्व है किन्तु उसे अपने यहाँ के चौका और पूजा-गृहों की सीमा पर आक्रमण न करना चाहिए। अंग्रेजी सभ्यता चीनी और कांच के बर्तनों की सभ्यता है। हमारी सभ्यता मिट्टी और पीतल के बर्तनों की है। हमारी सभ्यता स्वास्थ्य विज्ञान के नियमों के अधिक अनुकूल है। यदि हम कुल्हड़ों के कूड़े का अच्छा बन्दोबस्त कर सकें तो उससे अच्छी कोई चीज़ नहीं है। आलस्य को वैज्ञानिकता पर विजय न पाना चाहिए। अंग्रेजी संस्कृति से भी सफ़ाई और समय की पाबन्दी की बहुत-सी बातें सीखी जा सकती है, किन्तु अपनी संस्कृति के मूल अङ्गों पर ध्यान रखते हुए समन्वय-बुद्धि से काम लेना चाहिए। समन्वय द्वारा ही संस्कृति क्रमशः उन्नति करती रही है और आज भी हमें उसे समन्वयशील बनाना है।

रामराज्य की अमर भावना

इन्द्र विद्यावाचस्पति

महात्मा गांधी को 'रामराज्य' की कल्पना बहुत प्रिय थी। अतः वे आदर्श राज्य की चर्चा करते समय अनेक स्थलों पर 'रामराज्य' के उल्लेख द्वारा गौरव का अनुभव करते थे। पर इधर हमारे वर्तमान साहित्य में 'रामराज्य' शब्द का वही अभिप्राय समझा जाने लगा है जो अंग्रेजी भाषा में 'यूटोपिया' शब्द का है। 'यूटोपिया' उस लक्ष्य को कहते हैं जो बहुत ऊँचा होने के कारण मनुष्य की पहुँच से बाहर हो।

रामराज्य का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए यह उचित होगा कि बाल्मीकि रामायण का अध्ययन किया जाय। आदिकवि ने उसका जो चित्र प्रस्तुत किया है उसका ऐतिहासिक महत्व है, अतः आधुनिक युग की समस्या के समाधान में रामराज्य की वास्तविक पृष्ठभूमि से एक नई प्रेरणा प्राप्त हो सकती है।

राम की राजधानी अयोध्या का उल्लेख करते हुए आदिकवि कहते हैं—

"कौशल नाम का धन-धान्य से पूर्ण जनपद सरयू नदी के तट पर बसा हुआ था। उसकी प्रसिद्ध राजधानी का नाम अयोध्या था। उस नगरी का निर्माण स्वयं सम्राट् मनु ने किया था। वह पुरी बारह योजन लम्बी और तीन योजन चौड़ी थी। उसके मुख्य मार्गों का निर्माण सुन्दर योजना के अनुसार हुआ था।

"अयोध्या में जो विशाल राजमार्ग था वह उत्तम व्यवस्था के अनुसार बनाया गया था। उसके दोनों ओर कुन्द-पुष्प खिले हुए थे और प्रतिदिन पानी का छिड़काव होता था।

"राजधानी विशाल तोरणों और द्वारों से सुशोभित थी। उसमें दूकानें व्यवस्था के अनुसार श्रेणीबद्ध थीं। वह सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और सब कलाओं में निपुण शिल्पियों से युक्त थी। नगर के चारों ओर दुर्गम परिखा बनी हुई थी और चारदीवारी पर सैकड़ों शतघ्नियाँ (तोपें) चढ़ी हुई थीं जिनके कारण अयोध्या शत्रुओं के लिये दुर्भेद्य थी।

"राजधानी में सुरक्षा के पूरे साधनों के साथ-साथ सजावट और आमोद-प्रमोद की भी पूरी सामग्री विद्यमान थी। संगीतशालाएँ थीं, सूत और मागध थे, नाटकघर थे, और नर्त्त-कियां थीं।

"अयोध्या के बाजार बहुत सुन्दर थे। देश-देशान्तर के वणिक् लोग उसमें व्यापार करते थे। सब प्रकार के रत्नों और आभूषणों ने उसे इन्द्र की अमरावती के समान जगमगा रखा था। दुन्दुभी, मृदंग, वीणा, पणव आदि के स्वर से वह पुरी सदा प्रतिध्वनित होती रहती थी।

"रघु के वंशजों की राजधानी में ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ आकाश को छूती थीं और उसके विस्तृत उद्यान पृथ्वी को सुशोभित करते थे। देश-देशान्तरों से आये हुए सामन्त लोग राजधानी में सुखपूर्वक निवास करते थे और यहां की विभूति का गुण गान करते थे।

"इन विभूतियों को सुरक्षित रखने की योजना थी। चारों ओर दुर्ग था जो प्राचीर से घिरा हुआ था जिस पर शतघ्न तथा अन्य अस्त्र सदा सुसज्जित रहते थे। शस्त्र-विद्या में निपुण शब्दवेधी वाण मारनेवाले क्षत्रिय रक्षा के लिये सदा सन्नद्ध रहते थे। रथ, हाथी, घोड़े ऊँट और गधे सभी प्रकार के वाहन प्रभूत मात्रा मे विद्यमान थे।

"इस प्रकार की धन-धान्य से पूर्ण रत्नोंवाली वह अयोध्या पुरी थी, जिस पर इक्ष्वाकु-वंशी राजा राज्य करते थे।"

राजधानी का सबसे बड़ा निवासी तो राजा ही था। अतः बाल्मीकि रामायण राम के ही चरित से ओतप्रोत है। जब आदि-कवि ने नारद से यह प्रश्न किया कि वर्त्तमान समय में संसार में ऐसा महापुरुष कौन है जो धर्मज्ञ भी हो और विनयशील भी; जो चरित्रवान् भी हो और वीर भी, और जिसने क्रोध जीत लिया हो; परन्तु फिर भी युद्ध में जिससे देवता भय खाते हों, तो नारद मुनि ने उत्तर दिया—

"जिन गुणों की आपने चर्चा की है उन गुणों से युक्त इक्ष्वाकुवंशी राजा राम इस समय अयोध्या में राज्य कर रहे हैं। वह धर्मज्ञ और सत्य संध (सत्य पर दृढ़ रहनेवाले) हैं। साथ ही वह वीर और यशस्वी हैं। वे गम्भीरता में समुद्र के समान हैं, तो धैर्य में हिमालय के समान, चन्द्रमा के सदृश शीतल हैं तो कालाग्नि के सदृश तेजस्वी। वह सारी प्रजा को समान दृष्टि से देखते हैं और सर्वलोकप्रिय हैं।"

ऐसे राजा के राज्य में रहनेवाली प्रजा की सामाजिक और आर्थिक अवस्था पर भी आदि-कवि ने यथेष्ट प्रकाश डाला है जिस के सम्मुख आधुनिक युग का वैभव भी तुच्छ प्रतीत होता है। आदि-कवि की लेखनी वस्तुतः रामराज्य की प्रजा के उल्लेख द्वारा धन्य हो उठी है—

"उस पुर-वर में निवास करनेवाले लोग प्रबल, धर्मात्मा, ज्ञानवान् और सत्यवादी हैं, तथा अपने-अपने वैभव से सन्तुष्ट। उस नगरी में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो दरिद्र हो, ऐसा कोई कुटुम्बी नहीं जो सन्तानहीन हो या जिसके घर में गौ, अश्व, धन और धान्य न हो। वहां विषयासक्त, कंजूस या क्रूर मनुष्य नहीं मिल सकता और न अविद्वान् और नास्तिक ही दिखाई देता है। सब नर-नारी धर्मशील और सदाचारी हैं। वहाँ ऐसा कोई पुरवासी नहीं है जिसके कानों में कुण्डल, सिर पर मुकुट और गले में माला न हो। सबलोग स्निग्ध भोजन करनेवाले, दानी, आभूषणों से शोभित और आत्मसम्मान से युक्त हैं। ऐसे लोगों का अभाव है जो यज्ञ न करते हों, क्षुद्र-हृदय हों, चोर हों, दुराचारी हों या वर्णसंकर हों। उस पुरी में ऐसे नर-नारी

दिखाई नहीं देते थे जिनका रूप सुन्दर न हो, जो श्रीमान् न हों अथवा जो राजभक्त न हों।"

अयोध्या के राज-मन्त्रियों की गुण-गरिमा को भी आदिकवि की लेखनी ने भुलाया नहीं—

"मन्त्री संख्या में आठ थे। वे मन्त्रज्ञ तो थे ही, इंगित और चेष्टाओं से ही दूसरे के मन की बात जान जाते थे। प्रजा के हितैषी थे। आचार-विचार में सर्वथा शुद्ध और राज-काज में तत्पर थे।"

आदि-कवि ने रामराज्य में प्रजा की वास्तविक अवस्था का चित्रण करते हुए एक कुशल चित्रकार के समान तूलिका के स्पर्श दिये हैं। इस चित्र को देखते हुए आज का मानव सचमुच मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता है—

"रावण का संहार करके जब सीता-सहित राम अयोध्या लौट आये, तब भरत ने साकेत का सुरक्षित राज्य उनके चरणों में रख दिया। तब महर्षि वशिष्ठ ने राम और सीता का विधिवत् राज्याभिषेक करके उन्हें रत्नमय सिंहासन पर बिठाया। राम के राज्यभिषेक से समस्त प्रजा अत्यन्त प्रसन्न हुई। राजा राम ने भी उस शुभ अवसर पर हृदय खोलकर दान किया और अभ्यागत मित्रों और सुपात्रों की भेंट-पूजा की। अभिषेक की विधि पूरी हो जाने पर दीर्घबाहु, विशालवक्ष महाराज राम ने लक्ष्मण की सहायता से चिरकाल तक पृथ्वी का शासन किया। उनके राज्य में विधवाओं का आर्त्तनाद सुनाई नहीं देता था और न किसी हिंस्र पशु का भय था। राम के राज्यकाल में प्रजा, रोगों से ग्रस्त नहीं होती थी और दस्युओं का अभाव था। कोई व्यक्ति दूसरे के माल को हाथ नहीं लगाता था। वृद्धजन अपनी सन्तान का अन्त्येष्टि संस्कार नहीं करते थे, क्योंकि सब पूरी आयु भोगकर मरते थे, सब सन्तुष्ट और धर्मपरायण थे। राम के चरण-चिह्नों पर चलते हुए वे एक दूसरे से प्रेम-पूर्वक व्यवहार करते थे। सब प्रजाजन अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे और सन्तुष्ट रहते थे। राम के सत्य स्वभाव से प्रेरित होकर वे सदा सत्य का पालन करते थे। राम के धर्म-बल के प्रभाव से सब शक्तियाँ व्यवस्था में रहती थीं। मेघ समय पर वृष्टि करते थे। पृथ्वी ऋतु के अनुसार अन्न देती थी। वृक्ष और वनस्पति फूलों और फलों से लदे रहते थे।"

यह था रामराज्य। राजा धर्मात्मा था। उसके मन्त्री कर्तव्य-परायण और सत्यनिष्ठ थे। फलतः प्रजा भी सत्यनिष्ठ और सुखी थी। मानव और प्रकृति की सब शक्तियाँ मिलकर मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की सहायता करती थीं। राम के जीवन का एक ही लक्ष्य था—प्रजा का रंजन अर्थात् देशवासियों को सुखी और समृद्ध बनाने की चेष्टा। यही कारण था कि सब प्रजाजन रामभक्त और राजभक्त थे।

महात्मा गान्धी भारत में इसी रामराज्य की स्थापना करना चाहते थे। उनकी लेखनी और वाणी अनेक अवसरों पर रामराज्य की प्रेरणा से अनुप्राणित हो उठती थी। जब तक हमें गांधीजी का स्मरण रहेगा, रामराज्य की कल्पना एक अमर भावना के रूप में मानवता के सम्मुख विद्यमान रहेगी।

गीता, गाँधी और गतिशीलता

श्रीकृष्णदत्त पालीवाल

संसार में सदा से महापुरुषों के महावाक्यों का अर्थ युग-युग में युग-धर्म के अनुसार संशोधित, परिवर्द्धित और परिवर्त्तित—एक शब्द में विकसित होता रहता है।

श्रीमद्भगवद्गीता भी इस परिपाटी से परे नहीं रही। विशेषकर इसलिए और भी कि हमारे यहाँ विभिन्न मत-प्रवर्त्तकों द्वारा अपने-अपने मत की पुष्टि, आर्ष और आप्त वाक्यों द्वारा करने की आवश्यकता अत्यधिक अनुभव की गई।

बहुत समय तक यह धारणा रही कि गीता हिन्दुओं का एक धर्मग्रन्थ है जिसका अध्यात्म से साधारणतः और जीवन तथा समाज से अधिक सम्बन्ध नहीं।

पर पिछले पचास वर्ष में हमारे देश में तीन ऐसे युग-पुरुष उत्पन्न हुए जिन्होंने गीता के धर्म-सम्बन्धी एकांगी स्वरूप को ही नहीं, अध्यात्म, जीवन और समाज-सम्बन्धी सर्वाङ्गी स्वरूप को संसार के सामने रखा। योगिराज अरविन्द घोष ने गीता के आध्यात्मिक पक्ष को इतने तर्कपूर्ण और पाण्डित्य परिपूर्ण ढंग से हमारे सामने उपस्थित किया है कि उसके पठन, मनन और अध्ययन से दिव्यानन्द मिलता है। लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' में प्रचुर प्रमाणों, विशद-विवेचन और प्रगाढ़ पाण्डित्य द्वारा हमारे सम्मुख गीता के कर्मयोग पक्ष की और निष्काम कर्मयोग के संजीवन-सन्देश की प्राण-प्रेरक झाँकी प्रस्तुत की। और इसके पश्चात युग-पुरुष महात्मा गान्धी ने गीता के महामन्त्रों को हमारे सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में —प्रगति-प्रवाह की प्रयोगशाला में प्रयुक्त करके सिद्ध किया।

इस तारक त्रिवेणी के फलस्वरूप हमारे सामने जीवन-दर्शन तथा संजीवन-समाज-शास्त्र का एक ऐसा सुधा-सागर सुलभ हो गया है जो सदैव मानव को प्रगति-पथ पर चलने के लिए अनुप्राणित करता रहेगा।

बीसवीं शताब्दी के ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में गीता को मानव-जीवन-संजीवन-शास्त्र कहा जा सकता है। वस्तुतः गीता का आध्यात्मिक प्रगतिवाद का सिद्धान्त विश्व और मनुष्य के विकास का सर्वोत्तम सिद्धान्त है—ऐसा सिद्धान्त जिसमें विश्व के विकास के 'कैसे' का ही

पूर्णतया सन्तोषजनक समाधान नहीं होता बल्कि उसके 'क्यों' का भी सुन्दर और सम्पूर्ण उत्तर मिल जाता है।

गीता के मतानुसार सच्चिदानन्द वियोग के दिव्यानन्द के लिए अपनी पर विभूति प्रकृति, को अपनी अपरा प्रकृति को पुरुष से अलग कर देता है। पुरुष से अलग होते ही प्रकृति उसे खोजने में, उसके पास पहुँचने में लग जाती है। समस्त विकास का यही कारण है। इसी अर्थ में विकास और प्रगति, विश्व, मानव तथा समाज का सनातन स्वधर्म है।

विश्व-विकास के इस सिद्धान्त में विकास के 'कैसे' का पूर्णतया सन्तोषजनक समाधान करने में पाश्चात्य विकासवाद तथा मार्क्स के भौतिक द्वन्द्ववाद के सब सिद्धान्तों को जो न्यूनाधिक कठिनाइयाँ पड़ती हैं वे अपने-आप उसी तरह विलीयमान हो जाती हैं जिस तरह सूर्य के सामने अँधेरा।

उदाहरणार्थ, जड़ में गति आने में कोई कठिनाई नहीं, क्योंकि प्रकृति और पुरुष दोनों एक ही ब्रह्म की दो शक्तियाँ हैं इसलिए एक-दूसरे में स्वयं सन्निहित हैं। धीरे-धीरे क्रमानुगत विकास-वाद के सिद्धान्त नेत्रादि इन्द्रियों के विकास की तर्कपूर्ण व्याख्या करने में जो कठिनाई पड़ती है वह तो मारआदि के युगवत् विकास के सिद्धान्त से स्वत: ही सुलझ जाती है।

मार्क्स के भौतिक द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त में यह दोष है कि यदि मानव-समाज के विकास और उसकी प्रगति का एकमात्र प्रमुख कारण श्रेणी-संघर्ष है और समाज की प्रगति के फल-स्वरूप श्रेणीहीन समाज स्थापित होना है तो फिर प्रगति का प्रमुख प्रेरक-कारण न रहने से प्रगति भी बन्द हो जायगी। परन्तु गीता के आध्यात्मिक प्रगतिवाद के सिद्धान्त के अनुसार नर अथवा मानव-विकास की पराकाष्ठा न होकर उसका मध्य-बिन्दु है। श्रेणीहीन समाज की स्थापना के बाद भी विकास और प्रगति की प्रक्रिया इसलिए चलती रहेगी कि नर को नारायण होना है; प्रकृति को पुरुष में लीन होना है।

इस तरह गीता मानव जीवन और समाज के विकास तथा इन सब की, अखिल विश्व की, प्रगति का सर्वोत्तम और संजीवन-समाज-शास्त्र है।

गीता का निष्काम-कर्मयोग का सिद्धान्त उसके आध्यात्मिक प्रगतिवाद के सिद्धान्त का ही एक अंग है। उसके स्वधर्म का सिद्धान्त युग-युग में विकास और प्रगति की अनेकता से एकता की ओर—विकास और प्रगति की एक अवस्था से आगे बढ़कर दूसरी अवस्था की ओर जाने का सिद्धान्त है। इसीलिए एक अवस्था का पूर्ण विकास हो जाने पर "कालोऽस्मि" पुराने लोकों का रूप और रूपहरण करके नये धर्म की स्थापना तथा उसका अभ्युदय करता है। प्रत्येक मानव और समाज का स्वधर्म यह है कि वह प्रगति की इस प्रक्रिया में सहायक हो। इसीलिए गीता पाप-पुण्य, विधि-निषेध की कोई सूची नहीं देती। अन्य धर्म-ग्रन्थों की तरह गीता के अनुसार समाज का प्रगति-पोषक कर्म पुण्य है और समस्त प्रतिक्रिया-प्रतिपादक कार्य पाप। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक लोक अथवा अवस्था के विकास के बीज उसी में सन्निहित रहते हैं। वाद के साथ प्रतिवाद सदैव मिला रहता है। उसके संघर्ष से अन्त में उनका रूपचय और समुच्चय होता है।

इस तरह गीता प्रगतिशीलता का परम प्रकृष्ट ग्रन्थ है।

और महात्मा गान्धी ने हमें हमारे दैनिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में गीता के इस सिद्धान्त का प्रयोग करके हमारे लिए सदा के लिए प्रगति-पथ पूर्णतया प्रशस्त कर दिया है।

गीता के नूतन अध्ययन की दृष्टि से यह कहा जा सकता है—गान्धी-मार्ग मार्क्सवाद से कहीं अधिक ज्ञान-सम्मत तथा कहीं अधिक अर्वाचीन एवं सफल, फलप्रद और क्रान्तिकारी तथा प्रगतिशील है। गीता—सफल वैज्ञानिक गान्धी-मार्ग—द्वारा ही आज का संतप्त संसार और मोहित तथा मूर्छित मानव अपने एक संसार—विश्व-संघ, श्रेणीहीन समाज, सबकी सच्ची स्वाधीनता, वास्तविक लोकतन्त्र तथा स्थायी शान्ति के—एक शब्द में नवीन सामाजिक व्यवस्था के सर्वोदय-समाज के स्वप्न को सत्य सिद्ध कर सकेगा।

: ३ :
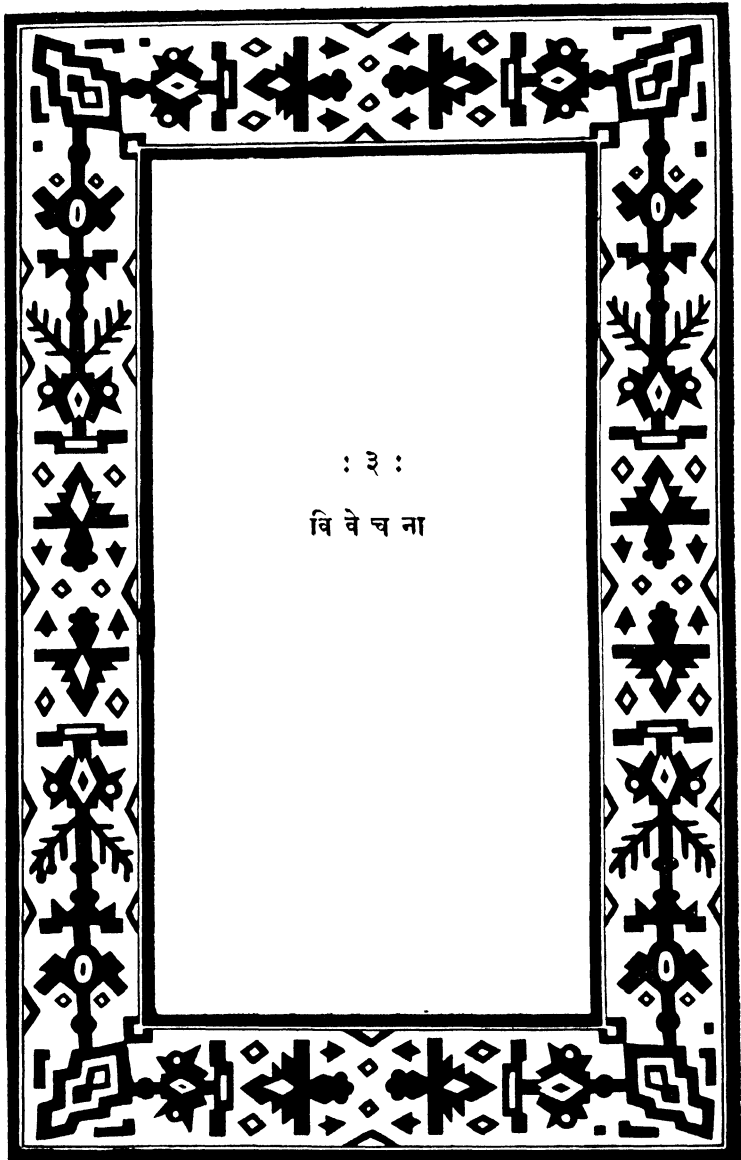
विवेचना

कृष्ण का लीला-वपु

वासुदेवशरण अग्रवाल

व्रजभाषा की भक्तिरस की कविता ने कई सौ वर्षों तक ज्ञानतत्त्व की रक्षा के लिये समाज में वैसा ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था जैसा किसी समय उपनिषदों ने प्राप्त किया था। अनेक सन्त, महात्मा, साधक, आचारशुद्ध भक्तों के ध्यान की साकार प्रतिमूर्ति व्रजभाषा की कविता है। इस काव्य में और तुलसी के 'रामचरितमानस' काव्य में एक अविनाशी, अचिन्त्य ब्रह्मतत्त्व की ही उपासना की गई है। जो व्यक्ति कृष्ण और राम को उस रूप में देखने या मानने में असमर्थ है जिसमें सूर और तुलसी ने उन्हें देखा था, तो वह इस काव्य के बाह्य रूप से तोष रिचित हो सकता है पर इसमें अन्तर्निहित आनन्द-तत्त्व या रस सिन्धु से उसका मन नहीं जुड़ सकता या सान्निध्य नहीं प्राप्त कर सकता। सूर के कृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं। वैदिक साहित्य से लेकर भारतीय मस्तिष्क ने जिस चैतन्य-तत्त्व की बराबर खोज की है, युग-युग में नये-नये नामों और रूपों में समाज ने जिसे अनुभव किया है, जनता के मानस को जिसने प्राणवन्त, उत्साहमय और आनन्दित किया है, उसी आनन्द-घन चैतन्य-तत्त्व को सूर ने कृष्ण की संज्ञा प्रदान की। 'सूरसागर' में इस सत्य को वे कहते हुए नहीं थकते। कृष्ण के आनन्दरूपी ब्रह्मपक्ष का तिरोभाव हो जाय तो उनकी लीला का रस ही जाता रहे। वह तो जड़ शरीर में होनेवाली चेष्टाओं की एक निरर्थक लड़ी बन जा सकती है।

कृष्ण के इस नित्य-स्वरूप के साथ इतिहास की उलझन है। इतिहास मनुष्य को देश-काल में जड़कर पकड़ना चाहता है, वह सत्य घटनाओं को ढूँढ़ता है। लीला मानवी जीवन की नित्य व्याख्या प्रस्तुत करती है। लीला-वपु रसपूर्ण और आनन्दी होता है। इतिहास का नामधारी व्यक्ति काल के गाल का बापुरा प्राणी है। जिन अभिप्रायों (मोटिफ्स) के अनुसार जीवनरूपी कमल अपने आनन्द-केन्द्र आकाश स्थित सूर्य की प्रेरणा पाकर अपनी पंखड़ियों का विकास करता है, वे सदा सर्वत्र सब के लिये एक हैं! एक सत्य उनका नियामक है। कमल के विकास के लिये अन्धकार का तिरोभाव चाहिए, उसे आन्तरिक जीवन-प्रेरणा, आनन्द, उल्लास, सौन्दर्य और रूप मिलना चाहिए, तभी उसका विकास सम्भव है। यह

आदर्श स्थिति कमल की जीवन-लीला है जो सब पद्मों के लिये आधार-भूत सत्य है। एक कमल के जीवन में कौन-सा सरोवर था, कितने जल मे वह खड़ा था, उसे पुष्ट करनेवाले कर्दम में कितने रासायनिक तत्त्व थे, उनके कारण किस पंखड़ी ने सूर्य-दर्शन के लिये पहले अपने नेत्र खोले और किस भौंरे ने उसका चुम्बन किया, इस प्रकार का लेखा इतिहास की उत्सुकता को अवश्य शान्त कर सकता है। किन्तु कमल की नित-नित घटनेवाली जीवन-लीला इससे अधिक सूक्ष्म-व्यापक और अमृतमय है। आज हमारा शिक्षित मस्तिष्क ऐतिहासिक कृष्ण को पकड़ना चाहता है। हमारे मन के किसी परदे में ऐसी आशंका बनी रहती है कि जिस कृष्ण का जंजाल सूर ने खड़ा किया है वह हमारी बुद्धि को ठगने के लिये है। वैज्ञानिक बुद्धि बार-बार उस कृष्ण से टकराकर वापस लौट आती है, यह हमारे लिये बड़ा असमंजस बन जाता है। न तो हम अपनी सत्यानुसंधान की नई पद्धति को ही छोड़कर जी सकते हैं, और न उसके द्वारा चैतन्य को ही पकड़ सकते हैं। यह उलझन सच्ची है और मैं समझता हूँ इससे इन्कार करना बुद्धि की ईमानदारी न होगी। परन्तु ब्रह्मतत्त्व, चैतन्य या नित्य आत्मतत्त्व, इसी प्रकार की एक पहेली है जो पहले भी थी और आज भी है। हमारे लिये बुद्धिमानी यही होगी कि सूर ने कृष्ण का जो आदर्श लिया था उसे ही अपने मन की शक्ति से जीवित या प्राणमय बनाने का प्रयत्न करें। कम से कम सूर के मन में तो कृष्ण उस ब्रह्मरूप में ही सत्य-प्रतिष्ठित थे और उस स्रोत से ही 'सूरसागर' का जगत्-निर्मित हुआ है, अथवा यों मान लें कि सूर का सत्य भी तो किसी मानस में अपनी सत्ता रखता था। जो सूर का अनुभव था उसकी खोज और पहचान भी तो वैज्ञानिक पद्धति का अंग है। वस्तुतः कवि के सत्य को उसी के नेत्र से देख सकना ही सत्यपरायण बुद्धि कही जा सकती है।

सूर के मानस का मानचित्र कुछ इस प्रकार खींचा जा सकता है। संसार में एक अमृत ब्रह्मात्मक सत्य है जो आनन्द से परिपूर्ण, रस से तृप्त और ज्योति से भरा हुआ है। उस अमृत-सत्य की प्राप्ति मनुष्य का आवश्यक कर्त्तव्य है और उसके पाने का एक मार्ग है। उस सत्य के साथ-साथ एक अनृत पक्ष भी है। जो सत्य के विपरीत है वही अनृत है। जो ज्योति का प्रतिपक्षी है वह तम है। तम को हटाकर ही ज्योति प्रतिष्ठापित होती है। यह निर्गुण वाचना हुई। इसी तीन पैंड-सत्य की सगुण वाचना भी है जो सूर के शब्दों में इस प्रकार है—कृष्ण ही परब्रह्म के पूर्ण प्रतीक या रूप हैं। वे लीला के मानव, पर वस्तुतः परब्रह्म हैं। उनमें अक्षय आनन्द या रस परिपूर्ण है। कृष्ण आनन्द के छूटते हुए फव्वारे हैं जिन्हें सूर ब्रज के 'ईतरे बालक' कहते हैं, वे इत-उत फैलती हुई ज्योति के स्फुलिंग हैं जो अन्धेरे को हटाकर सर्वत्र प्रकाश भरते हैं। जहां कृष्ण प्रकट होते हैं वहीं वे शान्ति, तृप्ति, सौहार्द्र के वरदान से मनुष्य के मन को सींचते हैं। कृष्ण के पा लेने पर और कुछ पाने की इच्छा शेष नहीं रहती। कृष्ण जीवन के रसात्मक आनन्दी निर्झर हैं। वे इन्द्रियों के संसार के भीतर से उठती हुई आनन्द-ज्योति हैं। वे चैतन्य की सरसता हैं जिससे समस्त जड़-जगत् पुलकित और प्रफुल्लित होता है। यही सूर का पहला सत्य है।

कृष्ण रूपी इस अमृत सत्य को प्राप्त करने का मार्ग सूर-दर्शन का दूसरा सत्य है।

यह मार्ग हृदय की श्रद्धा है, यही भक्ति है। इसी एक रस्सी से चैतन्य-तत्त्व बाँधा जा सकता है, अथवा यों कह सकते हैं कि चैतन्य को बन्धन में लाने के लिये प्रकृति ने श्रद्धा के अतिरिक्त और कोई रस्सी बनाई ही नहीं। बाँधने के लिये मनुष्य के हाथ केवल यही रस्सी आई है। मन को चाहे देवता के साथ बाँधो चाहे मातृभूमि या राष्ट्र के साथ, श्रद्धा या प्रेम की दामरी के सिवा और कोई उपाय नहीं है। लोभ या बल के बन्धन निकृष्ट हैं। कृष्ण को यशोदा बहुत-सी रस्सियों में बाँधने लगीं, पर सब व्यर्थ हुईं। वे तो अन्त में एक ही रस्सी से बाँधे जा सके। उस रस्सी का वैदिक नाम श्रद्धा और लौकिक नाम भक्ति है। निरुक्त के अनुसार श्रत सत्य का पर्याय है (सत्य नामसु पठितम्) श्रत या सत्य जिसमें रखा हो वह श्रद्धा है। बिना जीवन के सत्य के श्रद्धा की आग ज्वलित नहीं होती। यही जीवन का ध्रुव अविचल नियम है। जो जैसी श्रद्धा रखता है वह वही है (यो यच्छ्रद्धः स एव सः)। श्रद्धा ही जीवन को निष्ठा प्रदान करती है और श्रद्धा ही उसमें प्रेरणा भरती है। चैतन्य तत्त्व को पकड़ने, अनुभव करने या आत्मसात् करने का एकमात्र उपाय सुन्दर सात्विकी श्रद्धा है। यही सूर के मानचित्र की दूसरी रेखा है।

सूर के मन्दिर की तीसरी पैंडी ज्योति के विरोधी तम अर्थात् कृष्ण से टकरानेवाले आसुरी तत्त्वों के पराभव की लीला है। देवासुर-संग्राम में देवों के साथ असुरों की भिड़न्त के वर्णन ऋग्वेद से आरम्भ होते हैं। इन्द्र और वृत्र के युद्ध को ज्योति और तम्, आनन्द और विषाद, अमृत और मृत्यु के संघर्ष का रूपक बताकर बहुत रोचना के साथ वेदों में कहा गया है। ब्राह्मणकारों ने रूपकों के ढक्कन को उठाकर उस पार देखते हुए स्पष्ट कहा है कि यह देवासुरी युद्ध कोई इतिहास की घटना नहीं है,[1] यह तो प्रकाश और उसका आवरण करने-वाले पाप की लड़ाई है। 'पाप्मा वै वृत्रः', पाप ही वृत्रासुर है, यह वैदिक परिभाषा है। उसी का नाना रूपों में विस्तार 'उपबृंहण' पुराणों में पाया जाता है। सूर की कृष्ण-लीला भी उसी का नवीनतम संस्करण प्रस्तुत करती है। यही सूर के दार्शनिक त्रिकोण की तीसरी भुजा है। यह भी नहीं भूलना चाहिये कि आसुरी शक्तियों से युद्ध और उनका विनाश सृष्टि-प्रक्रिया का अत्यन्त आवश्यक धर्म है। इन्द्र अथवा कृष्ण दोनों के जीवन में इसे प्रकट होना ही चाहिये। कुमारस्वामी के अनुसार असुर आदि प्रतीक तत्त्व चिन्तन की भाषा के लिये वैसे ही आवश्यक बारहखड़ी हैं जैसे दर्शन शास्त्र के लिये शब्द।[2]

कृष्ण के जीवन की लीलाएँ तत्त्वज्ञान की अक्षरौटी या बारहखड़ी के रूप में ही

---

१ न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहः, न तेऽमित्रोमघवन् कश्चनास्ति, मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः—'हे इन्द्र, तुम किसी दिन लड़े नहीं, तुम्हारा कोई बैरी नहीं, तुम्हारे युद्धों की कहानी माया (रूपक या लीला) है।'—शतपथ ब्राह्मण।

२ Visual symbols being essentially the language of meta-physics, as words are of philosophy. 'Angle and Titan' (देवासुरम्), पादटिप्पणी, पृ० ४१४

सार्थक हो सकती हैं, अन्यथा वे बच्चों के मन-बहलाव के उदाहरण हैं। वन में लगी हुई भीषण अग्नि का पान कृष्ण के जीवन की एक उभरी हुई लीला है। दावानल-आचमन का 'सूरसागर' में अत्यन्त चमत्कारी वर्णन है।[1] 'दावानल अचयो व्रजराज व्रज जन जरत बचायो' यह घटना भौतिक व्रज तक सीमित नहीं है। यह दावानल तो जीवन की कराल अग्नि है जो उसे भस्म करने के लिये कहीं भी प्रकट हो सकती है। अभी-अभी हमारे राष्ट्रीय जगत में एक भीषण दावानल फैल गया था। उसने मनुष्य-मात्र के हृदयों को झुलसा डाला था और उसके आतंक से सभी प्राणी व्याकुल हो उठे थे। उस दावानल का आशमन एक महात्मा तपस्वी ने किया और राष्ट्र के भस्म होते हुए जीवन को उबार लिया। उस घटना को मानवी कहें या अतिमानवी, हम सब उस चमत्कार के साक्षी रहे हैं। इस प्रकार के दावानल को स्वतेज या शक्ति से शान्त करने का अभिप्राय या अलंकार अर्जुन के जीवन से भी आता है। दावानल या हलाहल विष की अग्नि स्थूल रूप में भले ही भिन्न दीख पड़ें, अध्यात्म-भाषा की दृष्टि से दोनों एक ही सूक्ष्म तत्त्व के प्रतीक हैं। समुद्र-मन्थन से उत्पन्न विष की दाहक ज्वालाओं से जिस समय सब देवता जल रहे थे उस समय शिव संज्ञक दैवी तत्त्व ने उस विष का पान कर लिया था—

जरत सकल सुरवृन्द विषम गरल जेहि पान किय।

शिवजी विष पी जाते तो समुद्र-मन्थन से निकला हुआ अमृत देवों की बाँट में कभी न आता। आता भी, तो उसका शान्त उपभोग वे कभी न कर सकते। जो शान्ति के रस से सिक्त नहीं वह अमृत नहीं रह जाता। हमारे विगत राष्ट्र के जीवन का जो सत्य है, वही व्यक्ति के जीवन का सत्य भी है। एकोदय और सर्वोदय दोनों धर्म एक ही दैवी विशेषता से प्रेरणा पाते हैं।

यमलार्जुन को उखाड़ फेंकने की बाल-लीला भी आध्यात्मिक भाषा के ढांचे में ढली है। हम सभी यमलार्जुन से बँधे हैं। नाम रूप के ये दो वृक्ष हमारे जीवन को रोके खड़े हैं। कृष्ण-जीवन की परिभाषा में यमलार्जुन यक्षराज कुबेर के दो पुत्र थे जो निजस्वरूप खोकर शाप से वृक्ष बने थे। वैदिक परिभाषा में नामरूप को दो महान् यक्ष कहा गया है।

ते नाम रूपे ह महती यक्षे महती अभ्वे।

अर्थात नाम और रूप ये दो बड़े यक्ष हैं, पर ऐसे यक्ष जिनकी सत्ता नहीं, जो अभ्व हैं, दिखाई पड़ने पर भी जो हैं नहीं। जीवन को बाँधनेवाले इन खूँटों को जड़-मूल से उखाड़ फेंकना ही अध्यात्म का पुरातन मार्ग है। श्री कुमारस्वामी ने वैदिक परिभाषाओं की व्याख्या

१ चकित देखि यह कह नर-नारी। धर आकास बराबरि ज्वाला झपटत लपट करारी। नहि बरष्यो नहिं छिरक्यो काहू कहुँ धौं गयो बिलाइ। अति आघात करत बन भीतर कैसे गयो बुझाइ।

तृण की आगि बरत ही बुझि गई हँसि-हँसि कहत गुपाल।
सुनहु सूर वह करनि कहनि यह ऐसे प्रभु के ख्याल॥

करते हुए मृच्यु को वरुण-पाश या मृत्यु कहा है और बताया है कि मृच्यु या मृत्यु पर विजय पाना अध्यात्म शास्त्र की आवश्यक सीढ़ी है। उनके अनुसार मुचुलिन्द नाग के ऊपर बुद्ध की विजय और मुचुकुन्द के ऊपर कृष्ण की विजय एक ही तत्त्व को कहने की दो परिभाषाएँ हैं। वरुण या आवरण और पाश डालनेवाली शक्ति ही अहि वृत्र है। वरुण के पाश से छुटकारा पाना वैदिक अध्यात्मशास्त्र का अत्यन्त प्राचीन संकेत था। वरुण के पाशों में जकड़ा हुआ रोहित उनसे छूटने का प्रयत्न करता है। यूरोप के उत्तराखण्डी देशों के नार्डिक गाथाशास्त्र में भी समुद्री बुड्ढे 'ओल्ड मैन आव दि सी' से छुटकारा पाने की कल्पना पाई जाती है। समुद्रवासी वह जरठ बुड्ढा जब पीठ पर सवार हो जाता है, उससे छूटना कठिन हो जाता है। वरुण ही समुद्रवासी बुड्ढे हैं। कृष्ण लीला में वे नन्द को पकड़ते हैं और कृष्ण उनसे नन्द का उद्धार करते हैं।

कालियदमन कृष्ण-जीवन की अन्य प्रसिद्ध लीला है। वैदिक परिभाषा में आकाश-चारी प्रकाश-शक्तियों की संज्ञा गरुड और भूतल पर रेंगनेवाली अन्धकार-प्रधान वृत्तियों की संज्ञा सर्प है। जीवन के जितने कमल या शक्ति-चक्र हैं, सब कालिय नाग के अधिकार में हैं। जीवन का प्रतीक जल है। जल के सब स्रोतों पर नागों का अधिकार है। कालियनाग सब के भीतर बैठकर जीवन-शक्ति को अपने ही वश में रखना चाहता है और अपने ही ढंग से चलाना चाहता है। किन्तु उसके देह में जीवन नहीं, वहाँ तो मृत्यु का निवास है। कृष्ण उसे नाथकर उन कमलों का उद्धार करते हैं जो जीवन के चिह्न हैं। नागनाथन या कालियदमन भारतीय अध्यात्मशास्त्र की परम्परा की प्रसन्न परिभाषा है जिसके पीछे रक्खे हुए अर्थ को सरलता से समझा जा सकता है।

इन लीलाओं का अध्यात्म-अर्थ समझते हुए हम कृष्ण को खोते नहीं, वरन् उन्हें एक नये लोक में प्राप्त करते हैं, जिस लोक में हमारे अध्यात्मशास्त्र की प्राचीन धारा का सारस्वत जल भरा हुआ है। कृष्णलीला इस रूप में अकेली नहीं है, रामलीला और बुद्धलीला भी उसी अध्यात्म-शैली पर निर्मित हैं। बुद्ध का मानवी रूप उनके लीला-विग्रह में कहीं छिपा पड़ा है। श्रीमती राइस डेविड्स ने 'गौतम दि मैन' पुस्तक में बुद्ध के मानवी रूप का आग्रह करके उसे उद्घाटित करने का प्रयत्न किया। किन्तु बुद्ध का लीलाविग्रह मानवी रूप का निराकरण करके शताब्दियों में अध्यात्म अर्थ का ताना-बाना बुनकर बनाया गया था। बुद्ध के तीन रूप हैं मानवी (ह्यूमन), अतिमानवी (सुपर-ह्यूमन) और अलौकिक (सुपरमण्डेन)। मानवी रूप का आज तक पुरातत्त्व में कोई भी समसामयिक, प्रमाण नहीं मिला। पिपरावा गाँव (बस्ती-गोरखपुर की सीमा पर) के स्तूप में मिली हुई धातुगर्भ मंजूषा के लेख से ज्ञात होता है कि सुकीर्ति आदि शाक्यों ने बुद्ध के शरीर से सम्बन्धित कुछ चिह्न (सलिलनिधने बुधस भग-वतस) उसमें रक्खे थे। बस, बुद्ध के इतने-से मानवी प्रमाण से ही पुरातत्व शास्त्र धनी है, शेष सब परम्परागत अनुश्रुति और साहित्यिक प्रमाण हैं जिनमें बुद्ध की अतिमानवी लीला भरी है। माता की दाहिनी कोख से जन्म लेना, जन्मते ही सात पैर चलना, ये बातें कहाँ से मानवी हो सकती हैं? इससे भी आगे एक युग ऐसा आया जब महायान सम्प्रदाय के आचार्यों

ने बुद्ध के धर्म-कार्य की व्याख्या करते हुए यहाँ तक कह डाला—वे मूर्ख हैं जो समझते हैं कि बुद्ध का हड्डी-मांस का शरीर कभी रहा होगा, वस्तुतः बुद्ध पृथ्वी पर कभी हुए ही नहीं, वे तो धर्म-शरीर से सत्य हैं जो अनादि अनन्त है। मानवी ढाँचे पर बुद्ध का लीला-विग्रह तैयार करने की युक्ति भारतीय अध्यात्म-परिभाषाओं के अनुसार जान-बूझकर रची गई। उस युक्ति को निखोलना और उसके अभीष्ट अर्थ को समझ लेना उन्हीं परिभाषाओं के अनुसार सम्भव है।

यही प्रक्रिया और तथ्य कृष्णलीला के विषय में भी घटते हैं। कृष्ण के तीन विग्रह प्रसिद्ध हैं जिन्हें मूर्तिशास्त्र की भाषा में द्विभुजी, चतुर्भुजी और सहस्रभुजी कह सकते हैं। मानवी कृष्ण द्विभुजी हैं या उन्हें होना चाहिये। उनका पुरातत्वगत प्रमाण बस वृष्णि गण का एक बचा हुआ सिक्का है जो काल के गाल से छूटककर हम तक आ पहुँचा है। वृष्णि गण राज्य के अर्ध भोक्ता राजन्य कृष्ण की कुछ झलक महाभारत शान्ति पर्व में है जब अपने-अपने दलों का गणसभा में नेतृत्व करते हुए अक्रूर और कृष्ण की नोक-झोंक चलती थी। कृष्ण के मानवी रूप के उद्धार का प्रयत्न श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपध्याय ने अपने 'कृष्ण-चरित' में किया, पर वैज्ञानिक इतिहास की आधार-शिला तो उन्हें भी प्राप्त नहीं हो सकी। दूसरा रूप अवतारी कृष्ण का लीला-विग्रह है जो चतुर्भुजी है। भागवत की आधार-भित्ति वही है। वही भक्ति से जन्मा हुआ रूप है। इससे भी ऊपर कृष्ण का ऐश्वर्य-रूप है जो सहस्रभुजी है और जो गीता के ९,१०,११ वें अध्याय का विषय है। गीता के शब्दों में वह रूप अनन्त, अव्यय, शतसहस्र, नानाविध, अद्भुत, उग्र, सदसत् कालरूप, विराट् और विश्वरूप है। उसे नरलोक में मनुष्य की आँख ने पहले कभी नहीं देखा, ठीक उस बुद्ध-विग्रह की तरह जिसके लिये महायान सम्प्रदाय के लोकोत्तरवादी आचार्यों ने डपटकर कहा था कि बुद्ध मनुष्य के चर्म-नेत्र से कैसे देखे जा सकते थे। कृष्ण का ऐश्वर्य-रूप भी चर्म-चक्षुओं का विषय नहीं। उसे देखने के लिये अर्जुन को दिव्य चक्षुओं की आवश्यकता पड़ी।[1] मनुष्य तो क्या देवता भी उसे देखना चाहते हैं पर देख नहीं पाते। वह दिव्य शाश्वत सहस्रभुजी रूप केवल भक्ति से देखा जा सकता है। गीता की साक्षी के अनुसार ही जान पड़ता है कि नारद, असित, देवल, व्यास की परम्परा से पंचरात्रों के दर्शन में कृष्ण के इस अनन्त विराट् विग्रह का निर्माण हुआ। गीता में इस विराट् रूप से घबराकर अर्जुन उसी सौम्य रूप को देखना चाहता है। वह (तदेव) रूप कौन-सा था, दो हाथोंवाला मानवी नहीं, बल्कि गदा और चक्र लिये हुए चतुर्भुजी—

किरीटिनं गदिनं चक्र हस्त मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव। तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन् सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

भागवत में मिट्टी खाते हुए कृष्ण ने और रामलीला में उसी मुद्रा में राम ने माताओं को क्षण भर के लिये इस विराट् रूप की झांकी दी थी। दुर्योधन को भी कृष्ण ने एक बार

---

१ न तु मां शक्य से द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योग-मैश्वरम्॥ गीता ११।८

विराट् रूप की झलक दिखाई थी। किन्तु यह विराट् या सहस्र-भुजी रूप हमारे लिए ऐसे ही काम या बेकाम का है जैसे सृष्टि का कोई निर्गुण निराकार तत्त्व। मधुर रस अपने परमाणु रूप से सृष्टि में कहीं-न-कहीं है, पर वह किस काम का? मनुष्य को तो अणु-परमाणु से आगे बढ़कर मिश्री की डली चाहिए। इस मीठी डली के निर्माण का फल ही लीला-वपु है। प्रकृति का सूक्ष्म अन्तरंगी ठाठ तो शायद कोरम्कोर गणित के नियमों में जाकर समाप्त होता है। पर वह मनुष्य के लिये अगम और अलभ्य है। उससे निर्मित स्थूल रूप मानव के काम का है। गणित का मधुतत्त्व गन्ने और गुड़ रूप में आना चाहिये। यही युक्ति सगुण के विषय में चरितार्थ है। जो भी निर्गुण का रूप बनाना चाहो, बनाओ; सगुण के लिये लीला-वपु आवश्यक है। लीला-वपु का प्रयोजन भी पदे-पदे निर्गुण की महिमा की ख्याति ही है। निर्गुण की महिमा के बखानने से ही सगुण पर अतिमानवी आवरण चढ़ता जाता है। उदाहरण के लिये शकट-लीला को लें। बच्चे के जीवन में सामान्य-रूप से छोटी गाड़ी का सभी को परिचय है। उसे ही शकटासुर मानकर बालरूप द्वारा उसका बध लीला-वपु का निर्माण करना है। लीला-वपु की कल्पना में अध्यात्म परिभाषाओं की सहायता लेनी पड़ती है। वैदिक साहित्य में मानवी शरीर की कई संज्ञाएँ हैं, जैसे पूर्ण घट, देवी नाव, देवरथ, शकट आदि। प्राणरूपी बैल इस शरीर के छकड़े को चला रहा है। इसीलिये प्राण को अनड्वान (अनट् = छकड़ा, अनड्वान् = छकड़ेवाला) कहा गया है—

अनड्वान् प्राण उच्यते,[1]

इस शरीर रूपी शकट या शकटासुर को बाल-कृष्ण ने बिलट दिया। इसका लीला-रूप में गान-कीर्तन माधुर्य को प्राप्त हुआ। छोटी गाड़ी के उलटने-पुलटने में कोई वैचित्र्य और माधुर्य नहीं है। पर जब शकटासुर को बाल-कृष्ण पछाड़ देते हैं, तो उस कल्पना में एक वैचित्र्य और माधुर्य है। लीला आनन्दघन है जिसमें से आनन्द की धार छूटती चली जाती है, वह आनन्दघन है। मनुष्य के मन को आनन्दघन वस्तु चाहिए। इसी तत्त्व पर लीला-वपु का निर्माण होता है। आनन्दघन-लीला, चाहे बुद्ध की हो चाहे कृष्ण की, माधुर्यमय या मिश्री की डली का रूप है। हमारा अपना जीवन जो उसी लीला के ठाठ का अनुसरण करके निर्मित हुआ है, उस मिश्री को चखनेवाली जिह्वा है। मानवी मन इस श्रद्धा के साथ आरम्भ करता है कि भगवान् का लीला-वपु मधुर आनन्दघन है। जितना मिठास उससे हम अपने जीवन की पुत्रकलत्रमयी लीला में प्राप्त कर सकें वही हमारे काम का है। इस प्रकार भक्तों ने प्राचीन अध्यात्म संकेतों का सहारा लेकर लीला का विकास किया।

कवि के लिये लीला का स्थूल रूप ही आवश्यक है। इसीलिये उद्धव की भाँति कृष्ण को ध्यान अथवा योग-गम्य बनाना सूर या ब्रजवासियों को रुचिकर नहीं। सूर का बड़ा साका इस बात में नहीं कि उन्होंने पुरानी परिभाषाओं की बारीक शल्य-क्रिया द्वारा उनके भीतर छिपे हुए अध्यात्म को सिद्ध करने का प्रयत्न किया हो। सूर की सफलता इस बात में है कि उन्होंने

---

[1] अथर्ववेद, प्राणसूक्त।

देश-सम्मत परिभाषाओं की मातृका या साँचे को जैसा उन्होंने पाया स्वीकार करके चतुर शिल्पी या चितेरे की भाँति अनेक सुन्दर रूप या आलेखन प्रस्तुत किये। सूर के चित्र अत्यन्त सजीव हैं; उनकी वर्णना-शक्ति की प्रयत्न करने पर भी थाह नहीं मिलती। एक ही कृष्ण के चित्र को रंगों और तूलिका की शक्ति से कितने अपरिमित भावों में वे सजा सके हैं, इससे उनके कविरूप की महिमा प्रकट होती है। 'सूरसागर' का भ्रमर-गीत तो कविता की महाकाष्ठा है। वह शुद्ध आनन्द का अक्षय सोता है। सहृदय के लिये उसमें रस-प्राप्ति की अतुल सामग्री भरी है। भ्रमरगीत की तुलना में रखने को विश्व साहित्य में हमारे पास बहुत कम कृतियाँ हैं। मन और बुद्धि के शाश्वत द्वन्द्व या तारतम्य का इससे अधिक काव्यमय, पल्लवित सरल और श्रद्धा से किया हुआ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। किन्तु भ्रमरगीत तर्क की कैंची से तत्त्व की कतर-ब्योंत नहीं है। मानवीय आत्मा से चैतन्य की साक्षात् प्राप्ति के लिये जो जन्म-जन्म की आकुलता है, वह भ्रमर-गीत का सार, उसका प्राण और रस है। स्त्री के मन म पुरुष के लिये जो सर्वात्म-समर्पण का भाव प्रकृति ने स्वयं भरा है—इसमें सन्देह है कि विश्व में पूरी तरह उसकी थाह कभी लग सकेगी—और जो शरीर के रक्त-मांस में और मानस में स्वयं अनुभव करने की उत्सुकता या छटपटाहट है, कुछ वैसी ही आकुलता मानवीय आत्मा में चैतन्य के लिये होती है। इसी सुन्दर रहस्य प्राणमय तत्त्व से भ्रमरगीत का निर्माण हुआ है। सूर ने भ्रमरगीत के भीतर इस मणि को कहीं रख दिया है जिसका प्रकाश धुँधला नहीं पड़ता। भ्रमरगीत में ऐसा सोता उसके हाथ लग गया है जिससे कभी न छीजनेवाली आनन्द की रसझड़ी सदा निकलती जान पड़ती है। भ्रमरगीत के वर्णन साहित्यक सामग्री से सँवारे हुए हैं, फिर भी उनमें दायें-बायें नये-नये हेर-फेर की विलक्षण शक्ति सर्वत्र मिलती है। उसकी भाषा की टकसाली गठन ब्रजभाषा के तीखे और चोखे रूप के प्रति नई श्रद्धा उत्पन्न करती है। उसके अर्थों की पैनी शक्ति दूर तक बेधती है, जैसे—

बिलग मति मानो ऊधो प्यार।
वह मथुरा काजर की उबरी जे आवैं ते कारे।
तुम कारे सुफलसुकसुत कारे कारे मधुप भँवारे।
तिनहूँ माँझ अधिक छवि उपजत कमल नैन अनियारे।
मानो नील मांट में बोरे लै जमना जु पखारे।
ता गुण श्याम भई कालिंदी सूर श्याम गुण न्यार॥

भ्रमरगीत में एक और स्थल पर सूर ने कहा है—

ऊधो तुम वेग ही व्रज जाहु।
सुरति सँदेश सुनाइ मेटो बल्लभनि को दाहु।
काम पावक तुलित मन में बिरह श्वास समीर।
भस्म नाहिंन होन पावत लोचननि के पीर।

इस पद को लिखते समय मानो सूर-तुलसी ने एक दूसरे के साथ टीपनें मिलाई हों। तुलसी की प्रसिद्ध उक्ति है—

बिरह अगनि तन ताल समीरा, स्याम जरै छन मांहि सरीरा ॥
नयन सवहि जल निज हित लागी । जरै न पाव देह विरहागी ॥

सूर के विनोदी मधुवनियों श्याम ने उद्धव के अद्वैतदर्शी रंग के साथ विनोद का एक अति शिष्ट रूप भ्रमरगीत में रचा है। उसमें गोपियों के अपरिमित कसक और करुणा का रंग भरा है। उसके भीतर से सूरदास के भक्त हृदय की अमरवाणी सुनाई पड़ती है—

कहो सन्देश सूर के प्रभु को यह निर्गुण अँधियारो ।
आपन बोयो आप लोनिये, तुम आपुहि निरुवारो ।

अर्थात हे ऊधो, सूर के सगुण प्रभु की बात कहो, तो भला; निर्गुण तो अँधियाला है। निर्गुण की खेती बोई है तो आप ही काटो। निर्गुण की गाँठ लगी है तो आप ही सुलझाओ।

सूर की यह मांग व्यक्ति के हृदय की मांग तो है ही, हो सकता है कि निर्गुण की गाँठ न सुलझने पर वह कभी युग की मांग भी बन जाय। सगुण और निर्गुण का लोकपक्ष भी है। राष्ट्र निर्गुण, व्यक्ति या जन सगुण है और प्रत्यक्ष सिद्ध है। सगुण जन के कल्याण में ही रस है। कोरा सिद्धान्तवाद निर्गुण या अमूर्त है, किन्तु जन का जीवन मूर्त्त और प्रेम दया का पात्र है। हमारे समस्त सिद्धान्तों या मतवादों को सगुण जन-जीवन की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। जीवन से पराङ्मुख मतवाद उद्धव के रूप हैं। जीवन स्वयं गोपियों की भाँति रस-तृप्ति का इच्छुक है।

भाव का विवेचन

नगेन्द्र

संस्कृत में भाव का अर्थ है स्थिति। साधारण रूप में यह कह सकते हैं कि "बाह्य जगत के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।" "आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भाव या मनोविकार का वर्णन करते हुए यह सिद्ध किया है कि, विशेष बाह्य स्थितियों के संवेदन अथवा स्मृति एवं कल्पना के स्वतंत्र विचारों द्वारा जागृत मनोदशा ही भाव है—जिसके दो प्रधान गुण हैं अनुभूति और प्रयत्न। और स्पष्ट शब्दों में डा० मैकडूगल के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हमारी किसी स्वाभाविक वृत्ति के जाग्रत होते ही उस वृत्ति की अनुकूल पेशियों और स्नायुओं में ओज का संचरण होने लगता है। ओज-संचरण की यह अवस्था उत्तेजना की अवस्था होती है, और प्रत्येक परिस्थिति में इस उत्तेजना में एक ऐसी विशिष्टता वर्तमान रहती है जिसके कारण हम उसे भय, क्रोध, घृणा आदि का पृथक् नाम दे सकते हैं। यहां "स्वाभाविक वृत्ति की जागृति" और 'उत्तेजना में निहित विशिष्टता' दोनों भाव के मानसिक रूप का वर्णन करते हैं, और स्नायु एवं पेशियों में ओज का संचरण उसके शारीरिक रूप का अंकन। इन मानसिक और शारीरिक रूपों के अतिरिक्त भाव के लिए कुछ स्थितियाँ भी अनिवार्य हैं—

१. भाव के विषय की सत्ता अवश्य होगी क्योंकि भाव वास्तव में व्यक्ति की वस्तु अर्थात् विषयी की विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

२. भाव का दुःखात्मक अथवा सुखात्मक आस्वादन निश्चय रूप से होगा।

३. इस मानसिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ प्रयत्न भी अनिवार्यतः होंगे।

४. भाव की शारीरिक अभिव्यक्ति अवश्य होगी अर्थात् स्नायु और पेशियों के परिवर्तन-स्वरूप शरीर में विकार अवश्य उत्पन्न होंगे।

५. किसी एक भाव की स्थिति निरपेक्ष नहीं रह पायेगी; उसमें अनेक विकार उत्पन्न होते रहेंगे। मनोविज्ञान के पंडितों में भाव के मानसिक और शारीरिक रूप के पूर्वापर-क्रम को लेकर बहुत कुछ विवाद चला है। जेम्स, मैकडूगल आदि का कहना है कि भाव का मानसिक रूप शारीरिक रूप का परिणाम है, स्टाउट आदि का विचार है कि ऐसा शारीरिक संवेदनों के लिए

तो अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु सभी भावों के विषय में यह क्रम नहीं माना जा सकता। उनके मत मे प्रायः इसका विपरीत क्रम ही स्वीकार्य है। हम इस विवाद में न पड़कर यही कह सकते हैं, कि भारतीय दर्शन में यह दूसरा मत ही ग्रहण किया गया है। चेतना की पृथक् सत्ता स्वीकार करनेवाले के लिये यही मत ग्राह्य हो सकता है।

संस्कृत-साहित्य शास्त्र का आचार्य भाव को सिद्ध मानकर चला है, अतएव उसने प्रकृत भाव की परिभाषा नही की। उसने या तो स्थाई और संचारी भाव की परिभाषा की है या फिर रस की अपरिपक्व दशा के अर्थ में पारिभाषिक 'भाव' का विवेचन किया है। स्थाई भाव की परिभाषा करते हुए 'साहित्य-दर्पण' कार ने लिखा है—

"अविरुद्ध और विरुद्ध भाव जिसको न छिपा सके, जो आस्वादन-अंकुर का मूल हो, वही भाव स्थायी भाव कहलाता है।"

इसके विपरीत "स्थिरता से विद्यमान इत्यादि स्थाई भाव में उन्मग्न, निमग्न अर्थात तिरोभूत होनेवाले (स्थाई भाव रूप जल में तरंगों की भांति संचरण करनेवाले) संचारीभाव कहलाते है।" उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि स्थायी भाव स्थिर होते हैं, संचारी भाव अस्थिर। स्थायी भाव एक स्थिर मनोदशा है और संचारी एक संचरणशील मनोविकार है। यह अंतर बहुत कुछ वैसा ही है जैसा मनोविज्ञान के 'मनोवृत्ति' और 'मनोविकार', के बीच पाया जाता है। मनोवृत्ति एक स्थिर मनोदशा, एक दृष्टिकोण है, मनोविकार एक अस्थिर संचरणशील विकार मात्र है।

मनोविकार एक संचरणशील अनुभव है मनोवृत्ति एक स्थिर वृत्ति है जिसका कि अनेक मनोविकारों और मानसिक क्रियाओं द्वारा क्रमशः निर्माण होता है। मनोवृत्ति एक प्रकार का मानसिक संस्थान है अथवा उसका एक अंश है......।" संक्षेपतः मनोविकार और मनोवृत्ति मे दो मुख्य अन्तर हैं—

१. मनोविकार अस्थिर अनुभव होता है, मनोवृत्ति अपेक्षाकृत स्थिर।

२. मनोविकार स्वभाव, वृत्ति या मात्रा से सम्बद्ध हैं, मनोवृत्ति विचारसे; अर्थात् उसमें बौद्धिक तत्त्व भी अनिवार्यतः विद्यमान रहता है।

संस्कृत का संचारी भाव तो स्पष्टतः मनोविज्ञान का मनोविकार है। यहां हम संचारी की परिधि में रति, शोक, हास्य, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद की भी गणना कर रहे हैं क्योंकि ये भाव भी तो सर्वदा स्थायी न होकर समय-समय पर संचारी के रूप में सामने आते हैं।

अब प्रश्न रह जाता है स्थाई भाव का। स्थाई भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या है? संस्कृत-साहित्य शास्त्र के अनुसार स्थाई की विशेषताएं हैं—

१ स्थाई भाव (अपेक्षाकृत) स्थिर है।

२ स्थाई भाव अपेक्षाकृत पुष्ट है।

३. और इसलिए वही रसदशा को प्राप्त हो सकता है; संचारी नहीं।

बयालीस भावों में से ये विशेषताएं केवल नौ में ही हैं और इसीलिए शेष तैंतीस से उनको पृथक् कर स्थाई भाव का गौरव प्रदान कर दिया गया है।

मनोविज्ञान में मनोविकार या भाव के केवल रूप ही माने गये हैं—

१. मौलिक मनोविकार, जो स्वतंत्र, अभिन्न और एक होता है। जैसे—भय।

२. व्युत्पन्न मनोविकार, जो स्वतंत्र न होकर किसी अन्य मनोविकार के आश्रित रहता है, जैसे—आशंका।

३. मनोवृत्ति, जो मनोविकारों के मिश्रण, उनकी पुनरावृत्ति और क्रमशः बौद्धिक तत्त्व के समावेश द्वारा निर्मित एक स्थिर मनोदशा है, जैसे—क्लेश।

अब आप देखें कि स्थायी भाव को हम एक साथ ही शुद्ध मौलिक मनोविकार नहीं कह सकते। उदाहरण के लिए निर्वेद या शम् एक शुद्ध मनोविकार नहीं है; एक से अधिक मनोविकारों का सम्मिश्रण और बौद्धिक तत्त्व का प्राधान्य होने के कारण वह एक व्यवस्थित मनोदशा ही है। अद्भुत रस का स्थायी विस्मय भी स्पष्टतः ही एक मिश्र भाव है। व्युत्पन्न मनोविकार का भी प्रश्न नहीं उठता क्योंकि इनमें से सभी व्युत्पन्न नहीं हैं—भय, क्रोध, आदि स्पष्टतः ही मौलिक हैं। अब रह जाती है मनोवृत्ति। तो स्थूलतः स्थायी भाव मनोवृत्ति के बहुत कुछ समरूप होता हुआ भी अन्ततः उससे भिन्न है।

समता—

१. मनोवृत्ति की भाँति स्थायी भाव भी अन्य (संचारी) भावों की अपेक्षा स्थायी होता है।

२. मनोवृत्ति की ही भाँति स्थायी भाव एक मनोदशा है जिसमें अन्य भाव संचरण करते रहते हैं।

विषमता—

परन्तु दोनों मे कुछ मौलिक अन्तर भी हैं—१ मनोवृत्ति एक व्याप्त मनःस्थिति मात्र है जिसके समग्ररूप का अनुभव कभी नहीं हो सकता—मनोवृत्ति के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है मनोवृत्ति स्वयं का नहीं। उदाहरण के लिए देशभक्ति का आस्वादन कभी नहीं होता, उसके आश्रित या संचारी भाव उत्साह आदि का ही होता है। परन्तु स्थाई के विषय में यह बात नहीं है, उसका संचारी ही नहीं वह स्वयं भी समग्रतः आस्वार्थ है। क्लैब्य मनोविकार का कारण है, स्वयं मनोविकार नहीं है, परन्तु भय स्वयं ही मनोविकार है। २ मनोवृत्ति सदैव ही मनोविकार की आवृत्ति से बन जाती है, परन्तु स्थायी भाव के विषय में

यह सत्य नहीं है। हर्ष की आवृत्ति करते रहिए, पर वह रति नहीं बन पायेगा। ३ मनोवृत्ति सदैव विचारमूलक है, परन्तु स्थाई भाव (शम को छोड़कर) विचार-मूलक नहीं प्रवृत्ति-मूलक ही है।

इस प्रकार स्वीकृत रूप में तो साहित्य-शास्त्र के स्थाई भाव का स्वरूप और विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषाओं में पूरी तरह नहीं घट पाता। परन्तु फिर भी वह अमनोवैज्ञानिक नहीं है। उसकी भी अपनी संगति है। आरम्भ में शायद उपलब्ध साहित्य के पर्यालोचन द्वारा उद्गमन की विधि से स्थाई संचारी का वर्गीकरण हुआ हो, परन्तु बाद में आचार्यों ने मीमांसा आदि के बल पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति को बचाकर उन्हीं की व्यापकता सिद्ध करते हुए अपने वर्गीकरण को निर्दोष बनाने का सर्वथा स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनकी स्थापना आज इस रूप में सामने रखी जा सकती है—

१. मानव हृदय में उठनेवाली तरंगों के योग से जो विभिन्न मनोविकार बनते हैं उनकी संख्या बयालीस ठहरती है। ये मनोविकार शुद्ध, मिश्र, व्युत्पन्न, मन्द, तीव्र, अस्थाई, स्थाई सभी प्रकार के हैं। इनमें से केवल रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद ये नौ मनोविकार ऐसे हैं जो औरों की अपेक्षा अधिक स्थाई, प्रभावशाली और पुष्ट होने के कारण रस-परिपाक के योग्य हैं, अतएव इनको विशेष महत्त्व दिया गया है और पारिभाषिक शब्दावली में स्थाई की संज्ञा दे दी गई है।

२. इस प्रकार के अर्थात रस में परिणत होनेवाले भाव केवल नौ ही हैं—अन्य भाव इन्हीं के अन्तर्भूत हो जाते हैं—जैसे दानशीलता, धर्मप्रेम आदि भाव उत्साह के अन्तर्गत आ जाते हैं। आज के गाँधी की अहिंसा और जवाहरलाल की देशभक्ति, भगतसिंह का आतंकवाद तथा राहुल सांकृत्यायन के साम्यवाद के प्रति निष्ठा भी स्पष्टतः 'उत्साह' के ही अन्तर्गत आ जायेंगे, और या फिर रसदशा तक पहुँचने में असमर्थ रहने के कारण स्थाई पद के अधिकारी नहीं बन पायेंगे। उदाहरण के लिए (शास्त्र के अनुसार) 'वात्सल्य' या देवादि-विषयक रति भाव ही है "स्थाई भाव" नहीं है।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं—१ क्या स्थाई और संचारी का यह भेद मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित है, २ क्या स्थाइयों की संख्या नौ ही हो सकती है और संचारियों की तैंतीस ही?

पहले प्रश्न का उत्तर तो उपर्युक्त विवेचन में ही दिया जा चुका है कि मनोविज्ञान में इस प्रकार का वर्ग-विभाजन नहीं मिलता। वहाँ दो ही प्रकार का वर्गीकरण स्वीकृत है—एक मौलिक (शुद्ध) और व्युत्पन्न मनोविकार का, दूसरा मनोविकार और मनोवृत्ति का। स्थायित्व, तीव्रता और अभाव के आधार पर मनोविज्ञान वर्गीकरण नहीं करता। मनोविज्ञान विज्ञान है जो उपयोगी और अनुपयोगी, सुन्दर और असुन्दर, साधु और असाधु, तीव्र और मन्द के आधार पर वर्गीकरण नहीं करता। परन्तु फिर भी जीवन में इस प्रकार का भेद और विभाजन तो है ही और रहेगा भी। विज्ञान इस पचड़े में नहीं पड़ता, क्योंकि यह सब उसकी परिधि के बाहर है; परन्तु जब जीवनगत उपयोग का प्रश्न आता है, तो इसका निषेध कैसे किया जा सकता है? इसी प्रकार भाव-क्षेत्र में भी एक भाव दूसरे की अपेक्षा स्वस्थ और कोमल है या तीव्र एवं स्थायी

है अथवा अधिक प्रभावशाली है, यह मानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। मनोविज्ञान इसका विवेचन नहीं करता, परन्तु साहित्य के लिए, जिसका सम्बन्ध भाव के जीवनगत उपयोग से है, इस प्रकार का वर्गीकरण सर्वथा स्वाभाविक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नैतिक मूल्य के आधार पर स्थायी भावों का औचित्य विधान किया है। वह भी एक दृष्टिकोण है, परन्तु जीवन के अधिक व्यापक दृष्टिकोण से भी इसका समाधान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए चिन्ता की अपेक्षा शोक अधिक तीव्र है चिन्ता का तीव्रतम चित्रण शोक के तीव्रतम चित्रण की अपेक्षा क्षीण ही रहेगा। इस प्रकार चिन्ता की अपेक्षा शोक में स्थाइत्व ही स्पष्टतः अधिक है। शोक में चिन्ता निमग्न हो जाती है, परन्तु चिन्ता में शोक निमग्न नहीं हो सकता। चिन्ता की अपेक्षा शोक वास्तव में अधिक व्यापक है, वह निश्चय ही अधिक प्रभावशाली भी होगा। यही गर्व और उत्साह, शंका और भय अथवा इसी प्रकार के अन्य भावों के विषय में भी कहा जा सकता है।

संक्षेप में यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान में इस प्रकार का विभाजन नहीं मिलता, परन्तु फिर भी इसे हम मिथ्या एवं अमनोवैज्ञानिक नहीं कह सकते। स्थायी भाव की स्थिति वास्तव में जीवन के उन तीव्र और व्यापक मनोविकारों की है जो मानव स्वभाव के मूल अंग हैं, पाश्चात्य दर्शन में जिन्हें साधारणतः मौलिक मनोवेग कहा गया है। मनोवेगों का सीधा सम्बन्ध मानव-आत्मा के मूलभूत गुण—राग-द्वेष से है। आत्मा की प्राथमिक अभिव्यक्ति है अस्मिता-अहंकार जिसे आज के मनोविश्लेषण ने अहं या आत्माभिव्यक्ति के रूप में निर्विरोध स्वीकार कर लिया है। अहंकार की अभिव्यक्ति की दो आदिम श्रेणियाँ हैं। राग और द्वेष जो मानव जीवन के दो मौलिक अनुभवों—सुख और दुःख के वैज्ञानिक पर्यायमात्र हैं। "सुखात् रागः, दुःखात् द्वेषः।" आधुनिक मनो-विश्लेषण शास्त्र में इन्हें ही प्रेम करने की प्रवृत्ति और नाश करने की प्रवृत्ति कहा गया है। और गहरे में जाय तो फ्रायड का 'काम' मूलतः राग ही है, और आडलर का 'हीनभाव' द्वेष। आधुनिक मनोविश्लेषकों के इस विषय में तीन मत हैं—फ्रायड का, जो काम को जीवन की मूलवृत्ति मानता है, दूसरा आडलर का जो हीनभाव या क्षतिपूर्ति को लेकर चलता है, और तीसरा युंग का, जो इन दोनों को जीवनेच्छा या स्वत्व-रक्षा हमारे शब्दों में अस्मिता के पोषण की शाखाएं मानता हुआ उसी को मूल मानता है। आज यही सिद्धान्त सामान्यतः स्वीकृत है।

उत्तम, सम, और अधम के आधार पर राग, प्रश्रय, प्रेम और करुणा का रूप धारण कर लेता है, और द्वेष भय, क्रोध और घृणा का। इस प्रकार भाव-जगत का विस्तार होता जाता है। जैसा कि डा० भगवानदास ने अत्यन्त मौलिक ढंग से प्रदर्शित किया है, संस्कृत-साहित्य के सभी स्थायी भावों का उन्हीं मूलभावों के अन्तर्गत समाहार हो जाता है। रति, हास, उत्साह, और विस्मय साधारणतः अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं, और शोक, क्रोध, भय, और जुगुप्सा अस्मिता के अपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत। निर्वेद में इन दोनों का सामंजस्य हो जाता है उसमें अस्मिता की समरसता की अवस्था होती है। पहले चार भाव मधुर होने के कारण सुख की अभिव्यक्ति हैं, दूसरे कटु होने के

कारण दुःख की। निर्वेद में दोनों का समन्वय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विभाजन आत्यन्तिक नहीं है। तत्वतः तो कोई भी प्रवृत्ति न तो शुद्ध राग हो सकती है और न अमिश्रित द्वेष। वास्तव में जैसा कि मनोविश्लेषक कहता है, राग और द्वेष के संघर्ष ने ही हमारा मानसिक जीवन संचालित है। इसीलिए यदि उत्साह के युयुत्सा रूप में आपको द्वेष का अंश मिले या शोक में राग का, तो चौंकना नहीं चाहिए। यों तो स्वयं रति भी शुद्ध राग नहीं है।

अब दूसरे प्रश्न को लीजिए। यह मान लेने पर कि स्थाई भावों की स्थिति जीवन के मूल मनोवेगों की स्थिति से अभिन्न है और इस प्रकार के विभाजन का एक सूक्ष्म आधार भी है ही जो अमनोवैज्ञानिक नहीं है। एक और प्रश्न उठता है कि क्या जीवन के मूल मनोवेग नौ ही है—अर्थात क्या स्थाई मनोभावों की संख्या नौ होते? कम-अधिक नहीं? यह प्रश्न संस्कृत साहित्य-शास्त्र में अनेक बार उठा है; स्थाई भावों को बढ़ाने-घटाने का प्रयत्न हुआ है, उनकी प्रधानता-अप्रधानता का विवेचन हुआ है; उन सभीको केवल एक मूल स्थाई भाव में सम्मिलत करने की भी चेष्टा की गई है, परन्तु अन्त में परिणाम यही निकला है कि स्थाई भावों की संख्या नौ ही है, और नौ ही होनी चाहिए। भारत ने मूलतः आठ ही रस और तदनुसार आठ ही स्थाई भाव माने हैं। उनमें भी रति, शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स तदनुसार रति, उत्साह, क्रोध और जुगुप्सा को प्रधान और मौलिक माना है, और हास्य, करुण, भयानक तथा अद्भुत तदनुसार हास, शोक, भय तथा विस्मय को गौण एवं व्युत्पन्न माना है। उन्होंने—

शृंगार से हास्य	तदनुसार	रति से हास
वीर से अद्भुत	,,	उत्साह से विस्मय
रौद्र से करुण	,,	क्रोध से शोक
वीभत्स से भयानक	,,	जुगुप्सा से भय—की उत्पत्ति मानी है।

परन्तु परवर्ती आचार्यों ने उसे स्वीकृत नहीं किया। बाद में "शान्तोऽपि नवमो रसः" कहकर शान्त भी जोड़ दिया गया। पहले पण्डितों का मत था कि शान्त की उद्भावना उद्भट ने की, परन्तु आज प्रायः अभिनव के आधार पर भरत को ही इसका श्रेय भी दिया जाता है। इसके उपरान्त रसों और भावों की संख्या को बढ़ाने के अनेक प्रयत्न हुए जिनमें सबसे महत्वपूर्ण दो हैं—

१ विश्वनाथ द्वारा वत्सल रस और वात्सल्य स्थाई की प्रतिष्ठा।

२ भक्त आचार्यों, विशेषकर रूप गोस्वामी द्वारा भक्ति रस और भगवत-रति स्थाई की प्रतिष्ठा।

पर पण्डितराज जगन्नाथ और उनके बाद के आचार्यों ने इन उद्भावनाओं का

निषेध किया। पंडितराज ने तो वीर के भी युद्ध, वीर आदि अन्तर्विभाजन को भी निरर्थक घोषित किया क्योंकि इस प्रकार तो पाण्डित्य वीर आदि अनेक अवान्तर भेद हो जायँगे।

इन परम्परागत पण्डितों ने वात्सल्य और भक्ति को रस-परिणति के अयोग्य ठहराकर 'भावमात्र' ही माना। इसमें सन्देह नहीं कि साधारण व्यक्ति बुद्धि की देवादि विषयक रति-भाव की स्थिति से आगे नहीं बढ़ पाती, क्योंकि उसका आलंबन परोक्ष एवं अमूर्त्त है, परन्तु यह मनोविकार रस-परिणति में असमर्थ है, एकदम ऐसा कहना अनुचित होगा। मीरा, सूर-तुलसी को भक्तिरस-दशा को प्राप्त नहीं कर सकी थी, यह कहना तो सत्य का तिरस्कार करना है, पर हाँ, इनकी भक्ति को उसकी अन्तर्प्रेरणा के अनुसार स्थूलतः रति या निर्वेद के अन्तर्भूत किया जा सकता है। मीरा का माधुर्य भावना-रस का ही परिष्कृत रूप है, सूर और तुलसी का कार्पण्य निर्वेद का। इसके अतिरिक्त जहाँ इन्होंने प्रत्यक्ष आत्मनिवेदन किया है वहाँ भी कहीं-कहीं तो स्पष्ट ही रति का परिपाक मिलता है—जैसे सूर के अनेक पदों में, जिनमें कृष्ण की रूप-माधुरी का अंकन किया गया है, और कहीं स्पष्ट निर्वेद का जैसे तुलसी के बहुत से पदों में जहाँ संसार की असारता, और कराल कलिकाल से उसकी रक्षा आदि के लिए प्रार्थना की गई है। शेष कुछ ऐसे पद रह जाते हैं, जिनमें प्रश्रय आदि 'भाव' ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार भक्ति को रस के योग्य मानते हुए भी उसका अन्तर्भाव इन्हीं निर्णीत स्थाई भावों में हो जाता है—जहाँ राग का प्राचुर्य है वहाँ रति, जहाँ विराग का प्राधान्य है वहाँ निर्वेद माना जा सकता है। वैसे भी आज के मनोविश्लेषकों ने धर्म-भावना को काम का उन्नयन ही माना है। परन्तु वात्सल्य को रस-परिणति के अयोग्य मानना बहुत ज्यादती होगी, क्योंकि वात्सल्य भाव का सम्बन्ध तो जीवन की एक सर्वप्रधान एषणा—पुत्रेषणा से है। विदेश के सभी मनोवैज्ञानिकों ने भी मातृवृत्ति को एक अत्यन्त मौलिक एवं प्रधानवृत्ति माना है। वात्सल्य मानव-जीवन की एक बहुत बड़ी भूख है जो तीव्रता और प्रभाव की दृष्टि से केवल काम से ही न्यून कही जा सकती है। दूसरे जब तक रति का फ्रायड के ढंग पर विस्तार न किया जाय, वात्सल्य को रस के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता। सूर के वात्सल्य चित्रों को रस का अधिकारी नहीं माना जायगा या उनको शृंगार के अन्तर्गत रख दिया जायगा? रति का काम से असम्पृक्त भी एक रूप हो सकता है—जैसे मैत्री, जिसको ध्यान में रखकर के ही रुद्रट ने 'प्रेयान्' रस का आविष्कार किया था। परन्तु वास्तव में मैत्री शुद्ध भाव न होकर एक मनोवृत्ति है जिसमें अनेक भावों का सम्मिश्रण रहता है। साधारणतः यह रस-दशा को नहीं पहुँच पाता, वृत्तियों का पूर्ण सामंजस्य और विलय केवल मित्रभाव के कारण नहीं हो पाता। जहाँ कहीं होता है वहाँ उसमें काम या उत्साह जैसे किसी प्रगाढ़ मनोवेग का प्राधान्य रहता है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में अरस्तू आदि ने मनोवेग के अर्थ में 'सेंटीमेंट' शब्द का प्रयोग किया है और साधारणतः काव्यगत मनोवेगों को सुन्दर, उदात्त, करुण और हास्य रस इन चार रूपों में विभक्त किया है। यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत अपूर्ण है। सौन्दर्यभाव वास्तव में निरपेक्ष मनोविकार नहीं है—वह हर्ष, रति, विस्मय का ही एक रूप है। किसी सुन्दर वस्तु को देखकर यदि हमारी

वृत्तियों में सामंजस्य मात्र ही स्थापित होता है तो वह प्रतिक्रिया विस्मय कहलायेगी। इन तीनों, या इसी प्रकार के किसी निश्चित भाव से या उनके मिश्र रूप से पृथक् सौन्दर्य-भावना का कोई अस्तित्व नहीं है। सौन्दर्य-भावना किस प्रकार अधिकतर हर्ष, रति और विस्मय का योग है, उदात्त भावना उसी प्रकार आश्रय में हर्ष, भय, और विस्मय का योग है और आलम्बन में हर्ष और उत्साह का वह भी निरपेक्ष भाव नहीं है। उस स्थिति के अनुसार संस्कृत का रसशास्त्र अपने अद्भुत और वीर में अन्तर्भूत कर सकता है। गीता में कृष्ण का विराट् रूप अद्भुत के अन्तर्गत आयेगा, रामायण में दिग्विजयी राम का रूप वीर के अन्तर्गत—यद्यपि यह मानने में आपत्ति करना हठधर्मी होगी कि अद्भुत और वीर की अपेक्षा उन दोनों को ही उदात्त या महान कहना अधिक संगत होगा। परन्तु इसका तात्पर्य केवल यही है कि 'उदात्त' शब्द अधिक सचित्र तो है पर वैज्ञानिक नहीं है। शेष दो करुण और हास्य तो पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों शास्त्रों में एक ही हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने जीव की मूल-प्रवृत्तियों का अन्वेषण कर स्थूलतः उनकी संख्या को निश्चित करने का प्रयत्न किया है। ये प्रवृत्तियाँ मानव और मानवेतर प्राणियों में समान रूप से विद्यमान हैं। परन्तु इन वैज्ञानिकों के निर्णय एकस्वर नहीं हैं। इसका प्रत्यक्ष कारण यही है कि मानव मन एक गहन समुद्र है जिसकी तरंगों अथवा वीचियों की निश्चित गणना करना साधारणतः सम्भव नहीं है। मैग्डूगल महोदय ने प्रवृत्तियों और उनसे सम्बद्ध मनोविकारों का वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रवृत्ति	प्रवृत्तिगत भाव
१. भोजनोपार्जन : भोजन-अर्जन करने की प्रवृत्ति	क्षुधा
२. अपकर्षण : किसी वस्तु को त्यागने अथवा उससे दूर हटने की प्रवृत्ति	घृणा : जुगुप्सा
३. काम : प्रेम और यौन सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति	रति
४. भय : दुःखदायी वस्तु से बचकर भागने या शरण लेने की प्रवृत्ति	भय
५. जिज्ञासा : नवीन और अद्भुत वस्तुओं के अन्वेषण की प्रवृत्ति	औत्सुक्य
६. सामाजिकता : सजातीय व्यक्तियों का साहचर्य लाभ करने की प्रवृत्ति	मिलनेच्छा (सहानुभूति)
७. मातृ-भावना : अपत्य स्नेह (बच्चों का संरक्षण करने की प्रवृत्ति)	वात्सल्य
८. आत्मप्रतिष्ठा : अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करके दूसरों पर रौब जमाने की प्रवृत्ति	गर्व : अहंकार
९. अधीनता : अपने से अधिक बलवान के प्रति आदर, प्रश्रय, अधीनता आदि की प्रवृत्ति	दैन्य (कार्पण्य)
१०. क्रोध : बाधा और विघ्न अथवा विरोध को छिन्न-भिन्न कर देने की प्रवृत्ति	क्रोध

११. आर्त-प्रार्थना : स्वयं विफल एवं निराश हो जाने पर दूसरों की सहायता मांगने की प्रवृत्ति — दुःख-कातरता
१२. निर्माण : आवश्यक आच्छादन आदि का निर्माण करने की प्रवृत्ति — सृजनोत्साह
१३. परिग्रह : वांछित वस्तुओं के प्राप्त करने और उन पर अपना अधिकार करने की प्रवृत्ति — अधिकार-भावना
१४. हास्य : दूसरों के दोषों और विकृतियों पर हँसने की प्रवृत्ति — हास

पहले मैग्डूगल ने ये १४ ही प्रवृत्तियां मानी थीं; परन्तु बाद में चार और जोड़ दीं—

आराम : ऐसे स्थान की खोज करना जहाँ शरीर को सुख मिले।
निद्रा : विश्राम अथवा निद्रा की प्रवृत्ति
भ्रमण : नवीन स्थानों में भ्रमण करने की प्रवृत्ति।
कफ, छींक, श्वास-प्रश्वास-मोचन आदि।

इनका सम्बन्ध स्पष्टतः शारीरिक क्रियाओं से अधिक है, अतएव इनका सहकारी मनोविकार या मनःस्थिति बहुत स्पष्ट नहीं होती। निदान ये हमारे विशेष उपयोग की नहीं हैं। उपर्युक्त चौदह प्रवृत्तिमूलक मनोविकारों में भी पहला—क्षुधा सर्वथा शारीरिक है। अतएव काव्य में उसके विशेष उपयोग की आशा करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त शेष तेरह भी आप देखिए—अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से मुक्त नहीं हैं—वे स्पष्टतः एक दूसरे की सीमा-रेखा का अतिक्रमण कर जाती हैं—उदाहरण के लिए सृजनोत्साह और अधिकार-भावना अहंकार की परिधि में ही आ जाती हैं। कार्पण्य और कातरता भी एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं हैं; वास्तव में वे एक ही प्रवृत्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार भी प्रवृत्तिमूलक मनोविकार साधारणतः दस ही हुए—रति, हास, क्रोध भय, घृणा जुगुप्सा, अहंकार, वात्सल्य, कार्पण्य, सहानुभूति (संगेच्छा)। इनमें पहले सात तो संस्कृत स्थायी भावों से प्रायः अभिन्न ही हैं, अहंकार और उत्साह में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। कार्पण्य को भी कुछ आचार्यों ने स्थायी भाव माना है, परन्तु वास्तव में सर्वतन्त्र मत यही रहा है कि भाव से अधिक उसकी स्थिति नहीं होती। यही बात संगेच्छा के लिए और भी निश्चय के साथ कही जा सकती है। अब संस्कृत-साहित्य शास्त्र का एक स्थायी भाव रह जाता है—शोक। क्या कार्पण्य और सहानुभूति दोनों शोक (करुण) के तत्त्व नहीं माने जा सकते?

उपर्युक्त विवेचन से मेरा अभिप्राय संस्कृत के नौ रसों की सार्वभौमिकता स्थापित करना नहीं है। केवल यही संकेत करना है कि हमारा यह वर्गीकरण सर्वथा अनर्गल और कपोल-कल्पित नहीं है। स्थाई भाव की स्थिति पौरस्त्य और पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है और संख्या-निर्धारण भी सर्वथा निराधार नहीं है। परन्तु क्या कोई भी वर्गीकरण और निर्धारण निर्दोष हो सकता है?

संचारियों की स्थिति अपेक्षाकृत निर्बल है। इसके दो प्रत्यक्ष कारण हैं—एक तो इन

तेंतीस संचारियों में कुछ स्पष्टतः ऐसे हैं जो शारीरिक क्रियाएँ ही अधिक हैं, मानसिक विकार उनमें गौण होता है। उदाहरण के लिए अपस्मार, निद्रा आदि। स्वप्न और मरण को भी भाव कहना निश्चय ही असंगत होगा। दूसरे हमारे नित्यप्रति के अनुभव में और भी अनेक ऐसे भाव आते हैं जिनकी स्थिति इन तेंतीस से बाहर है। संस्कृत-आचार्यों के सम्मुख भी यह प्रश्न आया है—मात्सर्य, उद्वेग, सम, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कण्ठा, और माधुर्य आदि भाव उसके सामने आये हैं, परन्तु उन सभी का इन्होंने अन्तर्भाव कर दिया है—जैसे मात्सर्य का असूया में, उद्वेग का त्रास में, दम्भ का अवहित्थ में, ईर्ष्या का क्षमा की वृत्ति में, उत्कण्ठा का औत्सुक्य में। परन्तु आज इससे सन्तोष नहीं होता। इस तरह तो धृति का मति में, विषाद का चिन्ता में अन्तर्भाव भी माना जा सकता है। पौरस्त्य-मीमांसा के अनुसार भी अनेक मनोविकार ऐसे हैं जो इनकी परिधि से बाहर है—उदाहरण के लिए आदर, श्रद्धा, पूजा आदि प्रश्रय के विभिन्न रूप, अथवा औदार्य, दया, स्नेह आदि अनुकम्पा के अन्तर्भेद, या फिर द्वेष पक्ष में असन्तोष, अवमानना, अविश्वास आदि को लिया जा सकता है। डा० भगवानदास ने पौरस्त्य विचार-शास्त्र के अनुसार ही चौंसठ मनोविकारों की गणना की है जिनमें उपर्युक्त सभी तथा उनके अतिरिक्त और भी कई मनोविकार संस्कृत साहित्य-शास्त्र के तेंतीस या बयालीस संचारियों की परधि से बाहर पड़ते हैं। वास्तव में जैसा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने कहा है मनोविकारों की गणना करना तथा उनको पृथक् रूप से वर्णन करना केवल कठिन ही नहीं, असम्भव भी है, क्योंकि मनोविकार तो मन की, वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया है जो प्रत्येक वस्तु के साथ बदलती रहती है। मन में असंख्य तरंगें उठती हैं जो एक दूसरे से अनेक रूपों में मिलकर न जाने कितने मनोविकारों का आविर्भाव करती रहती हैं। साधारणतः मौलिक मनोविकारों की गणना करना ही अत्यन्त कठिन है, फिर मिश्र और व्युत्पन्न मनोविकारों का तो अन्त ही कहाँ है ?

अब इस अध्ययन के कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१. आरम्भ में तो संस्कृति-साहित्य के स्थाई भावों का वर्गीकरण और विवेचन उपलब्ध साहित्य के आधार पर किया गया था; परन्तु बाद में दार्शनिक आचार्यों ने मीमांसा आदि के बल पर उन्हें व्यापक बनाते हुए वैज्ञानिक रूप दे दिया।

२. आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी यह विवेचन अमनोवैज्ञानिक और अनर्गल नहीं है। पौरस्त्य और पाश्चात्य मनःशास्त्रों की कसौटी पर वह बहुत अंशों में खरा उतरता है। संचारी तो मनोविकारों का पर्याय ही है। स्थाई भाव की स्थिति मौलिक मनोवेगों की है जो अपनी शक्ति, स्थाइत्य और अभाव के कारण मानव जीवन की संचालक एवं प्रेरक वृत्तियाँ हैं।

३. इन मनोवेगों की संख्या निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। यह देखते हुए भी कि संस्कृत के आचार्यों ने अपने नौ स्थायियों के अन्तर्गत ही सब सशक्त मनोवेगों का समाहार कर दिया है, इस संख्या को सर्वथा निर्दोष और पूर्ण नहीं माना जा सकता। वात्सल्य को रति से पृथक् स्थान देना ही होगा। करुण की परिधि में भी शोक के अतिरिक्त अनुकम्पा, कार्पण्य आदि का समावेश करना होगा। रुद्रट ने तो सभी संचारियों के लिए ऐसा कहा है, परन्तु कम

से कम कुछ एक में—जैसे गर्व, ग्लानि, असूया आदि में रस-परिणति की क्षमता अवश्य माननी पड़ेगी। इस प्रकार साधारण संशोधन, परिशोधन और विशेष व्याख्यान के द्वारा स्थाई की स्थिति बहुत कुछ वैज्ञानिक बन सकती है।

४. संचारियों का वर्णन और विवेचन स्पष्टतः अपूर्ण और सदोष है। उनमें से ऐसे संचारी भावों को तो निकलना ही पड़ेगा जो मुख्यतः शरीर के धर्म हैं। इसके अतिरिक्त गणना का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा—आलोचक अधिक-से-अधिक यही कर सकता है कि जिन मनोविकारों का नाम और परिभाषा दे दी गई है, उनका काव्य-सामग्री के विश्लेषण में मनोविज्ञान के अनुकूल उपयोग करले। बस, इससे आगे और कुछ उसके लिए सम्भव नहीं है।

काव्य-रसास्वादन के निर्धारक तत्त्व

राकेश गुप्त

काव्य-रसास्वादन से हमारा अभिप्राय उन समस्त भावनाओं से है जो काव्य, नाटक, चित्रपट आदि के परिदर्शन की प्रतिक्रियास्वरूप हमारे मन में उत्पन्न होकर हमारी चित्त-वृत्तियों को अपने में संलग्न रखती हैं। इन भावनाओं पर हमने अन्यत्र विस्तारपूर्वक विचार किया है[1]। रसास्वादन सम्बन्धी इन भावनाओं के विषय में अत्यधिक संकुचित दृष्टिकोण रखनेवाले आचार्यों ने यदि उनके निर्धारक तत्त्वों का हमें कोई विवरण नहीं दिया तो इस पर हमें आश्चर्य न होना चाहिये, क्योंकि काव्य की वर्ण्य-मनोवेग सामग्री से सहृदय परिदर्शक के अनुभव की अविभिन्नता मानते हुए वे उस वर्ण्य-सामग्री के अतिरिक्त और किसी निर्धारक तत्त्व की कल्पना भी किस आधार पर कर सकते थे ?

भारतीय रस-शास्त्र का इतिहास रस-स्थिति-स्थान-सम्बन्धी अनेक वाद-प्रतिवाद तथा मतभेदों से भरा पड़ा है। सहृदय प्रेक्षक के स्थान पर रस अथवा सम्बन्धित स्थायी भाव की स्थिति किसी के[2] द्वारा आश्रय अथवा नायक में और किसी के[3] द्वारा तो अभिनेता तक में मान ली गई है। मत की इस विभिन्नता का कारण 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना:' अथवा 'भिन्न-रुचिर्हि लोक:' न होकर इस विज्ञान विवेचन में की गई वह परम्परागत भूल है जिसके द्वारा आश्रय-नायक, अभिनेता एवं प्रेक्षक की मनस्थितियों के मनोवैज्ञानिक अन्तर की उपेक्षा की गई है। नायक के मन में रस की स्थिति मनानेवालों का विचार इस दृष्टिकोण से समीचीन ही था कि वर्णित आलम्बन-उद्दीपन विभावों तथा अनु-संचारी भावों का सीधा सम्बन्ध पाठक

---

१ लेखक के मत से परिदर्शक के मन में काव्य-परिदर्शन की प्रतिक्रियास्वरूप छः प्रकार की भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं : संवेदनात्मक, प्रतिवेदनात्मक, स्मृत्यात्मक, औत्सुक्यात्मक, चिन्तनात्मक तथा आलोचनात्मक।

२ भट्टलोल्लट।

३ शंकुक।

अथवा श्रोता से न होकर नायक से ही होता है, और उनके प्रभावस्वरूप जागरित स्थायी भाव का आश्रय भी नायक का ही मन होता है। इसी प्रकार यदि किसी भी सफल रंगमंच अथवा रजतपट पर नायक का अभिनय करनेवाले अभिनेता के मनोवेगों ने नायक के मूल मनोवेगों के अत्यन्त निकट होने के कारण[1] कुछ आलोचकों को अभिनेता में ही इसकी स्थिति मानने के लिये आकर्षित किया, तो इसे भी स्वाभाविक ही मानना चाहिये। आचार्य विश्वनाथ ने सहृदय प्रेक्षक के व्यक्तित्व का नायक के व्यक्तित्व के साथ एकीकरण होना मानते हुए भी उनके अनुभव में विभिन्नता लाने के लिये विभावन अथवा साधारणीकरण नाम के एक अलौकिक व्यापार की कल्पना की। परन्तु उनका यह प्रयत्न मनोविज्ञान के क्षेत्र से बाहर होने के कारण पूर्व-कथित भूल को सुधारने में समर्थ न हो सका।

मनोवेगों के सम्यक् प्रस्फुटन के सम्बन्ध में स्थाई भावों, विभावों एवं अनुभावों की मान्यता सर्वथा अविवादास्पद है, और आधुनिक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भी इन तत्त्वों को इसी रूप में मानते चले आ रहे हैं। पर काव्य-रसास्वादन पर विचार करते हुए हम इन तत्त्वों का काव्य के आस्वादक अथवा परिदर्शक से वही सम्बन्ध नही मान सकते जिससे कि ये नायक अथवा आश्रय को प्रभावित करते हैं। मानव स्वयं एक जीवित और चिन्तनशील प्राणी है। वह काव्य का जिस रूप में आस्वादन करता है, काव्य की भाव-विचारधाराओं का उस पर जो प्रभाव पड़ता है, काव्य-सामग्री उसके लिये आलंबन मात्र है और स्वयं वह उस आलंबन का आश्रय है। जिस प्रकार मात्र आलंबन का परिचय पाकर हम किसी मनोवेग के स्वरूप का यथातथ्य निर्णय नहीं कर सकते, उसी प्रकार केवल किसी काव्यांश को देखकर किसी विशेष आस्वादक के रसास्वादन-सम्बन्धी मनोभावों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी अपूर्ण ही नहीं, नही के बराबर होगी। आस्वादक-परिदर्शक को आश्रय तथा आस्वाद्य-विषय काव्य को आलंबन मानते हुए काव्य-रसास्वादन के अन्य निर्धारक तत्त्वों का अन्वेषण ही प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है।

यद्यपि, जैसा कि हमने देखा, किसी भी भावना का परिचय हम उसके आश्रय और आलम्बन मात्र से नहीं पा सकते, तो भी इन तत्त्वों की प्रमुखता इस कारण सुनिश्चित है कि इन्हीं के आधार पर हमें अन्य तत्त्वों की ओर बढ़ने में सहायता मिलती है। काव्य की विषय-सामग्री हमारी अनुभूति का विषय बनने से पहले गद्य-पद्य, नाटक-कहानी आदि का रूप धारण करती है, तथा इसके अतिरिक्त हम उसका आस्वादन भी पुस्तक के रूप में पढ़कर, चित्रपट पर देखकर इत्यादि अनेक प्रकार से कर सकते हैं। जिस परिस्थिति एवं वातावरण में काव्य के परिदर्शन अथवा सृजन की क्रिया सम्पादित होती है, उसका भी रस के आस्वादन में विशेष महत्त्व है। आस्वादक की ओर आते हुए हम उसकी रुचि और प्रकृति को कभी भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते। फिर एक ही आस्वादक की मनस्थिति सचमुच सब समय एक-सी नहीं रहती और यह तो निर्विवाद ही है कि काव्य के आस्वादन का रूप भिन्न-भिन्न मन-

१ देखिये साहित्यदर्पण, तृतीय अध्याय।

स्थितियों में कभी भी एक-सा नहीं रह सकता। अन्ततः किसी विशेष काव्यांश को एक परिदर्शक ने कितना और किस रूप में समझा है, बिना इसके जाने उसके आस्वादित रस का ठीक-ठीक अनुमान लगाना हमारे लिये सम्भव नहीं है। काव्य-रसास्वादन के निर्धारक तत्त्वों का यह वर्गीकरण अधःचित्रित वृक्ष के देखने से सर्वथा स्पष्ट हो जायगा। आगे के पृष्ठों में हम इन तत्त्वों में से प्रत्येक पर अलग-अलग कुछ अधिक विस्तार से विचार करेंगे।
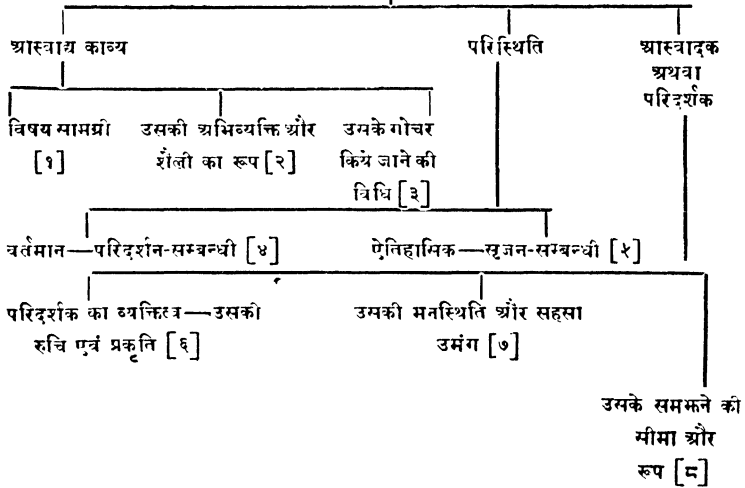
विषय-सामग्री[1], रूप सौन्दर्य-विहीन कंकाल के सदृश होते हुए भी उसके समान वीभत्स एवं अरुचिकर नहीं है; क्योंकि कभी-कभी अभिव्यक्ति से सर्वथा स्वतन्त्र रूप में भी उसकी महत्त्वपूर्ण सत्ता एवं निर्बाध आकर्षण उपेक्षणीय नहीं कहे जा सकते। रामचरित का विषय ही प्रायः भक्तों को रस-विह्वल करने के लिए पर्याप्त होता है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' के आरंभ में कहा है —

राम, तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है;
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है!

१ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगल का विश्वास था कि कला का सौन्दर्य उसकी विषय-सामग्री के सौन्दर्य पर ही अवलम्बित है।

गुप्तजी के पक्ष में यदि इसे मात्र विनय ही कहा जाय तो भी जिस मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर ये पंक्तियाँ संकेत करती हैं उसकी सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता। साहित्य-सौष्ठव तथा भाषा-चमत्कार में शून्य कबीर की 'अटपटी बानी' में जिन रसज्ञों ने उच्चतम कला के दर्शन किये हैं, निश्चय ही उनके मत में बाह्य स्वरूप में विषय का प्राधान्य कई गुना है। स्वयं तुलसीदासजी ने, जिनके कला-पक्ष की भी विशिष्टता के विषय में समालोचक प्रायः एकमत हैं, सामग्री के आगे अभिव्यक्ति को अत्यन्त गौण स्थान दिया है। उनके मत से वाणी की सार्थकता भगवान् के गुणगान में ही है[1]। इसके अतिरिक्त चित्रपट-प्रेक्षकों के वातावरण में हम ट्रैजिक (दुःखान्त), कॉमिक (हास्यपूर्ण) अथवा स्टण्ट (उछलकूद-पूर्ण) चित्रों के प्रेमियों की चर्चा प्रायः सुनते हैं। इससे भी विषय-सामग्री की आधार भूमि पर रुचि-निर्माण का होना प्रकट होता है।

पर प्रत्येक विषय-सामग्री हमारे मन तक पहुँचने से पहले एक शैली, एक आकार[2] धारण करती चली आती है, जिसके बिना उसके अस्तित्व का हम स्पर्श भी नहीं कर सकते। गद्य-पद्य, अलंकार, भाषा, वाक्य-विन्यास, छन्द, गति, नाटक, कहानी, उपन्यास, महाकाव्य इत्यादि उस आकार और शैली के अंग हैं, तथा रसानुभूति अथवा काव्य-प्रभाव के निर्णय करने में इनमें से प्रत्येक की अपने-अपने स्थान पर उपयोगिता एवं महत्त्व है। पद्य का प्रभाव प्रायः गद्य से अधिक होता है, पर वर्तमान युग में काव्य के अंगों में विकास होने के साथ-ही-साथ गद्य की आवश्यकता भी बहुत बढ़ गई है। कहानी, उपन्यास, नाटक एवं एकांकी नाटक को आज हम पद्य में न तो लिखना ही पसन्द करते हैं और न पढ़ना ही। संस्कृत एवं हिन्दी दोनों के साहित्य-शास्त्र में यद्यपि काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता माननेवालों का एक अलग

१ जदपि कबित रस एकउ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं॥
सोइ भरोस मोरें मन आवा। केहिं न सुसंग बड़प्पन पावा॥

× × ×

कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी। गावहिं हरि जस कलिमल हारी॥
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥
—कल्याण, मानसांक, पृष्ठ ६८-६९।

२ उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मन दार्शनिक हेरबार्ट के मत से कला का सौन्दर्य उसके आकार में ही है। इटली के प्रसिद्ध समालोचक क्रोचे के विचार से विषय-सामग्री को उसके आकार से पृथक् नहीं किया जा सकता। हमारे ऊपर के विवेचन से जिसमें कि हमने विषय-सामग्री और उसके आकार को रसास्वादन के निर्णय में दो भिन्न तत्त्वों के रूप में प्रतिपादित किया है यह स्पष्ट है कि क्रोचे का उपर्युक्त कथन विश्वसनीय नहीं है।

सम्प्रदाय भी रहा है, पर कम-से-कम इतना तो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मानना पड़ेगा कि उनके समुचित प्रयोग से किसी भी रचना के सौन्दर्य को बढ़ाया जा सकता है, और कभी-कभी तो उनकी सहायता से वह प्रभाव उत्पन्न हो जाता है जिसे मानव और किसी प्रकार से पैदा करने में अक्षम है। इतिहास अभी बिहारी के उस दोहे को, जो कि उनके विलासप्रिय नृपति को महलों से बाहर लाकर राज-कार्य में संलग्न कर सका था[1] तथा मुहम्मदशाह के वजीर के उस शेर को, जिसने पाषाण-हृदय नादिरशाह को दिल्ली का कत्लेआम बन्द करने की आज्ञा देने के लिए प्रेरित किया था[2], नहीं भूला है। भाषा और वाक्य-विन्यास की इच्छित मनस्थिति बनाने के लिए भाव का अनुसरण करना अत्यन्त आवश्यक है। विशेषकर ओज और उत्साह की भावना तो हमारे मन में शिथिल भाषा के द्वारा कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकती [3]। इसी प्रकार से सभी छन्द और गतियाँ भी सभी रसों के लिए समान रूप से उपयुक्त नहीं होतीं। हिन्दी और संस्कृत के अनेक आचार्यों ने रसों के आधार पर छन्दों का वर्गीकरण भी किया है, जो कि प्रायः वैज्ञानिक है। कहानी, नाटक आदि का भी वस्तुतः अपना-अपना अलग-अलग रस होता है जिसे कहानी-रस नाटक-रस आदि नामों से पुकारा गया है। यही कारण है कि शरत् बाबू के एक ही कथा-वस्तु पर लिखे गये 'रमा' नाटक तथा 'ग्रामीण' समाज, उपन्यास को साथ-साथ पढ़ना रसज्ञों को रोचक हुआ।

---

१ नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यौ, आगे कौन हवाल॥
—बिहारी बोधिनी, पृष्ठ १२६।

२ कसे न माँद कि दीगर बतेगे नाज कुशी;
मगर कि जिंदा कुनी खल्क रा व बाज कुशी।

(तेरी दृष्टि-रूपी कृपाण से कोई नहीं बचा; अब यही उपाय है कि मृतकों को पुनः जीवित करके कत्ल कर)।

—प्रेमचन्द की 'वज्रपात' कहानी से।

३ पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की ओजपूर्ण भाषा का एक उदाहरण, जिसे पढ़ते ही मन में उत्तेजना और वाणी में बल स्वतः उत्पन्न हो जाता है—

"मैं कहता हूँ शासन के सूत्रधारों से—और उनके एक मंगलमय विचार से, मैं कहता हूँ देश के सुन्दर खिलौनों से—और उनकी शैशव मति सुकुमार से, मेरा कहना सुनो—मुझे कहने दो।

"मैं कहता हूँ समाज के शिवालयों, बाल-संस्थाओं के देवताओं की ड्यूटी पर नियुक्त कमज़ोर मनुष्यों से, मैं कहता हूँ शहर-शहर के गली-कूचों में रहनेवाले, डूबकर मछली निगलनेवाले, सत्तर चूहे खाकर दूसरों को हज करने का उपदेश देनेवाले—छुपे रुस्तमों से, मैं कहता हूँ आदर्श का नाम लेकर, प्रथा की दोहाई देकर, सत्य के मुँह पर ढोंग का लिफ़ाफ़ा

इन्द्रियों के प्रयोग के सम्बन्ध से काव्य का आस्वादन तीन प्रमुख रीतियों से किया जा सकता है—कागज़ पर लिखित या मुद्रित रूप में पढ़कर, कविता-पाठ आदि के रूप में सुनकर तथा नाटक-सिनेमा के रूप में देखकर। प्रभावात्मकता एवं अनुभव की तीव्रता में वृद्धि करने के इनमें से प्रत्येक रीति के अलग-अलग साधन हैं। सुन्दर अक्षरों में लिखी गई कोई भी पाण्डुलिपि उस रचना के विषय में ऊँची धारणा बनाने में हमें सहायता देती है। अच्छी छपाई, बढ़िया कागज़ और आकर्षक जिल्द किसी भी ग्रन्थ के मूल्यांकन में कुछ-न कुछ अभिवृद्धि किये बिना नहीं रह सकते। परीक्षण[1] अथवा पुरस्कार[2] के लिए प्रेषित की जानेवाली पुस्तकों के अच्छे-से-अच्छे प्रकाशन का प्रयास इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का उदाहरण है। कवि-सम्मेलनों में हमें प्रायः वे ही रचनाएँ विशेष पसन्द आती हैं जो कि मधुर स्वर से पढ़ी गई हों। करुणा की भावना से परिपूर्ण कोई भी कविता तब तक हमारी आँखों में आँसू नहीं ला सकती जब तक कि उसके पाठक की वाणी का संगीत रुदन की प्रतिध्वनि न हो। किसी महाभयानक रोमांचकारी दृश्य का वर्णन हमें स्तम्भित करने में तभी समर्थ हो सकता है जब कि उसके शब्द-शब्द से वैसी ही गुंजार निकलती हो। रंगमंच और रजतपट का आकर्षण स्वाभाविक अभिनय एवं उनके अपने-अपने अन्य अंगों के सानुपात तथा सफल समन्वय के ऊपर ही निर्भर रहता है। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात ध्यान देने की यह है कि तात्कालिक प्रभाव पढ़ने से अधिक सुपाठत काव्य के सुनने का, और सुनने से भी अधिक सुन्दर अभिनय देखने का होता है; फिर चाहे वह उतना स्थाई न हो। बच्चन की कविता के प्रति जन-साधारण का आकर्षण तथा अनेक किशोर-कवियों द्वारा उनका अनुकरण सबसे अधिक एक बार उन्हें सुन लेने के पश्चात ही हुआ। इसी प्रकार सिकन्दर-चित्र में सिकन्दर के द्वारा कहे गये 'हम खुश हुए' वाक्यांश का उसी स्वर में उसे अपना तकिया-कलाम बनाने के प्रयत्न के साथ अनुकरण करना हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यिक श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने[1] अपने लिए गौरवास्पद समझा, तथा पं० सोहनलाल द्विवेदी को उसी चित्र के

चढ़ाकर अपने कण्ठ और स्वर को छिपाकर झिलमिल गम्भीरता के कण्ठ और स्वर से बोलनेवाले महाशयों से, मेरा कहना सुनो, मुझे कहने दो।"

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के हिन्दी की 'गद्य-शैली का विकास' के तृतीय संस्करण में 'चाकलेट' से १८४ पृष्ठ पर उद्धृत।

१ डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने थीसिस 'ला लॉग ब्रज' के विषय में चर्चा करते हुए एक बार कहा था कि यद्यपि इस प्रकार ग्रन्थों को मोटे टाइप में अधिक आकार देकर सुन्दर गेट-अप के साथ प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाता है, पर स्वयं उनको प्रकाशन-व्यय में कमी करने के उद्देश्य से अपने ग्रन्थ के लिए छोटे-से-छोटा टाइप ढूँढना पड़ा।

२ 'दुलारे-दोहावली' और 'चित्ररेखा' के प्रथम डी-लक्स संस्करण कदाचित् देव-पुरस्कार को ध्यान में रखकर ही प्रकाशित किये गये थे।

१ एक बार मेरे साथ चाय पीते हुए किसी प्रसंग में वाजपेयीजी ने सिकन्दर के

गाने की एक पंक्ति का—'जीते देश हमारा'—बार-बार पाठ करना रोचक हुआ।

भावात्मक प्रभाव की तीव्रता वास्तव में अनुकूल परिस्थिति के संयोग से सर्वत्र बहुत बढ़ जाती है। मेरे मित्र श्री निरंकारदेव सेवक ने एक बार बरेली कॉलिज में प्रो० रामाश्रय मिश्र की विदाई पर एक कविता पढ़ी। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि उस कविता को सुनकर अनेक स्थलों पर मेरे तथा अन्य अधिकांश श्रोताओं के नेत्रों से बरबस अश्रुधारा प्रवाहित हो चली थी। बाद में उस कविता को जब मैंने उस परिस्थिति से दूर होकर, पर उसकी याद रखते हुए, अपने-आप पढ़ा, तो उस समय मुझे स्वयं यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि आँसुओं की तो बात ही क्या उसके प्रभाव-स्वरूप एक करुणापूर्ण भावना भी अन्तस्तल को आर्द्र न बना सकी। परिस्थिति की स्पष्ट पृष्ठभूमि के बिना किसी भी मुक्तक रचना का भावात्मक प्रभाव, उसके अन्दर रस के विभिन्न अंगों की संयोजना कितनी ही कुशलता के साथ क्यों न की गई हो, नगण्य ही होगा। यही कारण है कि आधुनिक छाया-वादी कविता असीम वेदना की अनन्त सृष्टि अपने साथ लेकर चलते हुए भी पाठक की संवेदना का एक कण भी प्राप्त नहीं कर पाती। जयशंकर 'प्रसाद' का 'आँसू' पढ़ते हुए हम भावुक-से भावुक पाठक की आँखों में कभी सजलता की क्षीण छाया भी न देख सके। एक प्रबन्ध-काव्य को मुक्तक की अपेक्षा बाह्य-परिस्थिति की अनुकूलता का मुखापेक्षी बहुत कम रहना पड़ता है। उसकी भावानुकूल परिस्थिति का निर्माण लेखक स्वयं उसके अन्दर ही करता है। 'झूला' चित्र का सबसे करुण स्थल सिनेमा-हॉल में किये गये मेरे निरीक्षण तथा अनेक मित्रों से किये गये प्रश्नोत्तरों के आधार पर वह दृश्य है जिसमें गीता (लीला चिटनीस) शहर में जाकर सुरेश-रमेश (अशोक कुमार) की तस्वीर देखते हुए रेडियो पर गाया गया 'मेरे बिछुड़े हुए साथी तेरी याद सतावे' गाना सुनती है। रूमाल आँखों की ओर सबसे अधिक संख्या में उस समय जाते हैं जबकि हमें 'फिर भी यह तस्वीर तुम्हारी हमको तरसावे'—इस पंक्ति के द्वारा स्वयं नायिका की वास्तविक मनःस्थिति का संकेत मिलता है। बिना उस परिस्थिति के, जिससे कि हम उक्त चित्र को इस स्थल तक देख चुकने पर अवगत होते हैं, यह गाना हमारा थोड़ा-सा मनोरंजन भले ही कर दे, हमें करुणाभिभूत नहीं बना सकता। जहाँ तक सामूहिक मनोविज्ञान का एक स्वतन्त्र और अलग विषय के रूप में पश्चिम में विशेष अध्ययन हुआ है। प्रायः यह देखा जाता है कि भावात्मक प्रभाव एक एकाकी व्यक्ति की अपेक्षा एक विस्तृत जन-समूह के ऊपर अधिक स्पष्ट होता है। एक ओजपूर्ण भाषण एक बन्द कमरे में यदि अकेले हमें दिया जाय, तो हमें उतना

राजसी बड़प्पन का अनुकरण करते हुए 'हम खुश हुए' कहा। मैंने उनसे अचानक यह पूछ डाला कि उक्त वाक्यांश का प्रयोग आप सिकन्दर देखने के पहले भी करते थे, या उसके बाद ही आपने आरम्भ किया है। मेरे व्यंग्य को समझते हुए उन्होंने गम्भीरता के साथ द्वयार्थक उत्तर दिया, "सत्य कुछ भी हो, पर अब तो मैं यही कहूँगा कि 'सिकन्दर' देखने के बाद से ही मैंने इस वाक्यांश का प्रयोग आरम्भ किया है।" अपनी अशिष्टता के लिए—यदि इस प्रश्न के करने में कुछ भी हुई हो तो—मैंने उनसे उसी समय क्षमा माँग ली थी।

उत्तेजित नहीं कर सकता जितना कि वही भाषण भीड़ में दिये जाने पर और अनेक लोगों के साथ हमें भी जोश से भर देगा। कभी-कभी अनेक श्रोतागणों की प्रशंसा के बीच में पढ़ी गई कविता हमारी भी प्रशंसा की भावना को उससे कहीं अधिक जाग्रत कर देती है जितनी कि वह हमें व्यक्तिगत रूप से सुनाई जाने पर कर सकती थी।

लेखक के वातावरण से सम्बन्ध रखनेवाली सुदूर परिस्थितियाँ भी, यदि हम उन पर विचार करें तो, हमारी रसानुभूति के निश्चय करने में अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। काव्य आस्वादन के समतल, सीधे एवं प्रशस्त राजमार्ग को किसी भी रचना के परिदर्शन के पग-पग पर मिलनेवाले अन्तर्विरोध, आदर्शों की विभिन्नताएँ, विचारों की असमानताएँ तथा कला और सत्य-सम्बन्धी त्रुटियाँ झाड़-झंखाड़मय एवं सँकरीला बना देती है। उसे पहले जैसा सहजगम्य बनाने के लिए सहिष्णुता के उस रथ की आवश्यकता है जिसके द्वारा हम लेखक के व्यक्तित्व को अपने व्यक्तित्व से अधिक प्रधानता देकर उसी के दृष्टिकोण उसकी कृति को देख सकें, जिसके द्वारा हम उसके युग की सामाजिक एवं राजनीतिक विचारधाराओं, साहित्यिक आदर्शों तथा कवि-समय तथा कवि-प्रसिद्धिओं[1] को अपने समय की कसौटियों पर जाँचने का प्रयत्न न करें, और जिसके द्वारा हम उसके दोषों को यथासम्भव भुलाकर उसके गुणों को ही अपने दृष्टिपथ पर रखते हुए उसे अपनी सहानुभूति के अनन्त कोष का अधिकारी बना सकें। पर यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सहिष्णुता के इस रथ के संचारण और शक्ति की सीमाएँ अपरिमित नहीं हैं, और जब तक कि उसे किसी काव्य रचना में स्थल-स्थल पर झाँकती हुई असाधारण प्रतिभा की किरणों का पाथेय नहीं मिलता, उसमें होकर उसकी गति अप्रतिहत नहीं रह सकती, एक सुपठित विवेकशील परिदर्शक के सम्बन्ध में मौलिकता के अभाव की परिस्थिति भी उसके आस्वादन में नीरसता उत्पन्न करने का कारण होती है। असाधारण प्रतिभा और मौलिकता के अभाव के ही कारण कदाचित हम पं० राधेश्याम कथावाचक की 'रामायण' का नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास के पृष्ठों में नहीं पाते, यद्यपि जहाँ तक भावात्मक प्रभाव का सम्बन्ध है, उसे पढ़ते हुए स्वयं मेरी आँखें भी अनेक स्थलों पर सजल हो उठी हैं।

'साहित्यदर्पण' तथा 'अग्निपुराण' के लेखकों के मत से केवल निष्पाप आत्मा तथा वासनाख्य-संस्कार से युक्त मनुष्य ही, जो कि सहस्रों-लक्षों में एक-दो बड़ी कठिनता से मिलते हैं, काव्य का आस्वादन करने की योग्यता रखते हैं।[2] पर हमारा उद्देश्य साहित्य को अछूते आदर्शों के आवरण से ढककर उसे जन-साधारण के लिए अगम्य बनना नहीं है। हमारा दृष्टि-

[1] देखिए डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी लिखित "हिन्दी साहित्य की भूमिका" में 'कवि-प्रसिद्धियाँ' शीर्षक अध्याय।

[2] देखिये साहित्यदर्पण तृतीय अध्याय, तथा अग्निपुराण, तीन सौ सैंतीसवाँ अध्याय।

कोण तो एक मनोवैज्ञानिक का है, और काव्य के किसी भी रूप का किसी भी विधि से परिदर्शन करनेवाला कोई भी व्यक्ति हमारे अध्ययन का विषय है, तथा उसका अनुभव हमारे निरीक्षण की सामग्री है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें सर्वत्र काव्य के परिदर्शकों की रुचि और व्यक्तित्व के विभेद पर विशेष ध्यान देना होगा, क्योंकि इनका रसास्वादन के रूप से सीधा सम्बन्ध है। मत और रुचि की विभिन्नता का सिद्धान्त यद्यपि इस देश के मनीषियों द्वारा कदाचित् प्रागैतिहासिक युग में ही मान लिया गया था; पर फिर भी साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में जो हम छोटे-छोटे मतभेदों पर एक-दूसरे की बुद्धि पर तरस खाते हैं, और कभी-कभी तो अशिष्ट शब्दों के प्रयोग करने का भी लोभ-संवरण नहीं कर सकते, इसका कारण हम अपने जीवन में नैतिकता के अभाव के अतिरिक्त और किसे मानें। साहित्य के सृजन में सहयोग देनेवाले तत्त्व एवं आस्वादन के दृष्टिकोण-संख्या में इतने अधिक हैं कि कदाचित् उनकी ठीक-ठीक गणना हम कभी भी नहीं कर सकेंगे। काव्य का प्रत्येक परिदर्शक व्यक्त या अव्यक्त रूप में उससे अपनी कुछ-न-कुछ माँग रखता है, और उसकी इस माँग के पूर्ण होने में ही उसकी आस्वादन-सन्तुष्टि का रहस्य अन्तर्निहित है। उसकी यह माँग क्या है?—इस प्रश्न के उत्तर के आधार पर हम मनोवैज्ञानिक साहित्य-समालोचना की भाषा में किसी सीमा तक उसे सुपठित नागरिक अथवा अपठित ग्रामीण आदि वर्गों में विभाजित अवश्य कर सकते हैं; पर किसी एक वर्ग के विभिन्न सदस्यों की बुद्धि और समझ को नाप सकना हमारी शक्ति से बाहर है। यदि तुलसीदास को कोई हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि नहीं मानता, यदि किसी के दृष्टिकोण से केशव की कविता कृत्रिम और कठिनता से गढ़े गये शब्द-जाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यदि सूरदास का विरह-वर्णन किसी को सर्वथा अस्वाभाविक प्रतीत होता है, तो इनमें से किसी को उसके रुचि-वैचित्र्य के आधार पर हमारा मूर्ख समझ लेना निश्चित रूप से हमारी ही सबसे बड़ी मूर्खता होगी[१]। हमारा उद्देश्य तो यथासम्भव इस बात का अन्वेषण होना चाहिए कि कहाँ तक किसी व्यक्तित्व-विशेष और उसकी रुचि के निर्माण में उसकी परिस्थितियों का हाथ है, और कहाँ तक उसकी मूल-मनोवृत्तियाँ अथवा उसके चेतनाशील अंगों का गठन इसके लिए उत्तरदायी है।

हमारी मनःस्थिति प्रायः एक साधारण-सी ही घटना से परिवर्तित होकर हमारे काव्यास्वादन के रूप को सर्वांशतः बदल देती है। अभी-अभी हम मस्ती और मादकता के प्रवाह में डूबे हुए शृंगार के रंगीन दृश्यों का सुखानुभव कर रहे थे कि अपनी स्नेहमयी मृत पत्नी की याद हो आई। प्रेम की वह स्वर्णमयी सृष्टि, जो हमारे नेत्रों के आगे नृत्य कर रही थी, ज्वालामुखी के समान भीषण होकर सौ बिच्छुओं के एक साथ दंशन की पीड़ा हमें पहुँचाने लगी; और हमारी भावनाओं को महा आनन्द के उच्च स्तर से असह्य वेदना के सुदूर अंक में जाते हुए कुछ भी समय न लगा। मनस्थिति हमारी अन्तर्परिस्थिति है और वाह्य-

१ पाठक यहाँ पर इन कवियों के विषय में लेखक के किसी मत को ढूँढने का प्रयत्न न करें।

परिस्थिति की भाँति ही जिसके ऊपर हम पहले ही विचार कर चुके हैं, सम्यक् रसास्वादन के लिये इसका भी अनुकूल होना अत्यन्त आवश्यक है। महात्मा गाँधी ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर को एक बार एक पत्र में लिखा था कि क्षुधा की ज्वाला से संत्रस्त कोटानुकोट भारतीय केवल एक कविता की चाह करते हैं, और वह कविता है बल-स्फूर्तिदायक भोजन। गाँधीजी के इस कथन का निर्देश इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर है कि एक क्षुधित मनुष्य की मनस्थिति काव्य-रस का आस्वादन करने के योग्य नहीं होती। कभी-कभी किसी ऐसे दृश्य या स्थल को, जो हमारी विशेष रुचि का परिचायक न हो, यदि हम एकाएक पसन्द कर उठें, तो उस पसन्द को और किसी उपयुक्त नाम के अभाव में 'सहसा उमंग' कहा जासकता है, और उसका निर्देश मनःस्थिति के प्रसंग में ही करना अधिक समीचीन होगा। मेरे मित्र श्री नूतनदेव ने 'खजांची' चित्र देखते समय 'बहुत सुन्दर' शब्दों का उच्चारण केवल उमर खैयाम के दृश्य पर करते हुए इसी प्रकार की पसन्द का एक उदाहरण प्रस्तुत किया था।

काव्य-रसास्वादन का अन्तिम निर्धारक तत्त्व, जो कि हमारे इस विचार-क्रम में अन्तिम होने के कारण किसी दूसरे तत्त्व से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, हमारे समझने की शक्ति और सीमाओं से सम्बन्ध रखता है। शब्द और दृश्य एक प्रकार के प्रतीक हैं जिनका अभिप्रेत अर्थ बहुत कुछ निश्चित होते हुए भी सदैव एक-सा नहीं रहता। शब्दों की व्यंजना और लक्षणा शक्तियाँ उनके अर्थ-विस्तार की सीमा को क्षितिज के समान अस्पृश्य बनाती हुई और भी जटिलता उपस्थित करती हैं, और कभी-कभी तो पाठक को प्रणेता की भी इष्ट-भावना तथा विचारों से बहुत आगे ले जाती हैं। पर परिदर्शक किसी भी रचना का आस्वादन अपने समझने की सीमाओं के आधार पर करने के लिये विवश है, फिर चाहे वे सीमाएँ मूल-सीमाओं से किसी भी रूप में सम्बन्धित क्यों न हों। अर्थ के विषय में मतभेद अनेक बार बडे बड़े साहित्यिक विवादों का कारण हुआ है[1]। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि किसी कविता को बार-बार पढ़ने पर उससे प्रत्येक बार कुछ-न कुछ नवीन अर्थ एवं उसके साथ कुछ-न-कुछ नया रस भी प्राप्त होता है। कुछ समालोचकों ने तो इसे अच्छे काव्य का आवश्यक गुण माना है[2]।

पक्षपात अथवा पूर्व-निर्णय को भी, यदि हम चाहें तो, रसास्वादन के रूप को निश्चित करनेवाला एक स्वतन्त्र तत्त्व मान सकते हैं; यद्यपि इसका बहुत कुछ समावेश, यदि यह क्षणिक हो तो, हमारी मनःस्थिति में, और यदि स्थाई हो तो, हमारे व्यक्तित्व और रुचि में हो जाता है। अपने कार्यशील होने के समय यह अन्य तत्त्वों के स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक प्रभाव को कभी-कभी विपरीत या क्षीण और कभी-कभी अतिरंजित भी कर देता है। यदि

१ उदाहरणार्थ, मिश्रबन्धुओं और लाला भगवानदीन का देव और बिहारी पर प्रसिद्ध विवाद।

२ "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाम्"—कालिदास की इस रमणीयता की परिभाषा को प्राय: काव्य की रमणीयता के लिए भी गृहीत किया जाता है।

कभी कोई हमारी अनचाही पुस्तक अत्यन्त मनोरम रूप में प्रकाशित होकर हमारे सामने आती है तो प्रायः उसके प्रति हमारी भावना और भी तीव्र हो उठती है। इसी प्रकार अपने विशेष प्रिय एवं विशेष अप्रिय लेखकों की नवीन कृतियों का परिशीलन करते हुए हमें क्रमशः उनके अवगुण भी गुण और गुण भी दोष प्रतीत होने लगते हैं। पर यहाँ इस बात को भी नहीं भूलना चाहिये कि कभी-कभी किसी दोष अथवा गुण का अपना निजी वेग इतना प्रबल हो सकता है कि वह हमारे पक्षपात की दृढ़ चट्टान को भी तोड़कर हमारे अन्तःकरण के आगे अनावृत्त प्रत्यक्ष हो उठे। अपने इसी विशेष लक्षण के कारण पक्षपात का तत्त्व मनःस्थिति तथा रुचि दोनों से भिन्न है, और काव्य-रसास्वादन का निर्णय करनेवाले तत्त्वों में अपना स्वतन्त्र स्थान रख सकता है।

यद्यपि शास्त्रीय दृष्टिकोण से काव्य-रसास्वादन के निर्धारक इन आठ या नौ तत्त्वों का, जिनका विवरण हमने इन पृष्ठों में दिया है, महत्त्व प्रायः समान ही है; पर रसास्वादन के पृथक्-पृथक् दृष्टान्तों में इनमें से प्रत्येक की एक-सी प्रधानता मानना भूल ही होगी। अनुभूति के कर्त्ता, कर्म एवं क्षणों के सम्बन्ध से इन तत्त्वों की आनुपातिक मुख्यता कोई भी आकार धारण कर सकती है। इस निबन्ध के आरम्भिक अवतरणों में हमने परिदर्शक को काव्य-रसास्वादन का आश्रय एवं आस्वाद्य-विषय काव्य को उसका आलम्बन कहा था। कदाचित् कोई पाठक यह आशा रखता हो कि हम अन्त में स्वकथित अन्य सभी तत्त्वों के लिए भी रस के अङ्गों में से उपमान ढूँढ़ेंगे। पर सांग-रूपक बाँधने का यह कृत्रिम प्रयत्न हमें बिल्कुल भी अभीष्ट नहीं है। हमारा अभिप्रेत तो उन तत्त्वों के स्वरूप की ओर, जिनसे हमारे काव्य-रसास्वादन की रूप-रेखा निर्णीत होती है, स्पष्टतापूर्वक निर्देश कर देने से ही सिद्ध हो चुका है। इन तत्त्वों से तथा रसास्वादन सम्बन्धी अन्य विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रयोगात्मक विस्तारों में जाना न केवल इस अध्ययन की सीमा के बाहर होगा बल्कि, साथ-ही-साथ हमारे लिए सरलता-पूर्वक सम्भव भी नहीं है, क्योंकि दुर्भाग्यवश अभी हमारे विश्वविद्यालयों में इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए पश्चिमीय अन्वेषण-केन्द्रों के प्रकार की आधुनिकतम साज-सामग्री से युक्त बड़ी-बड़ी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ नहीं हैं। अतएव, जैसी कि आशा की जा सकती है, प्रस्तुत विवेचन का आधार प्रमुखतया प्राप्त वातावरण में किये गये सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का चिन्तनपूर्ण निरीक्षण है। पर कदाचित् वह समय भी अब बहुत दूर नहीं है जब कि प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की सहायता से हम इस अध्ययन को और भी अधिक विकसित करके पूर्णता तक पहुँचा सकेंगे।

कृष्णायन

विनयमोहन शर्मा

भारतीय वाङ्मय कृष्ण के लीला-वैभव से आपूर है। कृष्ण की ऐतिहासिक परम्परा के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कृष्ण का नाम महाभारत तथा पुराणों के अतिरिक्त ऋग्वेद, आरण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् में भी आया है। पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र ने भी उन्हीं कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन की कथा 'कृष्णायन' में चित्रित कर दी है। यह काव्य उनकी हिन्दी-संसार को अमर देन है। तुलसी के 'मानस' के समान मिश्रजी का 'कृष्णायन' भी "नाना पुराण निगमागम ····" है। उसका स्रोत केवल श्रीमद्भागवत नहीं है, महाभारत तथा अन्य पुराण भी हैं। विभिन्न स्रोतों से संचित घटनाओं को इस कौशल से प्रबद्ध किया गया है कि कथा की एकसूत्रता कहीं भी विछिन्न नहीं होती।

'कृष्णायन' के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसमें कृष्ण-चरित्र होने पर भी वह कृष्ण-सम्प्रदाय की परम्परा का काव्य नहीं है। 'गीत गोविन्द' के गायक जयदेव ने कृष्ण-काव्य में जिस माधुर्य-रस की निर्झरिणी प्रवाहित की उसने पूर्व में विद्यापति और पश्चिम में सूर को आप्लावित कर हिन्दी-काव्य में एक परम्परा को ही जन्म दे दिया। इससे सूर के दीक्षागुरु वल्लभाचार्य को अपने सम्प्रदाय की भावना के प्रचार में बड़ी सहायता मिली। व्यवहार पक्ष में वे पुष्टि-मार्ग के समर्थक थे जिस में प्रपत्ति (कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण) के भाव को साध्य माना जाता है।

विद्यापति को छोड़कर हिन्दी के अधिकांश कवियों ने कृष्ण चरित के लिये ब्रजभाषा का आश्रय लिया। अतः सामान्य लोगों की यह भी धारणा बन गई कि कृष्ण चरित्र ब्रजभाषा में ही गाया जा सकता है, 'कृष्णायन' के कवि ने इस धारणा का भी पोषण नहीं किया और ब्रजभाषा के स्थान पर अवधी का प्रयोग किया है तथा दोहा-चौपाई और सोरठा छन्दों का आश्रय लिया है। 'कृष्णायन' के पूर्व संवत् १८०९ में ब्रजवासीदास ने अवधी में दोहा-चौपाई शैली में कृष्णचरित लिखने का प्रयास किया था पर उसमें वृन्दावन पहुँचने तक का ही प्रसंग आ पाया था।

'कृष्णायन' कृष्ण-परम्परा का काव्य नहीं है। इसका कारण यह है कि कवि ने उस

परम्परा के अधिनायक सूर को नहीं, तुलसी को अपना आदर्श माना है।

कृष्णायन, में लगभग एक हजार पृष्ठ चरित्र को केवल दोहा-चौपाई और सोरठा इन तीन छन्दों में ही गूंथ दिया गया है; पर कवि की शब्द-योजना इतनी अधिक गठित और भावानुकूल है कि इन छन्दों में ही अन्य छन्दों की ध्वनि निकलने लगती है। यह स्पष्ट है, विभिन्न छन्द-ध्वनि के कारण 'कृष्णायन' में 'मोनोटनी' नहीं आने पाई है।

'कृष्णायन' के कवि का मन शौर्यपूर्ण कर्मों पर अधिक उल्लसित हुआ है; उसमें स्त्रैण शृंगारमय कृष्ण काव्य-परम्परा की ओर तनिक भी रुझान नहीं है। जहाँ-कहीं शृंगार की अवतारणा हुई भी है वहाँ संयम का माधुर्य ही झलका है। करुण प्रसंगों पर कवि के नेत्र सजल हो उठे हैं। अभिमन्यु की बाल-मृत्यु पर रनिवास के रुदन—उसमें उत्तरा का स्वर अत्यन्त करुण हो उठा है।

अवरोहण काण्ड में मृत सुत के जन्म लेने पर मत्स्य-सुता की वेदना की सघनता निम्न दो पंक्तियों में ही व्यक्त हो गई है।

रहति मूक क्रन्दति पुनि कैसे, हूकति चकवाकि निशि जैसे।

'हूकति' शब्द इस चौपाई का प्राण है। हूक रह-रह कर ही उठती है। असहाय नारी की चित्त-विभ्रमता और आत्म-विस्मृतिमय क्षोभ की प्रतीति करानेवाला इससे उपयुक्त और कौन शब्द हो सकता था?

कृष्ण-चरित के अलौकिक होने के कारण 'कृष्णायन' में यत्र-तत्र अद्भुत रस भी पाया जाता है। वास्तववादियों को इसमें आपत्ति हो सकती है। वे पूछ सकते हैं कि कवि ने कृष्ण के अनैसर्गिक चरित्र-भाग को अपनाने की क्यों आवश्यकता समझी? इस सम्बन्ध में ध्वन्यालोककार का कथन है कि कथा के आश्रय-ग्रन्थ सिद्ध रस हैं। अत: उनमें वर्णित विषयों में स्वेच्छा से कोई कल्पना नहीं करनी चाहिये। रवीन्द्रनाथ भी लोक प्रचलित विश्वासों के उल्लंघन को रस-दोष मानते हैं। प्रसिद्ध आंग्ल समीक्षक ब्रेडले ने भी इसी मत का समर्थन किया है। अत: कृष्ण के अलौकिक चरित्र को अपना कर कृष्णायन कार ने जन श्रद्धा की रक्षा की है और काव्य-रस की भी। जय काण्ड में युद्ध-वर्णन के कई प्रसंगों पर रौद्र, भयानक और वीभत्स रस की साथ ही प्रतीति होती है—

पंकिल महि शोणित वसा, अस्थि केश अंबार
सुख सोवत निष्प्राण भट आहत हाहाकार।
शीर्ण शीश कोउ परिघा घाता, कोउ विदीर्णित गदा निपाता

× × ×

बाणविद्ध कोइ निखिल शरीरा, घूर्णित लोचन व्यथा अधीरा

× × ×

बद्ध मुष्टि युग तीव्र उसासा, निन्दित विधिहिं लखत आकाशा

× × ×

उड़त श्येन बहु घेरि शव गिद्ध काक मँडरात
धावत श्वान शृगाल लरि कीर्प अर्ध मृत खात ।

यद्यपि सूरदास पद-ज्योति के सहारे कवि ने सारे बाल चरित का वर्णन किया है तो भी यहाँ-वहाँ उसकी प्रसंगानुरूप उद्‌भावना आह्लाद दायक है । कृष्ण के यशोदा के प्रति प्रेषित सन्देश में बाल-सुलभ सारल्य देखिये—

कहेउ कान्ह सुन मइया मोरी,
निशि दिन मोहि आवति सुधि तोरी ।
मथुरावासिन करि चतुराई,
मोहि पहरुआ दीन्ह बनाई,
नित प्रति असुर पुरी चढ़ि आवहि,
शिशु विलोकि मोहि मारन धावहि ।
सुमिरि तोहि जब करहु लराई,
निमिष माहिं अरि जात पराई ।

वस्तु-वर्णन के दो अंग होते हैं । एक में मानव-जगत् का समावेश होता है और दूसरे में बाह्य-प्रकृति का । 'कृष्णायन' में इन दोनों अंगों का वर्णन मूर्त्त विधान के रूप में हुआ है । कृष्ण, गोपिका, राधा, कृष्ण, मित्र विन्दा, भीम और अर्जुन आदि के रूप-वर्णनों में स्थिति अनुरूपता है । यौवन अमृत छलकाती हुई मित्र विन्दा चली जा रही है । उसके प्रकृत शृंगार को देखिये—

कनक लता तनु यष्टि सोहाई, आनन शरद इन्दु छवि आई ।
नयन विशाल भ्रमत लगि श्रवणन अंजन रज्जु बद्ध जनु खंजन ।
चितवति तरल विलोचन जेही, मज्जति सुधा उदधि जनु तेही ।
परसति पद प्रवाल जहँ वामा, झरत सहस सरसिज तेहि ठामा ।
उड़त वसन अँग गवनति कामिनि, औचक दमकि जाति जनु दामिनि ।

विश्व-प्रकृति के वर्णन में 'कृष्णायन' का कवि अपने आदर्श कवि तुलसी के समीप आ जाता है । पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य की भूमिका में लिखते हैं, "मानव-प्रकृति का ज्ञान तुलसीदास से अधिक उस युग में किसी को नहीं था; पर यह एक आश्चर्य की बात है कि उन्होंने विश्व प्रकृति को अपने काव्य में कोई स्थान नहीं दिया । "तुलसी की प्रकृति के प्रति निरपेक्ष वृत्ति में द्विवेदीजी को भले ही आश्चर्य दिखे, पर मुझे उसमें कोई आश्चर्य नहीं जान पड़ता । तुलसी की भक्ति-भावना केवल अपने राम के चारों ओर ही मंडराती रही है, उससे बहिर्मुख होकर बाह्य सृष्टि के सौन्दर्य को जी भर देखने का अवकाश कहाँ था । 'कृष्णायन' में प्रकृति वर्णन अधिक विस्तृत है । मथुरा से अवन्तिका के मार्ग के सृष्टि-सौन्दर्य-वर्णन में कवि की शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है—

थल-थल नव-नव प्रकृति स्वरूपा, पल-पल धरित वेश अनुरूपा ।

शरदागम में जब रात-रानी मधु का घट लेकर क्षितिज से उतरती है तब कृष्ण के

अधरों पर वेणु की स्वर-लहरी का बरबस आह्वान हो जाता है। उस मधुमयी यामिनी को कवि ने यमुना-पुलिन पर इस रूप में अवतीर्ण किया है मानो वह कोई सुर कामिनी हो—

विलसत व्योम विमल विधु आनन, कुंचित अलक श्याम शश लाञ्छन।
पुलकित कौमुदि अमल दुकूला, तारक अवलि विभूषण फूला।
बन्धुक अरुण अधर अभिरामा, कलिका कुन्द दशन द्युति धामा।
कैरव कुण्डल श्रवणन धारे, नवल मल्लिका चिकुर सँवारे।
हंस मुखर नूपुर स्वर गावति, अलि ध्वनि किंकिणि वाद्य बजावति।

'कृष्णायन' में चरित्र-चित्रण का स्थान गौण है, फिर भी कवि ने पात्रों के चरित्र-चित्रण में कौशल प्रदर्शित किया है। नारी-पात्रों का त्याग चरम सीमा पर पहुँच गया है। उनका हृदय आकाश-सा निर्मल ही नहीं विशाल भी है। त्याग ही उनमें माधुर्य भर देता है। जितभागी राधा अपने आराध्य को औचक पाकर औचक ही खो देती है और फिर स्वयं उसी में खो जाती है। 'कृष्णायन' की राधा में संयमशीलता तथा आराध्य के प्रति तादात्म्य भाव अपूर्व है। मित्रविन्दा कृष्ण को एक बार देखकर ही उनकी छवि को उर में उतार उसे सँवारने लगती है। पर जब अपनी सखी रुक्मिणी को भी हरि में तल्लीन देखती है तो नारी-हृदय पसीज उठता है। वह उसके पथ से हट जाती है और अपनी सखी को उसकी मनोकामनापूर्ण करने में सहयोग देने का आश्वासन भी दे आता है। मित्रविन्दा जब अपनी माता से यह व्यथा-कथा कहती है तब कितनी उदारता से माता भी अपनी कन्या को सान्त्वना देती है—

वचन जो सखी संग तुम हारा, पालब पावन धर्म तुम्हारा।

और यह भी व्यंग करती है कि तुम्हारी हरि के प्रति तारा प्रीति मात्र थी—

चल राग अनुराग न साँचा, नहिं तेहि माहि सुजन मन राँचा।

तुलसी ने जिस प्रकार राम को भगवान का अवतार लगातार घोषित किया है उसी प्रकार 'कृष्णायन' के कवि ने भी कृष्ण की विभुता से हमें अवगत रखने की चेष्टा की है। अतः उनके चरित्र की लौकिक मापदंड से कोई परीक्षा हो ही नहीं सकती। नर-लीला करते समय उन्होंने जो लोकोद्धारक और गोपीजनवल्लभ रूप धारण किये हैं कवि ने उनमें से प्रथम रूप को दूसरे की अपेक्षा अधिक ग्रहण किया है। इसीसे 'कृष्णायन' शक्ति का काव्य बन गया है। जिसमें जीवन के विभिन्नि अंगों का ज्ञान संचित है। अन्तिम काण्ड में भारतीय दर्शनों की सुन्दर व्याख्या की गई है। हमारे आचार्यों ने अपने मतों-सिद्धान्तों को प्रस्थानत्रयी अर्थात उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर प्रतिष्ठित किया है। पर पुष्टिमार्गियों ने भागवत को व्यास महाराज की समाधि-भाषा मानने के कारण उसका भी समावेश कर लिया है। उपनिषदों का उद्देश्य चरम एकत्व के आविष्कार की चेष्टा है और बहुत्व के भीतर एकत्व की खोज ही सच्चा ज्ञान है।

'कृष्णायन' के सम्बन्ध में डा० राजेन्द्रप्रसाद ने ठीक ही कहा है कि वह युग-प्रवर्त्तक और मानस की भांति घर-घर में प्रवेश पाने की शक्ति रखनेवाला काव्य है। भारतीय संस्कृति के इस पुनरुत्थान-काल में 'कृष्णायन' से जनता को अपूर्व बल, आत्मविश्वास तथा युगानुरूप आचरण करने की प्रेरणा प्राप्त होगी

: ४ :
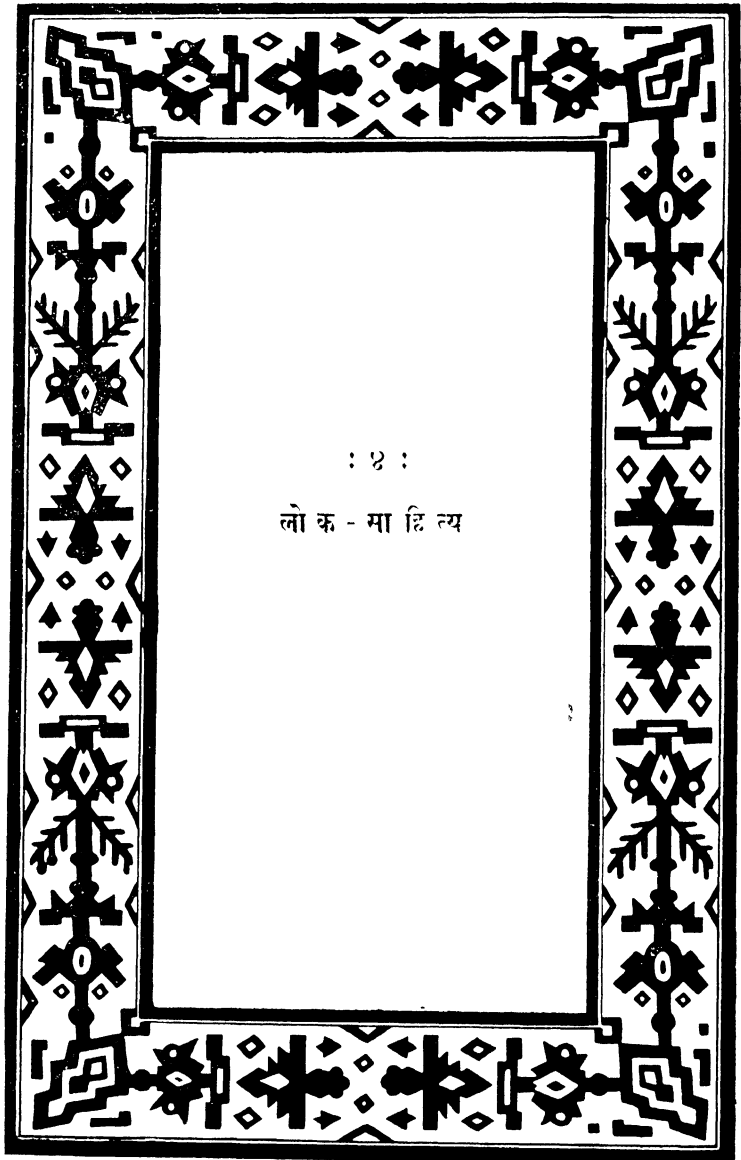
लोक-साहित्य

सन्थाल-संस्कृति के स्वर

दिवाकर साहु 'समीर'

भारत के आदिम निवासियों में सन्थाल एक प्रमुख स्थान रखते हैं, और जहाँ तक सन्थाल संस्कृति का सम्बन्ध है, इतना तो स्पष्ट है कि इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिन पर युगों से सभ्य संसार की उपेक्षा में पलनेवाली इस आदिम-जाति को आह्लादपूर्ण गर्व है। परम्परा, इतिहास, साहित्य, धर्म और राष्ट्रीयता—प्रत्येक दृष्टि से सन्थाल-संस्कृति में एक अपूर्व सौन्दर्य और सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है।

संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को अक्षुण्ण बनाये रखने में सन्थाल परम्परा में भी स्मृति का प्रमुख स्थान रहा है। सन्थाली भाषा में एक लोकोक्ति है—"पुथी खोन थुथी गि मोरोमा" अर्थात् पोथी की अपेक्षा मुँह से कही हुई बात ही श्रेष्ठतर है। इसी सिद्धान्त द्वारा सन्थाल अपनी संस्कृति की रक्षा करते आये हैं।

सन्थाल-परम्परा के अनुसार सर्व-प्रथम जलमय सृष्टि की उत्पत्ति हुई थी। प्रथम मानव-दम्पत्ति का जन्म समुद्र में 'हाँस' और 'हाँसिल' नामक दो पक्षियों के जोड़े से हुआ था। दोनों पक्षी उस मानव-दम्पत्ति के लिए बड़े चिन्तित हुए, क्योंकि उन्हें रखने के लिए कहीं कोई स्थल नहीं मिल रहा था—

हाय हाय जालापुरी रे, हाय हाय हाय नुकिन मानेवाँ !
हाय हाय बुसँड़ आकानकिन, हाय हाय तोका रे दोहोकिन !

—अफ़सोस ! समुद्र में इन दोनों मानवों का जन्म हुआ ! अफ़सोस ! इन्हें कहाँ रखा जाय ?

अतएव उन पक्षियों ने 'माराङ ठाकुर' (भगवान्) से प्रार्थना की कि वे उनके लिए किसी स्थल की व्यवस्था कर दें। 'माराङ ठाकुर' को भी चिन्ता हुई। सारा समुद्र सात भागों में बँटा हुआ था जिनमें 'कछिम राज' (कछुआ) 'बासके नाग' (बासुकी नाग), 'सोले इचाक्' (झींगा मछली), 'राघो बोवाड़' (बोआरी मछली), 'माङ्गाड़राज' (घड़ियाल), 'काटकोम राज' (केकड़ा) और 'लेन्डेत् राज' (केंचुआ)—ये सात राजा राज्य करते थे। 'माराङ ठाकुर' ने उन्हें अपने पास बुला भेजा और उन्हें समुद्र की गहराई से मिट्टी उठाने को कहा। और लोगों ने इस

काम में असफल रहे, पर केंचुए ने बुद्धि से काम लिया। उसने कछुए को समुद्र के ऊपर स्थिर रखा और स्वयं समुद्र के नीचे पैठा। उसने अपनी पूँछ कछुए की पीठ पर ही रखी इस प्रकार कछुए की पीठ पर मिट्टी उगलते-उगलते उसने पृथ्वी की नींव रख दी, जिस पर यह विशाल पृथ्वी धीरे-धीरे बनती गई। पृथ्वी की रचना होते ही 'माराङ ठाकुर' ने उसमें 'काराम'-वृक्ष, कपिला गाय एवं दूर्वा की सृष्टि की। अन्यान्य जीव-जन्तु तथा पेड़-पौधे बाद में उत्पन्न हुए। 'हाँस-हाँसिल' ने अपने स्थान से पश्चिम की ओर उड़कर पृथ्वी की खोज की और उस मानव-दम्पत्ति, 'पिलचु-हाढाम' और 'जिलचु-बूढ़ी' को वहीं लाकर छोड़ दिया। सन्थाल-लोकगीतों में भी इसकी चर्चा मिलती है—

को न हिं छाती हे बइसला समुदा का पानी ?
को न हिं उठाइलाङ हे पातालेरो माटी ?
कछिम कुँवर छाती हे बइसला समुदा का पानी ;
लेन्डेत् कुँवर उठाइलाङ हे पातालेरो माटी।
को न हिं सिरिजला बोमा पिरथिमी हो ?
को न हिं सिरिजला गइया जो, यो रे—
को न हिं सिरिजला गइया जो ?
ठकुर हिं सिरिजला बोमा पिरथिमी हो ;
ठकर हिं सिरिजला गइया जो, यो रे—
ठकुर हिं सिरिजला गइया जो।

—कौन अपनी छाती के बल समुद्र के पानी पर बैठा ? किसने पाताल की मिट्टी ऊपर उठाई ?

कछुआ कुँवर अपनी छाती के बल समुद्र के पानी पर बैठा। केंचुए ने पाताल की मिट्टी ऊपर उठाई।

—आकाश और पृथ्वी को किसने रचा ? गौ-माता की सृष्टि किसने की ?

'ठाकुर' (भगवान्) ने आकाश और पृथ्वी को रचा। गौ-माता की सृष्टि 'ठाकुर' ने ही की।

जब प्रथम मानव-दम्पत्ति को स्थल मिल गया तो 'माराङ बुरु'[1] ने सृष्टि की। वृद्धि के उद्देश्य से उनमें काम-वासना उत्पन्न की। फिर बारह वर्षों में 'पिलचु बुढी' हुई वे बारह गर्भों से, 'हिहिड़ी-पिपिड़ी' नामक स्थान में, उनके सात पुत्र और सात पुत्रियाँ उत्पन्न हुई। फिर वे 'हाराता' नामक स्थान में चले गये। वहीं उन बच्चों का लालन-पालन हुआ। आगे चलकर वे सभी आपस में विवाह-बन्धन में बँध गये पर वंश-वृद्धि का क्रम बढ़ने के साथ-साथ भ्रष्टाचार

[1] 'माराङ' का अर्थ है महान् अथवा विशाल; 'बुरु' पहाड़ और देवता को कहते हैं। 'माराङ बुरु' सन्थालों के आदि देवता हैं। जिन्हें वे सर्व-प्रमुख रक्षक देवता मानते हैं कुठार उनका अस्त्र है।

भी बढ़ता गया। उनका ऐसा नैतिक पतन हुआ कि उन्होंने परस्पर एक-दूसरे को पहचानना भी छोड़ दिया। इसलिए 'सासाङ-बेडा'[२] नामक स्थान में वे बारह परिसों अर्थात् गोत्रों में विभक्त हो गये। तभी सगोत्र-विवाह को घृणित तथा घोर अपराध के रूप में माना जाने लगा। 'सासाङ बेडा' से वे लोग 'जर्पी' नामक स्थान में पहुँचे और वहाँ से आगे बढ़ने पर उन्हें रास्ते में क्रमशः 'सिन्ञ दुआर' (सिंह-द्वार ?) तथा 'बँही दुआर' नाम की दो पहाड़ी घाटियाँ मिलीं। कहते हैं कि 'उलुन पैका', 'भलुआ विजय', 'जुलुम पैका' तथा 'कपी कारान' नामक उनके वीरों ने अपने धनुषों के सहारे उन घाटियों में से पथ निकाले, तब कहीं वे वहाँ से आगे बढ़ सके। प्राचीन सन्थाली लोकगीतों में इस गाथा की चर्चा विशेष रूप से की गई है—

हिहिड़ी-पिपिड़ी रे बोन जानाम लेन,
हाराता रे बोन हारा लेन;
खोज-कामान रे बोन खोज लेन,
सासाङ-बेडा रे बोन जात एना हो।

—'हिहिडी-पिपिड़ी' में हमारा जन्म हुआ, 'हाराता' में हमारा लालन-पालन हुआ, 'खोज-कमान' में हमारी खोज हुई, 'सासाङ बेडा' में हम जातियों (गोत्रों) में बँट गये।

सासाङ-बेडा खोनाक्, जर्पी दिसोम ते
दिसोम फद गुरु हो हेलाव एनाको।
जर्पी दिसोम खोनाक्, सिञ-दुआर ते
दिसोम फद गुरु ओडोङ एनाको।
जर्पी दिसोम खोनाक्, बँही दुआर ते,
दिसोम फद गुरु हो बाहेर एनाको।
धिरी कापाट गुरु हो लाडोप् केदाको,
दिसोम फद गुरु हो पारोम एनाको।
आक् सुरसा ते गुरु हो सोवोक् केदाको,
धिरी-कापाट गुरु हो भिच् केदाको।

—'सासाङ-बेडा' से लोगों का झुण्ड 'जर्पी' देश को चल पड़ा।
जर्पी देश से लोगों का झुण्ड 'सिञ दुआर' को निकल पड़ा।
जर्पी देश से लोगों का दल 'बँही दुआर' को निकल पड़ा।
पत्थर के किवाड़ को उन लोगों ने हटा दिया, लोग पार हो गये।
धनुष की नोक से उन लोगों ने पत्थर के किवाड़ को ढकेल कर खोला।

सन्थाल परम्परा में अतीत का धुँधला इतिहास भी सन्निहित है। सन्थाल जाति मुण्डा जाति के सहोदरों में से है जिनसे वह कोई पाँच शताब्दी पूर्व अलग हुई है। इसलिए

[२] वह ऊँची धरती जहाँ हल्दी उपजती हो; हल्दी घाटी (सासाङ = हल्दी)।

इन दोनों जातियों का प्राचीन इतिहास साथ-साथ चलता है। सन्थालों का एक प्राचीन नाम 'खेरवार' भी है। उपर्युक्त 'सिन्द-दुआर' और 'बंही दुआर' को क्रमशः खैबर और बोलन घाटी मान कर कुछ विद्वानों ने यह प्रमाणित करने का यत्न किया है कि सन्थालों के पुरखा पञ्जाब की ओर से ही भारत में आये थे। स्व० रायबहादुर शरत्चन्द्र राय ने लिखा है—"इनके पूर्वज सर्व-प्रथम पञ्जाब में थे। वहाँ से आज़मगढ़, बुन्देलखण्ड, जयपुर, नागर, आगरा, पांचाल, कोशल, विदेह आदि का चक्कर काटते हुए उन्होंने मगध—वर्त्तमान दक्षिण बिहार में प्रवेश किया। कुछ विद्वानों ने यह भी प्रमाणित करने का यत्न किया है कि हिन्देशिया आदि पूर्वी द्वीप-पुंज के आदि निवासियों का आदि-निवास भारतवर्ष में ही था, यहीं से वे दक्षिण-पूर्व की ओर गये। जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि रामायण-महाभारत-काल में इन सन्थालों के पुरखों का अन्यान्य आर्यों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। भगवान् राम तथा पाण्डवों का वनवास इन आरण्यकों के साथ ही बीता था। चित्रकूट में अयोध्यावासियों का वहाँ के वनवासियों के द्वारा स्वागत-सत्कार, राम का शबरी भीलनी द्वारा आतिथ्य, निषाद-पुत्र एकलव्य का धनुर्विद्या-ज्ञान, कृष्ण का आरण्यकों के साथ घनिष्ट सम्पर्क—ये सभी तथ्य इस कथन की पुष्टि में उपस्थित किये जा सकते हैं। सन्थाल लोग धनुष-बाण और वंशी के बड़े प्रेमी होते हैं, उनका विश्वास है कि ये चीजें उन्हें भगवान राम और कृष्ण से परम्परा की थाती के रूप में मिली हैं। रामायण काल की तो अनेक अनोखी कथाएँ सन्थालों में प्रचलित हैं। कहा जाता है कि लंका की चढ़ाई में सन्थालों के पुरखों ने ही वनवासी राम का साथ दिया था। सन्थाल लोकगीतों में अनेक स्थलों पर इन गाथाओं के स्वर प्रतिध्वनित हो उठते हैं—

बारो मन लोहाबिरी धिनुके बानाव ते रे,
केवहो ना उठाइ पार नाइ।
राम-लखन याबाय ते धरती मा डोलाय,
राम-सीता होइ तो बिहा-दान।

—बारह मन लोहे का धनुष बनाया। उसे कोई उठा नहीं सकता। राम-लक्ष्मण चलते हैं तो पृथ्वी तक काँप जाती है। राम के साथ सीता का विवाह होगा।

द्रुपद राजा रेन होपोन एरा,
दोरपोदी को दाने काना।
हाको बाड़े बेन तुन्ो ते खान,
भीम-अर्जुन रे पंच-पति।

—द्रुपद राजा की कन्या द्रौपदी का दान (स्वयंवर) हो रहा है। ओ भीम! ओ अर्जुन! यदि तुम मछली को वेध सको तो (द्रौपदी के) पाँच पति (होंगे)।

किसनो ठकुर बँसी बजाय युरुनी बोने;
बँसिया श-ब्द सुनि राधे दिल फाटे,
काहे राधे सुरु डार धोरे?

—कृष्ण ठाकुर घनघोर वन में वंशी बजाते हैं; उसकी ध्वनि सुन राधा का दिल फटा

जाता है। राधे ! तुम पतली डाली क्यों पकड़े हुए हो ?

एक गाथा यह भी है कि 'चाय-चम्पा' में सन्थालों का अपना राज्य भी था। कुछ विद्वान् भागलपुर के समीपस्थ 'चम्पा' को ही सन्थालों का चम्पा मानते हैं तो कुछ उसकी अवस्थिति पञ्जाब में प्रमाणित करने का यत्न करते हैं। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि सन्थालों का चम्पागढ़ कहीं हज़ारी बाग़ (बिहार) में ही था। चम्पागढ की बातें बहुत पुरानी नहीं मालूम पड़ती हैं; इस हिसाब से हज़ारी बाग़ का चम्पा ही सन्थालों का चम्पागढ जान पड़ता है। ये बातें ११ वीं से १५ वीं शताब्दी के बीच की हैं। चम्पा का जीवन सन्थाल का स्वर्ण युग था। वहाँ प्रत्येक गोत्र के लोगों के अधीन एक-एक गढ था। जिनमें चाय-चम्पा, कोयण्डा, बादोली, मायनोमोती, खारार आदि प्रसिद्ध गढ थे। किसकू गोत्रवाले राजा, सोरेन गोत्रवाले सैनिक, मरण्डी गोत्रवाले महाजन, टुडु गोत्रवाले शिल्पी तथा मुर्मू गोत्रवाले पुजारी थे। पर पीछे चलकर उनका एकाएक पतन हो गया। एक गढ़वाले दूसरे गढवालों का उत्कर्ष देखकर आपस में जलने लगे। ऐसे ही समय में बाहर के 'तुडुक' (तुर्क) आक्रमणकारियों ने उनका राज्य छीन लिया। सन्थालों ने अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं, पर सब व्यर्थ। सन्थाल लोक-गीत चाय-चम्पा की गाथा से ओतप्रोत हैं—

चाय चम्पा गाड़ दो उजड़ एना;
किसकू को वाक् राज बाबा चाबा एना।
सिर गाड़ सिखर गाड़ दासाव एना,
सिखर रेन सिपाही को जाले-थाले येन।

—'चाय-चम्पा' गढ़ उजड़ गया। बाबा ! किसकू लोगों का राज्य ख़त्म हो गया। सिरगढ सिखरगढ ढह गये। सिखर के सैनिक तितर-बितर हो गये।

बेरेत् बेरेत बेरेत् में से गातिञ हो,
चिरगल चिरगल चिरगल में से गातिञ हो,
कोयन्डा को मापाक् गोचाक् कान। १।
बेरेत् बेरेत् बेरेत् में से गातिञ हो,
चिरगल चिरगल चिरगल मे से गातिञ हो,
बादोली को मापाक् गोपोच् कान। २

—उठो, उठो, उठो, मेरे साथी ! होश मे आओ, होश में आओ, होश मे आओ, ओ मेरे साथी ! देखो, कोयण्डा गढ़वाले कट-मर रहे हैं।

—उठो, उठो, उठो, मेरे साथी ! होश में आओ, होश मे आओ, होश मे आओ, ओ मेरे साथी ! देखो, बादोली गढ़वाले कट-मर रहे हैं।

सीमा लगित् मापाक् काना गातिञ हो,
डण्डी लगित् गोपोच् काना गातिञ हो,
सीमा लगित् मापाक् गोपोच् कान।

—सीमा के लिए वे कट रहे हैं, ओ मेरे साथी ! सीमा के लिए वे मर रहे हैं ओ मेरे

साथी ! सीमा के लिए वे कट-मर रहे हैं।

सन्थालों की हार पर हार होती गई, फिर भी उनका साहस नहीं टूटा। इस सम्बन्ध में दो भाई-बहिनों का कथोपकथन मनन करने योग्य है—

दादा रे इन्दान सिञ, मान्दान सिञ,
दादा रे छुटालाङ चम्पा का गाड़।
बहिन गे ना कान्दो ना खीजो;
बहिन गे हाते का साङ्का बेचोङ;
बहिन गे काने का सोना बेचोड़.
बहिन गे तात्र हो न लेबो चम्पा गाड।

—ओ भैया इन्दान सिञ ! भैया मान्दान सिञ। चम्पागढ़ हमसे छूट रहा है।

बहन ! तुम मत रोओ ! तुम मत बिलखो। बहन ! हम हाथ का 'साङ्का'[1] बेच देंगे, कान का सोना भी बेच डालेंगे। बहन ! फिर भी हम चम्पागढ़ को लौटा कर ही दम लेंगे।

अन्त में हार खाकर सन्थाल लोग उस देश को 'तुड़ुक दिसोम भाण्ड दिसोम'[2] कह कर वहाँ से भाग निकले। बिहार की दामोदर नदी उस 'तुड़ुक दिसोम भाण्ड दिसोम' की उत्तरी सीमा निश्चित हुई। इन बातों से स्पष्ट है कि सन्थालों का चम्पागढ़ हज़ारी बाग़ (बिहार) में ही था।

सन्थाली भाषा संस्कृत, अपभ्रंश, बँगला, हिन्दी आदि भाषाओं से प्रभावित होते हुए भी अपनी मौलिकताएँ रखती है। आज से तीन-चौथाई शताब्दी पूर्व इस भाषा के लिपिबद्ध होने पर भी इसके लिखित साहित्य का अभी अभाव-सा है। पर जहाँ तक सन्थाल लोकवार्त्ता का सम्बन्ध है, वह अनेक सभ्य जातियों के लिपिबद्ध साहित्य से टक्कर ले सकती है।

श्री रामचरित्रसिंह ने एक स्थल पर ठीक ही कहा है—"जिस (संथाल) जाति ने सभ्यता के थपेड़ों को कालान्तर से सहकर भी आदिम युग की सभ्यता, अपने पूर्वजों के आचार-विचार एवं उनके शौर्य को बचाये रखा है, उस जाति का साहित्य किसी भी जाति के साहित्य से क्या कम महत्त्व रखता है, भले ही वह लिपिबद्ध न हो ?"

सन्थाल लोकवार्त्ता में सन्थाल जीवन का सुन्दर प्रतिबिम्ब झलकता है। अधिकांश कथाएँ भूत-प्रेतों, अन्ध-विश्वासों, पशु-पक्षियों तथा पेड़-पौधों के सम्बन्ध में हैं। सन्थाल-जीवन का भोलापन लोक-कथाओं में निरन्तर उभरता है। रस, भाव, अलंकार, उपमा—सभी दृष्टियों से सन्थाल संस्कृति लोकवार्त्ता के दर्पण में प्रतिबिम्बित हो उठी है।

किसी अविवाहिता युवती का मादक स्वर यों उभरता है—

बुरु झखा दाक् दो, बुरु झखा दाक् !
नाला-नाला ते दाक् दो नतुक् !

१ चूड़ियों की श्रेणी का आभूषण, सोहाग का चिह्न।
२ तुर्कों का देश, भ्रष्टाचार का देश।

निभाङ जित्री लोक् दो, निभाङ जित्री लोक् !
मोने मोते ते मेत्-दाक् जो रोक् ।

—आह ! पहाड़ी झरने का जल ! (वह) जल स्रोतों में से बहता है । आह ! मेरे अन्तर की जलन ! मेरे अन्तर की आग ! मन-ही-मन आँसू झरते रहते हैं ।

होड़मो रेयाक् साज दो होड को भेला;
ओडाक् रेयाक् धन दो ओकोय भेला ?
होडमो रे दुक दो होड़-होड को बाडाय;
मोनेरो भावना ओकोय बाडाय ?

—तन के साज-शृंगार को तो लोग देख लेते हैं, घर का धन कौन देख सकता है ? देह के दुःखों को तो सभी देखते हैं; जानते हैं; पर मन की चिन्ता को कौन जानेगा ?

प्रेमी अपनी प्रेयसी का यों स्मरण करता है—

बुरु झरना खोन,
गातिआक् रोड़ लेकाते आञ्जोम एदा ।
गातिआक् रोड़ दो, गातिआक् रोड़,
काँसा कोरताल लेका राँवात्रक् ताया ।

—पहाड़ी झरने से, मुझे अपने प्रिय के स्वर-सा सुनाई दे रहा है । अहा ! मेरे प्रिय का स्वर, प्रिय की बातें । उसका स्वर काँसे की झाँझ की ध्वनि-सा गूँजा करता है ।

प्रकृति का चित्रपट देखिये—

गाडा नाडे रे जुरी सारजोम दारे;
सारजोम साकाम दो अडी जुरी ।
हाय रे जुरी साकाम भेलोक् कान दो !
तान्दायेन् लेका गि भेलोक् काना ।

—नदी के किनारे शाल वृक्ष है; उसके पत्ते आपस में बड़े अच्छे मिले हुए हैं । ये परस्पर मिले हुए पत्ते ऐसे सुन्दर लगते हैं कि मानों वे आपस में हँस रहे हों ।

वंशी के स्वर अलग ग़ज़ब ढाते हैं—

नदिया का धारे-धारे के बँसी बाजाय ?
के जानें गे दीदी, के बँसी बाजाय ।
काने तो सुनिलाम, नजरे तो देखि नाइ,
के जानें गे दीदी, के बँसी बाजाय ।

—नदी के किनारे-किनारे वह कौन है जो वंशी बजाता है ? दीदी ! मुझे मालूम नहीं कि वंशी कौन बजाता है ? कानों से तो मैंने सुना, पर आँखों से कुछ देखा नहीं । दीदी ! मुझे मालूम नहीं कि वंशी कौन बजाता है ।

आले ओयहा दो अडी ले सांगेया;
जोतो ओयहा गे तिरियो बानाम ।

सिदुप् ते ले दोहोया, होय ते गे साडेया,
मोंड़ें मिञ्ञा मोंड़ें मिन्दा ओहोड़-ओहोड़ ।

—हम लोग अनेक भाई हैं। प्रत्येक भाई वंशी और सारंगी के प्रेमी हैं। हम उन्हें ओठंगा कर रख देते हैं; वे हवा से स्वतः, पाँच दिन और पाँच रात सुमधुर स्वर में, बजती रहती है।

एक स्थल पर किसी ज्ञात-यौवना का आत्माभिमान यों चित्रित किया गया है—

मिन्दा-ञ्ञ्‌ता बिटीम दाड़ाँन काना;
होड़ को रोड़ा बिटी लाजाव-पाड़ा।
बैसी रे बाबायेम दुड़ुप् लेन रे,
होड़को रोड़ माँवते हेलेजिञ्ञ मे ।

—(पिता कहता है) बेटी ! तुम रात-अँधेरे जहाँ-तहाँ आया-जाया करती हो। लोग हमसे शिकायत करेंगे। हमें लज्जित होना पड़ेगा। (लड़की कहती है) पिताजी ! यदि (ग्राम-) सभा में लोग मेरी शिकायत में कुछ बोलें तो आप मुझे तत्क्षण काट डालियेगा।

'पियो' (पपीहा) और 'उड़िच्' दो ऐसे पक्षी हैं जो सन्थालों के यहाँ विवाह-सन्देश-वाहक समझे जाते हैं—

ओत रे होंम पियो केदा, दारे रे होंम पियो केदा,
बाडायेत मियाञ्ञ पियोम रायबारञ्ञ कान।
अडी संगिञ्ञ पियो नालो पियोम पियोया,
बुरु दिसोम पियो रायबारञ्ञ में।

—पपीहे ! तुम धरती पर भी चहके, पेड़ पर भी चहके। पपीहे ! मैं जानती हूँ, तुम मेरा विवाह-सम्बन्ध ठीक कर रहे हो। पपीहे ! (मेरा) सम्बन्ध बहुत दूर पर न हो। पपीहे ! किसी वन प्रान्तर में ही मेरा सम्बन्ध ठीक करना।

नवोढा पत्नी और चतुर पति के उद्गार भी सुन लीजिये—

एङ्गा-आपा खोनेम निदिञ्ञ काना,
तिनाक् दुलड़ रेम दोहोयिञ्ञा ?
देलाङ इञ्ञ इदिमें, दुलड़ रेञ्ञ दोहोमें,
तिरी-पुरुष दुलड़ तिरे जुगे।

—तुम मुझे अपने माँ-बाप से छुड़ा कर ले जा रहे हो, तुम मुझे कितना प्यार दे सकोगे ? (पति कहता है) चलो, मैं तुम्हें ले जाऊँगा; तुम्हें अपना प्यार दूँगा। पति-पत्नी का प्रेम शाश्वत है।

दम्पति-जीवन में कभी ऐसा भी अवसर आता है जब लोग आपस में रूठते भी हैं—

चान्दोय राकाप् कान पिरिच्-पिरिच्,
आमेम राराक् कान सुरुच्-सुरुच्;

निञ रेयाक् मॉयाँ-जाला मेनाक्ताम खान,

कादाम बाहा ते चापादिञ में।

—सूर्य चमकता हुआ उठ रहा है; तुम सिसक-सिसक कर रो रही हो, (मुझे अच्छा नहीं लगता)। यदि तुम्हें मुझसे कुछ भी ममता है तो, लो, यह कदम्ब का फूल फेंक कर मुझे मारो।

आम दोम एसेल एन, इञ दोञ हेन्देयेन,

बा लाङ जुरी लेन, दे लाङ आपाग।

जेमन खिजूर पात पोड़े नाइ रे,

तेमन आमार मन छाड़िबो नाइ।

—'तुम गोरी हो, मैं काला हूँ। हमारी जोड़ी ठीक नहीं बैठी, (अतः) हमारा तलाक़ हो जाय। (यही न तुम कहना चाहते हो मेरे प्रियतम! याद रखो) जैसे खजूर के पत्ते (अपनी डंठल से) विलग हो कभी गिरते नहीं, उसी प्रकार मेरा मन तुम्हें कभी छोड़ नहीं सकता।

मान्दार बुरु चोट रे सारजोम दारे,

साकाम ताहेन बाङ साजाव ञेलोक्?

ओड़ाक् रे धन दो, दुआर रे कापाट,

होपोन ताहेन बाङ सोहान ञेलोक्?

—'मन्दार' पहाड़ पर शाल के वृक्ष हैं; पर उनमें पत्ते रहें तभी न वे अच्छे लगें? (उसीप्रकार) घर में धन रहे, दरवाज़े पर किवाड़ रहें; फिर भी सन्तान रहने से ही घर की शोभा बढ़े।

सेन्दाय खोनेम अड़िमा,

हेव जोङालाङ, हो बोर जोङा।

बिर ते चालाक् में, दारे बाहा ञेल में,

बाहा मोस्पोदोक्, जँली साबोक्।

—तुम तो बराबर परेशान किया करती हो कि गोद जल्द भरे। (भला, यह कैसे होगा?) वन में जाकर पेड़ के फूलों को देखो; फूल मुरझाने पर ही उनमें छोटे-छोटे फल लगते हैं (पहले नहीं)।

बाहा बाहाक् दो ञेले लगित;

बाहा मोसोदोक् ञेलेय भावनाक्।

ञेलेयाक् रसका साड़ बाहा रे;

मालीयाक् रसका बेले जो रे।

—फूल भौंरे के लिए खिलता है। उसको मुरझाते देख भौंरे की चिन्ता बढ़ती है। भौंरे का आनन्द खिले हुए फूल में ही है। माली का आनन्द पके फल में है।

तुम्हें तो भौंरे से अब माली बनना है मेरे देव! तुम्हें तो फल की आशा में अपनी फुलवाड़ी से प्रीति करनी है।

कृषि ही सन्थालों की जीविका का मुख्य साधन है। पति-पत्नी के सुमधुर सहयोग से गृहस्थी की गाड़ी कष्टों तथा अभावों के ऊँचे-नीचे टीलों पर भी सुचारु रूप से चलती रहती है। संतोष ही जीवन का सबसे बड़ा धन है—

निर्मा नारोंड़ गोक् काते, पात्र नाहेल गुतु काते,
नाम दोम चालाक् कान लानार बेड़हार।
बाम्के दाका दिपिल काते, बाले गिदरा हबर काते,
निज दोम पाछाम काडा-कोडो।

—तुम और हल के 'ईस' को अपने कंधे पर उठाकर, हल में 'फाल' लगाकर, तुम खेतों को जा रहे हो। मैं अपने सिर पर (तुम्हारा) जलपान और गोद में नन्हा बच्चा लेकर तुम्हारे पीछे-पीछे आऊँगी।

खेते जो सोभाय लुख्री जे धाना है,
डाहारे तो सोभाय धिनू गाय।
तिरियो तो सोभाय युरुनी का बोने,
चलो तिरिया बाँह डोलाय।

—खेतों की शोभा 'लक्ष्मी' धान में है, पथ की शोभा अपने बछड़े के साथ गाय में है गहन वन की शोभा वंशी (ध्वनि) है; प्रिये! अपनी बाहों को उछालती हुई तुम (हमारे साथ चलो।

पोताम पियो राक् चाक् जुडासी?
जिहू तूंद राक् चाक् उदासी?
जियी मा तार रे बाजावक् चेकाते?
मोने-अन्तर चाक्, धुके-पुके?

—पण्डुक और पपीहे का स्वर इतना सुमधुर, मन को तृप्त करनेवाला क्यों होता है? 'जिहू' और 'तूंद'[1] का स्वर इतना उदास, अशान्त क्यों होता है? (प्रथम दोनों का स्वर, हृदय के तारों को झंकृत कैसे कर देता है? (अन्तिम दोनों के स्वर से) कलेजा क्यों धड़कने लगता है?

हेलेम जिन्दाञ कुकमू लेदा, हातोम गो।
सामानोम किया दो गुडरउ आड़ाय कान।
उन खान गिञ बाजाय के दा,
नुइ हेरेल दोय हिरामञ कान।

ओ फूआ! मैंने रात में सपने में देखा कि सिन्दूर रखने की सोने की डिबिया इधर उधर लुढ़क रही है। तभी मैंने जाना, मेरे पति मेरी सौत की खोज में हैं।

सौन्दर्य और प्रकृति-प्रेम भी अनेक स्थलों पर सन्थाल संस्कृति को छू-छू जाते हैं—

1 पक्षी विशेष

नोत डिगिर-डिगिर हाले, सेरमा बाराङ-बाराङ,
तोकोयमे दोय राकाप् कान ?
नोत डिगिर-डिगिर हाले सेरमा बाराङ-बाराङ।
सिज बोंगाय राकाप् कान,
नोत डिगिर-डिगिर हाले, सेरमा बाराङ-बाराङ।

—पृथ्वी जगमगा रही है, आकाश लाल-लाल हो रहा है। (और, उधर) उठ कौन रहा है? पृथ्वी जगमगा रही है, आकाश लाल-लाल हो रहा है। (अरे, यह तो) सूर्य-देव उठ रहे हैं; जिससे पृथ्वी जगमगा रही है, आकाश लाल-लाल हो रहा है।

नाले दिसोम दो बुरु रे सिञ आड़ाक्,
डडुते घान्टाय दो होडोरगोत्-होडोरगोत्;
नाले दिसोम दो बैहहाड़ रे कान्था आड़ाक्,
झिनुक ते खायोद दो खोयोडगोत्-खोयोडगोत्;
तोवा-दाहे दो आलोम उइ हार।

—हमारे देश में पहाड़ों पर 'सिञ' साग होता है, उसे कलछुल से चला-चला कर हम पकाते हैं। हमारे देश में खेतों में 'कान्था' साग है, उसे सीप से खोद-खोद कर हम खाते हैं। दूध-दही के लिए मन को दौड़ाया न करो।

ने रँगिया! आम रँगिया ते साय रँगिया,
आम निया गोड़ा निया जातरा,
पेरेच्काक् चौड़ाङ काक् मे।

—रंगिनि (गो-माता)! मेरी पूजा स्वीकार करो। तुम इस 'गोहाल' को, इस घर को अपनी वंश-वृद्धि के द्वारा द्विगुणित कर दो, भर दो।

गो-माता के प्रति सन्थालों के हृदय में अनुरागमयी उदारता भरी पड़ी है।

सन्थाल संस्कृति में आध्यात्म का भी यथेष्ट स्थान है। यह नश्वर शरीर मिट्टी का बना हुआ है—

माटीरो काया पानीरो पाइदा,
कोन राजा कुन्दल मानेवाँ?
ठाकुरे बोरोन गोय कुन्दालाङ,
कोन राजा कुन्दल मानेवाँ?
माटीरो काया पानीरो पाइदा,
ठाकुरजी कुन्दल मानेवाँ।
ठाकुरे बोरोन गोय कुन्दल,
ठाकुरजी कुन्दल मानेवाँ।

—यह मिट्टी की काया, पानी से पैदा हुई। किस राजा ने मानव को गढ़ा है? माँ, इसे तो 'ठाकुर' (भगवान्) के अनुरूप ही गढ़ा है। किस राजा ने मनुष्य को गढ़ा है?

यह मिट्टी की काया पानी से पैदा हुई। मनुष्य को ठाकुरजी ने गढ़ा है। दैया री हमें तो अपने अनुरूप ही गढ़ा है। मनुष्य को ठाकुरजी ने गढ़ा है।

लोहा जोड़े पोहा जोड़े, मानुसेरो जीव जोड़े नाइ;
धर्ना गे! धेयान जुदि होय तो, मानुसेरो जीव जोड़े नाइ।

—लोहा-लक्कड़ जुट सकते हैं, मनुष्य के प्राण जुटते नहीं। प्रिये! यदि यह (बराबर) ध्यान में रहता कि मनुष्य के प्राण जुटते नहीं तो!

असिते एका जीव, जायेते एका जीव;
दस जोनार सांगे—
दस जोनार सांगे मन! देखा कोरे ले रे मन!
कापालेर मानिक जोले जोतो खोन।

—आने के समय भी एक ही, जाने के समय भी एक ही। मन! दस-(पाँच) लोगों के साथ हिलमिल लो। जब तक कपाल का मानिक जलता है, दस लोगों से हिलमिल लो।

फिर जाने, क्या से क्या हो जाय!

पर जीवन की इस नश्वरता से वह पलायनवादी नहीं होना चाहता; यही तो सन्थाल संस्कृति की खूबी है—

जोमाबोन न्यूयाबोन, रसका ते बोन ताहेना;
सेताक् शिशिर लेका बाबोन ताहेन।
मरू-साकाम-दाक् लेका जिवी मा टल-मल;
सेताक् शिशिर लेका बाबोन ताहेन।

—हम खायेंगे, पीयेंगे, उमंग से भरे रहेंगे। प्रातःकाल के शिशिर की तरह हम (यहाँ) रहनेवाले नहीं हैं। 'कच्चू' के पत्तों पर की जल-बून्दों की तरह हमारे प्राण न जाने कब ढुलक जायेंगे। प्रातःकाल के शिशिर की तरह हम शाश्वत नहीं हैं।

फिर इस जीवन का खुलकर उपभोग क्यों न कर लें।

राष्ट्रीयता में भी सन्थाल-संस्कृति किसी से पीछे नहीं है। भला हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की अमर साधना से हमारे देशवासी ये सन्थाल वंचित क्यों रह जाते? उनके लोकगीतों में जन्मभूमि और गांधी बाबा के चित्र एक साथ उभरते हैं—

जनम जायगा रे तोवा-दारे रे,
सुक दो सुरुजमुनि सोरोस गेया।
धरतीपुरी खोन सेरमापुरी खोन,
सुक दो सुरुजमुनि सोरोस गेया।

—अपनी जन्म-भूमि में, अपनी माँ के पास, जो सुख है, सुरुजमुनि! वह सबसे श्रेष्ठ है। (वह सुख) माटी पृथ्वी और स्वर्ग के सुख से भी श्रेष्ठ है—

देश दादा दिसोम दादा, विदेशी को अडलड केत;

चेकाते लाङ रोफा हवऽङा ?
बनुक्तालाङ खान्डा-फिरी, बनुक्तालाङ धाटार;
चेकातेलाङ रोफा हवऽङा ?
गान्धी बाबा खाम खुन्टी,
नेहरू बाबा मुतुल खुन्टी,
दिसोम दँड़ किन रोफा हवऽड़ केन् ।

—भैया ! देश को विदेशियों ने उलझा डाला । हम कैसे उसे सुलझा सकेंगे ? हमारे पास अस्त्र-शस्त्र नहीं हैं, हम कैसे देश को सुलझा सकेंगे ?

दीदी ! 'गांधी बाबा' (हमारे देश-रूपी घर के) प्रमुख स्तम्भ हैं, 'नेहरू बाबा' धरन के स्तम्भ हैं, उन्होंने देश को सुलझाया, उबारा ।

'गांधी बाबा' के साथ 'नेहरू बाबा' की चर्चा सन्थाल जन-मन की अग्रगामी शक्तियों की प्रतीक है ।

इधर कुछ वर्षों से विदेशी पादरियों ने सन्थालों के बीच यत्र-तत्र अपने धर्म का प्रचार किया है, पर प्रसिद्ध नृवंश-विज्ञानवेत्ता डा० वेरियर अल्विन के शब्दों में यह बात ज़ोर देकर कही जा सकती है कि उन पादरियों ने ऐसा करके इन आदिवासियों की संस्कृति के अस्तित्व पर भीषण कुठाराघात किया है । आशा है स्वतन्त्र भारत में सन्थाल-संस्कृति के स्वर दबेंगे नहीं—वे तो निरन्तर उभरेंगे और भारत के राष्ट्रीय जीवन में अपना रंग भर देंगे ।

यदि मेघाणीजी मिले होते

देवेन्द्र सत्यार्थी

जिस जनपद को यात्री ने देखा न हो पर जहाँ जाने के लिए उसका हृदय अनेक बार उछल पड़ा हो, उस जनपद के काल्पनिक चित्र में पहले रेखाएँ उभरती हैं, फिर उससे सम्बन्धित छोटी से छोटी बात भी इस चित्र में रंग भरने लगती है। ऐसा ही एक जनपद है काठियावाड़ जिसका सर्व-प्रथम परिचय मुझे आर्य समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती की जन्मभूमि के रूप में मिला। फिर जब महात्मा गाँधी राष्ट्रीय मंच पर प्रकट हुए तो मेरा ध्यान काठियावाड़ की ओर पुन: आकर्षित हुआ। इसके पश्चात् यह जनपद गुजराती लोकगीत के अन्वेषक और संग्रहकर्ता स्व० झवेरचन्द मेघाणी की जन्मभूमि के रूप में मेरे लिए चिर-स्मरणीय हो गया।

काठियावाड़ की सांस्कृतिक चेतना के लिए अकेले झवेरचन्द मेघाणी ने जो कुछ किया उस पर आनेवाली पीढ़ियाँ सदैव गर्व करेंगी। वस्तुत: मेघाणीजी काठियावाड़ के प्रतीक बन गये थे। उन्होंने मौखिक परम्परागत शत-शत काठियावाड़ी लोकगीतों के संग्रह और अध्ययन द्वारा ही नहीं, बल्कि अपनी अनेक रचनाओं में काठियावाड़ का चित्र प्रस्तुत करते हुए एक महान् अन्वेषक और कलाकार का दायित्व निभाया।

मेरा विचार था कि गुजरात देख लिया तो समझो काठियावाड़ भी देख लिया। पर अनेक मित्रों ने बताया कि बात ऐसी नहीं है, काठियावाड़ के निवासियों को देखकर मन पर पहली छाप यही पड़ती है कि वे बनिये नहीं, क्षत्रिय हैं। जहाँ गुजरात में ब्राह्मण भी बनिये नज़र आते हैं, वहाँ काठियावाड़ में बनिये भी देखने में शौर्यवान राजपूतों का स्मरण दिलाते हैं।

सन् १९३७ में, जब मैं बम्बई गया, कई बार ध्यान आया कि काठियावाड़ हो आऊँ। एक मित्र ने हँसकर कहा—"बस यह समझो कि सिन्ध का बनियापन और पञ्जाब की वीरता को मिला दें तो काठियावाड़ बन जायेगा।"

मैंने पूछा—"यह कैसे हो सकता है? सिन्ध तो खैर काठियावाड़ से सटा हुआ है, पर पञ्जाब तो दूर है।"

उसने कहा—"विश्वास न आये तो कल ही काठियावाड़ का टिकट कटा लो।"

बम्बई मे काठियावाड़ के लोगों से मैं अनेक बार मिला। काठियावाड़ी जीवन के अनेक फोटोग्राफ़ भी मैंने प्राप्त कर लिए। पर इससे भी वह कमी पूरी न हुई जो किसी जनपद को देखकर ही पूरी होती है।

फिर सन् १९४३ मे हैदराबाद (सिन्ध) से रेल के रास्ते अहमदाबाद पहुँचा तो ख्याल आया कि पहले छोटी लाइन का टिकट कटा लूँ और काठियावाड़ देख आऊँ। पर मुझे शीघ्र ही बम्बई जाना पड़ा। सोचा अब सागर के रास्ते ही काठियावाड़ जाऊँगा।

बम्बई में इस बार श्री रामू भाई ठक्कर से भेंट हुई और काठियावाड़ की यात्रा के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध गुजराती दैनिक 'जन्मभूमि' के संचालक और सम्पादक श्री अमृतलाल सेठ से परिचय हुआ। मेरी लोकगीत-यात्रा के सम्बन्ध में 'जन्मभूमि' में एक ऐसा लेख प्रकाशित हुआ जिसमें मेरे कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी। इससे मैं वस्तुतः झेंपकर रह गया, क्योंकि मैं तो एक दिन अचानक मेघाणीजी के घर का द्वार खटखटाना चाहता था।

बम्बई के एक उपनगर में रामू भाई के पड़ोस में एक रात मुझे कुछ काठियावाड़ी रासधारियों का नृत्य देखने का अवसर प्राप्त हुआ। इनमें एक युवक ने स्त्री-वेश में नाचते हुए एक प्रेम-गान सुनाया जिसमें कोई युवती कहती है कि उसका प्रियतम गुलाब का फूल है और वह स्वयं चम्पा की कली है। रामू भाई के बहुत कहने पर भी मुझे विश्वास नहीं आ रहा था कि मंच की यह नर्तकी कोई स्त्री नहीं, बल्कि स्त्री-वेष में एक काठियावाड़ी युवक है। अगले दिन रामू भाई ने उस युवक को अपने घर पर बुलाकर मुझसे मिलाया।

"यदि ये रासधारी शीघ्र ही काठियावाड़ लौट रहे हों तो मैं इन्हीं के साथ काठिया-वाड़ चला जाऊँगा," मैंने हँसकर कहा।

"पर ये लोग तो अभी बम्बई के उपनगरों में ही नाच-गान की महफ़िलें जमायेंगे," रामू भाई ने वास्तविक स्थिति का परिचय देते हुए कहा।

रामू भाई की कन्या को संगीत और नृत्य में विशेष रुचि थी। गुलबदन यही इस कन्या का नाम था।

गुलबदन न जाने क्या सोचकर कह उठी—"गुजरात में भी लोक-नृत्य देखने को मिलेगा, पर काठियावाड़ की दूसरी ही बात है।"

उस समय इस एक ही वाक्य ने मेरे मानस-पटल पर अंकित काठियावाड़ के चित्र मे नया ही रंग भर दिया। गुलबदन खिलखिला कर हँस पड़ी। मुझे यों लगा जैसे चतुर्दिक् गुलाब के फ़ूल खिल उठे हों।

रामू भाई बोले—"जहाँ तक गरबा नृत्य का सम्बन्ध है वह काठियावाड़ में ही शुद्ध रूप मे देखने को मिलेगा।"

मैंने बहुत अनुरोध किया कि कुछ दिन की छुट्टी लेकर रामू भाई मेरे साथ काठियावाड़ चलें। जबसे मुझे पता चल गया था कि मेघाणीजी से उनका घनिष्ठ परिचय है, मैं यही चाहता था कि हम दोनों एक साथ काठियावाड़ जाकर मेघाणीजी से मिलें।

मैंने बहुत यत्न किये कि रामू भाई किसी तरह मेरे साथ काठियावाड़ चलने के लिए तैयार हो जायँ।

जो-जो लोकगीत मुझे याद आते गये, उनके स्पर्श से मैंने रामू भाई को खूब गुद-गुदाया। वे बीच में कह उठते—"ऐसा ही एक गीत काठियावाड़ में भी गाते हैं।"

मैंने रामू भाई के सम्मुख पंजाबी लोक-साहित्य में लघुगान की विशेष रूप से चर्चा की; 'माहिया' और 'ढोला' के नाम सुनकर तो एकदम उछल पड़े! मैंने बताया कि 'माहिया' माहिवाल का संक्षिप्त रूप है और अब इस शब्द का प्रयोग 'सोहनी' के प्रियतम 'महिवाल' के लिए न होकर 'प्रियतम' के अर्थ में व्यापक रूप में परिणत हो गया है, 'सोहनी महिवाल' की प्रेमगाथा तो पञ्जाब से सिन्ध के रास्ते काठियावाड़ में भी आ पहुंची थी और इसने काठियावाड़ी लोकगीत में स्थान प्राप्त कर लिया था, रामू भाई से यह जानकर मुझे आश्चर्य हुआ। फिर 'ढोला' की चर्चा करते हुए मैंने कहा कि इस शब्द का प्रयोग भी प्रियतम अर्थ में होता है। साथ ही मैंने यह भी बता दिया कि 'ढोला मारू' की कथा राजस्थान से सम्बन्ध रखती है। राजस्थानी जनता को अभी तक शायद यह मालूम नहीं कि उनके लोकप्रिय गान का नायक 'ढोला' पञ्जाब में प्रियतम का व्यापक प्रतीक बन गया।

मैंने कहा—'माहिया' की तो केवल तीन पंक्तियाँ होती हैं जैसे—

काले काँ माहिया
बिछड़े सज्जनाँ दे
भुल्ल जाँदे ने नाँ, माहिया!

—'काले काग हैं
बिछुड़े हुए प्रेमियों के
नाम भी भूल जाते हैं।'

ऐसे अनेक 'माहिया' गान रोज जन्म लेते हैं, बस यह समझिये कि जैसे टकसाल से ज़रा-से दबाव से ही सिक्का ढलकर बाहर आ जाता है ऐसे ही भावना के साँचे में 'माहिया' ढलता है।

'माहिया' गान के स्वर रामू भाई और गुलबदन को बहुत पसन्द आये। 'माहिया' का स्वर-विस्तार उनके सम्मुख स्पष्ट करने में मैं सफल रहा। मैंने बताया कि जब टिकी हुई रात के समय गायक के कण्ठ से 'माहिया' की स्वर-लहरी प्रवाहित होती है तो चतुर्दिक् इस लघुगान का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। जैसे रात के लिए अब और कोई काम न रह गया हो, जैसे 'माहिया' का सन्देश-वाहन ही उसका एक मात्र दायित्व है।

मैंने रामू भाई को पञ्जाब के 'ढोला' गीत भी गा सुनाए—

बाजार बकेंदी बरफी
मैनूँ लैदे निक्की जिही चरखी
ते दुखां दीया पूणीयां
जीवें ढोला!
ढोल जानी!
साडी गली आवें तेंडी मेहरबानी!

—'बाज़ार में बरफी बिकती है
मुझे छोटी-सी चरखी ले दो
और दुःखों की पूनियां
जीते रहो, ढोला !
ओ ढोला ! ओ प्राणधन !
तुम हमारी गली में आओ तो तुम्हारी मेहरबानी हो !

अस्समानों उत्तरी इल्ल वे
तेरा केहडी कुड़ी उत्ते दिल वे
सब्भे ने कुआरीयां
जीवें ढोला !
ढोल मक्खना !
दिल परदेसियां दा राज़ी रखना !

—'अस्मान से चील उतरी
अरे तुम्हारा किस युवती पर दिल है ?
सभी कुंवारी हैं
जीते रहो, ढोला !
ओ ढोल ! ओ मक्खन !
परदेशियों का दिल राज़ी रखना !

असीं एथे ते ढोला छाओनी
एहनाँ अक्खीयाँ दी सड़क बनाओनी
चन्न माही आवना
जीवें ढोला !
अम डलियां—
जित्थे खिलारिया ई उत्थे खलीआँ !

—'हम यहां हैं और ढोला छावनी में है
इन आँखों की सड़क बनानी है
चाँद-सा प्रियतम, आयेगा
जीते रहो ढोला !
आम की फाँकें
जहाँ तुमने मुझे खड़ी होने को कहा, वहीं खड़ी हूँ !

आ ढोला इन्हाँ राहाँ ते
दीवा बाल रक्खाँ खनगाहाँ ते
तेरीयाँ मन्नताँ
जीवें ढोला !

मंजी बाण दी—
ढोले दीया 'रमज़ां' मैं सम्भे जाणदी—
—'आओ ढोला, इन रास्तों पर
मै ख़ानकाह[1] पर दीया जला रखती हूँ
तेरी मनौती मानती हूँ
जीते रहो, ढोला !
बान की बुनी हुई खाट है
ढोला के मर्म की बातें मैं समझती हूं !'

मैंने विस्तारपूर्वक ढोला के शब्दरूप और स्वर-ताल का 'माहिया' से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। रामू भाई और गुलबदन समझ गए कि ढोला गाते समय माहिया से अधिक स्वर-विस्तार का प्रयोग करना पड़ता है और इस गान का अन्तिम पद तो एक प्रकार से 'माहिया' का ही प्रतिरूप होता है। मैंने उन्हें यह भी बताया कि लायलपुर के जाँगली लोगों का 'ढोला' इससे भिन्न होता है और उसके स्वर विस्तार की तो कुछ न पूछिये, क्योंकि उसे तो वही माई का लाल गा सकता है जिसके फेफड़ों में पूरा दम-खम हो, या यह कहिए कि 'जांगली' लोगों का ढोला शुद्ध रूप में केवल 'जाँगली' ही गा सकते हैं।

गुलबदन के अनुरोध से मैंने 'जाँगली' लोगों का एक 'ढोला' भी प्रस्तुत कर दिया—

कन्नी बुन्दे सोहणे, सिर ते छत्ते सै मणां दे
उत्थे देवीं बाबला, जित्थे टाल्ह वणां दे
बहाँ चढ कचावे, करां सैल झनां दे
हिकनां नूँ वर ढहि पहुते, पुन्ने हिकना दे
झोली पये बाल थणां दे !

—'कानों में सुन्दर बालियाँ हैं, सिर पर सौ-सौ मन के केश, हे पिता मेरा विवाह वहाँ करना जहाँ बड़ी-बड़ी टहनियों वाले 'वण' वृक्ष हों।

'मैं ऊँट की काठी पर चढ़ बैठूँ, चनाब नदी की सैर करूँ।

'किसी-किसी को वर प्राप्त होने का वचन मिल गया, किसी का वचन पूरा हो गया स्तन से दूध-पीते बालक उनकी झोली में आ गए।'

मैंने बताया कि 'जाँगली' लोगों का ढोला प्रायः बहुत लम्बा होता है और यह ढोला जो मैंने प्रस्तुत किया है उसका छोटा-सा नमूना है, जो शायद अच्छा ढोला गाने वाले 'जाँगली' गायकों की दृष्टि में ढोला का एक बहाना मात्र है।

उस दिन मेरा पहले से कहीं अधिक आतिथ्य हुआ। मैंने सोच लिया कि रामूभाई मेरे साथ काठियावाड़ अवश्य चलेंगे। भोजन से निबटकर मैंने बुन्देलखण्ड के उस गीत की चर्चा की जिसमें एक युवती कहती है—

---

1 पीर की समाधि

कौन रंग हीरा कौन रंग मोती
कौन रंग ननदी बिरना तुम्हार ?
लाल रंग हीरा पियर रंग मोती
सँवर रंग ननदी बिरना तुम्हार
फूट गये हिरवा बिथराय गये मोती
रिसाय गये ननदी बिरना तुम्हार
बीन लैहों हीरा बटोर लैहों मोती
मनाय लैहों ननदी बिरना तुम्हार

—'किस रंग का हीरा है किस रंग का मोती ?
हे ननद, किस रंग के हैं तुम्हारे भैया ?
लाल रंग का हीरा है पीले रंग का मोती है
साँवरे रंग के हैं तुम्हारे भैया
हीरा फूट गया, मोती बिखर गए
हे ननदी, तुम्हारे भैया रूठ गए
हीरों को चुन लेंगे, मोती बटोर लेंगे
हे ननदी, तुम्हारे भैया को मना लेंगे।'

गुलबदन ने कहा—"हीरा तो श्वेत होता है—यहाँ इस बुन्देलखण्डी कन्या से भूल हो गई।"

रामू भाई उछलकर बोले—"गुजराती कन्या से भी तो भूल हो सकती है।"

गुलबदन झेंपकर बोली—"और ऐसी ननद तो गुजरात-काठियावाड़ में भी घर-घर मिलेंगी।"

मुझे यह बात ज़ोर देकर कहनी पड़ी कि ऐसे अनेक स्थलों पर शत-शत जनपदों की एक ही आवाज़ है।

फिर मैंने कहा—"पर रामू भाई, इसका यह अर्थ तो नहीं कि मैं काठियावाड़ देखे बिना ही सोच लूँ कि जैसे और जनपद हैं वैसा ही एक काठियावाड़ भी है। अब आप मान जाइये मेरे साथ काठियावाड़ जाने की बात।"

गुलबदन उठकर नीचे जाने लगी तो कह उठी—"पिताजी, आप काठियावाड़ जायँगे तो मैं भी ज़रूर चलूँगी।"

मैंने कहा—"रामू भाई, देखिये अब इंकार करने का अवसर नहीं। बम्बई बम्बई है, काठियावाड़ काठियावाड़। मैं यह तो नहीं कहता कि बम्बई छोड़कर काठियावाड़ में जा रहिये, पर इसका यह अर्थ भी नहीं कि काठियावाड़ को एकदम भुला दिया जाये। कम से कम गुलबदन को एक बार तो अवश्य काठियावाड़ दिखाने ले चलिये। मैं भी समझूँगा कि लकड़ी के साथ लोहा भी तैरने लगता है।"

देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं। अनेक भाषाओं के लोकगीतों की चर्चा

चलती रही। मेरी यही कोशिश थी कि रामू भाई को किसी तरह जोश आ जाये और वे कह उठें कि सब गीत तराजू के एक पलड़े में रख दीजिये और दूसरे पलड़े में मैं मेघाणी जी द्वारा संग्रहीत काठियावाड़ी लोकगीत रख दूँ तो समझ लीजिये कि मेघाणीजी वाला पलड़ा ही भारी रहेगा और साथ ही वह कह उठें कि चलो कल सवेरे ही मेघाणीजी से मिलने चलेंगे।

मैंने सचमुच एक मदारी की तरह अपने झोले से एक भोजपुरी 'बिरहा' निकालकर रामू भाई के सामने रख दिया—

अमवा के लागेला टकोरवा रे संगिया
गूलर फरे ले हड़फोर
गोरिया के उठे लाहा छाती के जोबनवाँ
पिया के खेलवना रे होइ

—'आमों के टिकोरे लग गए, ओ संगी!
गूलर भी हड्डियों को फोड़कर फल से लद गए हैं
गोरी के उरोज भी उभर आये
और ये तो प्रियतम के लिए खिलौने बनेंगे!'

रामू भाई ने प्रकृति और मानव-जीवन में प्रस्तुत की गई समानान्तरता की प्रशंसा की। मैंने उन्हें बताया कि अहीर ने एक कुशल कलाकार के समान बड़ी ज़ोरदार भाषा में गूलर के फल से लदने का चित्र अंकित किया है; क्योंकि सचमुच जब गूलर पर फल लगते हैं तो उसकी टहनियों पर ही नहीं, तने पर भी फल निकल आते हैं। इसे ही अहीर ने हड्डियां फोड़-कर फल निकलने की संज्ञा दी है। उरोज की चर्चा करते हुए भी वह ज़रा नहीं झिझका।

फिर मैंने बुन्देलखण्ड के एक लोकगीत में गोरी के उरोज की ओर संकेत किया; जिसमें कहा गया था—

गोरी के जोबना हुमकन लगे,
जैसे हिरनियाँ के सींग।
मूरख जाने खता फुनगूनू,
वे तो बाँट लगावे नीम।

—गोरी के उरोज उभरने लगे,
हिरनी के सींगों के समान।
मूर्ख उन्हें फोड़े-फुन्सी समझ रहा है
और वह नीम के पत्ते रगड़ कर लगा रहा है।

इसमें खासा व्यंग्य था जिस पर हम देर तक हँसते रहे। फिर एकदम रुककर रामू भाई कह उठे—"यह मत समझो कि काठियावाड़ी गीत भोजपुरी और बुन्देलखण्डी गीतों से होड़ नहीं ले सकते, बल्कि यह कहिये कि काठियावाड़ ऐसे-ऐसे गीत मिलेंगे जिनका दुनिया की किसी भी भाषा में जवाब नहीं।"

इतने में गुलबदन आ गई। उसने अपने पिता का संकेत पाकर उस गीत की कुछ

पंक्तियाँ गुनगुनाईं जिनमें इस बात की चर्चा की गई थी कि अयोध्या में लौटने पर सीता को दोबारा वनवास क्यों दिया गया। सास ने सीता से अनुरोध किया कि वह लंका का चित्र खींचकर दिखाये, और जब सीता ने रावण का चित्र भी अंकित कर दिखाया तो वही चित्र राम के क्रोध का कारण बना। राम ने यह बात स्वीकार न की कि सीता अपने पति के शत्रु का चित्र अंकित करे। बस इसी बात पर क्रुद्ध होकर राम ने लछमण को आज्ञा दी कि वह सीता को वन में छोड़ आये।

एक काठियावाडी गीत की ये पंक्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय थीं—

बहू रे बहू मारी समरथ बहू
लंका लखी देखाड़ो
हूँ रे न जाणूँ मारी बाईजी रे
लंका केम लखाशे······

—'बहू, ओ मेरी समर्थ बहू !
लंका का चित्र बनाकर दिखाओ
मैं कुछ नहीं जानती, ओ मेरी बाईजी,
कि लंका का चित्र कैसे बनाया जाता है !'

मैंने रामू भाई को बताया कि सीता द्वारा रावण का चित्र अंकित करने की बात बुन्देलखण्डी और अवधी लोक-गीतों में भी मिलती है। वे मन्त्रमुग्ध-से होकर मेरी ओर देखते रह गए। मैंने कहा—"सुनिए एक बुन्देलखण्डी गीत तो यों आरम्भ होता है—

आम अमलिया की नन्हीं-नन्हीं पतियाँ
निबिया की शीतल छाँह
वहि तर बैइठीं ननद भौजाई
चालैं लागी रावन की बात।
तुम्हरे देश भउजी रावन बनत है
रावन उरेह दिखाव
तो मैं एतना उरैहौं बारी ननदी
जो घर करो न लबार······

—'आम और इमली की नन्हीं-नन्हीं पत्तियां हैं
नीम की शीतल छाया है
उसी के नीचे बैठी हैं ननद भौजाई
रावण की बात चलने लगी—
हे भावज, तुम्हारे देश में रावण बनता है
रावण का चित्र खींचकर दिखाओ
चित्र तो मैं अवश्य खींचकर दिखाऊँ, बारी ननद !
यदि घर में तुम इसकी चर्चा न करो।'

लगे हाथ मैंने एक अवधी गीत के आरम्भ की कुछ पंक्तियाँ भी प्रस्तुत कर दीं—

ननद भौजाई दूनौं पानी गईं अरे पानी गईं
भौजी जौन रवन तुहैं हरि लेइ ग उरेहि दिखावहु
जौ मैं रवना उरेहौं उरेहि दिखावउँ
सुनि पैहैं बिरन तुम्हार त देसवा निकरिहैं।

—'ननद और भावज दोनों पानी के लिए गईं, अरे पानी के लिए गईं
हे भावज! जो रावण तुम्हें हर ले गया था उसका चित्र खींच कर दिखाओ
यदि मैं रावण का चित्र खींच-खींच कर तुम्हें दिखाऊँ
तुम्हारे भैया सुन पायेंगे तो वे मुझे देश-निकाला दे देंगे!'

रावण के चित्र की इस चर्चा से वह काम हो गया जिसकी मुझे आशा थी। इस चित्र के कारण बेचारी सीता को तो देश निकाला मिला था, पर मुझे इससे हानि के स्थान पर लाभ ही प्राप्त हुआ। अर्थात् रामू भाई ने इस शर्त पर काठियावाड़ चलने के लिए स्वीकृति दे दी कि पहले मेघाणीजी को पत्र लिखकर यात्रा का कार्यक्रम निश्चित कर लिया जाय। उसी दिन उन्होंने मेघाणीजी को अलग पत्र लिखा, मैंने अलग।

मेघाणीजी ने मेरे पत्र का निम्नलिखित उत्तर लिख भेजा जिस पर मुझे सदैव गर्व रहेगा और साथ ही यह क्षोभ भी रहेगा कि वे उन दिनों इतने व्यस्त थे कि वे हमारे तुरन्त काठियावाड़ आने की स्वीकृति न दे सके—

रानपुर, काठियावाड
७. ६. १६४३.

प्रिय सत्यार्थीजी,

आपका पत्र रामू भाई के पत्र के साथ मिला, पर इधर कई दिनों से अधिक व्यस्त रहने के कारण आपके पत्र का उत्तर यथाशीघ्र नहीं दे सका, इसके लिए क्षमा चाहता हूँ।

आपका पत्र और उसके द्वारा आपके मनोभाव पढ़कर अत्यन्त आनन्द हुआ। लोक-साहित्य और ख़ास तौर पर लोकगीत के बारे में आपने जो काम किया है उसके विषय में 'माडर्न रिव्यू' में आपके लेख आते हैं, उन्हें पढने में बड़ी प्रसन्नता होती है और कई बार आपसे मिलने की इच्छा होती है। लेकिन इस समय मैं इतना अधिक व्यग्र हूं कि आपसे मिलने की इच्छा रहते हुए भी उसको कार्य में परिणत न कर सका।

आप इतनी दूर से गुजरात तक इतने नज़दीक आये, और आप यहाँ आना चाहते थे, लेकिन मेरी व्यग्रता वग़ैरह कारणों से इस बार हम लोग मिल न सके इसलिए मुझे दुःख हो रहा है। परन्तु जब आप यहाँ तक आयें और हम लोग शान्तिपूर्वक एक साथ बैठकर वार्तालाप भी न कर सकें, ऐसा हाल जब मेरा व्यग्रता के और दूसरे कई कारणों से हो, तब दूसरा चारा ही क्या हो सकता है... ....आप इस कारण मुझे क्षमा करें। यही प्रार्थना है।

आपने मेरा चित्र चाहा है। इस पत्र के साथ दो चित्र भेज रहा हूँ। पुस्तकों के लिए तलाश करवा रहा हूं। मिल जाने पर यथाशीघ्र ज़रूर भेजूँगा। आपकी पुस्तकों के बारे में

जानकारी प्राप्त कर आनन्द हुआ। मेरी कई पुस्तकें 'आउट आफ प्रिण्ट' रहने के कारण उसके नवीन संस्करण की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

कई बार आपकी रचनाएं पढ़कर मुझे होता है कि मैं या मेरे प्रिय विषय जो कि लोक-साहित्य है के लिए आपकी ही तरह खानाबदोश बनकर जगह-जगह घूमता फिरूँ, पर अनेक प्रकार के बन्धनों में फँसा हुआ मैं निकल ही नहीं पाता, और तब मालूम होता है कि एक बार पूरी ताकत लगाकर निकल जाने से ही निकला जा सकता है। लेकिन जब मैं आपकी तरह निकल ही नहीं सकता तब आप यह काम कर रहे हैं, इससे आश्वासन ले लेता हूँ कि मैंने नहीं तो आपने तो काम किया है......कर रहे हैं।

पुनः जब भी आप इस ओर गुजरात काठियावाड़ के निकट आयें, मुझे पहले से ही लिखियेगा, जिससे हम लोग ज़रूर मिल सकें। आपसे मिलने पर मुझे बहुत प्रसन्नता होगी, और शायद हम आप एक दूसरे के वार्तालाप से जीवन के कुछ सुखद क्षणों को अपना बना लेंगे।

यह पत्र कलकत्ता वाले भतीजे रमणीक के हाथ से लिखवाया है। मैं शुद्ध हिन्दी लिख नहीं सकता, उससे क्षोभ होता है। यदि हम दोनों का मिलाप हो जाय, मेरी ख्वाहिश है कि सीना खोलकर बतलाऊँ लोक-साहित्य में मैंने क्या-क्या देखा और पाया ?

बार-बार क्षमा चाहता हूँ,

लि० स्नेहांकित
झवेरचन्द मेघाणी
का स्नेहवन्दन।

यह पत्र मिलने पर रामू भाई ने यही परामर्श दिया कि निकट भविष्य में काठियावाड़-यात्रा का कार्यक्रम स्थगित कर देना चाहिए! पर मेरे जी में आया कि मेघाणीजी को पत्र द्वारा तो यही सूचित करूँ कि मैंने अभी काठियावाड़ आने का विचार छोड़ दिया है, पर अचानक उनके पास जा पहुँचूँ। फिर सोचा कि यदि मेघाणीजी किसी गहन मानसिक उलझन में न फँसे होते तो निस्संकोच हमें आमन्त्रित करते।

कई वर्ष पश्चात् अचानक एक दिन यह समाचार मिला कि मेघाणीजी इस जगत् में नहीं रहे। मेरे हृदय पर एक गहरी चोट लगी। इसे मैं अपना दुर्भाग्य समझता हूँ कि मैं मेघाणीजी के जीते-जी, काठियावाड़ न जा सका।

आज सोचता हूँ कि काठियावाड़ कैसे जाऊं जब उसका प्रतीक ही नहीं रहा। यदि मिले होते तो वे बताते कि अभी तो उनका लोक-गीत-संग्रह सागर में एक बूँद के समान है। इसके उत्तर में मैं वे सब गीत उन्हें भी अवश्य सुनाता जो मैंने बम्बई में रामू भाई और गुलबदन को सुनाये थे......फिर शायद मुझे भी यही कहना पडता कि मैं भी अधिक लोकगीत नहीं जुटा पाया। फिर मैं उनसे कहता—क्यों न हम मिलकर निकल पड़ें, एक साथ खानाबदोश बनें। दूर-दूर के जनपद हमें बुला रहे हैं—हमारी बाट जोह रहे हैं!

: ५ :
यात्रा, योजना और संस्मरण

हिमाचल यात्रा के सत्रह दिन

राहुल सांकृत्यायन

बारह अगस्त को हमने साङ्ला से प्रस्थान कर दिया। चपरासी का अब भी कहीं पता नहीं था। आज चौदह मील जाकर किल्वा में रहना था, लेकिन भार-वाहक ब्रूये में बदले जाते। हम एक दिन पहले जा रहे थे, इसलिए ब्रूये में भार-वाहकों के तैयार मिलने की आशा नहीं हो सकती थी। अतएव चौदह मील के वास्ते प्रत्येक को तीन-तीन रुपये देकर भार-वाहक यहाँ से सीधे किल्वा के लिए किये। अब हम बस्पा नदी के किनारे-किनारे नीचे की ओर जा रहे थे, फिर पैर तेजी से उठें, तो इसमें क्या आश्चर्य। ब्रूये में रखे सामान को लेने में कुछ देर थी। पुण्यसागर को छोड़कर मैं आगे बढ़ा। बस्पा की यह उपत्यका साङ्ला और आगे तक बड़ी रमणीक है। हरशिल और गंगोत्तरी के दृश्य यहाँ और ऊँचे स्तर पर याद आ रहे थे। शोङ्टङ् जाने वाले पुल को छोड़ते हुए मैं उतरकर फिर सतलज-उपत्यका में आ गया। अब भी साढ़े पाँच हजार फीट से अधिक ऊँचाई पर थे, लेकिन गर्मी मालूम हो रही थी, और आखिर के कुछ मील चढ़ाई में वह असह्य भी हो उठी थी।

साढ़े आठ बजे मैंने प्रस्थान किया था और दो बजे बंगले पर पहुँच गया। यहाँ जंगल-विभाग का बंगला है, जो कुछ ही साल पहले नया बनाया गया था।

गाँव में देवता के अतिरिक्त एक बुद्ध-मन्दिर भी है। पुजारी ने बताया कि बुद्ध-मन्दिर नया है, वहाँ कोई पुरानी चीज़ नहीं है। 'चुन्नीलाल डागडर' गीत की नायिका जङ्मोपोती किल्वा में ही रहती है और अभी तरुणी है। लेकिन मैं गीत के बारे में अपनी खोज और बढ़ाने को तैयार न था। मैं गीत की कवियित्री की तरह जङ्मोपोती को नहीं, डाक्टर को अथवा दोनों को नहीं, तरुणाई को दोषी समझता हूँ।

साङ्ला और चिनी के बाद किल्वा में ही स्कूल है, जिसके साथ डाकखाना भी है। इधर के रेंजर का केन्द्र भी यहीं है। इस प्रकार किल्वा काफ़ी महत्त्वपूर्ण स्थान है। फल यहाँ भी सभी तरह के होते हैं, किन्तु अर्धमानसून क्षेत्र में होने से खास प्रकार के फल विकसित करने पर ही यहाँ मीठे अंगूर तथा दूसरे मीठे फल पैदा किये जा सकेंगे।

दो-ढाई घंटे बाद पुण्यसागर भी आ पहुँचे। अगले दिन तेरह अगस्त को हमें पाँच

ही मील जाना था, नहीं तो चौदह अगस्त के प्रोग्राम में गड़बड़ी होती। सबेरे प्रातराश के बाद हमने प्रस्थान किया और बारह बजे छोल्टू पहुँचे। यह चिनी तहसील का सबसे नीचे का बंगला समुद्र-तट से ५७५० फीट और सतलज की धारा से सौ-डेढ़-सौ फीट ऊपर है। इधर के जंगलात के डाक-बंगलों में सबसे बड़ा मेवाबाग यहीं है, खास करके अंगूर की लताएं तो बहुत दूर तक फैली हुई है। नये प्रकार के फलों के विकास की तो कोशिश नही की गई, किन्तु हर तरह के सर्द मुल्क के फलों के लगाने के प्रयोग यहाँ बहुत किये गए हैं। अंगूर की फसल खतम हो चुकी थी। सेब की फसल भी टूट चुकी थी, किन्तु बखार से फल निकालकर माली ने कुछ सेब खाने के लिए दिये। सेब अच्छे थे, आड़ू यहाँ के और भी मीठे थे, बहुत बड़े और खूब लाल रंग के अभी दरख्तों पर लगे थे। छोल्टू के खरबूजे और सर्दे को भी खाया, दोनों बहुत मीठे थे। नासपातियाँ भी बहुत मीठी थीं। क्वेटा के मेवों का यहाँ मुकाबिला किया जा सकता है, यदि थोड़ा विज्ञान और अनुसंधान का भी आश्रय लिया जाय।

छोल्टू का विशाल बाग क्रीडोद्यान-सा मालूम होता है; यहीं पर मुझे पाँचवें वैष्णव साधु मिले। घुमक्कड़ भी देवताओं की तरह एक दूसरे की ईर्ष्या से मरे जाते हैं। हाँ, यह बात अधिकतर साधु-घुमक्कड़ों में पाई जाती है, क्योंकि वह साथ-साथ अपनी जीविका के लिए दूसरों को और अपने को भी भ्रम में डालने के लिए बहुत-से ढोंग-पाखंड करते रहते हैं। उच्च श्रेणी के घुमक्कड़ में कभी अपने घुमक्कड़ भाई के प्रति ईर्ष्या नहीं हो सकती। हमारे घुमक्कड़ सीताराम बनारस के शीतलदास के अखाड़े के शिष्य और सहसराम के रहने वाले थे। भारत की प्रदक्षिणा कर चुके थे, और पच्चीस साल से अब हिमालय में विचर रहे थे। काश्मीर में भी वर्षों रहे और इधर के पहाड़ों को तो घर ही बना लिया है। हाँ, कुल्लू में उन्होंने कभी पैर नहीं रखा, क्योंकि तरुणाई में ही किसी ने कह दिया था, 'जो जाये कुल्लू, हो जाये उल्लू।' पंगी ब्रह्मचारी को भी जानते थे, और मोनेरौला को भी। मोनेरौला को 'माँसाद' कहकर उसे मेरी नजर में गिराना चाहते थे। वह नहीं जानते थे, कि यदि रौला सचमुच ही माँस खाती रहा हो, तो मैं उसे बधाई दूँगा। रौला की घुमक्कड़ी और स्कूल बनाने की धुन, दो श्रेष्ठ गुण क्या उसे बड़ा नहीं बनाते। सीताराम से उनकी यात्रा का वर्णन सुना। अभी कुछ महीने भाबा में रहे थे, अब किन्वा का इरादा था। मैंने उन्हें अपने साथ भोजन करने के लिए निमन्त्रित किया, और बड़ी रात तक उनकी बातें सुनता रहा। पिछले ढाई हजार वर्षों में लाखों साहस-यात्रियों को हमारे देश ने पैदा किया, उनके लिए न समुद्र अलंघ्य रहे, न गगनचुम्बी पर्वत-श्रेणियां। लेकिन इन यात्रियों ने अपने अनुभव और ज्ञान को अपने देश-भाइयों के सामने रखने की कोशिश नहीं की। वे आजीवन विचरते रहे और रेत के पद-चिह्न की तरह घूमते-ही-घूमते कहीं विलीन हो गए। हमारे सीताराम उन्हीं लाखों साहस-यात्रियों में हैं, किन्तु अब हमें दूसरी तरह के यात्रियों की आवश्यकता है, जो मूक नहीं वाचाल हों।

भार-वाहकों को यहां से दो ही मील आगे सतलज पार टापरी तक जाना था, किन्तु वह सबेरे आ जायंगे, इसकी मुझे आशा न थी। सामान सम्हालने के लिए पुण्यसागर थे ही; मैं सबेरे ही हाथ में डंडा लिये चल पड़ा। सतलज पर एक अच्छा लोहे का झूला बना है।

झूला पार करते हुए मैं टापरी जा पहुंचा और वहाँ जा मैंने तिब्बत-हिन्दुस्तान-सड़क पकड़ी। तीन महीने पहले जब मैं इधर से गया था तो पर्वत-शरीर सूखा-सा दिखलाई पड़ता था, किन्तु अब सब जगह हरियाली-ही-हरियाली थी। आगे नदी पार देवदार के सिलीपरों को सतलज में गिराने के लिए आये हुए मजदूर मिले। जंगल-विभाग और सड़क-विभाग को भी किन्नर लोगों से यह बराबर शिकायत रही है, कि वह उनके काम में हाथ नहीं बँटाते। छः घंटे काम करने के लिए डेढ़ रुपया मजूरी मिलने पर ही वे स्वेच्छा से अवकाश ले लिया करते हैं। जंगल-विभाग के एक बड़े अंग्रेज अफसर ने तो एक बार यह भी सुझाव रखा था, कि इनकी भेड़-बकरियों पर भारी टैक्स लगा दिया जाय, जिससे उनकी संख्या कम हो जाय और लोग जंगल-विभाग की मजूरी करने के लिए बाध्य हों। साहब बहादुर को मजूरी अधिक करने की जगह यह ढंग अच्छा लगा। यह ठीक नहीं है, कि किन्नर के अल्प धान्य में सम्मिलित होने के लिए हजारों दूसरे मुँह आ जायं। यद्यपि ठेकेदारों को आज्ञा दी गई है, कि वे बाहर से अनाज मंगाकर अपने श्रमिकों को खिलायें, किन्तु मंगाने के तरद्दुद से बचने के लिए वे कितना ही अनाज स्थानीय लोगों से अधिक दाम देकर खरीद लेते हैं। किन्नर लोगों को काष्ठ-छेदन के काम पर तभी लगाया जा सकता है, जबकि वेतन ड्योढा-दूना दिया जाय और खड्डों से जगह-जगह बिजली पैदा की जाय; जिससे बिजली के आरे काम में लाये जा सकें।

जंगल-विभाग के गोदाम के पास आदमियों की बहुत-सी टोलियाँ देखीं। यह नीचे बिलासपुर रियासत से लकड़ी काटने के लिए आये थे। मैं चढाई चढकर डाक-बंगले में पहुँचा। सात मील की मंजिल मार ली थी, सोचा आज यहीं विश्राम होगा। पर बाबू लक्ष्मीचन्द छुट्टी पर घर जाने वाले थे, दस दिन की छुट्टी मे एक दिन यहीं बीत जाय, यह ठीक नहीं था। मैंने भी भार-वाहकों को आज ही आगे चलने की स्वीकृति दे दी। नचार तक तीन मील की चढाई थी, फिर तो पौंडा पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं थी।

यद्यपि कायदे के अनुसार भार-वाहकों को नचार तक पहुंचाना था, किन्तु उन्हें यहां तक के लिए ही कहा गया था, इसीलिए वे आगे चलने मे आनाकानी करने लगे। कुछ और मजूरी तथा रात्रि-भोजन देने पर वे चलने के लिए तैयार हो गए। बरसात ने सड़क कहीं-कहीं तोड़ दी थी, किन्तु बुरी तौर से नहीं। बाबू लक्ष्मीचन्द की घोड़ी सवारी के लिए मिली थी। घोड़ी बढ़ी थी, किन्तु अब बहुत मोटी हो गई थी। वह खट-खट चढती गई और हम डेढ़ घंटे में नचार पहुंच गए। चिनी छोड़ने के बाद की डाक यहां पड़ी हुई थी, डाक ली। पंगी बाबू ने सेब और पेय से सत्कार किया, और वहाँ से चलकर हम आज ही सात बजे पौंडा डाक-बंगले पर पहुंच गए। पंगी बाबू ने सहायता न की होती, तो भार-वाहक न मिलने से आज नचार ही में रह जाना पड़ता। वाङ्तू के बाद अब हम मानसून-क्षेत्र मे थे और इस साल तो वर्षा में मेघ-देवता अधिक उदारता दिखला रहे थे, लेकिन आज उन्होंने हमसे छेड़-छाड़ नहीं की।

पौंडा से सराहन दो पड़ाव है। भार-वाहकों को एक जगह बदलना पड़ता है। हमने बाबू लक्ष्मीचन्द से कहा, कि दो आने की जगह चार आने प्रति मील मजूरी दीजिये और भार-वाहकों को यहां से सीधे सराहन चलने के लिए ठीक कीजिये। कुलियों को पहले भेज

दिया, पर प्रातराश तैयार करने में पाचकराम ने काफी देर कर दी। इसलिए हम साढ़े नौ बजे से पहले नहीं चल सके। मील-भर पर ही शोलिङ् मिला। यहां जाते समय खम्बा-तरुण ने चाय पिलाई थी। घरों के अगवाई-पिछवाई गोबर-मिट्टी-मिश्रित एक फुट मोटी कीचड़ थी। चढ़ाई में सवारी नहीं की। अधिकतर पैदल ही चलते रहे और हम एक बजे चौरा पहुंच गए। पौंडा से बाईस वर्ष पहले सड़क तरंडा होकर ऊपर-ऊपर जाती थी। पर पीछे नीचे से दूसरा समीपतम का मार्ग निकाल दिया गया। अब तरंडा कौन जायगा। चौरा में डेढ घंटा विश्राम हुआ। चौकीदार साहब ने कुछ मीठी नाशपातियां लाकर दीं। हां, चौकीदार साहब ही कहना चाहिए, क्योंकि इधर के डाक-बंगलों में चौकीदार का काम गांव के नम्बरदार या धनी प्रभाव-शाली आदमी को ही दिया गया है। निस्सन्देह यह समुद्र में वर्षा है, धनी को और धनी बनाने और गरीब को और गरीब रखने का उपाय।

चौरा से चलकर शाम से बहुत पहले हम सराहन पहुँच गए। आज किन्नर सीमा (मन्योर्टी धार) को पार करते ही जोर की वर्षा होने लगी। सराहन के डाक-बंगले में ठहरे, यद्यपि आज्ञा-पत्र न होने से वहां ठहरने का हमारा अधिकार नहीं था।

आज १५ अगस्त सन् १९४८ ई० था। भारत को अंग्रेजों से मुक्त हुए ३६५ दिन पूरे हो चुके। स्वतन्त्रता कितनी मधुर वस्तु है और साथ ही कितनी मूल्यवान भी; इसके मूल्य को वे ही समझ सकते हैं, जो परतन्त्र देश के वासी रहते स्वतन्त्र देशों में घूम चुके हों। फिर हमारे देश की परतन्त्रता केवल अंग्रेजी राज्य की काल-रात्रि के साथ ही नहीं शुरू हुई। वह तब से आरम्भ हुई, जब से हमारा देश विदेशियों का अखाड़ा बन गया।

पन्द्रह अगस्त हमारे इतिहास का सदा-स्मरणीय दिन रहेगा। उस दिन अपनी सफलताओं पर मेरा विचार दौड़ रहा था। वर्ष-भर में हमने अपने देश को अधिक संगठित, अधिक बलवान बनाया, इसमें मुझे सन्देह नहीं।

फिर मेरा ध्यान गया लद्दाख की ओर, जहाँ सिन्धु-उपत्यका, नुब्रा-उपत्यका और जांस्कर-उपत्यका में पाकिस्तानी धर्मान्ध अल्पसंख्यक निरीह बौद्धों पर जुल्म के पहाड़ ढा रहे हैं। लाहुल यहाँ से दो ही पहाड़ों के पार है और उससे दो दिन में एक ही पहाड़ पार करने पर आदमी जांस्कर पहुँच जाता है। जांस्कर के सैंकड़ों बौद्ध गृहस्थों और भिक्षुकों को इन आततायियों ने तलवार के घाट उतारा। नुब्रा और लामायुरू में भी उन्होंने ऐसा ही किया। मालूम नहीं ग्यारहवीं शताब्दी की सुन्दरतम भारतीय चित्रकला की निधियों-अल्ची और सुम्रा के बिहारों की इन्होंने क्या गति बनाई। मरे आदमियों के स्थान की पूर्ति नवजात शिशु कर सकते हैं, पर नष्ट होने पर क्या इन कला-निधियों की पूर्ति कभी हो सकेगी। ग्यारहवीं शताब्दी की भारतीय चित्रकला के लिए ये दोनों विहार अजन्ता थे।

फिर मैं कुल्लू—लाहुल—लद्दाख के रास्ते पर विचार करने लगा। आज लद्दाख की रक्षा के लिए हम सैनिक सहायता इसी रास्ते से भेज सकते हैं। यह रास्ता पठानकोट, योगेन्द्र-नगर, कुल्लू, लाहुल होते जाता है। यदि पाकिस्तान ने युद्ध शुरू कर दिया, तो पठानकोट खतरे में हो जायगा और फिर केन्द्रीय भारत से काश्मीर-लद्दाख का ही सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं

हो जायगा, बल्कि कुल्लू,उपत्यका भी कट जायगी। इसके लिए जरूरी था कि एक दूसरी सड़क भी तैयार की जाती। ऐसी सड़क आसानी से बनाई जा सकती है। शिमला से नारकण्डा तक मोटर की सड़क बनी हुई है। उधर कुल्लू की मोटर-सड़क भी बीस-पचीस मील तक बाजार में आती है। नारकण्डा से साठ-बासठ मील की सड़क निकालकर कुल्लू की सड़क से मिलाया जा सकता है। यह मोटर-सड़क सबसे छोटी और अत्यन्त सुरक्षित होगी। वर्तमान सड़क पर भी छोटी आस्टीन गाड़ी एक बार जा चुकी है। सैनिक महत्त्व के विचार से अधिक खर्च होने पर भी इस सड़क का बनाया जाना अत्यावश्यक है, साथ ही यह सड़क व्यवहारतः बहुत लाभदायक सिद्ध होगी। इसके निकलने पर कुल्लू के फलों की निकासी में ही आसानी नहीं हो जायगी, बल्कि सतलज-पार के अनी और उसके पास के इलाके में फलों का एक दूसरा कुल्लू तैयार हो जायगा। शायद लोग समझ नहीं रहे हैं कि चांस्कर के बौद्धों का कत्ले-आम लाहुल के लिए खतरे की घंटी है।

हाँ, तो मैं पन्द्रह अगस्त को अपने देश की सफलताओं और त्रुटियों पर विचार कर रहा था। आज सारे देश में स्वतन्त्रता-दिवस की धूम होगी; किन्तु यहाँ पहाड़ में एकदम सुन-सान है। इन लोगों का इसमें क्या दोष है। यदि पिछले साल-भर में पहले से कोई विशेष परिवर्तन लोगों ने देखा होता, तो वे जरूर उत्सव मनाते। पहाड़ के लोगों से बढ़कर उत्सव-प्रेमी मिलना मुश्किल है।

सराहन में मैं एक-दो दिन ठहरना चाहता था। मुझे बहुत आशा थी, कि यहां भीमा-काली के मन्दिर से बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री और लिखितम ग्रन्थ प्राप्त होंगे। बाबू लक्ष्मीचन्द के साथ रहने से डाक-बंगले में जगह तो मिल गई, पर एस० डी० ओ० भी सोलह अगस्त को आने वाले थे। उनके स्वागत-सत्कार की तैयारी करने के लिए नायब तहसीलदार रामपुर से आये हुए थे। डाक-बंगले में दो ही कमरे हैं, एक कमरा आने वाले मेहमान के लिए अवश्य पर्याप्त नहीं था। पति-पत्नी, दो बच्चे और एकाध सम्बन्धी भला एक कमरे में कैसे आ सकते थे। तहसीलदार ने मुझे ही कमरा खाली करने के लिए कहना चाहा, किन्तु दूसरों ने इसके लिए राय नहीं दी। मुझसे कहते तो मैं जरूर दूसरी जगह चला जाता। सरकारी नौकरों और कार-परदाजों में उसी तरह की हड़बड़ी मची हुई थी, जैसे राजा साहब के आने पर होता रहा होगा।

कामरू में ही बाढ़ ने भीषण रूप धारण नहीं किया था, बल्कि पिछले सप्ताह सराहन में भी जल-प्रलय आ गया था। बाजार की सड़क पर खड्ड का पानी बहने लगा था, और कितनी ही दूकानों में पानी भर गया था।

अगले दिन मैं सीधा भीमाकाली के मन्दिर की ओर गया। बाहरी फाटक पर सम्वत् १८७१ छोटा सम्वत् ३४ जेठ प्रविष्टे ३० का लेख है। फाटक से भीतर आंगन में गये। आंगन में गोबर बिखरा ही होना चाहिए, क्योंकि गाँव की गायों को यहां बुलाकर सदावर्त दिया जाता है। वस्तुतः बसाहर की स्वाभिमानी यही भीमाकाली थी, राजा तो उसका कायथ भर था। भीमाकाली के खजाने में बहुत धन बताया जाता है, पर राजा की आज्ञा से ही उसे खोला जा

सकता है। सन् १९४७ में राजा पद्मसिंह चल बसे तो भीमाकाली के खजाने पर मुहर लग गई। अब नये राजा साहब जब गद्दी पर बैठेंगे तो, मुहर तोड़कर खजाना खोला जायगा, यही लोगों की आशा है। शायद इन लोगों को अभी विश्वास नहीं कि गद्दी सदा के लिए खतम हो गई है। भीमाकाली बहुत धनी है। उसके लिए रामपुर और चिनी तहसीलों में मालगुजारी पर चार आना प्रति रुपया लोगों से वसूल किया जाता है। मालूम नहीं, अब भी चार आना रुपया वसूल किया जायगा या नहीं। नेहरूजी हमारी सरकार को धर्म के बारे में तटस्थ कहते हैं। फिर हिमांचल सरकार कैसे खेत वालों से जबरदस्ती मालगुजारी के साथ रुपये पर चार आना वसूल करेगी। रोहडू तहसील रुपया नहीं, अस्सी मन बहुत बढ़िया चावल प्रतिवर्ष देवी के लिए देती है। ख्यावल, कमराली, क्याव और बदाये देवी के जागीरी गांव हैं। देवी की नगद आय, प्रतिवर्ष पच्चीस हजार रुपये और व्यय सोलह हजार रुपये बतलाया गया। हर तीसरे वर्ष विशेष उत्सव होता है, जिसके लिए छः आना रुपया और वसूल किया जाता है।

हम भीतरी फाटक से एक आंगन में गये। जब महल नहीं बने थे तब राजा का निवास-स्थान और उनका रनिवास यहीं था। राजा साहब के स्थानापन्न एस० डी० ओ० साहब को यदि यहां ठहराया जाता तो जरूर उनका दम घुटने लगता। एक और फाटक पार करने पर हम देवी के मन्दिर के सामने पहुँचे। देवी के मन्दिर के भीतर बसाहर रियासत में भी नोगड़ी खड्ड से ऊपर-ऊपर के ही लोग जा सकते हैं। फिर मेरे भीतर जाने की बात क्या हो सकती थी। बाहर वालों के दर्शन के लिए बाहर के द्वार पर सिंहवाहिनी अष्टभुजा देवी की मूर्ति है। पुजारी ने बताया कि भीतर भी इसी प्रकार की अष्टधातु की मूर्ति है जो तीन हाथ लम्बी है। मन्दिर कामरू के किले का ही बड़ा संस्करण समझिये। इसमें पांच तल हैं। प्रथम तल पर पांच कोठरियां है जिनमें से एक में रुपया रखा है। बाकी कभी-कभी हवन और बलि-पशु कार्य के काम आती है। दूसरे तल की चार कोठरियों में से नये मन्दिर के पास वाली कोठरी में स्वयं देवी का निवास है और बाकी तीन में बर्तन-भण्डार, पाठ-स्थान और शिबू (लाल मदिरा) रखे जाते हैं। तीसरे तल पर भी चार कोठरियां हैं जिनमें क्रमशः बालिका भगवती (सिंहवाहिनी नहीं), खजाना, राजा की मोहर से बन्द, पानी और एक खुला स्थान है। चौथे बड़े कमरे में मांस पकता है, दूसरे में छोटा रसोई-घर है और तीसरा खाली है। पांचवां तल; छत के नीचे का, खाली है।

देवी के अधिकारियों में सर्वोपरि सपनी-निवासी नेगी विद्यानन्द पांच साल से विस्ट पद पर काम कर रहे हैं। पहले वे राज्य के पुलिस-विभाग में थे। देवी के विस्ट को पैंतीस रुपया मासिक मिलता है; जबकि पैंतालीस मासिक पर भी कनौर में मजूर काम करने के लिए नहीं मिलते। इससे पहले शोरड् के बरकतदास बीस साल तक विस्ट पद पर रहे। सन् १८१५ में अंग्रेजों ने भी देखा था कि राजा के दर्बार में किन्नरों का ही प्रभुत्व है देवी के दर्बार के बारे में तो यह बात और भी स्पष्ट है। आखिर राजवंश भी तो कनौर से आया था। विस्ट को राजा नियुक्त करता है। विस्ट के नीचे दो कायथ हैं, जिन्हें पच्चीस रुपये मासिक मिलता है और आटा यहां बारह आने सेर है। एक डंडीदार (भंडारी) है, जिसे पच्चीस रुपये महीना मिलता है।

ग्यारह रुपये मासिक पाने वाले दो शिकारू हैं, जिनका काम शिकार करना नहीं, बल्कि बकरा-बकरी खरीद कर लाना है। बकरे आजकल चालीस-चालीस, पचास पचास पर बिक रहे हैं। देवी को प्रतिमास पन्द्रह, दशहरे में साथ और चैत नवरात्र में छत्तीस बलि-पशुओं की नियमपूर्वक आवश्यकता होती है। इसके ऊपर से शुड्रामेरू और दूसरे देवता बाहरी प्रदक्षिणा में बकरे, सुअर और मुर्गे की बलि चढ़ाते हैं। दूसरे कर्मचारियों में दो प्रोलिया (दरबान) सात रुपये मासिक और भोजन पर, दो कटेक् (भीतरी द्वारपाल) सात रुपये और भोजन दो देवफन्यार (माली) दस रुपये और भोजन, एक जलेहरु (कहार) पांच रुपये और भोजन एक शिरकोट बोटिया (श्रीकोट रसोइया) डेढ़ रुपये और भोजन, दो गुर (पुजारी) रावीं के ब्राह्मण तीन रुपये और भोजन, एक बोज्गी (भोजन), जो पद्मसिंह द्वारा स्थापित रघुनाथ जी के मन्दिर में पूजा करता है। यह निरामिषाहारी रहता है और तीन रुपये मासिक तथा भोजन पाता है। एक प्रोत (पुरोहित) जिसका काम है फूल लाना और मन्दिर के भूषण की रक्षा करना। एक रमिया (बामन पानी का काम करने वाला) पांच रुपये और भोजन पाता है। तीन रुपये और भोजन पर एक माथी मन्दिर के भीतर झाड़ने-बुहारने का काम करता है। एक खडेहरी कोलिन भोजन पर मन्दिर से बाहर झाड़ू-बहारू करती है। एक खरदार देवी का साईस सोलह रुपये मासिक पाता है। ग्रोच (देववाहन) और एक सहायक ग्रोच तीन-तीन रुपया पाते हैं, जब देवी उनके शिर पर आती है, और उन्हें काम करना पड़ता है, तो उन्हें मन्दिर से भोजन भी मिलता है। बाजा बजाने वाले तुरी सिर्फ भोजन पर ढेरों रहते थे, पर अब सिर्फ एक ही रह गया है। सरकार ने खर्च जो कम कर दिया है।

पुराना मन्दिर अच्छी हालत में है, किन्तु उसी तरफ का एक नया मन्दिर भी बनकर तैयार हो गया है। इसे पद्मसिंह ने अक्षय कीर्ति प्राप्त करने के लिए हाल ही में बनवाया। बाहरी खंड के पास चौथे खंड में नरसिंह जी का शिखर-युक्त पाषाण-मंदिर है। नरसिंह जी रामपुर चले गए, अब उनकी जगह बदरीनाथजी विराजमान हैं। इनकी सेवा-पूजा के लिए भोजन और तीन रुपये मासिक पर पुजारी, कुचई (माली ब्राह्मण) और बोटिया तीन जने रहते हैं। बदरीनाथ की पीतल की मूर्ति कपड़े से ढकी थी। मुझे सन्देह हुआ। मैंने कपड़ा हटवाया तो वह बुद्धरूपी बदरीनाथ निकले। मन्दिर देख-सुनकर मैं विस्ट साहब के कार्यालय में गया, पर वहाँ दस-बीस साल की बहियों के अतिरिक्त कोई कागज नहीं था।

मैंने कहा—"मंदिर का पुराना कागज़-पत्र दिखलाइये।"

विस्ट ने प्रकृत स्वर में कहा—"वह तो जल गया।"

"जल गया? मंदिर में तो आग नहीं लगी, फिर जला कैसे?"

"सरदार साहब चैत में जला गए।"

"सरदार साहब जला गए? यह आप क्या कह रहे हैं?"

"हां, जला गए। जलाते समय मैं भी था और तहसीलदार देवकीनन्द भी।"

सच कहूँ, मुझे विश्वास नहीं आया। पुराने, ऐतिहासिक महत्त्व के कागजों को कोई शिक्षित उत्तरदायी कर्मचारी कैसे जलाने का साहस करेगा। मेहताजी की भी जलाने की बात

का विश्वास नहीं होता, पर कागज गये कहां ? सराहन में जिससे भी मेरी बात हुई, उसने कागजों के जलाये जाने की बात कही। दिन-भर कागज जलते रहे। गोरखों ने १४० वर्ष पुराने रामपुर में राज के कागज़ों से होली खेली थी और अब यह दूसरी क्रूर होली खेली गई। यदि किसी ने जलाया है, तो उसने देश और संस्कृति पर प्रहार करके अक्षय अपराध किया है, और उसे कठोरतम दंड मिलना चाहिए।

लौटकर भोजन करने के बाद सड़क से नीचे समीप ही अवस्थित रार्वी ब्राह्मण गांव में गया। यहां चौबीस भारद्वाज, सोलह वाशिष्ठ और बीस कौशल गोत्री आदि गौड़ ब्राह्मण बसते हैं। किसी समय यहां पांच सौ घर ब्राह्मण थे, और गांव नीचे दूर तक बसा हुआ था, पर अब घटते-घटते साठ रह गए। ब्राह्मणों के निस्सन्तान मरने से आज भी आठ-दस घर खाली पड़े हैं। एक पचास से अधिक वर्ष के संस्कृतज्ञ ब्राह्मण (विष्णु) मिले। उन्होंने बनारस जाकर संस्कृत में मध्यमा तक पढ़ा था। आदमी कुछ स्पष्टवादी मालूम होते थे। वे स्वीकार कर रहे थे कि हमारे यहां सपिंड नहीं सगोत्र विवाह भी होता है। भारद्वाज लोग अपने को दक्षिण देश के कांचन (कांची) नगर से आये परदुमन के भाई दशरथ की संतान कहते हैं।

मैंने कहा—"तो वह परदुमन कृष्ण के पुत्र नहीं थे ? फिर तो राजा चन्द्रवंशी नहीं हो सकते।"

"हां, नहीं थे। यह तो पटियाला के राजा ने यहां के राजा को एक बार पढ़ा दिया कि आप चन्द्रवंशी हैं।"

एक पुरानी परम्परा यह भी है कि रार्वी के भारद्वाजी ब्राह्मण और रामपुर के राजवंशी दो सगे भाइयों की सन्तानें हैं। मैं उसी मन्दिर के बरामदे में जाकर बैठा था, जहां सतयुग की पोथी सैकड़ों वेष्टनों में लिपटी कलियुग के अन्त तक के लिए बांधकर रखी गई है। पोथी के बारे में पूछने पर उक्त पंडितजी ने बतलाया कि वह कागज़ पर लिखी है और फलित ज्योतिष तथा तन्त्र-मन्त्र की पुस्तक है। यदि तालपत्र या भोजपत्र पर होती तो मुझे ज़रूर न देखने का अफ़सोस होता। कागज तेरहवीं सदी से बाद में भारत में प्रचलित हुआ, यद्यपि कागज बनाने की छाल यहाँ के एक वृक्ष में लाखों वर्षों से मौजूद थी और अब इस छाल को रोपा की तरफ़ ले जाकर लोग तिब्बत वालों के लिए कागज बनाते हैं। रार्वी में बड़े विद्वान् की आवश्यकता तो शायद कभी नहीं हुई होगी, पर पुरोहिती उनकी जीविका थी, इसलिए विद्या का अभाव कभी नहीं रहा होगा। मैंने कुछ हस्तलिखित पुस्तक देखनी चाहीं। यद्यपि मध्याह्न का समय था और लोग इधर-उधर चले गए थे तब भी कई शिक्षित व्यक्ति मेरे पास आ गए थे और मेरी जिज्ञासा की पूर्ति करने के लिए तैयार थे। उन्होंने बतलाया कि पोथियों के फटी-पुरानी हो जाने पर हम लोग उन्हें सतलज में बहा दिया करते हैं, इसीलिए पोथियां कम रह गई हैं। तो भी उन्होंने दो साल तक की पुरानी पोथियां दिखलाईं, जिनमें से एक भागवत एकादश स्कन्ध (दशमस्कन्ध नहीं) का दोहा-चौपाई में भाषान्तर था, जिसे संवत् १६९२ (तुलसी-निर्वाण के बारह साल बाद) में सन्तदास के शिष्य चतुरदास ने रचा। डेढ़-दो-सौ साल

की एक और पोथी देखी, जो पहाड़ी तथा हिन्दी मिली-जुली भाषा में गीता पर लिखी गई है।

लौटकर डाक-बंगले आये। एस० डी० ओ० साहब आ गये थे और विश्राम कर रहे थे। मैं अपने कमरे में विश्राम करने चला गया। तीन-चार बजे बाहर निकला। एस० डी० ओ० श्री प्रेमराज अपनी पत्नी के साथ बरांडे में ताश खेल रहे थे। शायद उनके खेल में एक सेकेण्ड के लिए भी विघ्न डालना मेरे लिए अनुचित था; पर मैं शिष्टाचार प्रदर्शन के लिए मरा जा रहा था। मैंने पास जाकर नमस्ते की। उनके रुख को देखकर मैंने इस बात के लिए भी खैरियत मनाई कि उन्होंने घुड़ककर इस अनुचित दखल के लिए मुझे फटकारा नहीं। उन्होंने तो मुँह फेरकर देखा भी नहीं कि कौन नमस्ते कर रहा है, और वह अपने खेल में संलग्न रहे।

मैंने अपने को अपमानित बिलकुल अनुभव नहीं किया। हाँ, लौटकर अपने कमरे मे चला आया। श्री प्रेमराज जी ने मुझे पहले देखा नहीं, पर वह मुझे उसी तरह भली प्रकार जानते हैं जैसे रामपुर के सारे कर्मचारी। यदि न भी जानते हों तो भी शिक्षा और संस्कृति की माँग है। शिष्टाचार-प्रदर्शन का कारण ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मुझे शिमला तक आने के बाद ही असली बात का पता लगा। श्री प्रेमराज बी० ए० में राजामात्य का स्वच्छ श्वेत रुधिर है। वह चम्बा-महाराज्य के महामन्त्री दीवान बहादुर श्रीमाधवराम के पौत्र, दीवानजादा रायसाहब अमुक के सुपुत्र हैं और साथ ही कश्मीर के हाल के दीवान तथा आजकल पूर्वी पंजाब के हाईकोर्ट के जज श्री मेहरचन्द महाजन के दामाद हैं। स्वयं चम्बा में मजिस्ट्रेट थे, अब बुशहर के कर्त्ता-धर्ता हैं। भला ऐसे आदमी को बिना आज्ञा पाये नमस्ते करना क्या गुस्ताखी नहीं थी। मैंने दिल में अपने अपराध को स्वीकार किया, और दिल में ही स्वीकार कर सकता था; क्योंकि क्षमा-याचना के लिए जाना दूसरी गुस्ताखी होती।

अब मुझे मालूम हुआ कि क्यों उन्होंने चिनी तहसील में हुक्म भेजा था, कि उनके पास सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेजी मे करनी चाहिए। हिमाचल सरकार ने यदि हिन्दी को राज-भाषा घोषित किया था तो झख मारा था।

सत्रह अगस्त को प्रोग्राम से एक दिन पहले मैं रामपुर की ओर चला। तीन दिन कम पूरे तीन महीने पुण्यसागर मेरे साथ रहे। उनके कारण मैं सब तरफ़ से निश्चिन्त हो गया था। खाना-पीना हिसाब-किताब सब उनके जिम्मे था और वे पूरा ध्यान रखते थे मेरे स्वास्थ्य तथा शरीर का। वे केवल मिडल पास प्रारम्भिक स्कूल के अध्यापक ही नहीं हैं, बल्कि उनमें धर्म और आदर्श का अच्छा संमिश्रण है। संयुक्त विवाह की उनके यहाँ प्रथा है और विवाह-विच्छेद भी चलता है। पहले घुमक्कड़ी, पीछे मधुआई देखकर पत्नी चली गई। छोटे भाई ने अलग ब्याह करके सम्पत्ति बाँट देने के लिए कहा। पुण्यसागर ने कहा कि बाँटने की क्या आवश्यकता है, तुम्हीं सब-कुछ सँभालो। बस उन्होंने घर छोड़ दिया। माता जीवित हैं, इसलिए उससे मिलने जाना चाहते थे, नहीं तो आगे तक मेरे साथ आते। आज एक सीधे-सादे, सहृदय, निस्स्वार्थ मित्र का साथ छूट रहा था। नौ बजे मैं सराहन से चला।

कुछ दूर तक पुण्यसागर भी साथ-साथ आये। रास्ते की अदला-बदली और देरी से मैंने यहाँ से इक्कीस मील, सीधे रामपुर के लिए पाँच-पाँच रुपये के तीन भार-वाहक कर लिये।

रास्ता कहीं-कहीं टूटा था, पर बुरी तरह नहीं। मंगलाड खड्ड तक तो उतराई रही, जिसे पिछली बार चढ़ने में छठी का दूध याद आ गया था। फिर चढ़ाई शुरू हुई, पर अब ऐसी चढ़ाई से मैं भय नहीं खाता था।

आगे चलकर मंझोली गाँव आया। रामपुर की ओर से दो-तीन गूजर आ रहे थे। उनकी भैंसें ऊपर कहीं कंड पर चरने गई थीं। करुण स्वर में कह रहे थे—"पिछले साल झगड़ा हुआ था। यहाँ के लोग कहने लगे—"तुम पाकिस्तान चले जाओ, नहीं तो तुम्हें मार डालेंगे।' हमने कहा—'पाकिस्तान तो हम जाते नहीं, मारना हो मार डालो, अब कंड की चराई के लिए धमकाते हैं। बाबू फिर तो झगड़ा नहीं होगा?"

मैंने उन्हें सान्त्वना दी और कहा—"हमारी सरकार अपने देश में हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा बर्दाश्त नहीं करेगी। तुम लोगों का कहीं घर है, या सदा घूमते ही रहते हो।"

"घर है। जाड़ों में नदी के पास के गाँव में अपनी झोपड़ियों में रहते हैं।"

"तो तुम लोगों को अपने गाँव के पटवारी के पास जाकर मतदाताओं में अपना नाम लिखवा लेना चाहिए। राजा-रानी का राज गया। अब प्रजा का राज है। तुम्हें पंच चुनना होगा।"

उनमें दो पुरुष और एक जवान लड़की थी। सभी के शरीर स्वस्थ, रंग साफ़, नाक नुकीली और कद ऊँचा था। मैं सोच रहा था, ये हैं गूजर, उन्हीं शक घुमन्तुओं की सन्तान; जो इक्कीस सौ वर्ष पहले भागकर भारत आये थे। इनके सरदारों ने भारत पर सदियों राज किया। कितने ही घुमन्तू जाट, गूजर, राजपूत के रूप में नीचे बस गए, और कुछ आज भी अपने पूर्वजों की तरह पशुओं को लेकर घुमन्तू जीवन बिता रहे हैं। भारत में आकर इन्होंने भारतीय धर्म स्वीकार किया और पीछे कुछ सुभीता देखकर इस्लाम को मान लिया। आज वह सुभीता कुभीता हो गया। पहले पहाड़ों में जनसंख्या कम थी, तब कंडों-पहाड़ के ऊपरी भागों को कोई पूछता नहीं था। आदमी बढ़े, धरती एक अंगुल भी न बढ़ी। अब पहाड़ी लोग कंडों पर गूजरों को देखना नहीं चाहते। इसके लिए अच्छा बहाना है हिन्दू-मुसलमान का बिलगाव। गूजरों की समस्या आर्थिक समस्या है।

रास्ते में एक जगह भार-वाहकों की प्रतीक्षा करनी पड़ी। फिर साथ के पाथेय को खाकर मैं पांच बजे रामपुर पहुँच गया। जाते समय गर्मी का महीना था। अब वर्षा ऋतु थी, जिसने चारों तरफ़ ही हरीतिमा को अपने पूर्ण यौवन पर ला दिया था।

डाक-बंगला और अतिथि-भवन नगर के बाहर दोनों तरफ़ काफी दूर पर हैं। मैं रामपुर में एकान्त-वास करने नहीं आया था, बल्कि कुछ काम करना चाहता था। पण्डित दौलतराम से इस विषय में पहले ही बात हो चुकी थी। उन्होंने बिलकुल शहर के भीतर रेंजर-क्वार्टर में ठहरने का प्रबन्ध किया था। पता लगते ही श्रीविद्याधर आयुर्वेदालंकार भी आ गये और हम आवास में प्रतिष्ठित हो गये। अख़बार और चिट्ठियाँ ढेर-की-ढेर थीं। कुछ

देर शिष्टाचार की बात हुई, भोजन हुआ और मित्र लोग चले गये। फिर लालटेन को सिर-हाने रखकर पारायण शुरू किया। पर क्या रात-भर मे वह खतम होने वाला था। एक बजे मैंने लालटेन को बुझाकर सोना चाहा, शरीर को ढाँककर मैं हज़ारों मच्छरों से बच सकता था, पर रामपुर गरम जगह है। चादर ओढ़ते ही शरीर पसीने-पसीने होने लगा। फिर नीचे से सहस्रमुख अलग मे छेदने लगे। मैंने चोरबत्ती उठाकर देखा, खटमल अक्षौहिणी चारों ओर से आक्रमण कर रही था। अब सोना असम्भव था। मैंने लालटेन फिर जलाई और प्रातःकाल तक अखण्ड पाठ चलता रहा। बीच में मन यह भी कह रहा था और रहने की क्या आवश्यकता है, कल ही चल दो। बातचोत से पता लग गया था कि रामपुर से काम की सामग्री अधिक मिलने की आशा नहीं।

अगले दिन जब मैंने पण्डित दौलतरामजी को अपना निश्चय सुनाया तो वे हँसकर बोले—"अर्थात् आप इतने कायर हैं?"

"हाँ, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैंने खटमल, मच्छर, पिस्सू इस त्रिमूर्ति के सामने अपने को सदा कायर सिद्ध किया है।" पर पण्डित दौलतराम मेरी कायरता पर नहीं हँसे थे। उन्होंने कहा कि स्कूल में आजकल छुट्टी है। वहाँ खटमल का नाम नहीं और हवा तथा रोशनी के कारण मच्छर भी कम हैं, मसहरी हमारे पास है।

जल-पान समाप्त करते-करते हमारा सामान भी नई जगह जाने लगा और पहले तो जाकर मैं तीन घंटे सब-कुछ छोड़कर सो गया। फिर श्रीविद्याधरजी के साथ बाज़ार में निकला। खुदरंग और मोटी पश्मीने की दो चादरें यहाँ से पहले मँगा चुका था। अब एक सफेद चादर लेना चाहता था। रामपुर इधर पश्मीना बुनने का केन्द्र बन गया है। चादरें बारीक बनती हैं, पर कश्मीरी सफाई और सुन्दरता कहाँ। हमने पचासों चादरें देखीं, पर कोई ठीक नहीं पड़ी। अगले दिन विद्याधरजी ने कुछ और चादरें दिखलाईं, पर मैंने बे मन से एक अच्छी चादर पचासी रुपये में ले ली।

सराहन में निराश होने के बाद रामपुर से मैं ज्यादा आशा नहीं रखता था। दो-तीन छपी पुस्तकें मिलीं, जिनमें से एक डाक्टर फॉन डेर स्लोन की पुस्तक 'हिमालय में चार मास का चक्कर' पढी। इसमें स्थानों के उच्चांश, कई हजार बढ़ा-चढ़ाकर लिखे गए हैं। मेरे लिए कोई ज्ञातव्य बात नहीं मिली। स्लीन भूगर्भ-शास्त्री थे, साथ ही अपनी उच्च जाति के अनुरूप ही साम्राज्यवादी रंग मे खूब गाढ़े रँगे हुए थे। फिर भारत और भारतीयों के बारे में उनकी राय जानने की विशेष आवश्यकता नहीं। उन्होंने हिमालय को अल्प, अतलस, काकेश का समवयस्क बतलाया है। यूरेशिया महाद्वीप दक्षिण-पूर्व दिशा की ओर सरकने लगा, जिसमें रुकावट पड़ने पर हिमालय समुद्र के पेट के भीतर से उसी तरह ऊपर उभरा, जैसे यूरुप और अफ्रीका के महाभूखण्डों के संगठन से पीरेन्, अतलस्, अल्प आदि। आज भी उत्तरीय भूभाग का संसरण धरती के भीतर-ही-भीतर दब रहा है, जिसके कारण हिमालय क्षेत्र में अधिक भूकम्प आते हैं।

स्लीन को भी कनौर की पशु-बलि देखकर बहुत क्षोभ हुआ था और उसने अपने दृष्टिकोण में लिखा था—"इस कांड को देखते ही तुम्हें मालूम होने लगेगा, कि इन अर्द्ध-सभ्यों पर धार्मिक पागलपन का भूत सवार हुआ है। और यह याद रखिये कि एकाध दशाब्दी पहले की ही बात है, जब यही छुरा इसी ढंग से मानुष-पुत्रों पर पड़ता था.......साठ से सत्तर धड़ धरनी पर पड़े छटपटा रहे थे। रक्त की गन्ध आदमी को बेहोश कर रही थी।"

स्लीन सन् १६२५ में इधर आया था, अर्थात् पिछली बार मेरे आने से एक साल पहले। उसका यह कहना गलत है, कि उससे दस-बीस साल पहले कनौर में मनुष्य-बलि होती थी। सराहन में पिछली शताब्दी के आरम्भ तक मनुष्य-बलि जरूर हुआ करती थी।

रामपुर में और कुछ बातें मालूम हुईं जिनमें राज्य के सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं—

सन् १८०३—१५ तक बुशहर पर गोरखों का अधिकार रहा। राजा उगरसिंह भागकर चगांव चले गये। गोरखे बढ़ूत से आगे अपना अधिकार नहीं जमा सके।

अंग्रेजों ने १ नवम्बर सन् १८१४ ई० को लखनऊ में गोरखों के विरुद्ध युद्ध घोषित किया, जिसका अन्त २ दिसम्बर, १८१५ को सुगौली की सन्धि के साथ हुआ। राजा महेन्द्रसिंह घेघेवाले आठ-दस वर्ष के लड़के थे, जबकि फ्रेजर सन् १८१५ में सराहन पहुँचा था। राजा महेन्द्रसिंह के मरने पर १८५० में उनके पुत्र शमशेरसिंह लड़के ही थे जब गद्दी पर बैठे। महेन्द्रसिंह के बड़े भाई मियां फतेहसिंह (जन्म १८३७ ई० मृत्यु १८७६ ई०) ने १८५६ में विद्रोह किया था।

सन् १८६५ में मोराविियन पादरी ई० पीजल स्पू में गये और अठारह वर्ष काम करने के बाद १८८३ में मरे। फिर पादरी स्क्रीन वहाँ काम करने लगे और सन् १८६७ में उन्होंने पच्चीस आदमियों को ईसाई बनाया। सन् १८५० में चर्च मिशन ने चिनी में काम शुरू करना चाहा था, किन्तु अन्त में मोराविियन पादरी ब्रूस्की मिशन स्थापित करने में सफल हुये।

राजा शमशेरसिंह दुर्बल मस्तिष्क के आदमी थे। इनके उत्तराधिकारी टीका रघुनाथ-सिंह ने सन् १८८७—६८ ई० में अपनी मृत्यु तक राज्य-कार्य सँभाला और उन्होंने ही सन् १८८७—६० में राज्य का परिमाप कराया। उससे पहले पोआरी वजीर रनबहादुर की बहुत चलती थी। टीका रघुनाथ से झगड़ा हो गया और अन्त में रनबहादुर को कैथू (शिमला) की जेल में निस्सन्तान मरना पड़ा। राज के खानदानी वजीर पोआरी शोबा और कुलहवंश के हुआ करते थे। शोबा वजीर का घर अकपा में था।

पंजाब-सरकार की ओर से छपे मुख्य कुलों के वंश-वृक्ष और वंशावली में रामपुर का वंश-वृक्ष निम्न प्रकार मिलता है—
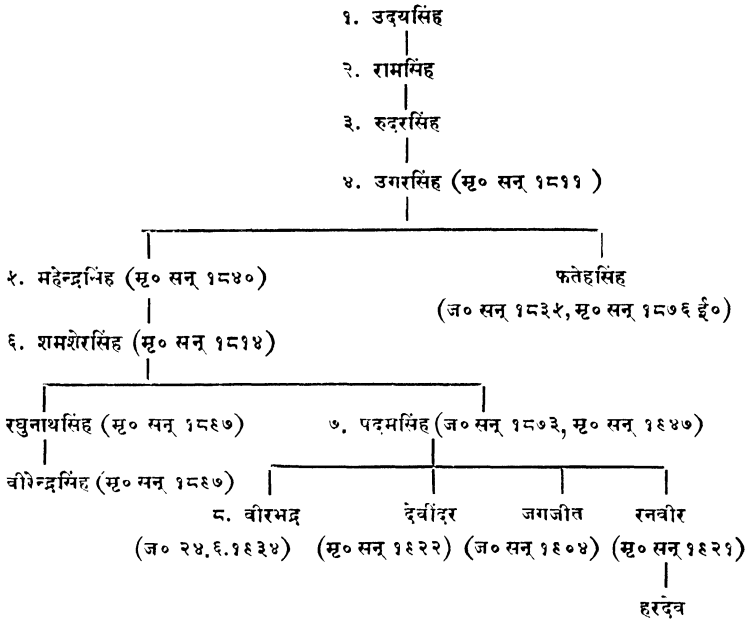
जेम्स बेली फ्रेजर ने 'हिमालय पर्वत'[1] में सन् १८१५ की अपनी यात्रा का वर्णन सुन्दर ही नहीं बहुत ही ज्ञानवर्द्धक किया है। यह उन पुस्तकों में हैं, जिन्होंने उन्नीसवीं सदी के आरम्भ और कुछ पहले के भारत का बहुत ही व्यापक चित्रण किया है। फ्रेजर-जैसे कितने ही लेखकों ने तो उस समय की वेश-भूषा का रेखाचित्र भी खींचा था। बेली ने निरत के पास न्यारियों को बालू धोकर सोना निकालते देखा। उसने वजीर टीकमदास से पाषाण-शतघ्नी का वर्णन सुनकर लिखा—"बिलकुल ठीक रोमकों के कतापुल्त (पाषाण-पातिका) की भांति होती है, जो मन दो मन के पत्थरों को फेंकती है। इसके लिए रस्सा बहुत मोटा होता है और सौ-सौ आदमी मिलकर एक बड़े वृक्ष के सहारे फेंकते हैं।" फ्रेजर ने यह भी लिखा है कि राजा उगरसिंह के मरने पर बाईस व्यक्ति सती हुए, जिनमें तीन रानियां, बारह अन्तःपुरिकाएं, दो वजीर और एक चोबदार थे।

फ्रेजर लिखता है—"बुशहर की स्त्रियां अधिक सुन्दर होती हैं, इसलिए बाजार में यहां की दासियों की बड़ी मांग है। यहां जो आठ-दस तथा बीस-पचीस रुपयों में खरीदी जाती हैं वे पहाड़ से नीचे जाकर डेढ़-सौ, दो-सौ में बिकती हैं।" अर्थात् सन् १८१५ ई० में

१ The Hind Mountain (Lomaborn 1820)

नीचे और यहां दास-प्रथा खूब धर्मानुमोदित थी। भारतीय दासस्वामियों की प्रशंसा करते हुए फ्रेज़र लिखता है—"हिन्दुस्तान-निवासी क्रूर स्वामी नहीं हैं, बल्कि इनके दास बहुत आनन्द के साथ रहते हैं। बहुधा अपने स्वामियों से इतने हिल-मिल जाते हैं, कि उन्हें छोड़ना नहीं चाहते।"

कनौर लोगों की प्रशंसा करते हुए फ्रेज़र कहता है—"कनौर-निवासी उससे बिलकुल भिन्न भाषा बोलते हैं, जो हिमगिरि के दक्षिण पार्श्व में बोली जाती है। पर साथ ही यह भी कहा जाता है, कि वह चीन भूमि की भोटियों की भाषा से भी भिन्न है। कनौरों पर तातार (मंगोल) मुख-मुद्रा की बहुत गहरी छाप है। वे खुले दिल के तथा स्वभाव बर्ताव में स्पष्ट-वादी होते हैं......वे वीर हैं, परिश्रम और स्वतन्त्रता-प्रेमी होते हैं। वे निष्कपट, नम्र, अतिथि-सेवी, ईमानदार और विश्वास-पात्र होते हैं...इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, कि राजा इन पर इतना विश्वास करता है और राज-शक्ति इतनी अधिक इन्हीं के हाथों में है। राज के बहुत-से मुख्य परिवार और सरकार के प्रधान-प्रधान पदाधिकारी कनौर वंश के हैं। राजा के वैयक्तिक परिचारक उसी प्रदेश के हैं और सैनिक विशेष रूप से वहीं से भरती किये जाते हैं।"

रामपुर में मैं २० अगस्त तक के लिए ठहर गया। आजकल शहर के बाजार में चहल-पहल कम थी। स्कूल की लम्बी छुट्टियां थीं। एस० डी० ओ० साहब दौरे पर गये थे। बरसात के समय लोग बहुत कम दूर-दूर जाते हैं। यह तो मैं ही था जो इस समय भी यात्रा कर रहा था।

स्कूल में मुझे खटमलों और मच्छरों से संघर्ष नहीं करना पड़ा और अधिक समय लोगों से बातचीत करने में बीता। रियासत के पुस्तकालय से एक ही दो काम की पुस्तकें मिल सकीं। ऐतिहासिक सामग्री के लिए सभी सराहन की ओर इशारा कर रहे थे। मुझे यह जान-कर प्रसन्नता हुई, कि राजा को पेन्शन मिल गई और रानी गर्मियां बिताने सराहन चली गई हैं। विधवा राज-बहू (लाड़ी साहिबा) को एक हज़ार मासिक पेन्शन मिली थी। उन्होंने उजर किया, कि इतने में उनका खर्च नहीं चल सकता। सरकार ने उस पर विचार किया और देखा की एक अकेले व्यक्ति के लिए हज़ार रुपया अधिक होते हैं, इसलिए हज़ार का आठ सौ कर दिया। सराहन में मैंने सुना कि किसी वकील को नया आवेदन-पत्र तैयार करने के लिए कहा गया है। आवेदन-पत्र तैयार करने में वकील तो घाटे में नहीं रहेंगे, पर सरकार फिर सोचने के लिए मज़बूर होगी। क्या जाने नौ हजार ६ सौ रुपया वार्षिक खर्च एक विधवा पुजारिन पर उसे अधिक मालूम हो। सामन्तशाही ठाट अब नहीं चलेगा, इस बात का बेचारी को पता नहीं, और नाहक वकीलों से रुपया बाँट रही है। छोटी रानी ने भी इसी तरह कई हज़ार रुपया दरबारी चापलूसों में बांटे, कि पेन्शन का आधा रुपया उसके लड़के को मिले, पर बुशहर के लिए क्या खास नियम बनाया जा सकता है।

रामपुर से इक्कीस अगस्त को मैंने प्रस्थान किया। भेराखड़ तक उतराई थी। वहाँ तक तो सवारी बेकार थी। पर आगे छः मील ठाणेदार की कड़ी चढ़ाई के लिए घोड़ा अच्छा समझा

और सामान के दो खच्चरों के साथ घोड़े का इन्तजाम भी कर लिया गया। नौ बजे चलते समय नौगढ़ी के लाला खुशीराम भी साथ हो गए। मन्योटी किन्नर की सीमा है और नौगढ़ी खड्ड सराहन देवी के मन्दिर में प्रविष्ट होने वालों की सीमा है। पर नौगढ़ी की तरफ मेरा ध्यान इस सीमा के कारण आकृष्ट नहीं हुआ।

लाला खुशीराम ने अपनी सूझ और परिश्रम से नौगढ़ी में एक ऐसा नमूना खड़ा कर दिया है, जो इस बात का प्रमाण है, कि कैसे कम पैसे में भी हिमाचल का औद्योगीकरण किया जा सकता है। आज जहां कई एकड़ों में बाग और खेत लहलहा रहे हैं, तथा एक कारखाना चल रहा है, पन्द्रह साल पहले वहां कुछ भी नहीं था। लाला खुशीराम के पिता जंगलों का ठेका लिया करते थे, किन्तु मरते समय पुत्रों को आर्थिक कठिनाइयों में छोड़ गए। खुशीराम ने मामूली हिन्दी-उर्दू के सिवा अधिक पढ़ा भी नहीं था, पर वे मनस्वी तथा परिश्रमी जीव थे। राजा से जमीन ली। पत्थर तोड़ते बटोरते उनके हाथों में छाले पड़ गए। वहां कुछ खेत तैयार किये। पास के खड्ड से जल ले आए। उनकी उड़ान मामूली पनचक्कियों तक सीमित नहीं रही। उन्होंने कूल को और ऊंची तथा बड़ी करके जल के परिमाण और पतन-शक्ति को बढ़ाया। साथ ही उनके दिमाग में योजना भी बढ़ती गई। आज इस जल-शक्ति से दो आटे की चक्कियां चल रही हैं, तेल पेलने, चावल कूटने, फटकने की मशीनें भी काम कर रही हैं। काष्ठ चीरने की मशीन अलग लग गई हैं। साथ में ११० वोल्ट का डाइनमा बिजली तैयार कर रहा है, पर बिजली का उपयोग चिराग बालने और रेडियो की कुछ बैटरियां भरने के सिवा और नहीं। दोनों चक्कियां रोज ३५ मन आटा पीस देती हैं। कोल्हू सरसों के दो, और पूली हो तो चार कनस्तर तेल पेल देता है। चावल-कूटनी प्रतिदिन चालीस मन चावल कूट देती है। यह सारा काम अल्प वित्त अल्प साधन होते हुए भी लाला खुशीराम ने किया। आज उनकी जायदाद चालीस-पचास हजार की है, जो सब-की-सब उत्पादन में लगी हुई है। अब भी उनका दिमाग थका नहीं है।

लाला खुशीराम कह रहे थे—"मैं जंगल के ठेके में फँस गया, यह ख्याल करके कि इकट्ठे कुछ रुपये मिल जायंगे और कारखाने को और आगे बढ़ाऊंगा, पर पिछले साल की गड़बड़ में चिरे-चिराये बल्ले नदी में डाले नहीं जा सके, रुपया कहाँ से निकलता।"

मैंने पूछा—"यदि पचास हज़ार रुपये आपको और मिल जायं तो आप अपने कारखाने में क्या-क्या चीजें बढ़ायंगे।"

"मैं तीन हज़ार रुपये लगाकर कूल के पानी को तिगुना कर दूंगा। दस हज़ार रुपये से दो सौ बीस बोल्ट का डाइनमा और पांच हजार से दो सौ बीस बोल्ट की मोटर लगा दूंगा, जिससे मशीनें पनचक्की से नहीं बिजली से चलें। आठ हज़ार में ऊन धोने, धुनने, रंगने और पूनी करने की मशीन और पांच हजार में ऊन कताई की मशीन आ जायगी।"

ऊन की रंगाई और पूनी का प्रबन्ध यदि हो जाय और लोग तकली की जगह चर्खे से उसका सूत कातने लगें, तो पहाड़ के लोग मालामाल हो जायं। खुशीरामजी ने यह भी बतलाया कि सभी मशीनें भारत की बनी मिल सकती हैं, वह विदेशी मशीनों की तरह दीर्घ

जीवनी नहीं होती, किन्तु साथ ही उनका दाम कम होता है।

भले ही उतनी दीर्घजीवी न हो, किन्तु स्वदेशी मशीनें हमें डालर और पौंड की परतन्त्रता से तो बचा सकती हैं। लाला खुशीराम ने एक सफल उद्योग ही स्थापित नहीं कर लिया, बल्कि इस बात को भी सिद्ध कर दिया कि हिमालय के हर एक खण्ड पर थोड़ी पूंजी और स्वदेशी मशीनों द्वारा बिजली-चालित कारखाने स्थापित किये जा सकते हैं। यह बिजली 'रोप वे' द्वारा पहाड़ के दुर्गम स्थानों में माल के यातायात को सुगम और सस्ता बना सकती है। मुझे आशा है कि हिमाचल-सरकार आर्थिक सहायता देकर लाला खुशीराम को अपनी योजना सफल बनाने में हाथ बटायगी और साथ ही नेगी सन्तोषदास-जैसे हिमाचल के कितने ही मनस्वियों को नौगढ़ी की तीर्थ-यात्रा करके वहां से सीखने का मौका देगी। सिर्फ़ आर्थिक सहायता से ही काम नहीं चलेगा, सरकार को बिजली और यन्त्र-विद्या की शिक्षा का भी शीघ्र प्रबन्ध करना होगा।

मैंने नौगढ़ी कारखाने में जाकर कूल से गिरते पानी को देखा। दोनों पनचक्कियों के लिए अलग जलपातनिकाएं थीं। पानी की कमी के कारण चक्कियां और मशीनें एक साथ नहीं चलाई जा सकतीं। कूल का सारा पानी एक बड़ी जलपातनिका द्वारा एक बड़े चक्के पर डाला जा रहा था। चक्के का सिर्फ़ धुरा लोहे का था, बाकी भाग को लकड़ी से यहां के बढ़इयों ने बनाया था। धुरे के दूसरे सिरे पर घुमाऊ पेटी वाला चक्का था। सभी चीजें सीधी-सादी थीं, पर देश के लिए कितनी लाभदायक।

खुशीरामजी उत्साही जीव हैं। उन्होंने छूत-छात उठाने के बारे में आजकल चल रहे आन्दोलन पर कुछ टिप्पणी करते हुए राजनीति की तरफ भी पग बढ़ाना चाहा। मैंने समझाया—"आप अपने इस कारखाने-द्वारा सिर्फ अपनी ही भलाई नहीं, बल्कि देश की भलाई कर रहे हैं। आप देश का एक उपयोगी दिशा में पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। इसी काम में आगे बढ़ें। राजनीतिक अखाड़े बाजी आपके काम को खराब कर देगी।" और उन्होंने मेरी बात को बहुत पसन्द किया।

कारखाने को देखकर पंगी ब्रह्मचारी का दिया हुआ लंबा डंडा हाथ में लिये मैं आगे बढ़ा और नौगढ़ी से चार मील, अर्थात रामपुर से आठ मील पर अवस्थित दत्तनगर में बूंदे पड़ते-पड़ते पहुंचा। हरियाली के विचार से तो पहाड़ों में वर्षा अच्छी है, गांवों में एक ओर कीचड़ की सड़ांद उछलती है और दूसरी ओर घरों में लाख-लाख मक्खियों का झुण्ड एक-एक जगह बैठा मिलता है।

दत्तनगर कुछ ऐतिहासिक स्थान-सा मालूम होता है, किन्तु ऐतिहासिकता के चिह्न देवी के मन्दिर में अस्त-व्यस्त लगे कुछ उत्कीर्ण पत्थर-भर हैं। सम्भव है, धरती के नीचे कुछ और भी चीजें छिपी हों।

दो बार वर्षा के झोंकों का मुकाबिला करते चार मील और चलकर मैं निरत पहुँचा। निरत के सूर्य-मन्दिर को देखना अत्यावश्यक था। इसे आठवीं शताब्दी का बतलाया जाता है, जिस पर सन्देह करने की बहुत गुन्जाइश नहीं है। चार घर भारद्वाज ब्राह्मण सूर्य भगवान् की

पूजा करते हैं, और आदि-गौड़ होते हुए भी मांसाहारी हैं।

मन्दिर बहुत बड़ा नहीं है, किन्तु सुन्दर है। गुप्तकालीन शिखर-युक्त मन्दिरों के आकार का है और सारा पत्थर का बना हुआ है। आस-पास की भूमि से मन्दिर का तल बहुत नीचा है, यह भी उसकी प्राचीनता का द्योतक है।

पुजारी से फाटक खुलवाकर आँगन में गया। पहले मेरी दृष्टि अक्षयवट के नीचे गई। अक्षयवट यह मेरा रखा नाम है। पुजारीजी ने इतना ही कहा कि हमारी कितनी ही पीढ़ियाँ इस वटवृक्ष को इसी रूप में देखती चली गईं। यह न बढ़ता है न घटता है। बढ़ेगा कैसे? वह एक चट्टान पर उगा है, जहाँ खाद-जल के लिए बराबर चान्द्रायण चलता रहता है।

अक्षयवट के नीचे पुरानी खंडित मूर्तियां थीं, जिन्होने मेरे ध्यान को अपनी ओर आकर्षित किया था। खण्डित तो सभी मूर्तियां थीं, किन्तु अधिकतर घिसी भी थीं। इनमें वे मूर्तियां भी थीं जो कभी मन्दिर मे स्थापित की गई थीं। इनमें एक ओर लम्बोदर भगवान् भी विद्यमान थे। उनके पास की द्विभुजमूर्ति तो और भी सुन्दर थी, फिर एक ओर दो बूटधारी सूर्य भी थे, जिनके दोनों हाथों मे दो सूर्यमुखी के फूल थे।

पुजारीजी सूर्य के बूट पर विश्वास करने के लिए तैयार न थे, यद्यपि आंखों से उसे देख रहे थे। हिन्दू जूता पहने अपने घर में (घर के गर्भ में) नहीं जा सकता, फिर सूर्य भगवान् क्यों ऐसा अतिचार करते हैं। पर उनको क्या मालूम कि बूटधारी सूर्य मूलतः शक देवता थे। यहां आकर उन्हें उसी प्रकार ठोक-पीटकर हिन्दू देवता बना दिया गया, जैसे लाखों शकों को हिन्दू।

फिर मन्दिर के भीतर जगमोहन में दाखिल हुए। अधोवस्त्र (पैंण्ट, पाजामा) पहनकर भीतर जाना निषिद्ध है, किन्तु धोती तो बिस्तरे मे बंधी थी। खैर, भीतर चले ही गए।

यहाँ भी कुछ टूटी-फूटी मूर्तियां दहली के पास खड़ी की गई थीं। उनमे सूर्य भी थे; हाँ, पूरे नहीं।

गर्भ-मन्दिर में पुजारी के सिवा कोई नहीं जा सकता। यहाँ की खड़ी मूर्ति हमें उतनी अच्छी भी नहीं लगी। जान पड़ता है, एक से अधिक बार यहां मूर्ति-ध्वंसक आये और खण्डित मूर्तियों को हटाकर दूसरी भद्दी और भद्दीतर मूर्तियां बनवाकर स्थापित की गईं। मण्डप के भीतर विष्णु और हरगौरी की भी मूर्तियां थीं और बहुत छोटी भी नहीं थीं। तो क्या सूर्य-मन्दिर के अतिरिक्त यहां छोटे-मोटे कुछ और भी मन्दिर थे? आँगन में दूसरी जगह की खण्डित मूर्तियां इस बात को और पुष्ट कर रही थीं। सूर्य भगवान् फलाहारी हैं, किन्तु बगल के छोटे मन्दिर की देवी का बलि के बिना काम नहीं चलाता। हम मन्दिर को आठवीं सदी ही का मान लेते हैं। उस समय जान पड़ता है, निरत एक विशिष्ट स्थान था। क्या यहां किसी पहाड़ी राजा की राजधानी थी या प्रतिहार-साम्राज्य की क्षत्रपी थी। नीचे जाने का रास्ता शिमला से तो नहीं रहा, फिर तो सतलज के साथ-साथ जाना होता होगा। आठवीं शताब्दी में भोट-साम्राज्य बहुत प्रबल था, क्या वह सराहन के आसपास तक आके रुक गया था? मन्दिर और निरत का इतिहास तो लुप्त हो गया या यहीं भूमि में निहित है। खशों और

शकों में सूर्य-पूजा जोड़ी जा सकती है, पर इस मन्दिर को शक-काल में नहीं ले जाया जा सकता। आज मन्दिर, पुजारी और गांव-बस्ती सभी श्री-हीन हैं।

मन्दिर का दर्शन कराने के लिए पुजारीजी को एक रुपया दक्षिणा दी। दूसरे पण्डे लड़के ने आकर पूछा—"आपने सबके लिए दक्षिणा दी न।" मैंने कहा—"नहीं, मैंने सिर्फ पुजारी को दी।"

निरत में राज्य की धर्मशाला और सड़क-विभाग का डाक-बंगला दोनों हैं। मैंने सराहन के बाद डाक-बंगले में न जाना तै कर लिया था। धर्मशाला में जाकर साथ का पाथेय खाया।

चलते समय देखा, एक आदमी जाल बुन रहा है। पूछने पर उसने यही नहीं बतलाया कि सतलज में मछलियाँ मारी जाती हैं, बल्कि सेर दो-सेर मछली उसके पास मौजूद भी थीं।

साईस ने सिगरेट के लिए पैसा मांगा। चौदह-पन्द्रह बरस का लड़का था, मुँह से फक-फक धुआँ फेंकते चलने का उसे शौक क्यों न होता। मैंने उसे और खच्चर वाले को पैसा देकर जल्दी आने के लिए कहा और मैं आगे बढ़ गया।

दो-तीन मील जाने पर भेड़ा खड्ड मिली। यहीं उतराई खतम हुई। यही पुराने बुशहर राज्य की सीमा है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि सतलज के मैदान में उतरने तक इस पार सारा हिमाचल प्रदेश है। अंग्रेजों ने बीच-बीच में दो-दो चार-चार गांवों के द्वीप पंजाब-सरकार के हाथ में रखे थे, जो अब भी मौजूद हैं। भारत-सरकार ने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया, कि इन द्वीपों के कारण शासन में कितनी कठिनाई पड़ती है।

लालचन्द स्टोक कह रहे थे कि ठाणेदार के इलाके के रास्ते में खून हो गया। एक आदमी कई साल पलटन में नौकरी करने के बाद कमाई लिये घर जा रहा था। स्थानीय कुछ लोगों ने पैसे के लिए उसकी हत्या कर दी। पुलिस को अकर्मण्य देखकर वे शिमला में सुपरिण्टेण्डेण्ट से मिले। कहने पर सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कुछ करने में अनिच्छा प्रकट की—वह हमारे पंजाब में नहीं है।

लालचन्द ने जोर देकर कहा—"कोटागढ़ और ठाणेदार पंजाब में हैं। यदि इसके बारे में आप कोई कार्रवाई नहीं करेंगे तो स्थानीय बदमाशों का मन बढ़ जायगा।"

पर छब्बीस अगस्त तक तो पुलिस चादर तानकर सोई हुई थी। दूसरे प्रान्त में द्वीप बनाने का ऐसा ही फल होता है। भारत-सरकार का यह कर्तव्य था कि हिमाचल प्रदेश को बनाते समय इन द्वीपों को खत्म कर देती।

मैंने भेड़ा खड्ड को पुल से पार किया। यहां से छः मील ठाणेदार तक चढ़ाई है। रास्ते में आदमी को साढ़े चार हज़ार फीट ऊपर उठना पड़ता है। पहले पुल पर, फिर थोड़ा ऊपर चढ़कर काफी देर प्रतीक्षा करनी पड़ी। तब कहीं सईस घोड़ा लेकर आया। यात्रा में ऐसी असुविधाओं पर गरम हो जाने को मैं बुद्धिमानी की बात नहीं समझता।

मैं घोड़े पर सवार हुआ और चढ़ाई चढ़ने लगा। मेघ-देवता ने भी बरसने की ठान

ली थी। मैं अपने बिस्तर-बन्द पर कंबल रखना चाहता था, पर खच्चर वाले ने पाल डालने की बात कहकर वैसा नहीं करने दिया। और अब वह बक्स तथा बिस्तरे को खुली वर्षा में भिगोता ला रहा था। सवारी का घोड़ा लंगड़ा किन्तु मजबूत था और उसने चढाई में कहीं कायरता नहीं दिखलाई। पहाड़ों की हरियाली के बारे में क्या पूछना है। हां, अतिवर्षा से कहीं-कहीं खेत ढह गये थे, कितनी ही जगह हमें घने कुहरे में चलना पड़ा, जिसमें दस कदम आगे देखना मुश्किल था।

मुझे उस समय डिक्टोफोन प्राप्त करने का अपना प्रयास याद आया। यह मशीन साढ़े पन्द्रह सौ रुपये में मिल रही है। वह आपके भाषण या गाने को तार पर रेकार्ड कर लेती है और फिर उसी पर लगाकर आप ग्रामोफोन की तरह उसे सुन सकते हैं। तार को स्लेट की तरह साफ किया जा सकता है और फिर नये रेकार्ड किये जा सकते हैं। चीज़ बड़े काम की है। उस पर मैं अपनी पुस्तक भी बोलकर लिखवा सकता हूँ, जिसे पीछे धीमी गति करके टाइप कर लिया जा सकता है। उस पर लोकगीतों और पँवाड़ों को भी उतारा जा सकता है। दाम भी बहुत नहीं है। पर यह डिक्टोफोन केवल ए० सी० बिजली से चलता है। उसमें न डी० सी० बिजली काम देती है, न बैटरी। यदि बैटरी काम देती तो फिर क्या कहना। मेरे लिखने पर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने और पूछ-ताछ करके लिखा था कि साढे आठ सौ रुपये और खर्च किये जायं तो दो सौ तीस वोल्ट ए० सी० जेनेरेटर और ट्रान्सफार्मर भी लिया जा सकता है। मेरा उत्साह मन्द पड़ गया था क्योंकि ये दोनों मशीनें एक-एक मन की हैं। उन्हें चलाने के लिए पेट्रोल चाहिए, जो आजकल बड़ी दुर्लभ वस्तु है। फिर साथ ही लेखक के साथ बिजली-मिस्त्री भी बनना पड़ेगा या किसी को रखना पड़ेगा। मैंने सोच लिया था फिर डिक्टोफोन के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब तक कि बैटरी से चलनेवाला डिक्टोफोन तैयार नहीं हो जाता।

जब कुहरा हटा तो दूर तक पर्वत के लहलहाते खेत दिखलाई पड़े। सतलज नीचे बहुत दूर थी, जिसके उस पार कुल्लू की पर्वत-श्रेणियां थीं।

सात बज गए थे, जब हम ठाणेदार पहुँचे। मैंने ठाणेदार में न ठहरकर डाक्टर भगवानसिंह के पास कोटगढ़ जाने का निश्चय किया। ठाणेदार में डाक-बंगले में ठहरना पड़ता और अगले दिन फिर सामान ढोने का प्रबन्ध करना पड़ता। मोटर की सड़क तक पहुँचने पर पथ-फलक भी बतला रहा था कि कोटगढ़ यहाँ से ढाई मील है।

सूर्यास्त हो चला था। रास्ता यदि जरा भी भूलते तो अन्धेरे में भटकते रहने का डर था, पर मैंने चलना ही निश्चय किया। खच्चर वाले रास्ता ढूँढ़ लेंगे, इसलिए उनकी परवाह न कर मैं कदम तेज़ बढ़ाने लगा, पर कितना ही कदम बढाया, अन्धेरा होने से पहले कोटगढ नहीं पहुँच सका।

डाक्टर भगवानसिंह घर ही पर थे और वहाँ मेरी प्रतीक्षा दो दिन पहले से ही हो रही थी। खच्चर भी आ पहुँचे।

यहाँ ठाणेदार में मोटर की सड़क है। वर्षा ने कुछ दिनों से मोटर के आवागमन

को बन्द कर दिया था, पर चिरस्थायी रूप से तो नहीं। यहाँ से खच्चर और आदमी भी मिल जाते हैं। कठिनाइयाँ यहाँ भी हो सकती है; पर नीचे के शहरों की तरह नहीं।

सड़कें ख़राब हो गई थीं। मेघ देवता रात-दिन बरसने से थके नहीं, फिर जल्दी शिमला पहुँचने की क्या आशा हो सकती थी। मैं समझता था कि यहीं रुकना पड़ेगा।

चौबीस अगस्त को भी वर्षा ने अपने रंग को ढीला नहीं किया। संयोग से आगे इधर मोटर या मोटर-बस के आने की कोई आशा न थी। सर्वगमा जीप किसी वक्त भी ठाणदार पहुँच सकती थी, परन्तु आकाश-वृत्ति का भरोसा क्या। रेलवे की बाहरी एजेन्सी ठाणेदार में है।

पच्चीस अगस्त को धूप निकल आई। मन जाने के लिए उकताने लगा, पर जीप की आशा ने दिलासा देकर रोक दिया।

छब्बीस अगस्त को दिन दुर्दिन नहीं रहा। घूमते-घामते ठाणदार चले गए। श्री रमेश-चन्द्रजी से ज्ञात हुआ कि अभी जीप का कोई ठौर-ठिकाना नहीं था।

फिर मैं रमेशचन्द्रजी के साथ स्टोक-भवन चला गया। सेब तोड़ने का मौसम हो, फिर उद्यानपति घर में कब मिल सकता है? खबर आई तो लालचन्दजी चले आए। इनसे देर तक पहाड़ी जीवन के सम्बन्ध में चर्चा होती रही। पहाड़ी लोकगीत की बात चली तो उन्होंने बतलाया—"यहाँ एक रामायण का गीत है जो रात-रात-भर गाया जाता है। इसकी कथा में कितनी विचित्रताएं हैं जिनमें एक है सीताजी के बनाये बड़े का लंका में पहुँचना।

मैंने तै कर लिया कि यदि आज जीप नहीं आई तो कल खच्चर पर सामान लादकर नारकण्डा चल दूँगा।

सत्ताईस अगस्त को खच्चर पर सामान रखवाकर मैं पैदल ही नारकण्डा को चल पड़ा। ग्यारह मील के रास्ते में ढाई मील चढ़ाई का था। एक जगह सड़क टूट गई थी, तो भी जीप का रास्ता बना लिया गया था। नारकण्डा पहुँचने से चार मील पहले बाघी जाने वाली नई मोटर-सड़क देखी। यह बारह मील की सड़क इसी साल ताजा-ताजा बनाई गई है, जो आशा है कुछ दिनों में आगे खदराला पहुँच जायगी, फिर कुछ सालों बाद रोहड़ू होते टौंस के किनारे चलकर एक डाड पार हो सइया में आकर देहरादून-चकरौता मोटर-सड़क में मिल जायगी। इसी सड़क पर कुटीर बनाने के लिए ठाकुर गोविन्दसिंह ने निमन्त्रण दे रखा है।

पौने चार घण्टे चलने के बाद दोपहर को मैं नारकण्डा पहुँच गया। नारकण्डा वस्तुत: नागकंडा का अपभ्रंश है। कण्डा पर्वतपृष्ठ को कहते हैं। नाग देवता की मढ़ी अब भी मोटर के अड्डे के पास मौजूद है, यद्यपि पास की देवी ने नाग की महिमा को घटा दिया है। नारकण्डा ६१६० फीट अर्थात् प्रायः चिनी के बराबर ऊँचा है। जाते समय यह स्थान जितना सर्द मालूम हुआ था, अब उतना नहीं। हिमालय के सभी डाक-बंगलों को नारकण्डा के डाक-बंगले-जैसा होना चाहिए। यहाँ कोई भी पथिक तीन रुपये प्रतिदिन किराया देकर ठहर सकता है। भोजन की वस्तुओं का भी मूल्य नियत है, और रसोइया मौजूद रहता है।

यदि आशा होती, तो मैं दो-चार दिन भी मोटर के लिए ठहर सकता था, पर कोई आशा-भरोसा नहीं था। आगे के लिए मैंने तो तै किया है बरफ़ पिघलते ही अप्रैल के आरम्भ मे नीचे से इधर आ जाऊं, और अक्तूबर के अन्त में लौटा करूँ। अनी यहाँ से चौबीस मील है, जिसमे सतलज के किनारे लूरी तक तेरह मील उतराई-ही-उतराई है, और वहाँ तक आज भी जीप जा सकती है। फिर दो मील नदी के किनारे नीचे जाकर पुल पार होकर नौ मील चढाई चढकर अनी आती है। अनी से साठ-बासठ मील आगे बनजार में कुल्लू वाली मोटर-सड़क मिल जाती है। नरकण्डा मे बैठे-बैठे मेरा ध्यान अनी पर गया, फिर शिमला-कुल्लू-सड़क पर भी।

आज कृष्ण-जन्माष्टमी थी। लोग बड़ी देर तक गाना-बजाना करते रहे। मैं भी निश्चिन्त हो गया था, क्योंकि किसी बीमार को शिमला से एक रिक्शा लेकर रामपुर गया था और अब खाली लौट रहा था। मैंने उसी को ठ्योग तक के लिए अठारह रुपये में कर लिया। वैसे होता तो बाईस मील के लिए अठारह रु० कौन लेता। पर रास्ता उतराई का था और छूछे जाने से अठारह रुपये पैदा कर लेना बुरा नहीं था। यद्यपि रिक्शा सामान और सवारी दोनों के लिए किया था, पर सवारी करने की मेरी इच्छा नहीं थी।

अट्ठाइस अगस्त को मैं सबेरे ही सात बजे चल पड़ा। बाईस मील मे साढ़े सत्रह मील अगियाबैताल की तरह चलता ही गया। सड़क कहीं बुरी नहीं थी, लेकिन मोटर वालों का काम जब ठ्योग से ही बन जाता है, तो वे आगे क्यों जायं। उनकी बला से सेब के बगीचे और आलू के खेत वाले रोते रहें। मैंने सुना था, दो बजे ठ्योग से मोटर चलती है। आखिरी साढ़े चार मील में रिक्शे पर बैठ गया। वहाँ से कई मील पहले सड़क पर कई जगह कोलतार के पीपे पड़े हुए थे, जिनमें से बहुत-सा अलकतरा बहकर बरबाद हो रहा था। सड़क की मरम्मत करके उस पर डालने के लिए पीपे लाये गए थे, लेकिन काम खटाई में पड़ गया।

मैं छः बजे की बस की प्रतीक्षा करने लगा। बस काफ़ी देर करके आई और धड़ा-धड़ आलू के बोरे लादे जाने लगे। तीस मन लादने का अर्थ था १२० रुपया। सवारी से इतना कहाँ मिल सकता था। मुझे डर लगने लगा कि कहीं इस समय भी छूट न जाना पड़े। खैर, मैं उन भाग्यवानों मे से था जिन्हें आलू के साथ बस में बैठने की जगह मिल गई। कई यात्री अब भी छूट गए।

छः बजे बस शिमले पहुँची, और कुछ मिनटों के बाद मैं फरग्रोव में नायर-परिवार में था।

साहित्योपवन

बनारसीदास चतुर्वेदी

सुप्रसिद्ध अमरीकन लेखक थीरो ने एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है जिसका नाम है 'वाल्डन'। इस पुस्तक में एक जगह लिखा है—"अपने प्रयोग से कम-से-कम एक बात मैंने सीखी है। वह यह कि कोई व्यक्ति उस दिशा में, जिसकी उसने स्वप्न में कल्पना की थी, विश्वास-पूर्वक आगे बढ़ता रहे, और अपने कल्पित जीवन के अनुसार अपनी जिन्दगी और रहन-सहन को बना ले तो उसे आगे चलकर ऐसी सफलता मिलेगी, जिसकी आशा उसने साधारण तौर पर कभी न की थी। वह कुछ चीजों को पीछे छोड़ देगा और अदृश्य सीमाओं का उल्लंघन कर जायगा। नवीन और विश्व-व्यापी तथा अधिक उदार नियम उसके हृदय में तथा उसके चारों ओर कायम होने लगेंगे अथवा पुराने नियमों का विकास उसकी परिस्थिति के अनुकूल होने लगेगा और उच्चकोटि के प्राणी की भाँति रहने की स्वतन्त्रता उसे मिल जायगी, जितने अंश में वह अपने जीवन को सादा बनाता जायगा। दुनिया के कानूनों की उलझनें उसके लिए सुलझती जायंगी। एकान्त उसके लिए एकान्त न रहेगा, निर्धनता निर्धनता न रहेगी, कमजोरी कमजोरी न रह जायगी। अगर तुमने हवाई महल बनाये हैं तो कोई मुजायका नहीं। इससे तुम्हारा कार्य नष्ट नहीं होगा। महल तो हवा में ही बनाये जाने चाहिएं। बस अब उनके नीचे नींव रख दो।"

वर्षों से थोरो के ग्रन्थ 'वाल्डन' को मैं उषाकाल के स्वाध्याय के तौर पर पढ़ता रहा हूँ और अपने हवाई महल बनाता रहा हूँ। ये महल बनते और बिगड़ते रहे हैं। कल्पना-जगत् में भी वे उतने ही क्षण-भंगुर अथवा स्थायी सिद्ध हुए हैं जितनी मन्द अथवा तीव्र भावना उनके पीछे विद्यमान थी। विनम्रता-पूर्वक यह भी निवेदन कर दूँ कि मेरे कई स्वप्न चरितार्थ भी हुए हैं, और कभी-कभी तो अक्षरशः! प्रयाग की 'सत्यनारायण-कुटीर' और शान्ति निकेतन का 'हिन्दी-भवन' स्वप्न ही थे और कुण्डेश्वर का 'गाँधी-भवन' भी सत्ताईस वर्ष पहले का एक स्वप्न ही है। इस कारण मैंने स्वप्न देखना नहीं छोड़ा है। मैं हवाई महल बराबर बनाता रहता हूँ।

मेरी कल्पना का एक हवाई महल वास्तविक जगत् में अभी तक अवतीर्ण नहीं हो

सका और इसका कारण मैं अपनी साधना की कमी ही मानता हूँ। पर मुझे विश्वास है कि वह कभी-न-कभी मूर्तमान होकर रहेगा। यह दूसरी बात है कि उसे साक्षात् करने का श्रेय किसी समान शील और समान धर्म वाले नवयुवक साहित्यिक को प्राप्त हो। वह नवयुवक आज किसी विद्यालय मे पढ रहा होगा अथवा किसी पत्र के कार्यालय में काम कर रहा होगा! मैं उसका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

मेरा हवाई महल एक साहित्योपवन के रूप मे है। चूँकि ईंट, चूना, सीमेंट और पत्थर को हम अधिक महत्त्व नहीं देते, इसलिए हमारे कल्पित साहित्योपवन म केवल एक ही पक्का भवन है, जिसके पांच विभाग है। स्वर्गीय प्रोफेसर गीडीज इस विषय में मेरे आदर्श है। उन्होंने एडिनबरा में एक पंचतल्ला मकान बनवा दिया था। उसका नाम था 'आउटलुक टावर'। उसका ढाँचा मुझे पसन्द आया है। फर्क इतना ही है कि मैंने अपने हवाई महल को वन और जलाशय के निकट मुक्ताकाश के नीचे बनाया है।

सबसे ऊँचे तल्ले पर बैठकर मैं अपने स्थल तथा जनपद की साहित्यिक गति विधि का अध्ययन करता हूँ। बहुत दिन पहले से यह बात मेरी समझ मे आ गई थी कि मेरे जैसे एक साधारण साहित्यिक के लिए अपने जनपद का कार्य ही पर्याप्त है। अखिल भारतीय साहित्यिक हिन्दी जगत में एक दर्जन भी न होंगे। अपनी सीमा को जान लेने—अपनी परिमित शक्तियों का अन्दाज़ लगा लेने—मे ही हम सबका कल्याण है। अन्य जनपदों में अपने क्षुद्र जीवन के तैंतीस वर्ष गँवाकर मैंने ब्रज-मण्डल को ही अपना कार्य-क्षेत्र मान लिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरा यह हवाई महल ब्रज में ही या उसकी सीमा के आस-पास ही विद्यमान है।

घोर दुर्भाग्य की बात है कि आज ब्रज रेगिस्तान बनता जा रहा है। हम ब्रजवासियों के पूर्वजों ने वनों को नष्ट करके अपनी हरी-भरी भूमि को मरुस्थल मे परिवर्तित कर दिया था और उसके दुष्परिणाम हम लोग—उनके वंशज—भोग रहे है!

आज से कितने वर्ष पूर्व ब्रज-कोकिल सत्यनारायण ने द्रवित हृदय से कहा था—

देखन को बस रह गए मधुवन सेवा-कुञ्ज

और आज प्रत्येक ब्रजवासी का कर्तव्य है कि वह अपने जनपद को पहचाने और फिर उसे प्राचीन काल की तरह हरा-भरा बनाने का प्रयत्न करे। यदि रूस के साम्यवादी लोग अपने मास्को नगर मे लाखों वृक्ष उगाकर उसे संसार की सबसे हरी-भरी राजधानी बनाते जा रहे हैं तो क्या हम लोग मथुरा, वृन्दावन, आगरा, भरतपुर, तथा फीरोजाबाद में बीसियों उपवनों की स्थापना करके उनके सौन्दर्य तथा स्वास्थ्य में वृद्धि नहीं कर सकते? हमारा देश अब विदेशियों की पराधीनता से मुक्त हो चुका है और अब हमे स्वर्गीय गंगाप्रसाद वर्मा के आदर्श को ग्रहण करना चाहिए। अपने नगर लखनऊ को सुन्दर बनाने के लिए उन्होंने जैसा महान् प्रयत्न किया था वैसा ही हम अपने स्थान को मनोहर बनाने के लिए करें।

अपने साहित्योपवन से जो प्रथम ग्रन्थ मै प्रकाशित कर रहा हूँ वह है 'ब्रज-अभिनन्दन-ग्रन्थ'। प्राकृत जन का गुण-गान करने की बजाय अब हमें अपने-अपने जनपदों का अभिनन्दन करना चाहिए। ब्रजभूमि के सुन्दर-सुन्दर स्थलों की खोज कर ली गई है और उनकी रक्षा

करने की आयोजना भी बना ली गई है। हमारे साहित्योपवन की तरह की बीसियों संस्थाएं ब्रज में उत्पन्न हो गई हैं और वे एक दूसरे के अधीन न होकर पूर्ण स्वाधीनता के साथ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

अपने साहित्योपवन को मैं प्रगतिशील रखने के पक्ष में हूँ। मैं उन दकियानूसी आदमियों में से नहीं हूँ जो आधुनिक वैज्ञानिक जगत् की सुविधाओं से लाभ उठाने में हिचकिचाते हैं। साहित्योपवन में रेडियो भी है, और टेलीफोन भी। चूँकि हम लोगों के पास स्थान की कमी नहीं है, साहित्यिक कार्यकर्ताओं की कुटीरें एक दूसरे से काफी दूरी पर बनी हैं, जिससे ये एक दूसरे के मार्ग में बाधक न हों। प्रत्येक के व्यक्तित्व का सम्मान किया जाता है और उनकी भिन्न-भिन्न रुचियों का खयाल रखा जाता है। न कोई शासक है, न कोई शासित। सबके प्रातःकाल सुरक्षित हैं। साहित्योपवन में अभी पन्द्रह-बीस साहित्यिक रहते हैं। स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम तो अनिवार्य रखे गए हैं, इसलिए प्रातःकालीन वन-भ्रमण में सभी सम्मिलित हैं। मेरा कार्यक्रम सुन लीजिये।

उषा काल है। प्रातःकालीन चाय के साथ मैं किसी स्वाध्याय-ग्रन्थ का अध्ययन कर रहा हूँ और उस समय जो विचार आते हैं उन्हें नोट करता जाता हूँ। स्वर्गीय लाला हरदयाल ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्टस फार सेल्फ कलचर' (आत्म-संस्कृति के उपाय) में ध्यान की जो पद्धति बताई है वह मुझे प्रिय है। संसार की प्रगतिशील शक्तियों का जगत् में जो भी आन्दोलन उसकी आध्यात्मिक, सामाजिक, शारीरिक और आर्थिक उन्नति करने के लिए हो रहे हैं, उनका जो लोग इस समय दुःखी हैं उनका और जो संघर्षमय जीवन बिता रहे हैं उनका मैं प्रातःकाल के समय ध्यान करता हूँ [1]। ध्यान के बाद नित्य नैमित्तिक क्रियाओं से निवृत्त होकर हम लोग वन-भ्रमण के लिए जाते हैं। कोई एक दिशा में जाता है तो कोई दूसरी दिशा में। एक वट वृक्ष की छाया में एकत्रित होकर दिन-भर के कार्य का प्रोग्राम निश्चित किया जाता है—

'क' महाशय आज जनपदीय लोकवार्ताओं का सम्पादन करेंगे।

ग—प्रान्त की नदियों के जीवन-चरित का मसाला इकट्ठा करेंगे और यमुना नदी के विषय में एक लेख लिखकर किसी मासिक या साप्ताहिकप त्र को भेजेंगे।

घ—स्वर्गीय साहित्यिकों की जन्म-तिथियों और पुण्यतिथियों का ब्यौरा तय्यार करेंगे।

च—अमरीकन 'डाइजैस्ट' के महत्त्वपूर्ण लेख का अनुवाद करेंगे।

छ—बंगला के 'प्रवासी' के प्रमुख लेख का अनुवाद करेंगे।

ज—इन लेखों की बारह-बारह प्रतियां टाइप कराके भिन्न-भिन्न पत्रों को भेजेंगे।

झ—पाक्षिक साहित्य-गोष्ठी के लिए कार्यक्रम तय्यार करेंगे।

ट—इस महीने के सर्वोत्तम साहित्यिक ग्रन्थ का परिचय लिखेंगे।

---

1 जो इस विषय में अधिक जानना चाहें उन्हें लाला जी की उक्त पुस्तक पढ़ लेनी चाहिए।

ठ—भिन्न-भिन्न पत्रों में प्रकाशित साहित्यिक लेखों के कटिंग लेकर विषयानुसार रजिस्टरों में चिपकायेंगे।

ड—अपने तथा पास-पड़ोस के जनपदों के साहित्यिकों की यात्राओं के बारे में पूछ-ताछ करेंगे।

ढ—इस ऋतु के लिए घुमक्कड़-दलों की आयोजना करेंगे।

त—अन्य प्रान्तीय भाषाओं में निकलने वाले साहित्य का विवरण एकत्रित करेंगे।

थ—पुस्तकालय के लिए नवीन ग्रन्थों को मंगाने का प्रबन्ध करेंगे।

द—आज सन्ध्या की साहित्य-गोष्ठी का इन्तजाम करेंगे।

ध—आस-पास के ग्रामों की यात्रा का प्रबन्ध करेंगे।

इस प्रकार पारस्परिक सलाह-मशविरे द्वारा अपना-अपना कार्यक्रम निश्चित करके हम लोग अलग हो जाते हैं। एक आम्र-निकुञ्ज के नीचे बैठकर मैं अपना साहित्यिक कार्य प्रारम्भ करता हूं। सस्ता-साहित्य-मण्डल ने उन विदेशी महापुरुषों के जीवन-चरित तथा ग्रन्थ छपाने का निश्चय कर लिया है, जिनका प्रभाव महात्मा गांधीजी की विचार-धारा पर पड़ा था। एमर्सन की जीवनी मुझे लिखनी है। 'वाल्डन' का अनुवाद हमारे एक साथी कर रहे हैं और टाल्स्टाय तथा गैरीसन के जीवन-चरितों का सम्पादन हो चुका है। मेरे चारों ओर हरियाली-ही-हरियाली है। रहट चल रहा है और उपवन के वृक्षों को पानी दिया जा रहा है। चिड़ियां चहचहा रही हैं। आमों का रखवाला गोफन में भर-भरकर मिट्टी के ढेले चला रहा है। काम करते-करते तबीयत कुछ ऊबती है तो टहलने लगता हूँ अथवा किसी मनोरंजक ग्रंथ से मन बहलाव करने लगता हूं। जब कि मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूं तो दो ग्रन्थ मेरे पास विद्यमान हैं। काउण्ट कैसरलिङ्ग की एक तो 'ट्रैवल डायरी आफ ए फिलास्फर' और दूसरी 'यू मस्ट रिलीज़'।

कभी मन में उमंग आ गई तो पत्र लिखना प्रारम्भ कर दिया। जो बातें लेख लिखते समय नहीं सूझतीं प्रायः किसी सहृदय मित्र को चिट्ठी भेजते समय सूझ जाती हैं। बन्धुवर द्विवेदीजी को मैंने पत्र भेजा है—

"आप काशी पधारे हैं। बड़ी खुशी की बात है। इस बार पांच-सात दिन हमारे जनपद को भी दीजिये। यहाँ उन्हीं दिनों हम अन्तर्जनपदीय सम्मेलन कर लेंगे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल और श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भी आ रहे हैं। राकेशजी, सत्येन्द्रजी, पण्डित रामनरेशजी त्रिपाठी, शिवपूजन सहाय जी तथा श्री गौरीशंकरजी द्विवेदी के आगमन की भरपूर आशा है।" हमारे अधिकांश साहित्यिक साधनहीन हैं अतएव उनकी प्रत्येक यात्रा से हम पूरा-पूरा लाभ उठा लेते हैं। जितने भी केन्द्रों में हम उन्हें घुमा सकते हैं घुमाते हैं। इससे हमारे बीसियों कार्यकर्ताओं को सत्संग तथा स्फूर्ति प्राप्त हो जाती है। जीवन को हम एकांगी नहीं बनाना चाहते और न बुद्धिजीवियों को श्रमजीवियों से अलग रखना चाहते हैं। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि जो भी साहित्यिक अपने आस-पास की जनता की क्रियात्मक सेवा से अपने को वंचित रखता है वह स्वयं अपने को पंगु बनाता है। जब तक बुद्धिजीवी लोग श्रम

करना न सीखेंगे और श्रमजीवियों को अपने मस्तिष्क के विकास की सुविधाएं न मिलेंगी हमारी यह मातृभूमि सुखी तथा समृद्धिशाली न बन सकेगी। पर हमारा विश्वास श्रम-विभाजन में है। जो मनुष्य जिस कार्य को भली-भांति कर सकता हो और जिसमें उसकी स्वाभाविक रुचि हो, उसे वही काम सौंपना चाहिए।

अपने साहित्योपवन को मैं साहित्यिक बिजली-घर बनाने के लिए उत्सुक हूँ, जहाँ से ठोस तथा प्रचारात्मक साहित्य भिन्न-भिन्न केन्द्रों को भेजा जा सके। मानसिक भोजन को मैं अन्न-वस्त्र की समस्या के बाद सर्वोच्च स्थान देता हूं। केवल रचनात्मक कार्य, यदि उसके साथ साहित्य-संगीत-कला का समावेश नहीं किया गया, जीवन को शुष्क ही बना देगा।

आज जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, तो कई साहित्यिक आयोजनाएं मस्तिष्क में चक्कर काट रही हैं। देशी तथा विदेशी शहीदों के जीवन-चरित लिखे जायं, सिपाहियों की दृष्टि से भारतीय स्वाधीनता का इतिहास लिखाया जाय, कविवर पण्डित श्रीधर पाठक, समालोचक-शिरोमणि पण्डित पद्मसिंहजी शर्मा, आचार्य द्विवेदीजी तथा अमर शहीद गणेशशंकरजी विद्यार्थी के जीवन-चरित प्रकाशित किये जायं। साथ ही हिन्दी पत्रकार-कला का इतिहास लिखा जाना भी आवश्यक है।

पर, क्या ये सब कार्य किसी एक व्यक्ति के बूते के हैं?

जहाँ पद-लोलुप राजनीतिक कार्यकर्ता शक्ति को हथियाने के लिए नित्य-प्रति नई-नई तिकड़में चल रहे हों, उस रेगिस्तान में साहित्योपवन बनाने की कल्पना सचमुच शेखचिल्लीपन से भरी हुई प्रतीत होगी और खास-तौर पर एक साधनहीन साहित्यिक के लिए तो वह हास्यास्पद भी है।

पर मन में एक प्रश्न उठता है। पन्द्रह-बीस करोड़ हिन्दी-भाषा-भाषी तथा हिन्दी-प्रेमियों में क्या पन्द्रह नवयुवक भी ऐसे न निकलेंगे, जो पन्द्रह-बीस वर्ष में इस स्वप्न को चरितार्थ करके दिखा सकें?

मानव जीवन में स्वप्नों का जो महत्त्व है उससे कौन इनकार कर सकता है? जो जातियां स्वप्न नहीं देख सकतीं—भविष्य की कल्पना नहीं कर सकतीं—वे नष्ट हो जाती हैं। यदि हम अपने देश की आत्मा को सजीव बनाये रखना चाहते हैं तो हमें एक-दो नहीं, बीसियों छोटे-बड़े साहित्योपवन स्थापित करने होंगे। रही उनकी आर्थिक व्यवस्था की बात, सो जो देश अपनी सीमा की रक्षा के लिए पौने दो अरब रुपये खर्च कर सकता है, वह क्या इस प्रकार के तपोवनों का संचालन न कर सकेगा? क्या तीस करोड़ व्यक्तियों की मानसिक सीमा का विस्तार कोई नगण्य कार्य है?

पर जातियों तथा जनपदों, देशों और संस्थाओं से भी ऊपर की एक चीज है, और वह है स्वयं अपनी आत्मा। आज के युग में उसी की स्वाधीनता को सबसे बड़ा खतरा है। आज का मदोन्मत्त राजनीतिक व्यक्ति साहित्यिकों को या तो नगण्य मानता है अथवा अपने स्वार्थ के लिए उन्हें अपना पिछलग्गू बनाना चाहता है! जो लोग उनसे समझौता करके किसी पार्टी की पट्टी अपनी आँखों पर बाँध सकते हैं, वे भले ही किसी संस्था की स्थापना कर लें। पर

स्वाधीनचेता लेखकों को तो निराश्रित होकर रेगिस्तान में भटकना ही होगा।

हमारा हवाई महल ढह जाता है! साहित्योपवन सूख जाता है! पर इससे हम निराश क्यों हों? किसी नीम वृक्ष के नीचे बैठकर हम उसी के स्वप्न देखेंगे और यदि साहित्योपवन न भी बन सका तो नीम-निकुंज तो बन ही जायगा।

जब मैं खिलखिला कर हँसा

यशवन्त पंड्या

कब मैं खिल-खिलाकर हँसा, यही तो तुम पूछ रहे हो न? अरे भले मानस, क्या इसका हिसाब भी होता है? गाँधीजी का मुक्त हास्य, जवाहरलाल की मधुर हँसी और वल्लभभाई का अगम्य हास्य जिन्होंने देखा है कि वे जानते हैं जीवन में हास्य का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसे इन बड़े आदमियों का, वैसे ही हमारा। जीवन का आरम्भ तो सबने रुदन से किया होगा। मेरा बालक रोने से पूर्व हँसा था, ऐसी बात तो किसी भी माँ ने न कही होगी। जीवन के अन्तकाल में तो दुःख और आक्रन्दन आकर व्यापक हो जाते हैं। पर बचपन में विशेष रूप से हास्य ही का प्राधान्य होता है। होना भी चाहिए। इसके सम्बन्ध में हमारे बीच मतभेद न हो, ऐसा मैं मानता हूँ। हाँ, यह बात अवश्य जानने योग्य है जिस बात पर मेरा हँसी के मारे पेट फूला जा रहा है। उस बात पर तुम न्यायासनारूढ़ जहाँगीर की तरह गम्भीर रह सकोगे और मैं हँसता ही जाऊँगा—इस पर आश्चर्य से तुम्हें क्षीण-सी हँसी आ जाय, तो?

खिलखिलाती हँसी के प्रसंग गिनो तो गिने न जायं और बीनो तो बीने न जायं। तो भी ऐसे हास्य-रस के प्रसंग मेरे हृदय को गुदगुदाया करते हैं। ऐसी हँसी के सम्बन्ध में बातें तो तुमसे कई लोग कहेंगे। यदि तुम्हें बुरी लगे तो यह बात मैं तुम्हें एकान्त में बताये देता हूँ। बात बिलकुल सच है, यह किसी से कहना भी नहीं और कहा तो मेरा नाम मत लेना। इसे तो तुम अपने नाम से कहोगे या चलाओगे तो बात खूब चलेगी।

वे प्रसंग समयानुसार नहीं, किन्तु जैसे-जैसे स्मृति-पटल पर उतरते आते हैं, उसी के अनुसार कहूँगा।

अच्छा तो पहले मैं तुम्हें नाटक के रंग-मंच पर ले चलता हूँ, क्योंकि मैंने केवल नाटक ही तो लिखे हैं न! मेरी 'असौ कुमारी' पुस्तक छपकर बाहर निकली कि इससे पूर्व २१. ११. १९३१ की आह्लादमयी रात्रि में इसका अभिनय होना तय पाया। उन दिनों जिन्होंने कालेज में नाटक खेलकर नाम पाया था वे मित्र भी उसमें भाग लेने वाले थे। और लेखक के नाते मुझे भी बड़ौदा से बुलाया गया था। कोई छः बजे नायक की पत्नी की

तबियत इतनी खराब हो गई कि वे हजरत उसमें भाग न ले सके। और अन्त में नाटक लिखने के गुनहगार के नाते मुझे नायक का अभिनय करना पड़ा। इसमें मुझसे कितनी भूलें हुईं वे सब जानकर तुम क्या करोगे? जिससे तुम खुशी से उछल पड़ो वही बात मैं कहता हूँ।

गुजराती रंगभूमि के नाटकों का यह नियम था और अब भी है कि नाटक के अन्त में सारे पात्र इकट्ठे हो जाते हैं पर 'असो कुमारी' के तो तीसरे अंक के पहले ही दृश्य के अन्त में सब पात्र इकट्ठे हो जाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि दर्शक नाटक पूरा हुआ समझ एक-एक करके चलने लगे। पर तो दोनों अंक अभी शेष थे। आज अठारह वर्ष के बाद भी मैं मानता हूँ कि या तो वे दृश्य दर्शकों को दिखा दिये जायं या फिर उनका पैसा वापिस कर दिया जाय...

रंगभूमि से मैं अब आपको यदि श्मशान-भूमि में ले चलूँ तो कदाचित अस्वाभाविक न होगा। टेलीफोन आया कि भाई शंकरभाई की पत्नी गुज़र गई है, श्मशान चलना है। मैं सहानुभूति प्रकट करने लगा। इसी समय दुर्गाशंकरभाई मेरा हाथ पकड़कर मुझे दूसरी तरफ़ ले गये और आँखें निकालकर बोले—"तुम्हें मालूम है कि भाई शंकरभाई की नई बहू मरी है और तुम पहली का अफ़सोस कर रहे हो।" अब उसकी अर्थी के साथ जाना होगा। श्रीयुत शान्तिलालभाई की बहू अखण्ड सौभाग्यवती कान्ताबहन प्रसूति में ही चल बसीं। अठारह बरस से लेकर अठारह मास तक के सात बालकों को छोड़कर वे स्वर्ग सिधारी थीं। इस पर शान्तिलाल अत्यन्त उदास थे। अपने-आप पैंतालीस वर्ष पार कर चुके थे। पर अब बेचारे बच्चों का क्या हो? उन्हें यही चिन्ता थी। और मैं कह रहा था होनी के आगे मनुष्य क्या कर सकता है। जो ईश्वर करता है वह ठीक ही करता है, ऐसे वाक्य मैं तोते की तरह बोलता चला आ रहा था। इससे वे गुस्से में भरकर एकदम उबल पड़े—"और भाई जो तुम कहते हो वह तो सही है, पर इन बच्चों की फौज का क्या होगा? और मेरा क्या है?"

मेरे बस की बात होती तो मैं उस समय खिलखिला कर हँस देता। क्योंकि मेरी तुच्छ बुद्धि से शान्तिलाल के हृदय में जो बीत रही थी वही तो उनके होठों पर थी।

'कुमार' मासिक तो तुमने देखा ही होगा। इसका शताब्दी-अंक निकलने वाला था। यह कोई सत्रह वर्ष पहले की बात है। उस समय जो बात कहते हुए झिझक होती थी, उसी बात को आज चालीस की उम्र पार करके खुशी से और पूरी अक्ल से स्वीकार कर रहा हूँ। मुझे बच्चों के लिये एक नाटक लिखना था। उसके प्लॉट की खोज कर रहा था कि अचानक अनाथाश्रम का एक साइनबोर्ड दिखाई दिया। इन्हीं अनाथ बच्चों का नाटक लिखने को मन हो आया। मैनेजर से मिला। नाटक में वास्तविक वातावरण लाने के लिए मैंने वहाँ के नियमादि गम्भीर होकर पूछने प्रारम्भ किये तो उसने नाक-भौं सिकोड़ कर संस्था की विवरण-पत्रिका मेरे सामने पटक दी। मैं उसे देख ही रहा था कि उसने सम्पूर्ण सहानुभूति के साथ सलाह दी—"श्रीमान् यह तो मेरा रोज का धन्धा है। सच्ची बात तो यह है कि आपको जिसे दाखिल कराना हो, करा दो।"

मैंने अपना रास्ता नापा और—'माडी जाया' नाटक लिखा।

तुमने कालेज की नवयुवतियों की कहानियाँ तो बहुत सुनी होंगी। मुझे भी एक याद आ रही है। ग्यारहवीं अप्रैल १९२९ के शुभ दिन हम और कुमारी शशि बड़ौदा से अहमदाबाद जा रहे थे। जैसे ही आनन्द में गाड़ी आकर खड़ी हुई कि एक भिखारिन मेरे पास आकर पैसा माँगने लगी। मैंने शशि से कहा—"इसे पैसा देकर विदा करो।" पर शशि मेरी बात क्यों मानने लगी। वह अपने स्वभाव के अनुसार चिढ़कर और झिड़कती हुई बोली—"तू मोटा माजदार बना बैठा है, तू 'यश', तू ही क्यों नहीं दे देता?"

आपकी समझ में आया? उसने 'तू' और 'यश' कहकर जो मुझे संबोधन किया, उसका भिखारिन ने क्या अर्थ लगाया।

उसने आशीर्वाद देते हुए कहा—"सेठजी, सेठानीजी, तुम्हारी जोड़ी बनी रहे।" यह वाक्य पूरा भी न होने पाया था कि शशि ने उसके हाथ में पैसा दे दिया। इस बात पर मुझे जो हँसी आई, क्या उसको बताने की जरूरत है?

ये थोड़े-से प्रसंग मैंने तुम्हारे सामने रख दिये। वैसे जीवन का परम हास्य तो अन्तर से ही निकलता है और अन्तर में ही शान्त हो जाता है। इसकी आवाज सबको सुनाई नहीं देती। ईश्वर की कृपा से स्नेही जनों के सम्बन्ध की वे बातें मेरे हृदय में आज भी भरी हुई हैं। वे बातें किसी को बताने की नहीं हैं, और यदि तुमसे वे बातें नहीं कहता तो भी मुझे विश्वास है तुम मुझे क्षमा कर देते। मेरी तो तुम्हें यही सुनहरी सलाह है कि ये बातें किसी को बताना मत। मुझसे भी मत कहना। हाँ, प्रसंग आ जाने पर एकान्त में बैठकर इन्हें सुनाना और प्रसन्न होना।
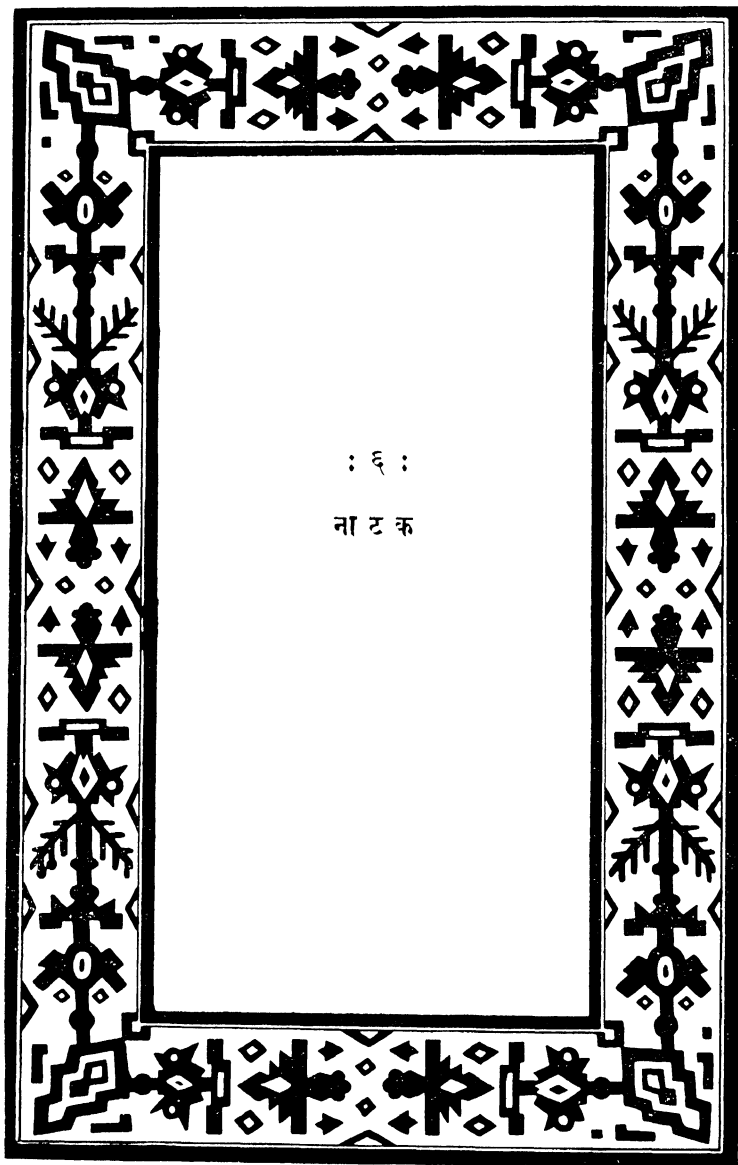
: ६ :

नाटक

केरल का सुदामा

(ऐतिहासिक नाटक)

गोविन्ददास

पात्र—

राम वर्मा—ट्रावनकोर का राजा

राजा केशवदास—ट्रावनकोर का मंत्री

राम पुरम् राम वारियर—एक कवि

कुन्चन नंपियार—ट्रावनकोर का राज-कवि

उन्नाई वारियर—ट्रावनकोर का अन्य एक कवि

कल्याणी रामपुरम् वारियर—कवि की बहन

बालन, कृष्णन — कल्याणी के पुत्र और रामपुरम् राम वारियर के भानजे

इट्टिचिरि—रामपुरम् राम वारियर की पत्नी

स्थान—

समुद्र-तट।

आल्लेपे-समुद्र-तट पर एक गांव, त्रिवेन्द्रम्—ट्रावनकोर की राजधानी।

युग—

१७७४ ई०

स्थान—

समुद्र-तट

समय—

सन्ध्या।

[पीछे की ओर दूर पर समुद्र दिखाई देता है। बाईं ओर समुद्र की एक नहर है। यह समय समुद्र के ज्वार का काल है, अतः इस नहर में यथेष्ट पानी हो गया है। दाहिनी ओर आल्लेपे गांव के कुछ झोंपड़े दिखाई देते हैं। नहर में एक बहुत बड़ी नाव खड़ी है, जिसे उस काल का जहाज़ कहा जा सकता है। नाव पर सुन्दर रंग किया हुआ है और एक सुन्दर

शामियाना लगा हुआ है। शामियाने के नीचे एक बड़ी काष्ठ की चौकी रखी है; जिस पर गद्दी बिछी है और तकिये लगे हैं। इस चौकी के सामने कुछ छोटी चौकियां और रखी हैं, पर इन पर गद्दी-तकिये नहीं है। नाव खेने वाले कई मल्लाह हैं, जो अपनी-अपनी पतवारें लिये खड़े हैं। इन मल्लाहों के स्वच्छ वस्त्र हैं। शामियाने के निकट चामर-वाहक, व्यजन-वाहक तथा अन्य राज-भृत्य बहुमूल्य वस्त्र पहने हुए खड़े हैं। चामर-वाहकों के कन्धों पर चामर और व्यजन-वाहकों के कन्धों पर व्यजन रखे हैं। नाव से नीचे रेती पर राम वर्मा और उन्हीं के निकट केशवदास खड़े हैं। राम वर्मा की अवस्था पचास वर्ष के लगभग है। वह गेहुँए रंग का ऊँचा तथा साधारण शरीर का व्यक्ति है। सुनहरे काम की रेशमी धोती पहने है और वैसा ही उत्तरीय धारण किये हुए है। गले मे हार, भुजाओं पर केयूर, हाथों में वलय और उँगलियों मे मुद्रिकाएं हैं। सब भूषण रत्न-जटित हैं। सिर पर सुनहरी उष्णीष है, जिस पर जड़ाऊ सिरपेच सुशोभित है। पैरों मे काष्ठ की पादुका हैं। केशवदास की अवस्था लगभग चालीस वर्ष की है। उसकी वेश-भूषा राम वर्मा के समान ही है। इनके पीछे की ओर शिरस्त्राण पहने हुए तथा उस समय के आयुधों से सुसज्जित कई शरीर-रक्षक खड़े हैं। इनके सामने देहातियों का एक झुण्ड-सा खड़ा है। देहाती सभी श्याम वर्ण के हैं। इनमें स्त्रियाँ और बच्चे भी हैं। पुरुष केवल धोतियाँ पहने हैं और स्त्रियाँ साड़ियाँ। पुरुषों की धोतियाँ उनके नीचे के अंगों मे लिपटी हुई हैं। वे कच्छ नहीं पहने हैं। बच्चों मे कुछ लंगोटी पहने हैं। सिर और पैर सबके नंगे हैं। इन्हीं देहातियों में रामपुरम् राम वारियर, उसकी बहन कल्याणी, उसके भानजे, बालन, कृष्णन, उसकी पत्नी इट्टिचिरि भी हैं। रामपुरम् राम वारियर और उसका सारा कुटुम्ब अत्यन्त दरिद्र जान पड़ता है। रामपुरम् राम वारियर अधेड़ अवस्था का ऊँचा, किन्तु दुबला श्याम वर्ण व्यक्ति है। उसकी धोती और उत्तरीय न जाने कितने स्थानों पर फट गए हैं और उनमे न जाने कितने थिगडे लगे हैं। कल्याणी और इट्टिचिरि की साड़ियाँ भी फटी-पुरानी तथा थिगड़ैल हैं और कठिनाई से उनके शरीरों को ढांके हुए हैं। बालन और कृष्णन लंगोटियां पहने हैं। सारे समुदाय के आगे खड़ा हुआ एक ब्राह्मण राम वर्मा को आशीर्वाद देता हुआ एक वेद-मंत्र बोल रहा है। उसके हाथ में एक श्रीफल है।]

ब्राह्मण : स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

दूसरा ब्राह्मण : (आगे बढ़कर)
अभयं मित्रादभयम् मित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरोयः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

रामपुरम् राम वारियर : (आगे बढ़कर)
आनन श्री-मण्डित विमल, वाणी वाग्विलास!
मिटा चिरंतन द्वन्द्व यह, तुममें बिना प्रयास!!

[राम वर्मा की मुद्रा से जान पड़ता है कि उसे रामपुरम् की कविता ने मुग्ध-सा कर दिया है। केशवदास दोनों ब्राह्मणों और कवि को दो-दो रौप्य-मुद्राएं देकर

रामपुरम् को भी दो मुद्राएं देने के लिए आगे बढ़ता है।]

राम वर्मा (केशवदास से) : इन्हें अभी कुछ न दीजिये, थोड़ा ठहर जाइए। (केशवदास रुक जाता है) इस गाँव के निवासी बहुत निर्धन जान पड़ते हैं।

केशवदास : श्रीमन्, यहाँ गत तीन वर्षों से ठीक उपज नहीं हो रही है।"

राम वर्मा : और इतने पर भी राज-कर लिया जा रहा है।

ब्राह्मण : आपके राज्य में यह कभी सम्भव है। महाराज, एक फूटी कौड़ी भी तीन वर्षों में हमसे नहीं ली गई।

राम वर्मा : (केशवदास से) मैंने इस यात्रा में जितने ग्रामों का निरीक्षण किया, उनमें यह ग्राम सबसे अधिक निर्धन दीखता है। मन्त्रीजी, इनके यहाँ यदि उपज होवे भी तो भी इनकी दशा ऐसी नहीं जान पड़ती कि ये प्रथम वर्ष से ही राज-कर दे सकें। अतः अच्छी उपज होने पर भी इनसे तीन वर्षों तक राज-कर न लिया जाय।

ग्राम-निवासी (एक स्वर से) : जय हो, जय हो महाराजाधिराज !

राम वर्मा : और सारे ग्राम-निवासी पुरुषों को चार-चार अधोवस्त्र और चार-चार उत्तरीय तथा स्त्रियों को चार-चार साड़ी बाँट दी जायं।

ग्राम-निवासी (और ऊँचे स्वर से) : जय हो, धर्मराज !

राम वर्मा : उसी के साथ जिनके पास खाने अथवा बीज के लिए अन्न न हो, जोतने के लिए बैल न हों, उनके लिए अन्न और बैलों का प्रबन्ध भी राज्य करे।

ग्राम-निवासी (और भी ऊँचे स्वर से) : जय हो, जय हो महाराजा राम वर्मा की !

राम वर्मा (ग्राम-निवासियों से) : और कुछ कहना है आप सज्जनों को ?

ब्राह्मण : बिना कहे ही श्रीमान् ने हमारी सारी आपत्तियाँ दूर कर दीं।

एक अन्य ग्राम-निवासी : बिना रोये माँ भी बच्चे को दूध नहीं पिलाती, परन्तु... परन्तु हमारे नरेश तो ऐसे हैं...

रामवर्मा (बीच ही में सब ग्राम-निवासियों की ओर देखकर, कुछ ऊँचे स्वर से) : क्यों, किसी को और कुछ नहीं कहना ?

सभी ग्राम-निवासी (एक साथ ऊँचे स्वर में) : कुछ नहीं...कुछ नहीं, महाराज ! जय हो ! जय हो !

राम वर्मा (रामपुरम् की ओर घूमकर) : आपका नाम कविवर ?

रामपुरम् : दास को रामपुरम् राम वारियर कहते हैं।

राम वर्मा (मुस्करा कर) : तब तो आपका और मेरा एक ही नाम है।

[जन-समुदाय में अट्टहास।]

राम वर्मा : वारियर, आप सचमुच बड़ी सुन्दर कविता करते हैं।

रामपुरम् (सिर झुकाकर सहमे हुए स्वर में) : यह महाराज की दया है कि श्रीमान् ऐसा समझते हैं।

राम वर्मा : आप मेरे संग नाव पर राजधानी तिरु अनन्तपुरम् को चल सकते हैं क्या ?

रामपुरम् (प्रसन्नता से) : जैसी आपकी आज्ञा ।

राम वर्मा : तो चलिये, मेरे साथ चलिये; आपको वहीं से विदा किया जायगा ।

[राम वर्मा नाव की ओर बढ़ते हैं, केशवदास और शरीर-रक्षक भी पीछे-पीछे, सबके पीछे रामपुरम् प्रसन्नता से अपने कुटुम्ब की ओर देखता हुआ जाता है। पुनः जय-जयकार होता है ।]

पट-परिवर्तन

[नहर में राम वर्मा की नाव चल रही है । राम वर्मा बड़ी चौकी पर बैठे हैं । सामने की एक चौकी पर केशवदास और दूसरी पर रामपुरम् बैठे हैं । मल्लाह नाव खे रहे हैं । चामर-वाहक चामर डुला रहे हैं । शरीर-रक्षक तथा अन्य भृत्य यत्र-तत्र खड़े हैं ।]

राम वर्मा : कहिये कविवर, कोई नौका-गीत स्मरण है ?

रामपुरम् (सकुचते हुए) : यों ही एक दो, श्रीमन् !

राम वर्मा : आप ही के बनाये हुए हैं ?

रामपुरम् (और भी संकोच से) : हाँ, बनाये हुए तो इस दास के ही हैं, महाराज !

राम वर्मा : तो होने दीजिये एक । संध्या हो रही है । पतवारें छपक-छपक मृदंग बजा रही हैं । आपकी इतनी सुन्दर कवित्व शक्ति है कि आपका गीत तो समा बाँध देगा ।

रामपुरम् : जैसी आज्ञा । (कुछ ठहरकर सोचते हुए गीत आरम्भ करता है ।)

छेड़ो मत टूटे तारों को !

मैं जीवन को झेल रहा हूँ !
तूफ़ानों से खेल रहा हूँ !
कैसे कोई देख सकेगा,
इस अन्तर की मनुहारों को !
छेड़ो मत टूटे तारों को !

तुम कहते हो गाऊँ गाना !
मैं चाहूँ मन चीर दिखाना !
रोक सकूँगा इस क्षण कैसे,
अपने उमड़े उद्‌गारों को !
छेड़ो मत टूटे तारों को !

दीन सुदामा व्यथित यहाँ है !
पर वह शक्ति स्वरूप कहाँ है,
जो अपने हाथों में थामे
मेरी जर्जर पतवारों को !
छेड़ो मत टूटे तारों को !

पहला दृश्य

स्थान—

त्रिवेन्द्रम् का नगरालय

समय—

प्रातःकाल

[यद्यपि विशाल आलय है तथापि भित्तियों में कोई रंग तथा आलय में कोई सजावट इत्यादि नहीं है। आलय की भूमि पर चटाइयाँ बिछी हैं। इन चटाइयों पर दो काष्ठ की चौकियाँ रखी हैं। एक पर राज-कवि कुञ्चन नंपियार बैठे हैं और दूसरी पर रामपुरम्। कुञ्चन नंपियार अधेड़ अवस्था और गेहुँए रंग का कुछ ठिगना और स्थूल शरीर का व्यक्ति है। उत्तरीय और धोती धारण किये हुए है। रामपुरम् के वस्त्र भी अब फटे-पुराने थिगडैल नहीं रह गए। कवि कुञ्चन की चौकी के निकट एक थाल में कुंकुम, अक्षत, श्रीफल और पुष्पहार रखे हुए हैं। चटाइयों पर त्रिवेन्द्रम् के अन्य साहित्यिक व्यक्ति बैठे हैं। अधिकांश लोग श्यामवर्ण के हैं और वेश-भूषा सबकी कुञ्चन के सदृश है। कवि उन्नाइ वारियर खड़े होकर रामपुरम् को मान-पत्र भेंट करता है, जो एक ताम्र-पत्र पर खुदा हुआ है। उन्नाइ वारियर युवावस्था का गेहुँए वर्ण का ऊँचा पूरा सुडौल व्यक्ति है।]

कुञ्चनः कविवर श्रीरामपुरम् राम वारियर को विदा करते हुए आज हमारे हृदय हर्ष और शोक के मिश्रित भावों से भरे हुए हैं। हर्ष तो हमें कविवर के हर्ष के कारण है। वारियर महोदय अपने गृह जाकर अपने कुटुम्बियों से मिलने के लिए कुछ समय से बहुत आतुर हो चले थे। श्रीमान् महाराजाधिराज स्नेह वश इन्हें जाने की आज्ञा नहीं दे रहे थे, परन्तु अन्त में किसी प्रकार उन्होंने जाने की आज्ञा दे दी। (रामपुरम् की ओर देख, मुस्कराकर) ये इस आज्ञा से जितने हर्षित हैं वह इनकी मुद्रा से जान पड़ता है। (अधिकांश व्यक्तियों का अट्टहास) और इनके हर्ष से हम भी हर्षित हैं। दुःख है हमें कविवर के वियोग का। गत छः मास से, वारियर महोदय का तिरु अनंतपुरम् में पदार्पण हुआ, यहाँ के साहित्य-जगत् में एक नई स्फूर्ति आ गई। काव्य-सागर में एक नई लहर उठी। हमारे महाराजाधिराज जहाँ एक ओर अद्वितीय शासक हैं, दानवीर और युद्धवीर हैं, वहाँ दूसरी ओर कैसे रसिक और गुणग्राही हैं। आल्लेपे ग्राम के समुद्र-तट पर केवल एक कविता का पाठ सुनते ही वे कवि रामपुरम् को पहचान गए, अपने साथ इन्हें राजधानी ले आये और बार-बार उनके आग्रह करने पर भी गत छः मास तक इन्हें विदा न कर सके। कविवर के सम्बन्ध में हम साहित्यिकों के जो भाव हैं, वे हमने, उन्हें दिये जाने वाले इस मान-पत्र में, जो अभी हमारे यहाँ के तरुण कवि उन्नाइ वारियर ने पढ़ा है, व्यक्त किये हैं। और अधिक हम क्या कहें। हम भगवान् पद्मनाभ से यही प्रार्थना करते हैं कि रामपुरम् राम वारियर दीर्घायु हों, अपनी कविताओं से काव्य-उपवन में नये-नये पुष्पों को प्रफुल्लित करते रहें और बार-बार हमारे इस नगर में पधारकर हमें और इस

सारे नगर को कृतार्थ करें। (मान पत्र रामपुरम् को देता है।)

रामपुरम् (मान-पत्र लेकर) : राजकवि कुञ्चन नंपियार, कवि उन्नाइ वारियर तथा अन्य सभासदों ! यह एक प्राचीन लोकोक्ति है कि पारस लोहे को भी सुवर्ण बना देता है। पारस चाहे किसी ने न देखा हो, उसके लोहे के सुवर्ण बनाने की कृति का भी चाहे किसी ने अवलोकन न किया हो परन्तु जीवित लौह जीवित पारस द्वारा किस प्रकार सुवर्ण बनाया जाता है इसे मैंने गत छः मासों में निश्चय ही देखा है। छः मास पूर्व इसी तिथि को जब तिरूवितांकुरेश्वर का पोत प्रतीची से पूर्व की ओर आते हुए आललेपे ग्राम के समुद्र-तट पर ठहरा तब मुझे यह कल्पना तक न थी कि एक साधारण-से साधारण सरस्वती के सेवक पर महाराजाधिराज की ऐसी स्नेह-दृष्टि पड़ेगी। मेरे भाग्याकाश में ऐसे नवीन नक्षत्र का उदय होगा। बन्धुगणों, उस समय सन्ध्या हो रही थी। पक्षियों के गान से गगन, मंडूकों के कोलाहल से समुद्री लहर और पंडितों के स्वस्ति-वाचन से सागर-तट शब्दायमान थे। मैं भी श्रीमान् के आगमन का वृत्त सुन एक छोटी-सी कविता सुनाने के लिए ही वहाँ पहुँचा था, परन्तु इन सारे शब्दों को सुन मुझे तो कंठावरोध का भय हो चला था। इष्ट ने कृपा-वृष्टि की। किसी प्रकार कविता-पाठ हो गया। बस फिर क्या था। महाराजाधिराज ने ऐसी प्रेम-वर्षा की कि बहता हुआ यहाँ पहुँच गया और तब से तो लगातार श्रीमान् और आप सब सज्जनों की उस प्रेम-वर्षा में डूबा ही रहा हूँ। मिट्टी से भी पुष्पों के संसर्ग के कारण सुगन्ध आने लगती है। पुष्प गन्ध में तितली तो इतनी तल्लीन हो जाती है कि उसका अवास रस भी सुवास पूर्ण हो, नाना प्रकार से सुगन्धित द्रव्यों में परिणत हो जाता है। बन्धुगणों, विशेषता मुझमें नहीं आप में है। (कुछ रुककर) मैं अपने ग्राम लौटने के लिए, कुटुम्बियों से मिलने के लिए आतुर अवश्य हूँ। यहां आने के पश्चात उनका कोई समाचार भी मुझे नहीं मिला, इससे मेरी व्यग्रता और बढ़ गई है, अतः जाते हुए मुझे हर्ष हो रहा है इसे मैं नहीं छिपाना चाहता, परन्तु आपको छोड़ने में भी मुझे कम क्लेश हो रहा है, यह न विचारियेगा। जिसने इन छः मासों के पूर्व कभी ऐसा जीवन देखा ही नहीं था उसे इस जीवन से विलग होने पर इस जीवन का जितना स्मरण आयगा, उसकी कल्पना मैं कर सकता हूँ, आप नहीं। ये छः मास जीवन-पर्यन्त मेरे जीवन की अटूट निधि रहेंगे और सदा भगवान् पद्मनाभ से प्रार्थना करता रहूँगा कि बार-बार आपके दर्शन हों। इन छः मासों की विविध कृपाओं और आज के इस समारोह के लिए धन्यवाद के अतिरिक्त मेरे पास देने को और क्या है।

दुःखद विदा की बेला आई !
स्नेह-सूत्र जो हमने जोड़ा !
कैसे जायेगा अब तोड़ा !
मधुर मिलन की सुधि बदली मन-
आँगन पर सहसा आ छाई।
दुखद विदा की बेला आई !
जाओ ज्यों कवि, शशि जाते हैं !

लौट गगन में फिर आते हैं!

मत जाना तुम उस प्रदीप-से

जिसे न फिर तट की सुधि आई!

दुःखद विदा की बेला आई!

दूसरा सभासद : (कविता-पाठ करता है।)

पंथ तुम्हारा मंगलमय हो

पंथ तुम्हारा मंगल मय हो!

कीर्त्ति तुम्हारी अमर अजय हो!

छल छल छलके नयन अनेकों

देते तुमको स्नेह विदाई!

दुःखद विदा की बेला आई!

(कुञ्चन रामपुरम् को कुंकुम का तिलक लगा अक्षत चिपका, श्रीफल दे, गले में पुष्प-हार पहनाता है)

दूसरा दृश्य

स्थान—

त्रिवेन्द्रम् के राज-भवन का सभा-कक्ष

समय—

प्रातःकाल

[कक्ष विशाल है। तीन ओर की भित्तियाँ दिखती हैं, जिन पर सुन्दर चित्रकारी है। कहीं केरल देश के मनोहर प्राकृतिक दृश्य, कहीं उच्च-उच्च गोपुरों से युक्त मन्दिर, कहीं विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाएं चित्रित हैं। कक्ष की छत पाषाण के स्थूल स्तम्भों पर स्थित है। उन पर अगणित मूर्तियां खुदी हैं। मूर्तियों पर भी रंग है। कक्ष की धरती पाषाण से पटी हुई है। पीछे की भित्ति के सन्निकट बीच में सिंह के पायों का सुवर्ण-निर्मित सिंहासन रखा है। सिंहासन पर सुनहरी काम से विभूषित कपड़े की गद्दी बिछी है और उस पर वैसे ही वस्त्र के तकिये लगे हैं। सिंहासन पर राम वर्मा बैठा हुआ है। सिंहासन के एक ओर रजत-निर्मित एक चौकी पर केशवदास बैठा है, अन्य चौकियों पर कवि कुञ्चन, कवि रामपुरम्, कवि उन्नाइ वारियर तथा अन्य साहित्यिक और सामन्तगण आदि बैठे हैं। राम वर्मा के सिंहासन के पीछे चामर-वाहक चामर और व्यजन-वाहक व्यजन डुला रहे हैं। रामपुरम् आज राम वर्मा से विदा हो रहा है और विदा के इस अवसर पर राम वर्मा को एक कविता सुना रहा है। कविता एक सुन्दर कागज़ पर लिखी हुई है।]

मिलन स्वप्न है विरह जागरण

मैं अनजान दिशा से आया

स्नेह-दान पाकर हर्षाया

आज विदा की बेला में,

प्राणों पर छाया मोह आवरण
मिलन स्वप्न है विरह जागरण
दो क्षण का ही मधुर मिलन है !
और विरह शाश्वत जीवन है !
विरह मिलन के बंधन में ही
बँधा रहा है मनुज आमरण
मिलन स्वप्न है विरह जागरण !

(कविता पूर्ण होने पर कागज़ राम वर्मा को भेंट करता है)।

राम वर्मा (कागज़ लेते हुए) : कविवर, आपने तो जाते-जाते भी मुझे एक कविता के भार से लाद दिया। गत छः महीनों से आप मुझ पर यह भार बढ़ाते ही जा रहे हैं। हां, इस भार और अन्य भारों में यह अन्तर अवश्य है कि जहां दूसरे भार कष्ट-प्रद होते हैं, वहां ये भार सुख-वर्धक है। मैं कवि नहीं कि आपको इन कविताओं का बदला उसी रूप में दे सकूं। यथार्थ में साहित्य का बदला साहित्य में ही दिया जा सकता है, उसके बदले में दी हुई अन्य वस्तुएं सदा ही तुच्छ रहती हैं। (कुछ रुककर) मेरी तो इच्छा थी कि आप अभी कुछ समय और यहां रहते, परन्तु बहुत समय से आप जाने के लिए अत्यन्त आतुर थे अतः अन्त में विवश होकर मुझे आपको विदा करना पड़ रहा है। गत छः मास में आपने तिरुअनन्तपुरम् में साहित्य का जो उद्यान लगाया है समय-समय पर आकर इसे सँभालते रहिये, इसकी वृद्धि करते रहिये।
(केशवदास की ओर देखता है।)

[केशवदास उठकर जाता है और जल्दी से एक सुवर्ण-थाल लेकर आता है। सुवर्ण-थाल में एक साधारण कोटि का उत्तरीय, वैसी ही एक धोती, एक श्रीफल, दो रजत-मुद्राएं और कुंकुम अक्षत है। रामपुरम् की इस अत्यन्त साधारण विदा को देखकर सारी सभा चकित-सी रह जाती है। रामपुरम् के मुख पर निराशा की कालिमा रात्रि को दीखने वाली समुद्र-लहर के सदृश दौड़ जाती है पर वह अपने को सँभालने का भरसक प्रयत्न करता है, जो उसकी मुद्रा से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। केशवदास उसके ललाट पर कुंकुम लगा, अक्षत चिपका, उत्तरीय धोती, श्रीफल और दो रुपये उसके हाथों में देता है।]

(लघु यवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान—
एक मार्ग
समय—
प्रातःकाल

[एक ओर अठारहवीं शताब्दी के गृहों की एक पंक्ति दृष्टिगोचर होती है। सबसे निकट मार्ग का वह गृह है जिसमें रामपुरम् ठहरा हुआ था। उस गृह के द्वार पर एक बैलगाड़ी खड़ी हुई है। बैलगाड़ी दो चक्के की है, न बहुत बड़ी, न छोटी। टट्टे की गाड़ी पर छाया है। दो

बैल जुते हुए हैं। रामपुरम् और उन्नाइ वारियर का भीतर से प्रवेश। रामपुरम् के बगल में एक छोटी-सी गठरी दबी हुई है। रामपुरम् के मुख पर अत्यधिक निराशा है, परन्तु उस निराशा को दबाने के लिए वह मुस्करा रहा है, यद्यपि यह पता लगे बिना नहीं रहता कि यह मुस्कराहट प्रयत्न करके लाई गई है। उन्नाई वारियर का मुख क्रोध से लाल हो रहा है।]

उन्नाइ वारियर : हां, हां, मैं......कहता हूं कि महाराज ने यह आपका अपमान किया है, और आपका ही नहीं तिरुवितांकुर राज्य के सारे साहित्यिकों का।

रामपुरम् (और अधिक हँसने का प्रयत्न करते हुए): उन्नाइ, तुम युवक हो इसीलिए तुम्हारे मुख से ऐसे वाक्य निकल रहे हैं। गत छः मासों में तुम प्रायः मेरे साथ ही रहे हो, इसीलिए मुझ पर तुम्हारा अत्यधिक स्नेह हो गया है। तुम्हारा यह क्रोध उसी स्नेह का परिणाम है। क्रोध यों भी बुरी वस्तु है, परन्तु जब वह अधिक बढ़कर विवेक को नष्ट कर देता है तब तो भयंकर वस्तु हो जाती है।

उन्नाइ : विवेक ! जिस विवेक की आप बात कहते हैं उस विवेक के अनुसार वह उत्तरीय, वह अधोवस्त्र व दो रौप्य मुद्राएं आपको विवेकपूर्ण विदा है। आप ही ने कहा था कि आपके गांव आल्लेपे के साधारण-साधारण ब्राह्मणों को दो-दो रौप्य मुद्राएं तो स्वस्ति-वाचन के श्लोकों पर दी गई थीं। सारे ग्राम-निवासियों को चार-चार उत्तरीय और अधोवस्त्र तथा अन्न बांटने का आदेश किया गया था। यदि आपको यही विदा दी जाने वाली थी तो यहां लाने की क्या आवश्यकता थी, अपने कुटुम्ब से विलग रखकर छः महीने तक यहां रखने की क्या आवश्यकता थी ?

रामपुरम् : पर तुमने कई बार कहा है न, उन्नाइ, कि हमारे महाराज हरेक का उचित आदर-सत्कार करते हैं। मुझे उन्होंने इतने ही सम्मान के योग्य समझा होगा।

उन्नाइ : वाह ! वाह ! यह आपने ठीक कहा। आपकी पहली कविता पर ही इतने मुग्ध कि आपको साथ लाये और...

रामपुरम् : पर, भाई कभी-कभी एकाध कविता अपने-आप अच्छी बन जाती है। धीरे-धीरे उन्हें मेरी यथार्थता का ज्ञान हुआ होगा।

उन्नाइ : फिर आपको छः महीने रोका क्यों ?

रामपुरम् : उस मेरी पहली कविता के कारण, जो उन्हें इतनी रुचिकर प्रतीत हुई थी। वे कदाचित देखना चाहते थे कि मैं वैसी कविताएं और लिख सकता हूं या नहीं। (कुछ रुककर) ठीक यही बात थी, इसीलिए उन्होंने मुझे बार-बार रोका।

उन्नाइ : और आज भी इतनी प्रशंसा क्यों की ?

रामपुरम् : यह तो शिष्टाचार की बात है। जिस प्रकार मरने पर व्यक्ति के सारे दोष विस्मृत कर उसकी प्रशंसा ही की जाती है, उसी प्रकार विदा के समय भी। (कुछ रुककर) और, उन्नाइ, ठीक भी है। यथार्थ में यदि मुझमें कोई प्रतिभा होती तो क्या मैं इतनी अवस्था तक उस गांव में पड़ा-पड़ा सड़ा करता ? महाराज सच्चे गुण-ग्राही हैं। मेरी पहली कविता उन्हें रुचिकर जान पड़ी, अतः मुझे यहां ले आये। वैसी ही कविताएं मैं और लिख सकूँ इसलिए

मुझे इतने दिनों तक रोका। अन्त में जब देख लिया कि मुझमें सच्ची प्रतिभा नहीं तब मैं भी अपना ठीक मूल्य समझ लूं इसलिए मेरे योग्य जैसी विदा थी वैसी विदा उन्होंने मुझे दे दी।

उन्नाइ : और हम सब साहित्यिक मूर्ख ही ठहरे, जो आपकी रचनाओं पर ऐसे मुग्ध थे।

रामपुरम् : महाराज आदरपूर्वक मुझे लाये थे मेरी प्रशंसा किया करते थे, इसलिए तुम सब प्रभावित थे। और मैं तब अपनी यथार्थता भूलकर अपने में प्रतिभा देखने लगा था। मुझे सोचना चाहिए था कि यदि मुझमें सच्ची प्रतिभा होती तो मैं इतने दिनों तक उस ग्राम......

उन्नाइ : (बीच ही में) नहीं, नहीं कविवर, यह कभी नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। मोर का सौन्दर्य मोर नहीं जानता, वह तो दूसरे जानते हैं। मोर को तो उसके पैर दिखते हैं अतः वह अपने को कुरूप ही मानता है। यही बात बारहसींगे की है। आपकी प्रतिभा आपको नहीं दिखती, वह हमें दिखती है। फिर साहित्यिक दूसरे की आँखों से नहीं देख सके, वे अपनी आँखों से ही देखते हैं। महाराज आपको आदरपूर्वक लाए थे, पर आपमें प्रतिभा न होती तो साहित्यिकों में आपका ऐसा सम्मान नहीं हो सकता था। मैंने तो आपसे कहा भी कि आप ठहर जाइए। हम साहित्यिक साधारण जन-समुदाय से धन एकत्रित करके आपको विदा करेंगे और महाराज को बता देंगे कि......

रामपुरम् : (बीच में ही) फिर तरुणाई तुम्हारे मुँह से यह शब्द कहला रही है। (कुछ रुककर) और.. ...और यदि तुम सचमुच ही मुझे प्रतिभावान मानते हो तो क्या प्रतिभा का मूल्य धन है। मैंने सबसे बड़ी भूल यह की कि मैं भी महाराज से धन चाहता था। सम्भव है इसीलिए महाराज ने मेरी प्रतिभा को मानते हुए भी मुझे दो रौप्य मुद्राएं देकर यह बताया हो कि मेरे कार्य का मूल्य धन नहीं। (फिर कुछ रुककर) उन्होंने कहा भी तो था न कि साहित्य के बदले में दी हुई अन्य वस्तुएं सदा ही तुच्छ रहती है। (फिर कुछ रुक-कर) यही . . . . . . यही बात है, उन्नाइ, सरस्वती और लक्ष्मी में सदा वैर रहा है। सरस्वती पूजक को लक्ष्मी-पूजक होना ही न चाहिए। जो सच्चा साहित्यिक है वह धन नहीं चाहता और जो धन चाहता है वह सच्चा साहित्यिक नहीं। महाराज से मेरा धन-लोभ छिप न सका। उन्होंने उसके निवारण के लिए ही यह विदा दी। धनवानों में सबसे बड़ा वह है जो निर्धनों से सहानुभूति रखे। महाराज को मुझसे पूर्ण सहानुभूति थी। निर्धनों में सबसे बड़ा वह है जो धनवानों से कोई आशा न रखे। वह शिक्षा महाराज ने मुझे दे दी। मुझे.......
मुझे अब अपने ही ऊपर बड़ी ग्लानि हो रही है। यथार्थ में धन के लोभ से मैं इतने दिनों तक यहाँ पड़ा रहा, अपने कुटुम्ब को छोड़कर पड़ा रहा, इतना नर-काव्य रचा। उन्नाइ! मेरा स्थान यथार्थ में वह है ही नहीं, जहाँ मैं छः मास रहा हूँ। मेरा स्थान तो मेरा आललेपे गांव ही है। राज-प्रासाद नहीं, झोपड़ा, विलासी वस्तुएं नहीं, निर्धनता मेरा विषय किसी एक जन की स्तुति नहीं, जन-समुदाय का उत्थान रहा है। इन छः मासों के पूर्व मैं इसी विषय पर रचना करता रहा हूं। मेरा विषय धन की कीर्ति नहीं प्रकृति का यशोगान है, जो मैंने यहाँ

ओर के पूर्व तक किया था। हमारे महाराज तो मेघ के सदृश समान रूप से बरसते हैं, जहाँ पुष्प उत्पन्न करना चाहिए वहाँ पुष्प उपजाते हैं और जहाँ काँटे, वहाँ काँटे। उनमें बुद्धि शक्ति अनुभव-शक्ति, निर्णय-शक्ति, वाक्-शक्ति सारी शक्तियों का समावेश है। जन्म भर अग्नि की सेवा करने के पश्चात् उस अग्नि मे या जन्म-भर समुद्र की उपासना करने के पश्चात् उस समुद्र में व्यक्तिगत लाभ के लिए कूदने वाले की जो दशा होती है, वही मेरी न हो, इसीलिए महाराज ने ऐसी विदा देकर मुझे सचेत किया है मित्र !

उन्नाइ : (विचारते हुए) परन्तु......परन्तु कविवर ....

रामपुरम् : (शान्ति से) अब किन्तु-परन्तु कुछ नहीं, उन्नाइ, हमने वस्तु-स्थिति का पता लगा लिया और मैं शान्ति, परम शान्ति से जा रहा हूँ। अब मुझे आज्ञा दो, नहीं तो ज्वार के पूर्व नहर पर न पहुँच सकूँगा।

उन्नाइ : (गद्‌गद स्वर से) तो अब कब दर्शन होंगे ?

रामपुरम् : आओ, न, कभी आल्लेपे आओ।

उन्नाइ : हाँ, हाँ, अवश्य आऊँगा।

रामपुरम् : परन्तु देखो, वहाँ टूटा-फूटा, झोपड़ा, रूखा-सूखा अन्न और

उन्नाइ : (हँसते हुए) आपने कहा न, सरस्वती-पूजकों के लिए उसी प्रकार का जीवन उपयुक्त है।

[रामपुरम् हँसने लगता है। कुछ रुक कर रामपुरम् गाड़ी की ओर बढ़ता है।]

(लघु यवनिका)

चौथा दृश्य

स्थान—

समुद्री नहर

समय—

सन्ध्या

[नेपथ्य से गान सुन पड़ता है। स्वर से स्पष्ट हो जाता है कि रामपुरम् का गान है।]

साथ लहर के बहता चल रे !
जल-लहरें हैं तट को घेरे !
चिन्ता-लहरें मन को घेरे !
बालू के कच्चे कगार-सा,
साथ इन्हीं के बहता चल रे !
साथ लहर के बहता चल रे !

[गान समीप आता जान पड़ता है। उसी के साथ पतवारों की छुप-छुप ध्वनि आने लगती है। एक नाव आती हुई दिखाई पड़ती है। कुछ निकट आने पर उस नाव में अन्य यात्रियों के साथ रामपुरम् भी दिखता है। वह खड़ा हुआ कभी नहर और कभी आकाश की ओर देखते हुए गा रहा है। अन्य यात्री मुग्ध-से उसका गान सुन रहे हैं।]

साँझ सुहानी, समय सुहाना !
रोने का फिर कौन बहाना !
अपने अन्तर की ज्वाला से,
मन-ही-मन में दहना चल रे !
साथ लहर के बहता चल रे !

[गाते-गाते रामपुरम् एक रुपया नहर में डालता है, फिर दूसरा रुपया। इसके पश्चात वह बगल की गठरी खोलता है। उसमें से चार वस्त्र निकलते हैं, दो विदा के समय राम वर्मा द्वारा दिये गए और दो उसके पुराने फटे हुए। पहले वह दोनों नये वस्त्रों को नहर में डालता है। उसके पश्चात अपने पहने हुए वस्त्रों को अपने पुराने वस्त्रों से बदल कर, पहने हुए नये वस्त्र उतारकर नहर में डालता है। अब वह जैसा हमने उसे उपक्रम में देखा था, ठीक वैसा ही दिखता है।]

एक यात्री : (आश्चर्य से) यह आप क्या कर रहे हैं ?

रामपुरम् : (गाना रोक कर, हँसते हुए) नहर में सरस्वती-पूजा। (फिर गाने लगता है।)

मन की पीर उमड़ आने दे !
नयनों-नीर छलक जाने दे !
जो कुछ विधि ने लिखा भाग्य में,
आज सभी कुछ सहता चल रे !
साथ लहर के बहता चल रे !
इन प्राणों की व्यथा पुरानी !
रही सदा जग से अनजानी !
सरिता की लहरों से अपनी,
करुण-कहानी कहता चल रे !
साथ लहर के बहता चल रे !

(यवनिका)

उपसंहार

स्थान—आल्लेपे गाँव में एक बड़े भारी भवन का सामना

समय—उषःकाल

[भवन के बाहरी भाग का कुछ हिस्सा दृष्टिगोचर होता है। इसके सामने कच्ची-सी सड़क है। उसी सड़क पर एक ओर रामपुरम् सो रहा है। भवन के भीतर से कल्याणी का आगमन। उसकी सारी वेश-भूषा बदल गई है। अब वह सुन्दर साड़ी पहने हुए है। आभूषणों से भी सुसज्जित है। बाहर निकलते ही उसकी दृष्टि सोये हुए रामपुरम् पर पड़ती है। वह उसके निकट जाकर ध्यान से उसे देखती है। उसका मुख प्रसन्नता से खिल उठता है। वह जल्दी से भवन में लौट जाती है और फिर शीघ्र ही बाहर आती है। अब उसके साथ इट्टिचिरि और

बालन तथा कृष्णन भी हैं। इट्टिचिरि की वेश-भूषा भी कल्याणी के समान ही है। बालन, कृष्णन भी बहुमूल्य उत्तरीय और धोतियाँ पहने हुए हैं। सब सोये हुए रामपुरम् के पास पहुँचा हैं।]

कल्याणी (ज़ोर से) : भैया ! भैया !

[रामपुरम् हड़बड़ा कर उठता है। सामने कल्याणी, इट्टिचिरि और अपने भानजों को इस रूप में देखकर आश्चर्य-चकित हो खड़ा हो जाता है।]

रामपुरम् (कुछ देर सबको ध्यान से देखते हुए) : हैं ! यह क्या...यह मैं क्या देख रहा हूँ ? (कल्याणी से) कल्याणी......तुम कल्याणी ही हो न ? (इट्टिचिरि से) इट्टिचिरि, (भानजों से) बालन, कृष्णन, तुम सब...

कल्याणी : हाँ, हाँ, भैया, मैं तुम्हारी बहन हूँ, (इट्टिचिरि की ओर संकेत करके) यह मेरी भाभी। (बालन, कृष्णन की ओर संकेत करके) ये तुम्हारे भानजे।

रामपुरम् (उसी प्रकार आश्चर्य से) : पर तुम सबकी यह कैसी वेश-भूषा ?

कल्याणी : और तुम्हारी कैसी ?

रामपुरम् : जैसी सदा रहती थी।

इट्टिचिरि : और हमारी जैसी इस समय होनी चाहिए।

रामपुरम् : मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ ? नाव तो नहीं डूब गई ? मैं किसी दूसरे लोक को तो नहीं पहुंच गया ?

कल्याणी : नहीं भैया, तुम अपने गाँव आल्लेपे में ही हो। (भवन की ओर संकेत करके) यह तुम्हारा भवन है। हम सब तुम्हारे कुटुम्बी हैं।

रामपुरम् : (उसी प्रकार के स्वर में) : पर मेरा तो भवन नहीं, झोंपड़ा था। जब कल रात को मैं लौटकर आया और अपना झोंपड़ा तथा तुम सबको यहाँ नहीं पाया तब सोचा वियोगान्त नाटक की यवनिका भी गिर गई। थक गया था, सड़क पर पड़ गया और सोचा प्रातःकाल पता लगाऊँगा।

बालन : पर मैंने तो आपको लिखा था कि आपके जाने के कुछ दिन पश्चात् ही यहाँ राज-कर्मचारी आये और उन्होंने हम सबको सुखपूर्वक एक दूसरे भाड़े के गृह में रख कर हमारे झोंपडे के स्थान पर यह मकान बनाना आरम्भ किया है।

रामपुरम् (और आश्चर्य से) : तुमने मुझे लिखा था ? मुझे तुममें से किसी का पत्र नहीं मिला; वरन् मैं तो तुम लोगों की कोई भी सूचना न मिलने के कारण बड़ा चिन्तित था, और बार-बार तुम्हें पत्र लिखने के लिए लिखता था।

कृष्णन : पत्र तो आपका भी हमें नहीं मिला, परन्तु राज-कर्मचारी सदा कहते रहते थे कि आप बड़े सुख से राजधानी में हैं और इसीलिए पत्र नहीं लिख रहे हैं कि वहाँ आपको साहित्यिक कार्यों के कारण क्षण-भर भी अवकाश नहीं मिल रहा है, पर आपके आज के दर्शन से जान पड़ता है कि आप तो वैसे ही रहे जैसे यहाँ से गये थे।

रामपुरम् (विचारते हुए) : समझा, सब-कुछ समझ गया। यहाँ से जाते समय नाव

मे महाराज ने आज्ञा दी थी कि कोई नौका-गीत गाऊँ। मैंने सुदामा-चरित्र गाया और महाराज ने उसी को प्रत्यक्ष चित्रित कर दिया। कृष्ण रात-भर में सुदामा के भवन की रचना करने की शक्ति रखते थे; अतः उन्होंने जो एक रात्रि मे किया था, वह हमारे महाराज को करने में छः महीने लग गए। इसीलिए बार-बार मेरे आज्ञा माँगने पर भी उन्होने मुझे आने नहीं दिया।

कल्याणी (प्रसन्नता से) : ऐसा ! तो इसीलिए आपको उन्होंने उसी प्रकार विदा भी किया जैसे कृष्ण ने सुदामा को किया था। (कुछ रुककर) अच्छा अब चलिये भीतर, और विदा कीजिये इस दरिद्र वेश को।

[रामपुरम् सिर झुका कर कुछ सोचने लगता है। कुछ देर निस्तब्धता]

इङ्गिचिरि : क्या सोच रहे हैं, नाथ ! आपकी बहन ने मुझे भी अपने घर से बुलाकर आपके घर मे रख लिया है और आप अपने घर मे जाने पर ही विचार कर रहे हैं।

कल्याणी : हाँ, चलो, चलो सोच क्या रहे हो ?

रामपुरम् (गम्भीरता से विचारते हुए) : मै सोच रहा हूँ कि महाराज ने तो वह किया जो उनके योग्य था, पर यह नया जीवन क्या मेरे योग्य होगा। मै दरिद्रता की विपत्ति से अवश्य ग्रसित रहा हूँ, पर अब पाप से तो न ग्रस जाऊँगा ? जब धन, ऐश्वर्य नहीं रहता, तब कष्ट ही रहता है, पर जकडन नहीं। ये वस्तुएं जकड़ कर कवि की स्वतन्त्रता को नष्ट तो न कर देंगी। जिसकी ऐहिक कामनाएं पूर्ण की जाती हैं वह कामना पूर्ण करने वाले का अनुगृहीत रहता है, पर तनाधिप आत्मा की विचित्र स्थिति है; वह तन की कामनाएं पूर्ण होने पर उससे उलटा विमुख हो जाता है। मुझे इस समय केवल एक बात स्मरण आ रही है। एक राजा ने एक साहित्यिक से पूछा, तुम मेरी कब याद करते हो ? उसने उत्तर दिया, जब सरस्वती को भूल जाता हूँ, तब।

कल्याणी : चलो, चलो, आप तो भीतर चलो। इन बातों को फिर सोचेंगे।

इङ्गिचिरि : हाँ ! हाँ !

[रामपुरम् का एक हाथ कल्याणी और दूसरा हाथ इङ्गिचिरि पकड़ कर उसे भीतर ले जाती हैं। वह अनमना-सा भवन मे प्रवेश करता है। बालन और कृष्णन पीछे-पीछे जाते हैं। प्रवेश करते-करते रामपुरम् के मुख से एक कविता की एक पंक्ति निकल जाती है।]

रामपुरम् : स्वर्ण-शृंखलाओं मे कैसे बाँध सकूँगा अपना जीवन ![1]

(यवनिका)

१ इस नाटक के गीत हिन्दी-कवयित्री शान्ति सिंहल ने विशेष रूप से लिखने की कृपा की है। (लेखक)

विश्वामित्री
(ध्व नि - ना ट क)

चन्द्रवदन मेहता

जलतरंग में सा रे गा मा पा धा नी सा

नदी : कितना सुन्दर प्रदेश है। अरे उठो, उठो, हाँ, हाँ, पत्ती बेचारे उड़ गए। आकाश में घूमते हुए मेरे सामने तिरस्कार की वर्षा करने वाले यह पंखों की फड़फड़ाहट क्यों कर रहे हो? ग्रीष्म में धूप से व्याकुल होकर जब तुम्हारा गला सूखेगा, तब अपना कंठ शीतल करने के लिए तो मेरे पास ही आओगे न? नहीं तरुवर, इस तरह मत काँपो। लो मैं तुम्हारी प्रदक्षिणा करके जा रही हूँ। मैं कोई गंगा नहीं और न पहले-जैसी विशाल-हृदया ब्रह्मदेश की पद्मा नदी। मैं तो छोटी-सी सरिता हूँ। स र र करके बहती हूँ। और सरिता भी नहीं। ओ माँ, यह तो कोई राक्षस को भी भ्रम में डालने वाली एक ऐसी भयंकर शिला है। अब मैं आगे कैसे बहूँ? मानो कोई सामने चट्टान आ गई हो। हे भगवान्, कैसे मैं इसकी प्रदक्षिणा करूँ?

विश्वामित्र : बस, तू यहीं ठहर जा बाले!

नदी : कोई बोला! तुम कौन हो? कौन बोला? नहीं, कदाचित् एकान्त में मुझे भ्रम हो रहा है। नहीं तो यहाँ इस निर्जन स्थल में कौन आता! किन्तु अब मैं आगे कैसे जाऊंगी? मेरा तो मार्ग रुद्ध प्रतीत होता है। इस चट्टान को फोड़ने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। हे भगवान्, न जाने मैं इस मार्ग से क्यों आई?

विश्वामित्र : वत्से, मनोबल हो तो इस चट्टान को पार कर जा! तेरे प्रवाह से पर्वत भी काँप उठेंगे।

नदी : फिर यह प्रतिध्वनि! यह यहाँ कौन है मुझ अकेली को ऐसा कहने वाला?

विश्वामित्र : मेरे पीछे-पीछे बहती आ!

नदी : किन्तु कहाँ आऊँ? तुम हो कौन? मैं तो यहाँ किसी को भी नहीं देख पाती। मुझे क्यों भयभीत कर रहे हो? डरा रहे हो!

विश्वामित्र : तुझे आगे कहाँ जाना है?

नदी : हैं? क्या फिर? जहाँ नदी मिले वहाँ! मैं तो अपने सागर को खोजने निकली हूँ।

विश्वामित्र : किन्तु बिना पन्थ परखे कन्त को ढूँढ़ने निकली है !

नदी : कन्त की बात तो नहीं जानती, किन्तु अन्त में सागर से भेंट होगी ही। ऐसा पूरा विश्वास है। इसीलिए तो निकली हूँ।

विश्वामित्र : बिना मार्ग-विचार किये, अनायास, इस प्रकार ?

नदी : मुझे मेरा अभीष्ट वर प्राप्त होगा, ऐसी मुझे दृढ़ श्रद्धा है। और यही मेरा आकर्षक आश्वासन है।

विश्वामित्र : और तुझे यदि तेरा सागर-वर नहीं मिले तो क्या कुमारी रहेगी ?

नदी : मैं कुमारी क्यों रहूँगी ? सरस्वती को कुमारी रहने की इच्छा थी और वह मरुभूमि में कहीं जाकर लुप्त हो गई और जाने धरती में समा गई या स्वर्ग में उड़ गई। किन्तु पण्डितों को इस सारी पृथ्वी को खोज-खोजकर निश्वास छोड़ते मैंने सुना है—'अत्र लुप्ता सरस्वती।'

विश्वामित्र : बाले, तू है तो छोटी, किन्तु विदुषी दिखाई देती है।

नदी : इस विद्वत्ता का क्या करूँ ? देखो न, साहसी की भी हिम्मत तोड़ दे, ऐसी यह चट्टान मेरा मार्ग रोके खड़ी है ! और तुम कैसे हो ? तुमने मेरे हृदय की बात जान ली है। पर यह तो बताया ही नहीं कि तुम हो कौन ? कहाँ हो, किस जगह से बोल रहे हो ? अथवा अगोचर रहकर मुझे धोखा दे रहे हो ! अब मैं कहाँ जाऊँ ? सामने इस खड़ी शिला को लाँघने के लिए तो मैं व्याकुल हूँ। अरे मुझे तो बड़ी घबराहट हो रही है ! हे भगवान् ! ओफ़ !

[अन्तिम दो वाक्यों के साथ धीमी-धीमी जलतरंग बजती है—नी सा...नी सा...

[धा न सा...।]

नदी : ओफ़ यह क्या ? अनायास सहसा चट्टान फट गई और मेरा मार्ग खुल गया। धन्य विधाता ! कितना रम्य और विशाल धरातल का प्रदेश है। क्या मैं खेलती-कूदती दौड़ती रहूँ ? अरे यह चट्टान आनन्द के वेग में दो भागों में बट गई है। बड़ा अनुग्रह हुआ ! तो क्या पीछे लौटकर धन्यवाद दूँ ?

विश्वामित्र : नहीं, मेरे साथ-साथ चलती रह !

नदी : किन्तु तुम हो कौन ? इस तरह छिपकर मुझसे क्यों बातें कर रहे हो ! मुझे दर्शन तो दो !

विश्वामित्र : बाले !

नदी : ओह ! ओह ! तुम...आप...मैं आपको प्रणाम करती हूँ।

विश्वामित्र : चिरंजीवी हो वत्से ?............

नदी : आपके आशीर्वाद से बहुत आनन्द हुआ भगवन् ! और दर्शन करके तो और भी अधिक ! किन्तु अकेली चिरंजीवी होकर मैं क्या करूँ ?

विश्वामित्र : तेरा सौभाग्य फलदायी होगा, बाले !

नदी : कृतार्थ हुई, महापुरुष ! आपका दर्शन करके मुझे बड़ा आनन्द हुआ, किन्तु आप इस तट-प्रदेश में.........

विश्वामित्र : ओहो, तो तू मुझे पहचान गई !

नदी : गाधिपुत्र कौशिक की पराक्रम-कथाएं तो मैंने भारतवर्ष में असंख्य जिह्वाओं से सुनी हैं। जिनके नाम-मात्र से देवता कांप उठते हैं, उन महर्षि विश्वामित्र को कौन नहीं जानता ?

विश्वामित्र : बाले तेरा कल्याण हो !

नदी : कदाचित् आपकी कृपा ही से तो इस चट्टान ने मेरे लिए मार्ग बना दिया है ! महाभाग ! तपोधन ! आपका......

विश्वामित्र : तो क्या तुमने अपना मार्ग निश्चय कर लिया है ?

नदी : न.........हीं.........कैसे करती.........अभी तो धरती की गोद में घूम रही हूँ। यहाँ अप्रत्याशित रूप से मैंने आपका आदेश सुना।

विश्वामित्र : और तुझे ज़रा भी भय नहीं लगा।

नदी : नहीं ! मुझे तो ऐसा लगा मानो आपके आदेश में दूर से मेरा कोई आत्मीय ही मुझे बुला रहा है। और आपके वचन सुनकर तो मैं पुलकित हो उठी हूँ। आपकी आज्ञानुसार ही तो मैं बहने लगी हूँ।

विश्वामित्र : हूँ।

नदी : मैं इतना जानती हूँ कि साभ्रमती तो इसी दिशा में बह रही थी, सूर्यपुत्री ताप्ती भी, और प्रातःस्मरणीय नर्मदा की कथा तो प्रख्यात ही है। किन्तु मुझे महासागर का भय था।

विश्वामित्र : क्यों ?

नदी : कौन जाने ? मन में ऐसी आशंका होती थी कि इसके समीप जाऊँगी तो यह मुझे अपने आवेश में दबोच लेगा। इसलिए अकेली ही मैं इस तरफ आई हूँ और आप मिल गए। और इस तरफ फिर......

विश्वामित्र : ह......ह......ह......

नदी : हृदय में इच्छाएं तो बहुत थीं कि प्रभास-तीर्थ में जाकर भगवान् सोमनाथ के दर्शन करूँ अथवा सीधी दक्षिण-दिशा में जाकर कन्याकुमारी से मिलूँ। और.........और व्यास तीर्थ को तो माता नर्मदा ने स्वयं ही पवित्र किया है। हाँ भगवान् भृगु और मुनीन्द्र मार्कण्डेय के आश्रम में जा प्रणाम करके धन्य होना तो मेरे भाग्य में कहाँ लिखा है ?

विश्वामित्र : प्रतीत होता है कि बालकपन में शुद्ध संस्कारों द्वारा तूने विद्या प्राप्त की है।

नदी : सच पूछो तो यह आपका ही प्रताप है। मैं जानती हूं कि मैं बहुत छोटी-सी हूँ। मेरा वित्त ही कितना है ? पतित पावनी गंगा-जैसा मेरा भाग्य कैसे हो सकता है कि कोई भगीरथ आकर मुझे अपने साथ ले चलता।

विश्वामित्र : ह......ह......ह...... ऐसी वस्तु का संताप नहीं करना चाहिए।

नदी : नहीं...नहीं, संताप मैं क्यों करूँ और आप-जैसे महर्षि के निकट ? किन्तु आप इस गुर्जर देश में कहाँ ? यह तो आपने बताया ही नहीं।

विश्वामित्र : विचार तो भृगु के आश्रम की परिक्रमा करके व्यास तीर्थ जा पहुँचने का था; किन्तु मार्ग में तुझे बहता जान कर मैं इधर आ गया। और फिर लाट प्रदेश की कीर्ति क्या साधारण है ?

नदी : हां, मुझे किसी ने बतलाया था कि कितने ही पवित्र तीर्थ और कितने ही आश्रम यहां हैं। कोई कह रहा था कि वर देने वाली, शान्ति देने वाली, और मोक्ष देने वाली भूमि तो यहीं है।

विश्वामित्र : हाँ, थी अवश्य, किन्तु भावी की बात कौन जान सकता है ? देखो जरा घड़ी-भर के लिए ठहरो; मैं......

नदी : हां, यह तो सचमुच ही अद्‌भुत है। यह सचमुच ही बड़ा अद्‌भुत है। इतनी ही देर में यह न जाने कहाँ लुप्त हो गए। मैं कितनी निश्चिन्त थी और वे चले गए। इन तपस्वियों का क्या ठिकाना। आये और लोप हो गए ! तो क्या मैं आगे बढ़ूं ? ओ भगवान् ?

× × × ×

शूद्री : देवी-जैसी दीख रही हो किन्तु आंखें मींच कर किसका ध्यान किया जा रहा है ?

नदी : हैं......कौन ? तूने उसे देखा है ?

शूद्री : किसको ? मैं तो तुम्हें देख रही हूं। तुम्हारा नाम !

नदी : मेरा नाम ? सच कहूं मेरा कोई नाम नहीं है। और मुझे नाम की आवश्यकता ही क्या है। पर कह तो, क्या तूने उन्हें देखा है ?

शूद्री : मैंने तो किसी को नहीं देखा। तुम्हें ही दूर से आते देख कर तुम्हारे पास भीख माँगने आई हूं।

नदी : भीख ? मेरे पास देने के लिए तो कोई वस्तु है नहीं !

शूद्री : नही, बहुत है, दोगी ?

नदी : पर तुम हो कौन ? यह तो बतलाओ। देने योग्य कोई वस्तु होगी तो जरूर दूँगी।

शूद्री : तो पहले तुम किसका ध्यान कर रही थीं ? क्या यह नहीं बतलाओगी ?

नदी : मैं तो किसी का ध्यान नहीं कर रही हूं। किन्तु एकाएक वे अन्तर्धान हो गए, इसी रहस्य की उधेड़-बुन में व्यस्त थी।

शूद्री: वह कौन ?

नदी : कुश-वंशोत्पन्न महातपस्वी गाधि-पुत्र विश्वामित्र !

शूद्री : महर्षि विश्वामित्र ? क्या वे यहाँ थे ?

नदी : हाँ, वही तो मुझे यहाँ तक लाये। फिर न जाने वे कहां लोप हो गए।

शूद्रीः कल्याणी कितना शुभ समाचार तुमने मुझे दिया है। मैं हूँ सूर्यवंशी इक्ष्वाकु-कुलोत्पन्न निबन्धन राजा के पुत्र सत्यव्रत की धर्मपत्नी। दैववशात् मेरे पति ने ब्रह्मर्षि वशिष्ठ

की गाय एक दिन भूल में मार दी। और इससे उन्हें अभिशाप लगा।

नदी : यह तू क्या कह रही है ? क्या सचमुच ?

शूद्री : देश में अकाल पड़ा हुआ था। महर्षि विश्वामित्र तप करने गये हुए थे। उनकी पत्नी और पुत्र हमारे आश्रम में थे। हमने कठिन समय में उनका निर्वाह किया और इसी काम में यह भूल हो गई।

नदी : तो वह शाप क्या था ?

शूद्री : कि मेरा पति सत्यव्रत यहीं वन में चाण्डाल बन कर रहेगा ? सब लोग उसे त्रिशंकु कह कर सम्बोधित करते हैं।

नदी : हे भगवान् !

शूद्री : देवि, मेरी कथा अभी अधूरी है। राजपुत्र सत्यव्रत ने पीछे तप किया, यज्ञ किए। किन्तु चाण्डाल कर्म-कांड नहीं कर सकता, ऐसा कह कर ब्राह्मणों ने उनको अत्यन्त कुरूप और कृष्णवर्ण बना दिया। और अब उनका रूप पिशाच से भी भयंकर हो गया है।

नदी : और तू उनके पास रह कर उनकी सेवा कर रही है ?

शूद्री : आर्य स्त्री के यथार्थ धर्म का पालन कर रही हूँ। फिर वे चांडाल, हम शूद्र, हमको यज्ञ-कार्य करने का अधिकार ही कहाँ है देवि ! आपके पवित्र जल को मस्तक पर चढ़ाकर...आपके चरणों में.........

नदी : नहीं, नहीं......तू धीरज रख। क्या महर्षि विश्वामित्र इस कथा से परिचित हैं ?

शूद्री : मैं तो कुछ नहीं जानती, पर ऐसे महाज्ञानी इस बात से अजान भी कैसे रह सकते हैं ?

नदी : होगा। परन्तु वह कैसे हो ? अभी तो यहीं थे और अब अन्तर्धान हो गए। तू दुखी है, वे अवश्य तेरा कल्याण करेंगे।

शूद्री : यह देखो देवि, तुम यहाँ आईं और इतने में ही यह दूर्वांकुर फिर से निकल आये, नहीं तो यज्ञ-भूमि मरु-भूमि के समान पड़ी थी। कोई हमारे पास नहीं ठहरता था। कोइ भी हमें कर्म काण्ड नहीं कराता था। अरे, हम तो कर्म से चाण्डाल हुए थे। जो जन्म से चाण्डाल होंगे उनकी क्या गति होगी ? ओफ !!

नदी : शान्त हो बहन ! शान्त हो ! अरे यह कैसा चमत्कार है ?

शूद्री : हाँ, हाँ, धरती हरी-भरी हो रही है। वृक्षों में कोंपलें आ रही हैं।

नदी : दूर महर्षि दिखलाई देते हैं ! कितने सुन्दर दीख पड़ते हैं ! तू मेरे साथ आगे चल !

[पहले जलतरंग की एक सरस गत पीछे धीरे-धीरे यज्ञ के मन्त्रों का उच्चारण]

यज्ञकर्ता : (मन में) : ॐ प्रजापतये स्वाहा ! ॐ इन्द्राय स्वाहा।
ॐ अग्नये स्वाहा ! ॐ सोमाय स्वाहा।

विश्वामित्र : मैं कौशिक गाधिपुत्र हूँ। अपने सौ वर्ष के तपोबल से स्वर्गाधिपति इन्द्र को इस पृथ्वी पर अपने साथ वाद-विवाद करने के लिए आह्वान कर रहा हूँ।

यज्ञकर्ता : भो इन्द्र ! इहागच्छ, इह तिष्ठ ओं......

विश्वामित्र : अहम् ब्रह्मास्मि ! मैं कौशिक, गाधिपुत्र, विश्वामित्र हूँ। द्यौ और पृथ्वी के बीच में, विस्तीर्ण आकाश में दिशा-काल के भेदन करने का संकल्प कर रहा हूँ। और देवाधिदेव इन्द्र को आकाशवाणी द्वारा संवाद में अनुकूल होने के लिए आवाहन कर रहा हूँ।

यज्ञकर्ता : इन्द्रम् आवाहयामि.. ...

विश्वामित्र : मैं सोमवंशी पुरूरवा का पुत्र, विजय-कुल के कुशिक राजा का प्रपौत्र और कुशाम्ब राजा का पौत्र तथा गाधिराज का पुत्र विश्वामित्र अपने तपोबल के सामर्थ्य से देवाधि-देव इन्द्र का आह्वान कर रहा हूँ।

इन्द्र : विश्वामित्र ! मिथ्या साहस करने का कोई प्रयोजन नहीं है। राजा सत्यव्रत त्रिशंकु को उसके ही कर्म से चांडाल पद मिला है। चांडाल स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता। व्यर्थ का प्रयत्न मत करो, विश्वामित्र !

त्रिशंकु : महर्षि विश्वामित्र, अपने कर्म का फल मैं भोग चुका हूँ। अपने पापों का मैंने प्रायश्चित्त कर लिया है और कष्टसाध्य महायज्ञ करने का मैं प्रयत्न कर रहा हूँ। किन्तु कोई ब्राह्मण मुझे कर्म-काण्ड में सहायता देने के लिए उद्यत नहीं है। मेरे यज्ञ में पुरोहित-पद को कोई स्वीकार नहीं कर रहा है।

इन्द्र : विश्वामित्र, चांडाल को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। व्यर्थ ही तुम इस ममत्व का पोषण मत करो।

त्रिशंकु : प्रभु, महर्षि विश्वामित्र, चाण्डाल के अतिरिक्त सब कोई जीवन्मुक्त हो सकते हैं, किन्तु मैं हूँ शापित चाण्डाल ! इस जन्म में मेरी किसी भी उपाय से मुक्ति नहीं है।

विश्वामित्र : मघवा, देवाधिदेव इन्द्र ! यह न्याय नहीं है अन्याय है। स्वर्ग की लक्ष्मी, स्वर्ग की समृद्धि, स्वर्ग का ऐश्वर्य सब-कुछ मनुष्य के लिए ही साध्य होना चाहिए और साध्य है।

इन्द्र : स्वर्ग के यम-नियमों की चर्चा करना तुम मनुष्यों को उचित नहीं है विश्वा-मित्र ! इस त्रिशंकु की अभिलाषा ममत्वपूर्ण है। इसको पुष्ट करना व्यर्थ है।

त्रिशंकु : महर्षि, मैंने सौ-सौ यज्ञ किए हैं। मैंने अनेक प्रकार की प्रायश्चित्त-विधि समाप्त की है। मैंने वर्षों तक भिन्न-भिन्न प्रकार से तप किए हैं। क्या इनके किसी फल का मुझे कोई अधिकार नहीं है। क्या संचित और सत्कर्मों का कोई भी शुभ फल नहीं है ?

विश्वामित्र : शचीपति महेन्द्र ! चाण्डाल की गति पाने वाले इस व्यक्ति के सर्व-संचित फल के आधार पर मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि इसको स्वर्ग मे प्रवेश करने की अनुमति दीजिए।

इन्द्र : विश्वामित्र, यह नहीं हो सकता। और उस पर यह चाण्डाल त्रिशंकु सदेह

स्वर्ग का सुख भोगे ? देह तो नाशवान् है, यह तो आप-जैसे विद्वान् जानते ही हैं। स्वर्ग में सदेह निवास करना एकदम अशक्य, असम्भव और अकल्पनीय है। हाँ, तो आप यह दुराग्रह त्याग दें। मैं इस सम्बन्ध में और कोई बातचीत नहीं करना चाहता।

विश्वामित्र : मघवा, देवेन्द्र, महेन्द्र, स्वर्गाधिपति इन्द्र !

[इन्द्र की प्रतिध्वनि और तिरस्कारयुक्त हास्य दूर से सुनाई दे रहा है

शूद्री : यह भव्य मूर्ति ! महर्षि विश्वामित्र !

नदी : हाँ, तू ज़रा शान्त रह।

शूद्री : इनका दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गई। चिरकाल से इनकी प्रतीक्षा थी। जाऊँ इनके चरणों में सिर रख दूँ।

नदी : नहीं, अभी नहीं। प्रसन्नचित्त ये यहीं तुझे आशीर्वाद देंगे।

किन्तु अभी शान्त रह ! महर्षि गम्भीर मनोमन्थन में मग्न हैं। ज्ञात होता है इन्द्र ने इनका अपमान किया है।

शूद्री : कितना सुन्दर भव्य रूप है। कितनी दिव्य कान्ति। सचमुच तप का प्रभाव अद्भुत है !

नदी : और इससे भी अधिक है इनका मनोबल। किस प्रकार मेरे समीप से क्षण-भर में यहाँ आकर शूद्र को सहायता देने के लिए तत्पर हो गए हैं। ऐसा मालूम होता है अन्तर और काल इन दोनों पर इन्होंने विजय प्राप्त कर ली है।

शूद्री : किसी भी मुनि का ऐसा प्रचण्ड रूप तो मैंने कभी नहीं देखा था। क्या कोई भयंकर घटना होने वाली है ?

नदी : तू अभी शान्त रह ! और देख महर्षि की चिन्तन-समाधि आलस्य को मरोड़-कर प्रज्ज्वलित होती हुई मुझे दिखाई दे रही है !

विश्वामित्र : वत्से !

नदी : क्या आपने मुझे बुलाया महाभाग !

विश्वामित्र : सरिता पवित्र और निर्मल जल से बहती चल ! मलिन और नीरस इस भूमि को फिर स्वच्छ, पवित्र और संजीवनमय कर दे। फल, वृक्ष और फूलों से सुवासित कर दे। नाना प्रकार की मंजरियों से भूषित कर और उदार हृदय के पुरुषों से युक्त कर दे।

नदी : जो आज्ञा।

विश्वामित्र : राजा त्रिशंकु, स्रुवा ले आओ ! तुम्हारा यज्ञ कार्य करने के लिए कोई तत्पर नहीं है तो चिन्ता मत करो ! मैं तुम्हारा अध्वर्यु बनूँगा। ऋत्विजो यज्ञ के ईंधन को जला दो ! घृत रखो और यज्ञ-कार्य प्रारम्भ करो !

यज्ञकर्ता : ओं भूः स्वाहा। ओं भुवः स्वाहा। ओं स्वः स्वाहा। ओं भूर्भुवः स्वः स्वाहा।

विश्वामित्र : मैं विश्वामित्र हूँ। सब ऋषियों को इस यज्ञ-कार्य में उपस्थित होने के

लिए निमन्त्रित करता हूँ। यज्ञ-भाग का आमन्त्रण स्वीकार करो! आओ ऋषिवरो, तपोधन! आओ!

एक आवाज़ : यज्ञ करने वाला शूद्र है। यज्ञ कराने वाला क्षत्रिय! देवता यज्ञ-भाग स्वीकार नहीं करेंगे। ब्राह्मणो, वहाँ मत जाओ! इस यज्ञ से त्रिशंकु स्वर्ग में कभी नहीं जा सकता!

एक आवाज़ : मतिभ्रष्ट विश्वामित्र! ब्राह्मण के अतिरिक्त कोई यज्ञ नहीं करा सकता! इस नियम को तुम भंग कर रहे हो!

विश्वामित्र : ऋषिवरो, जन्म दैवाधीन है! किन्तु पौरुष मेरे अधीन है! शूद्र भी यदि संकल्प करता है तो ब्रह्म को पा सकता है! मैं अपने पौरुष से अशक्य को शक्य बना दूँगा। ऋत्विजो, मंत्र-कार्य आरम्भ करो!

यज्ञकर्ता : ओं अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

विश्वामित्र : मैं कौशिक गाधिपुत्र विश्वामित्र हूँ। अन्य ऋषि-मुनियों के उपस्थित न होने पर भी अपने तप के बल से त्रिशंकु को स्वर्ग में भेजने का संकल्प करता हूँ!

यज्ञकर्ता : असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा!

विश्वामित्र : जो भी विशुद्ध मन से नित्य-प्रति अपनी पवित्र आत्मा और चित्त में ब्रह्म का ध्यान करता है, वह उसका फल शीघ्र ही प्राप्त करता है।

यज्ञकर्ता : ओं तपसे स्वाहा!

विश्वामित्र : सुनो ये त्रिशंकु तप के बल से स्वर्ग जा रहा है—लो इन्द्र भी हाथ जोड़ कर क्षमा माँग रहे हैं।

नदीः आँख मींच कर क्यों खड़ी है? महर्षि के तपोबल का सामर्थ्य देख!!

[त्रिशंकु का स्वर्ग के प्रति प्रयाण]

शूद्री : ओ भगवान् अब? .....

इन्द्र : हे विश्वामित्र, तुम महागर्हित कार्य कर रहे हो जो अधम को स्वर्ग भेज रहे हो। चण्डाल! तू ऊपर आ रहा है। हट, नीचे जा!

शूद्री : ओ मा! यह तो आकाश में उलटा होकर पीछे लौट रहा है! अब क्या होगा?

नदी : शान्त रह! तूने अभी विश्वामित्र के तप का प्रभाव नहीं देखा। देख तो सही इनकी तेजस्वी मुद्रा और इनका भव्य रुद्रस्वरूप! ज्ञात होता है शिव अपना तीसरा नेत्र खोल रहे हैं।

त्रिशंकु : मेरी रक्षा करो महर्षि, मेरा उद्धार करो, मेरी रक्षा करो, हे प्रभो!

विश्वामित्र : हे देवाधिदेव इन्द्र! गर्व छोड़ कर इसे स्वीकार करो।

इन्द्र : हे क्रोधी मुनि! यह कभी सम्भव नहीं होगा। यह हठ छोड़ दो।

विश्वामित्र : हे देवाधिदेव इन्द्र! यह बात ठीक नहीं।

इन्द्र : विश्वामित्र! यह अनाचार न करो।

विश्वामित्र : हे इन्द्र! मैं इस उन्मादिनी वाणी के झाँसे में नहीं आने का।

इन्द्र : हे विश्वामित्र ! गर्व तजो। मोह तो नाश का कारण होगा।

विश्वामित्र : स्वर्ग अस्पृश्य कैसे ? वहाँ प्रवेश-निषिद्ध क्यों ?

इन्द्र : जहाँ सूर्य-जैसे देवता वास करते हैं वहाँ सबका प्रवेश कैसे सम्भव है ? स्वच्छ नीर में धूलि कहाँ से आ सकती है ? स्वर्ण में लोह का प्रवेश कैसे होगा भला ? हिममण्डित गिरि-शृंगों में काली शिलाओं का क्या काम ?

विश्वामित्र : ऊपर जाओ, राजन् !

इन्द्र : रुको, व्योम में मत आओ !

विश्वामित्र : नहीं, तुम देव मार्ग से चलो।

इन्द्र : भ्रष्ट हो जाओ ! तुम अभी नीचे गिर जाओ !

विश्वामित्र : नहीं, तुम ऊपर जाओ।

इन्द्र : नहीं, नहीं—नीचे !

विश्वामित्र : ऊपर—और ऊपर, राजन् !

इन्द्र : गिरो—सिर के बल नीचे गिरो !

यज्ञकर्ता : ॐ अग्नये स्वाहा !

विश्वामित्र : निर्मल मन से ब्रह्म का ध्यान करने वाला फल प्राप्त करता है। एकाग्र चित्त से तप करता है, उसका मन दृढ़ हो जाता है।

यज्ञकर्ता : ब्रह्मणे स्वाहा।

विश्वामित्र : मैं नये पंचभूतों के द्वारा नई ही सृष्टि रचूँगा।

यज्ञकर्ता : ॐ पृथिव्यै स्वाहा।

विश्वामित्र : हे सप्तर्षि ध्रुव मण्डल; तुम सभी समुद्भव हो।
हे तारक मण्डल ! हे नक्षत्र-ग्रह-मण्डल !

यज्ञकर्ता : ॐ अन्तरिक्षाय स्वाहा। ॐ अग्नये स्वाहा।

विश्वामित्र : हे नूतन स्वर्ग ! समुद्भव हो जाओ हे वर्गहीन ! नूतन विश्व ! मैं नये इन्द्र की और नई सृष्टि की रचना करूँगा और एक नया ही युग ले आऊँगा।

इन्द्र : हे मुनिश्रेष्ठ रोको, रोको। हे महाबल ! रोको !
त्रिशंकु को स्वर्ग में स्थान मिलेगा। तुम्हारा तपोबल प्रमाणित है।

विश्वामित्र : पंच तत्त्व से निर्मित शरीरधारी न ऊँचा होता है, न नीच !
त्रिशंकु के साथ उसकी पत्नी भी स्वर्ग जायगी।

इन्द्र : हे मुनि ! सारे देवता तुम्हारी कोपाग्नि से कांप उठे हैं।

नदी : ले जा, तैयार हो, राजा त्रिशंकु के साथ तेरे सब कर्मों का फल मिला और शूद्र का कलंक मिट गया।

शूद्री : कितना चमत्कार है। ये तो अब पहले-जैसे तेजस्वी और सुन्दर दीखने लगे। अब मैं जाकर महर्षि के चरण स्पर्श करती हूँ !

नदी : पगली, वह तो यहीं आ रहे हैं। देख न!

विश्वामित्र : तुम्हारा कल्याण हो! मेरा नया स्वर्ग वैसा ही अचल है। मेरे रचे हुए नक्षत्र वैसे ही अविनाशी हैं। ब्रह्मा के रचे हुए ज्योतिष-चक्र के मार्ग से बाहर आकाश में स्थिर रहेंगे। तू दिव्य देह धारण करके देवता के सामान अमर रहेगा। जा, तेरा कल्याण हो।

यज्ञकर्ता : ॐ पूर्णादर्विपरापत सुपूर्णापुनरापत वस्नेवव्वीक्रीणावहा इषमूर्जंग्वं शतक्रतो स्वाहा।

(जलतरंग की गत बजती है)

नदी : कितना धन्य है जीवन!

विश्वामित्र : किसका?

नदी : दोनों का, शूद्र त्रिशंकु ने आपकी कृपा से स्वर्ग पाया और आपने अपना जीवन ओज से पूर्ण कर लिया।

विश्वामित्र : और तेरा नहीं?

नदी : हां, सचमुच मेरा भी, गंगा को भगीरथ मिले और उसने दौड़ कर उनके पितरों को तार दिया। किन्तु मेरे नेता तो विश्वामित्र ही हैं, जिन्होंने सदा के लिए शूद्रों को पार उतारा।

विश्वामित्र : तू जब तक सूर्य चन्द्रमा हैं तब तक बहती रहेगी। और तेरे द्वारा निकटवर्ती भूमि के शूद्रों का उद्धार होगा। शूद्र नीचों का भेद कलियुग में भी नहीं रहेगा।

नदी : महाराज, मुझ क्षुद्र को आपने कितना धन्य और चिरस्मरणीय बना दिया

विश्वामित्र : पुत्री!

नदी : आपने मुझे पुत्री कहा। यह मेरा अहोभाग्य है।

विश्वामित्र : हां, यहीं मेरा आश्रम था। यहाँ एक बार मेरी एक गाय सुरभि पास के गढ़े में गिर पड़ी और वह पाताल पहुँची। अनेक कष्ट उठाकर मैंने उसे बाहर निकाला।

नदी : कथा तो बड़ी सुन्दर लगती है।

विश्वामित्र : पृथ्वी के मानदण्ड के समान हिमालय के पास जा कर मैंने एक टुकड़ा मांगा। और पावकाचल से उस गढ़े को भर दिया।

नदी : किन्तु उस सुरभि का क्या हुआ?

विश्वामित्र : गाय न निकली, किन्तु वहाँ से सरिता के रूप में एक नदी निकली। मैंने देखा और मैं......

नदी : और तुम उसे यहाँ ले आए, तब तो पहली बात सच है। दुहिता और धेनु जहाँ भेज दो, वहीं जाती हैं। पितृसम विश्वामित्र मैं आपको प्रणाम करती हूँ।

विश्वामित्र : तेरा कल्याण हो वत्से! मैं तुझे लाया, किन्तु तुझे अच्छा नहीं लगा।

नदी : अच्छा तो लगा! आप कैसे हैं! इस प्रकार आपके आश्रम में मैं यहाँ आई और सागर के पास जाने लगी। आपने पुत्री कह कर मेरा उपकार किया। तो क्या मेरा नाम सुरभि है?

विश्वामित्र : नहीं। भगीरथ के साथ चलने पर गंगा जिस प्रकार भागीरथी, कहलाई उसी प्रकार तू मेरे आने के कारण विश्वामित्री के नाम से प्रसिद्ध होगी !

नदी : विश्वामित्र, सचमुच यह नाम मुझे प्रिय है !

विश्वामित्र : पुत्री विश्वामित्री, यह तेरा सागर वर है। किन्तु उसके पास जाने से पहले एक क्षण रुक जा, और मनोवांछित वर माँग ले !

नदी : क्या माँगू ? पाताल से पृथ्वी के उत्तरीय सागर की गोद तक मुझे सुसंस्कृत कर के, अमर बना कर आप यहाँ ले आये हैं। मेरे जीवन-प्रवाह को आपने धन्य कर दिया। पुत्री हूँ, तो क्या कुछ कहूँ !

विश्वामित्र : तेरा अधिकार है।

नदी : आपने शूद्र त्रिशंकु को स्वर्ग का सुख दिया। नई सृष्टि रचने का सामर्थ्य प्रत्यक्ष कर दिखाया। कठिन तप का सेवन किया तो आप ही नई सृष्टि के अधिष्ठाता बन जाइये न !

विश्वामित्र : वत्सले, मुझे स्वर्ग की आकांक्षा नहीं है, मैं तो मोक्ष की इच्छा रखता हूँ।

नदी : कितना रहस्यमय सत्य है। स्वर्णमय पात्र में इस प्रकार का सत्य ढका हुआ रहता है। भगवान् प्रणाम !

विश्वामित्र : तेरा मोक्ष इस सागर के साथ मंगलमय हो। यहाँ देखने के लिए मैं उत्सुक हूँ। तुझे आशीर्वाद देने के लिए यह ऋत्विज, होता, योगी और शूद्र इधर से दौड़े आ रहे हैं। इन्द्र और उसके अतिथिगण अन्तरिक्ष में उड़ते आ रहे हैं। तेरा कल्याण हो पुत्री विश्वामित्री !

नदी की ओर दौड़कर सब :

ॐ शतं भवति शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रिय आयुरेवेन्द्रियं वीर्यवान्ह्यन्धते।

[ध्वनि-विलोपन]

: ७ :

का व्य

१. अन्तर्प्रान्तीय

भविष्यद्रष्टा[1]

दिलीपकुमार राय

हमारी गहनतम आकांक्षाएं अदृश्य पड़ी रहती हैं
जैसे वृक्ष की मुख्य जड़ें दृश्यमान धरती में समाधिस्थ रहती हैं
चेतन-जगत् के प्रतिमा-पूजक—वे तो उत्सुक रहते हैं
भौतिक वस्तुओं के लिए—बस वे तो फूलों पर ही प्राण न्योछावर करते हैं।

पर उन वस्तुओं से विलग होकर, जिनकी उपेक्षा हमारी इन्द्रियाँ करेंगी,
सभी सौंदर्य-विभूतियों का द्रुत गति से अन्त नहीं हो जायगा
जो जीवन-रस से ही पोषित होती हैं ? निगूढ़ अन्तरतम को
अस्वीकार करते हुए कौन यह आशा करेगा

कि ज्ञान में अभिवृद्धि हो ?— सतर्कता द्वारा इतना तो जान लेना चाहिए
कि मानस की नन्हीं चिनगारियाँ अन्त में बुझ जाती हैं
(जिस प्रकार अत्यधिक परिश्रम द्वारा धुँधली आँख अन्धी हो जाती है)
और आनन्द के सूर्यमुखी पुष्प मुरझा जाते हैं और अन्धकार छा जाता है।

इस नास्तिक विज्ञान-युग में तुम्हारा जन्म हुआ, हे मित्र !
तुममें कल्पना-चित्र को आमन्त्रित करने का साहस था
हमारी दयनीय प्रकाश-थाती का अन्त हो गया—
यह सब हमारे तामसी विलास की ही कृपा है !

दुष्प्राप्य, सत्य और साहसी सूक्ष्मदृष्टि से सम्पन्न होकर तुमने झाँककर देखा
जीवन का आनन्द-विहीन मिथ्या-खेल—जहाँ खिलाड़ी सूर्य के स्वर्ण को
जुगनुओं के प्रकाश-विन्दु समझ बैठे थे जो असीम अंधकार में झिलमिलाते हैं।

---

१ अंग्रेज़ी से अनूदित

किसने तुम्हारा यह मूल्यांकन किया कि तुम केवल
बुद्धि के सुयोग्य पुत्र हो और वही देखते हो जिसे चरम चक्षु देख पाते हैं
गोधूलि-वेला का तुम्हारा ध्यान तो आने वाली उषा का स्वप्न था
आत्मा का खोया हुआ हृदयपद—आत्मा का पुनरागमन !

सृजन [1]

उमाशंकर जोशी

धरती थर्राती है, प्रखर वज्र के-से आघात से।
गगन का सूर्य विचलित हो गया क्या? अचल शृंग डोल रहे हैं।
कूर्म करवट बदल रहा है, अकाल समय ही क्या शेषनाग सरकने लगा?
धुआँ और अंधकार उगलने वाला महाप्रलय-वायु बहने लगा।
पुनः क्षितिजरेखा वहाँ प्रकट हुई—कैसी अग्निछटा?
निरन्तर धक्-धक् करती हुई प्रचण्ड अग्नि चमकने लगी
पीली और रक्तवरण ज्वालाजटा जिसकी प्रभा विद्युत्-सी है
स्फुटित होती है और उड़ती है
दिगन्त तक पर्वत अग्नि-रस उगलकर फेंक रहा है
समय बीत गया, वह अग्नि रस शान्त हुआ और ठिठुर गया
क्रमशः गगन की मेघधारा का अभिषेक प्राप्त करते
वह अग्नि-रस मृदुल मृत्तिका स्वरूप हो गया
और इसमें से सहसा फूट निकला
अहो नन्हा-सा सौम्य अंकुर, कली फूटी और खिली
फिर प्रफुल्ल दल पुष्प हँसने लगा
जैसे स्वयं ज्वालामुखी हँस पड़ी:
यही केवल मेरी आशा थी, अहा,
बस मैं बहुत सुखी हूँ।

१ गुजराती से अनूदित

मेघदूत[1]

अमृता प्रीतम

न मैं अलकापुरी में रहती हूँ
न मेरे महलों में चित्र हैं
इन्द्रधनुष-जैसे

न यहाँ फूलों से लदे मन्दार हैं
न सरोवर हैं
जिनकी हीरों से जड़ी हुई सीढ़ियां हों।

न यहाँ हंस हैं, न मानसरोवर
और न कोई सुनहरा कमल है
जिसके मृणाल नीलम-जड़े हों।

न चमेली है, न अशोक के फूल
न केसर के पौधे,
फिर भी एक विरहिणी यक्ष-प्रिया के समान ही
किसी यक्ष की बाट जोह रही है।

और चाहे यक्ष के समान
वनवासी होकर रामगिरि की ओर
मेरे साजन ने प्रस्थान नहीं किया—

पर फिर भी यक्ष के समान
मिलना और दर्शन करना

१ पंजाबी से अनूदित

उसकी पहुँच से दूर रहा !

और, ओ मेघ, तुम आज बैठ गए
मेरे वातायन में आकर
क्या यक्ष के समान ही भेजा है
उसने भी तुम्हें दूत बनाकर !
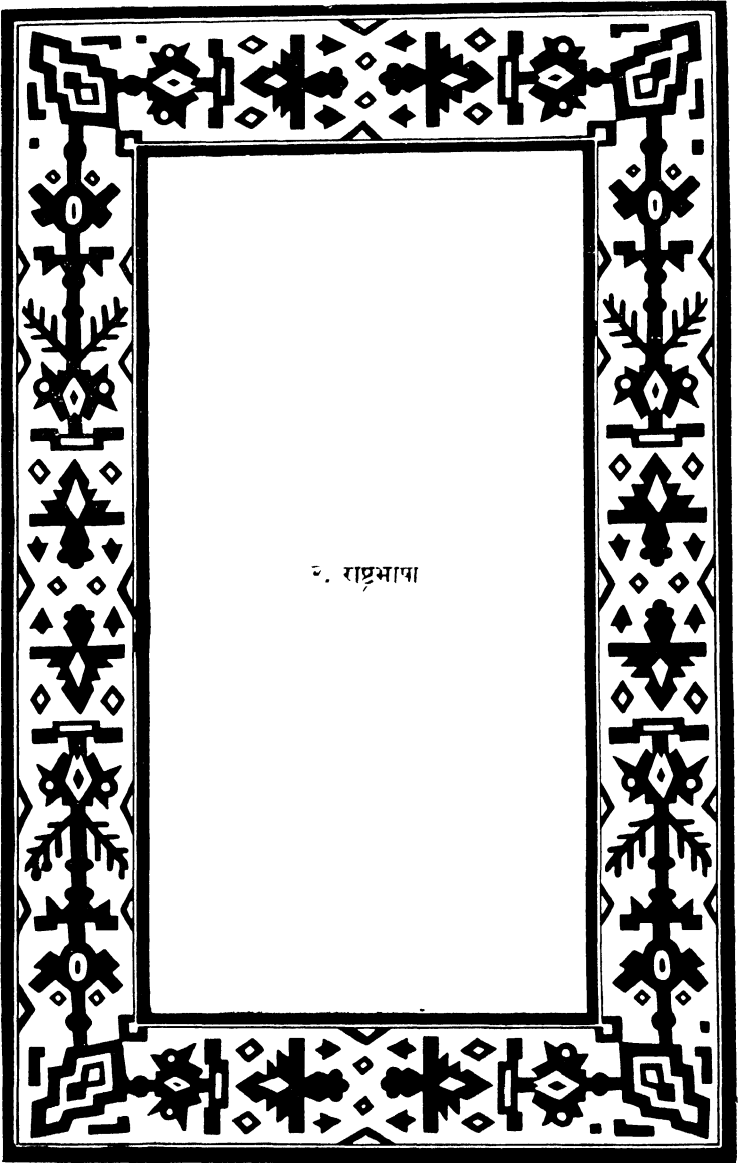
७. राष्ट्रभाषा

कलापट

मैथिलीशरण गुप्त

बैठो विविध विषय-निष्णात
आज कहानी ही होने दो,
लो, यह हूँका तात !

बुनो कलापट कथासूत्र से
कलित कल्पना कांत,
भंग करे सौ सुर-चापों को
रंगों की बरसात !

बजती रहे तुम्हारी वाणी
वीणा-सी विख्यात,
बने आप बीती-सी आहा !
परबीती भी बात !

जन्मे वन में दैत्य-भवन में
अमर सुधा अवदात,
स्वपुरुष उसके लिए प्रकृति के
झेले सब उत्पात !

खेले झड़ियों से घड़ियों तक
झर-झर झंझावात,
झुला जायं झकझोर हृदय को
घात और प्रतिघात ।

कटे उधर कृतियों का संकट,

इधर हमारी रात,
चौंक उठें हम देख स्वप्न-सा,
पावें नया प्रभात !

निर्माण-काल

सुमित्रानन्दन पन्त

लो, आज झरोखों से उड़कर
फिर देव दूत आते भीतर
सुरधनुओं के स्मित पंख खोल
नव स्वप्न उतरते जन भू पर !

रंग-रंग के छाया जलदों-सी
आभा-पंखड़ियाँ पड़तीं झर,
फिर मनोलहरियों पर तिरतीं
बिम्बित सुर-अप्सरियाँ निःस्वर !

यह रे भू का निर्माण-काल
हँसता नव जीवन अरुणोदय,
ले रही जन्म नव मानवता
अब खर्व मनुजता होती क्षय !

धू-धू कर जलता जीर्ण जगत
लिपटा ज्वाला में जन अंतर,
तम के पर्वत पर टूट रही
विद्युत प्रपात-सी ज्योति प्रखर !

संघर्षण पर कटु संघर्षण,
यह दैविक भौतिक भूकंपन,
उद्वेलित जन-मन का समुद्र,
युग रक्त-जिह्व करता नर्तन !

ढह रहे अन्ध विश्वास शृंग,
युग बदल रहा, यह ब्रह्म अहन् !
फिर शिखर चिरंतन रहे निखर
यह विश्व मंचरण रे नूतन !

बज रहे घंटियों-से तरुदल
छवि ज्वाल पल्लवित जग जीवन,
नव ज्योति चरण धर रहा सृजन
फिर पुष्प वृष्टि करते सुरगण !

अब स्वर्ण द्रवित रे अंतर्नभ
झरते नीरव शोभा निर्झर,
अवतरित हो रहीं सूक्ष्म शक्ति
फिर मौन गुंजरित उर अंबर !

बँधता प्रकाश तम-बाँहों में
सुर मानव तन करते धारण,
फिर लोक-चेतना रंगभूमि,
भूस्वर्ग कर रहे परिरंभण !

माला

श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर'

१

चुन-चुन कोमल कुसुम प्रेम से, मैंने मन में किया विचार
इनकी माला गूँथ चाव से पहनाऊँ प्रियतम को हार।
नवल निवाड़ो, मत्त मालती और जुही के कोमल फूल
कृष्ण-प्रिय कदम्ब के गुच्छे जो उपजें कालिंदी कूल।
शर्मीली गुलाब की कलियाँ थीं कितनी अनगिनत चुनीं।
फूलों की महरानी चम्पा इन सबकी सिरताज बनी।
सौरभ और स्वरूप के कारण जो-जो प्रिय के थे अनुरूप
उन्हें-उन्हें एकत्रित करके गूँथी माला परम अनूप।

२

मनोहारिणी माला मेरी कितने श्रम से हुई तयार!
यही खलबली मची हृदय में कब होगी प्रियतम का हार!
बड़े यत्न से रख छोड़ी है छिड़क अमोघ प्रेम का नीर,
कलीं अधखिलीं उठीं खिलखिला मेरा देख यत्न गम्भीर,
ये आशा के कुसुम! तुम्हारा बिन पाए दर्शन अनुराग
निश्चय ही कुम्हला जावेंगे गंधहीन हो छीन पराग।
कुम्हला जावेगी यह माला, होवेगी यह आभाहीन
अविवाहित-विधवा कन्या-सी हो जावेगी क्या यह दीन?

३

अविवाहित विधवा कन्या-सी, उस कन्या-सी जिसका मन
बिना विवाह, अनन्य भाव से प्रिय के चरन हुआ अपन।
जिसने कभी नहीं कर पाए प्रिय दर्शन से तृप्त नयन

जिसको अनुभव हुआ न कैसा होता प्रिय का आलिंगन।
भेद मृत्यु का जान न पाया जिसने सरल-हृदय कारन
जिसकी हृदय-कली मुर्झाई प्रेम-भानु के दर्शन बिन।
उसही ऐसी माला तेरी होगी श्रीवर! आभा-हीन
अविवाहित विधवा राधा-सी रह जावेगी हा! हा! दीन।

कौन गीत तुम आज लिखोगे

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

१

'कौन गीत तुम आज लिखोगे, मेरे कवि रसखान ?'
यों तुम पूछ उठे औचक-से, ओ मेरे मृदु प्राण,
फिर पूछा कि लिटाकर मुझको गोदी में यों आज,
कैसे लिख पाओगे बोलो, कवि मेरे सिरताज ?
सजन, तुम्हारे इन वचनों को सुनकर मैं चुपचाप,
बस, रह गया देखता ही तव मुख सौन्दर्य अमाप ।।

२

मैंने तव नयनों में निरखी अपनी जीवन साध,
मैंने तव श्रीमुख में परखा, निज अनुरक्ति अगाध,
प्राण, देखने दो तो फिर से ये निज लोचन लोल !
क्या भर लाए हो इनमें तुम, मेरे प्राण अमोल ?
अजी, लजाकर मत मूँदो निज स्वप्निल नयन, सुजान,
मुझे झाँक लेने दो इनकी गहराई में, प्राण ।।

३

मेरी जन्म-जन्म की स्मृतियाँ तव दृग रहीं विराज,
तव नयनों में एकत्रित है मेरा स्वप्न-समाज,
झलक रही है मम प्रपूर्णता इनमें अति निःशंक,
मम सर्वार्पण भी इनमें है, ओ मेरे अकलंक !
तुम मम प्राण, हृदय तुम मेरे, तुम मम श्वासोच्छ्वास,
तुम मम आराधना, साधना, तुम मेरे विश्वास !

४

सुनो कहाँ से ले आए हो यह मुख इतना शान्त,
इतना सुन्दर, सौम्य, मनोहर, बोलो मेरे कान्त,
यह मुख जिसके दर्शन हित मैं भटका देश-विदेश,
जिसे खोजते दृग में झांई पड़ी, अहो प्राणेश,
वह मुख, वह तव मधुर-मधुर मुख, लिये प्यार मनुहार,
प्रिय, आया है मम अधरों के निकट आज हिय हार ॥

५

क्यों पूछो हो, कौन गीत मैं आज लिखूँगा, प्राण,
जब मेरी कविता की रानी सम्मुख है मुदमान ?
क्या हैं मेरे गीत ? कहो तो, क्या मेरा रस राग ?
मेरा अभिव्यंजन तो है बस तव मुख-कमल-पराग !
मम गीतों का यही एक है केवल गायन भार,
कि हैं अनूठे मेरे साजन, अनुपम उनका प्यार !

तुम्हारी आरती

रामकुमार वर्मा

वन्दना के विनत नयनों में तुम्हारी आरती है।
ले तुम्हारा नाम बापू! धन्य मेरी भारती है॥

पहन सदियों की कठिन बेड़ी, समय जब चल रहा था;
हृदय में गहरा अँधेरा साँस बन कर पल रहा था,
दासता का शाप प्राणों को जला कर जल रहा था ;
आ गये तुम इस तरह जैसे कि सूर्य निकल रहा था,

विश्व-भर के पूर्व में ऊषा प्रकाश सँवारती है।
वन्दना के विनत नयनों में तुम्हारी आरती है॥

चल पड़े जिस ओर तुम, वह पथ हुआ है राज-पथ-सा;
जो किया संकेत तुमने वह हुआ जग को शपथ-सा,
विरति वह थी जो कि जग पर सम्पदाएं वारती है।
वंदना के विनत नयनों में तुम्हारी आरती है॥

तुम नहीं हो पर तुम्हारा प्रण सजग है देश-भर में;
आज है स्वाधीनता का ध्वज हमारे मुक्त कर में,
हो गये परिणत सभी अभिशाप जैसे दिव्य वर में;
आज साहस और क्षमता है निखिल निर्भीक स्वर में,

किन्तु प्रतिध्वनि गूंज ध्वनि को बार-बार पुकारती है।
वंदना के विनत नयनों में तुम्हारी आरती है।

आह्वान

वच्चन

ओ जो तुम ताजे,
ओ जो तुम जवान।
ओ जो तुम अंधकार में किरणों के उभार,
ओ जो तुम बूढ़ी नसों में नये खून की रफ्तार,
ओ जो तुम जग में अमरता के सबूत फिर एक बार,
ओ जो तुम सौ विध्वंसों पर एक व्यंग की मुसकान,
तुम्हारे ही लिए तो उठता है मेरा क़लम,
खुलती है मेरी ज़बान,
ओ जो तुम ताजे,
ओ जो तुम जवान!

ओ जो तुम सुन सकते हो अज्ञात की पुकार,
ओ जो तुम सुन सकते हो आने वाली सदियों की झंकार,
ओ जो तुम नये जीवन, नये संसार के स्वागतकार,
ओ जो तुम सपना देखते हो बनाने का एक नया इन्सान,
तुम्हारे ही लिए तो उठता है मेरा क़लम,
खुलती है मेरी ज़बान,
ओ जो तुम ताजे,
ओ जो तुम जवान।

ओ जो तुम हो जाते हो खूबसूरती पर निसार,
ओ जो तुम अपने सीनों में ले के चलते हो अंगार,
ओ जो तुम अपने दर्द को बना देते हो गीतों की गुंजार,
ओ जो तुम जुदा दिलों को मिला देते हो छेड़कर एक तान,
तुम्हारे ही लिए तो उठता है मेरा क़लम,

खुलती है मेरी ज़बान,
ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !

ओ जो तुम बाँधकर चलते हो हिम्मत का हथियार,
ओ जो तुम करते हो मुसीबतों व मुश्किलों का शिकार,
ओ जो तुम मौत के साथ करते हो खिलवार,
ओ जो तुम अपने अट्टहास से डरा देते हो मरघटों का सुनसान,
भर देते हो मुर्दों में जान,
ओ जो तुम उठाते हो नारा—उत्थान, पुनरुत्थान, अभ्युत्थान,
तुम्हारे ही लिए तो उठता है मेरा क़लम,
खुलती है मेरी ज़बान,
ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !

अभिनन्दन-गान

मोहनलाल द्विवेदी

कैसे पूजूँ तुमको, माली !
यह वंदन अभिनन्दन करती
झुक-झुक मेरी डाली-डाली !
मैं थी मुरझाई फुलवारी,
सूखी थी सब क्यारी-क्यारी
नवघन बनकर सींचा तुमने
दे रस नव-जीवन संचारी,
कैसे साजूँ पूजन थाली
कैसे पूजूँ तुमको, माली !

तुमने फैलाई हरियाली
तुमने ही फैलाई लाली,
बौरे रसाल ले मदिर गंध,
कोयल कुहुकी बन मतवाली,
बिखरी सुगन्ध वैभवशाली !
कैसे पूजूँ तुमको, माली !

तुमने जाना दिन रात नहीं,
सायं जाना तो प्रात नहीं,
तृण-तृण कण-कण में गला दिया,
अपना सोने-सा गात यहीं,
तुमने की निशिदिन रखवाली !
कैसे पूजूँ तुमको, माली !

मलयज में जो आनन्द भरा,
फूलों में जो मकरंद भरा,
मधुकर के मादक गुंजन में
मधुऋतु का मधुमय छंद भरा,
सर्वस्व तुम्हारा ही, माली !
कैसे साजूँ पूजन थाली !

सागर-पक्षी

अंचल

भाग चला संध्या का अंचल थक सागर पक्षी अकुलाया
संगीहीन गगन में उड़ते-उड़ते आज अँधेरा छाया
ढलती छाती की बूँदों-सा शेष हुआ जीवन का संबल
शेष किया पाथेय, अकातर गति से जीवन का संचित बल।
ये तम की खूनी छलनाएं फिर प्रचंड अभिमान जगातीं
किन्तु थपेड़े दृढ़ डैनों के पाषाणों में ही टकरातीं
भाग चला संध्या का अंचल निशि आई—अम्बर भर आया
संगीहीन गगन में उड़ते-उड़ते आज अँधेरा छाया।
किस असम्वृता के यौवन ने मरणजयी यह गान सुनाया ?
किस तपस्विनी की ज्वाला ने आज प्रलय का पथ दिखलाया ?
नीचे शान्त पड़ा अगणित तूफ़ान लिये मतवाला सागर
ऊपर तारे रोज़ जलाती रैन चली ही आती मन्थर।
शिथिल पंख अब प्राण थके हैं शून्य शिराएं मन टंग जाता
धावा मारे किन्तु अचेतन सागर पक्षी उड़ता जाता
मृत्यु भेदकर हिल-हिल जाती जैसे रक्त स्रोत की आशा
यह प्रचंड आह्वान किसी का भरता ज्वालामुखी दुराशा।
सुनता था आह्वान वहीं का दिन में आँधी के प्रतिस्वर में
ध्वनित हो रहा वही महास्वर महाशून्य की डगर-डगर में
और चला ही जाता प्रतिपल हो चंचल द्रोही दुर्भागी
जैसे आज युगों की तृष्णा भूखे प्यासे मन में जागी
क्षण-भर का विश्राम अयाचित, जीवन और मृत्यु का ताँता
धावा मारे आज अचेतन सागर-पक्षी उड़ता जाता।

जीवन-दीप जलायें !

चिरंजीत

सदियों बाद खुले मंदिर में जीवन-दीप जलायें !
दीप शिखाओं के झुरमुट में स्वर्णिम् पर्व मनायें !
युग-सदियों की गर्द-धूलि से भरा हुआ है आँगन,
नीड-तृणों जालों से गुम्बज बना हुआ है कृमि-वन,
झाड़ें और बुहारें अंतर निर्मल स्वच्छ बनायें !
सदियों बाद खुले मंदिर में जीवन-दीप जलायें ।

रजत हिमालय-शिखर चूमता अंतर, रवि, शशि, तारे,
मोती-रत्न लिये सागर-जल पावन चरण पखारे,
षड् ऋतुएं बारी-बारी से पूजा करने आयें !
सदियों बाद खुले मंदिर में जीवन-दीप जलायें !

इस मंदिर में राम कृष्ण-गौतम ने दीप जलाये,
राष्ट्रदेव गांधीजी इसमें ज्योतिर्धर बन आये,
उसी ज्योति से अपने दीपों की हम ज्योति जगायें !
सदियों बाद खुले मंदिर में जीवन-दीप जलायें !

आर्य ज्ञान का शंख बजे फिर, विश्व मुँदे दृग खोले,
तार ऋचाओं से झंकृत हों, मोहन-वंशी बोले,
नव जागृति की रास रचायें सत्प्रतिभा-बालायें !
सदियों बाद खुले मंदिर में जीवन-दीप जलायें !

जग में अमा निशा छाई है, नहीं दीखती राहें,
सागर की खूनी चट्टानें 'नाश नाश' ही चाहें,
जग-हित अपने मंदिर को हम ज्योतिः स्तम्भ बनायें,
सदियों बाद खुले मंदिर में जीवन-दीप जलायें !

नये दीप से घर सजाओ सजाओ

बाबूराम पालीवाल

नया युग नई बात !
नूतन दिवस-रात !
लेकर नये धान, नव साधनों से,
नई लक्ष्मी को मनाओ, मनाओ ।
नये दीप से घर
सजाओ सजाओ !

भूलो विगत बात,
भूलो कठिन रात,
दीपक सजाकर, सरस स्नेह के फिर
मनों से अमा को मिटाओ, मिटाओ ।
नये दीप से घर
सजाओ, सजाओ ।

चरण युग बढ़ा दो,
जगो, जग, जगा दो,
लिये दीपमाला करोड़ों करों में,
नई ज्योतिज्वाला जगाओ, जगाओ ।
नये दीप से घर
सजाओ सजाओ ।

श्रेयस् की ओर

'शेष'

ये क्षण सर्वोदय के !
सरक चला आवरण तिमिर का,
ज्योति लगी मुसकाने !
भोर-विहग हो उठे मुखर
दृग खोले नव कलिका ने !
कण-कण में नव चेतन चमका,
दमक उठी स्वर्णाभा,
लगी सनेह भरे मानस की
लहर-लहर लहराने !
झोंके मदिर मलय के !
ये क्षण सर्वोदय के !

अमर रश्मियों धुले, खुले
अरुणाभ नयन निंदियारे !
पुष्प-गंध से बिखर चले
सपनों के अवयव सारे !
सत्य निनादित हुआ, वेद-ध्वनि
अम्बर तक लहराई;
आसावरी अलाप ले उठी—
स र म प ध स म प गा रे !
जागे स्वर जय-जय के !
ये क्षण सर्वोदय के !

ब्रह्म-मुहूर्त्त, साधना जागी,

जागा प्राणी-प्राणी !
किरण-किरण धरती से कहती
नभ की अमर कहानी !
टूटा मौन, चतुर्दिक्, नव-
जागृति का कलरव छाया,
मानस के अरुणाभ कमल पर
समुद गा उठी वाणी !
खिले रंग अभिनय के !
ये क्षण सर्वोदय के !

पर तुम किस चिन्ता में डूबे,
जागो, पलक उघारो !
तुम्हें प्रकृति आमन्त्रण देती
अपना रूप निहारो !
तुम हो अमृत-सुवन, तुम मानव,
तुम नवयुग-निर्माता;
पराबुद्धि के रंग महल में
अभिनव ज्ञान उतारो !
खोलो द्वार हृदय के !
ये क्षण सर्वोदय के !

परिशिष्ट

राष्ट्रभाषा हिन्दी[1]

स्वागताध्यक्ष महोदय, देवियो तथा सज्जनो !

आप लोगों ने मुझे यह पद देकर ऋणी किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रभाषा और साहित्य का सम्मेलन है, इसका सभापति-पद तो अत्यन्त अमूल्य है। इस अधिकार को प्राप्त करने की योग्यता मुझमें नहीं, यह मैं भली प्रकार जानता हूँ। मुझे अच्छी हिन्दी नहीं आती, मेरा हिन्दी साहित्य का अध्ययन भी अधिक नहीं, हिन्दी-जगत् के अनेक साहित्य के प्रश्नों से भी मैं सुपरिचित नहीं। गत वर्ष जयपुर में आप लोगों ने मुझे राष्ट्रभाषा-परिषद् का सभापति बनाया था; इस वर्ष मुझे यह मान दिया है। आपने मुझे यह मान देकर मुझ पर जो श्रद्धा व्यक्त की है, उसके योग्य होने का मैं प्रयत्न करूँगा। इसके सिवाय मैं आप लोगों को और कोई आशा दिला नहीं सकता।

इससे पूर्व भी गुजरात ने इस सम्मेलन को दो सभापति दिये थे, एक गुर्जर-नरेश सयाजीराव गायकवाड़ और दूसरे विश्ववन्द्य महात्मा गांधी। पर न तो मैं नरेश हूँ और न नेता। मैं तो आप सबकी तरह सरस्वती के मन्दिर का एक सामान्य पुजारी हूँ। मैं अपने जीवन की उन घड़ियों को सबसे अमूल्य घड़ियाँ गिनता हूँ जिनमें मैं अपनी साहित्य-शक्ति को भारती के चरणों में समर्पित करता रहा हूँ। मैं तो एक रंक साहित्यकार हूँ। ईश्वर की कृपा से जब मैं देखता हूँ कि मेरी अनेक कृतियाँ समस्त भारत में रस-पूर्वक पढ़ी जाती हैं और आज जब मैं अपने को इस पद पर आसीन पाता हूँ, तब वह कृपा मुझे मूर्तिमती दिखाई पड़ती है। इसके लिए मैं ईश्वर का जितना अनुग्रह मानूं थोड़ा है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का यह ३३ वाँ अधिवेशन इतिहास-प्रसिद्ध नगर उदयपुर मे हो रहा है। चित्तौड़ के कंगूरे-कंगूरे पर वीरों के आत्म-बलिदान और सतियों के जौहर के स्मरण अंकित हैं। यहाँ के शृङ्ग शृङ्ग से अप्रतिरथ प्रताप की पुकार का प्रतिशब्द सुनाई पड़ता है। सदियों से श्रद्धा के पात्र केसरियाजी यहाँ विराजते हैं। मध्यकालीन भागवद्धर्म के इष्टदेव श्रीनाथजी सकल भारत की वन्दना को आकर्षित करते हुए यहाँ बैठे हैं। शूरवीर सिसोदिया

१ अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३३वें अधिवेशन (उदयपुर सन् १९४६) के अवसर पर सभापति के स्थान से दिया गया श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी का भाषण।

के इष्टदेव एकलिंगजी का पुण्यस्मरण भी यहाँ है। हल्दीघाट यहाँ से भारत की अडिग वीरता की घोषणा करता है। यहाँ आकर क्षण-भर के लिए तो हम ब्रिटिश राज्य की गुलामी को भूल सकते हैं; पल-भर के लिए, मुगल सम्राट् को फटकारने वाले वीरों के स्मरण से अपना मस्तक ऊँचा रख सकते हैं। भविष्य के पट पर दृष्टि डालते हुए हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि आर्यत्व अमर और अजेय है!

× × ×

आज मेरे हृदय में खिन्नता का संचार हो रहा है। महात्मा गांधी आज सम्मेलन से अलग हो गए हैं। इन्दौर में वे ही मुझे सम्मेलन में लाये थे। उनकी प्रेरणा और सहायता से मैंने स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के साथ 'हंस' चलाया था। नागपुर में भारतीय साहित्य परिषद् की हमारी योजना का उन्होंने स्वागत किया था और उसके प्रमुख पद को सुशोभित किया था। आज जब आप लोगों ने इस सम्मेलन का अध्यक्ष पद मुझे दिया, तब मुझे प्रेरणा और शक्ति का पयपान कराने के लिए वे नहीं हैं। यह न्यूनता मुझे आज शल्य-सी बेधती है।

मैंने महात्माजी तथा टंडनजी का पत्र-व्यवहार ध्यानपूर्वक पढ़ा। इसमें दो अटल श्रद्धावान् पुरुषों की धर्मनिष्ठा झलकती है। गांधीजी मानते हैं कि हिन्दी और उर्दू का समन्वय न केवल इष्ट है, वरन् शक्य भी है। टंडनजी मानते हैं कि यह शक्य नहीं, सम्मेलन के लिए इष्ट भी नहीं।

गांधीजी तो आदर्श के स्रष्टा हैं। वे उसे सिद्ध करने के लिए अपनी समग्र शक्तियों को एकाग्र करने में अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं। उन्हें भारत की राष्ट्रीयता का सृजन करना है। इसका पाया हिन्दू-मुस्लिम एकता पर रखने के लिए उन्होंने भगीरथ तपश्चर्या की है। उनका मंतव्य है—"राष्ट्रभाषा वह है जिसमें नागरी और उर्दू लिपि को स्थान दिया जाता है और जो भाषा न फारसी है, न संस्कृतमयी है।" श्री टण्डनजी ने जवाब में लिखा—"सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानता है। उर्दू को वह हिन्दी की शैली मानता है, जो विशिष्टजनों में प्रचलित है।" भाषा की स्वभाव-सिद्ध लिपि नागरी ही हो सकती है यह भी उनका मन्तव्य है।

भारत की राष्ट्रभाषा नागरी हिन्दी (नागरी में लिखी जाने वाली हिन्दी) है। यह इस सम्मेलन का मुख्य सिद्धान्त है। तैंतीस वर्षों से इसी श्वास और प्राण पर उसका यह जीवन निर्भर है।

गांधीजी राष्ट्र-स्रष्टा हैं। हिन्दू मुसलमान दोनों दो लिपियाँ सीख हिन्दुस्तानी के व्यवहार से एकता सिद्ध करें, ऐसा मार्ग वे दरशा रहे हैं।

जहाँ तक मैं देख सकता हूँ ये दोनों सत्य भिन्न-भिन्न हैं। इनका समन्वय सरल नहीं। परन्तु—स्वधर्मे निधनं श्रेयः।

सम्मेलन और गांधीजी दोनों अपने स्वधर्म का पारस्परिक उदाहरण से अनुसरण करें, इसी में मुझे लाभ दिखाई देता है। यदि सम्मेलन का सत्य खरा होगा तो गांधीजी उसे स्वीकार करेंगे और जो सम्मेलन समझेगा कि उनका सत्य खरा है तो उसे स्वीकार करने में सम्मेलन

को संकोच नहीं होगा। गांधीजी ने सम्मेलन से त्याग-पत्र दिया है पर वे उसे छोड़ नहीं गये हैं व उन्होंने स्वयं लिखा है—"जैसे मैं कांग्रेस में से निकला तो कांग्रेस की ज्यादा सेवा करने के लिए, उसी तरह अगर मैं सम्मेलन से निकला तो भी सम्मेलन की अर्थात् हिन्दी की ज्यादा सेवा करने के लिए निकलूँगा।"

राष्ट्रभाषा के प्रश्न का समाधान सरल नहीं। इसके लिए अटूट श्रद्धा, उत्साह और त्याग की आवश्यकता है। क्या सम्मेलन इन शक्तियों को प्राप्त करेगा? यदि हाँ, तो फिर गांधीजी को जीत लेने में उसे देर नहीं लगेगी।

राष्ट्रभाषा के विषय पर अपने विचारों को मैंने गत वर्ष राष्ट्रभाषा परिषद् के प्रमुख-पद से प्रकट किया था। मुझे हिन्दी हिन्दुस्तानी के बिना दूसरी कोई राष्ट्रभाषा शक्य प्रतीत नहीं होती।

१९३४ में नागपुर में जब गांधीजी ने भारतीय साहित्य परिषद् की स्थापना की तभी उन्होंने हिन्दी-हिन्दुस्तानी शब्द को प्रचलित किया। परन्तु यह शब्द नया नहीं है। भूदेव मुकर्जी ने ई० सं० १८९२ से पहले इस शब्द का प्रयोग किया था। मैं इसे स्वभाव-सिद्ध राष्ट्र-भाषा मानता हूँ। सदियों से यह मध्यदेश की बोल-चाल की भाषा रही है। नागरी हिन्दी उसका स्वाभाविक तथा विकसित रूप है। उर्दू इसकी फारसी-अरबी शैली का स्वरूप है।

जब तक भारत में मध्य देश का स्थान नहीं समझा जाता तब तक हिन्दी का महत्व भी समझा नहीं जा सकता। मध्यदेश भारत का उत्तमाङ्ग है। वहीं उसका संस्कार जन्मा, विकसा, परिपक्व हुआ। उसकी मूलभाषा तो संस्कृत है। उसकी आत्मा ब्रह्मावर्त ने घड़ी। सरस्वती, गंगा और यमुना ने उसके जीवन-प्रवाह को धारण किया। श्रीकृष्ण की मथुरा उसका प्राचीन मध्यबिन्दु है। जनमेजय परीक्षित का आसिद्वन्त उसकी पुरानी राजधानी है। संस्कृत उसकी वाणी है। पाली भी, उसीकी भाषा पर रची हुई साहित्य-भाषा है। पश्चिमी हिन्दी की वह मातामही है। मध्यकाल (५५० ई० से १००० ई०) में कन्नौज उसकी राजधानी था। राजशेखर उसका कवि-सम्राट् था। यह कहा गया है कि मध्यदेश के लोग तो सभी भाषाओं में निष्णात थे—

यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः

संस्कृत उनको प्रिय थी। पांचाल के कवि सर्वश्रेष्ठ थे। उनकी शैली को शोभा देने वाली उनकी वाणी थी। उनकी शब्द-रचना सुन्दर थी। उनकी कृतियाँ नियमानुसार थीं। उनका उच्चारण मधु-सा मीठा था। पांचाल के लोग आर्यावर्त के भूषण थे। उनकी स्त्रियाँ अद्भुत थीं। कवि कहता है कि उनका रहन-सहन देश-भर के लोगों के लिए अनुकरणीय था—

यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां या सूक्तिमुद्राक्रमे
भङ्गिर्या कबरीचयेषु रचनं यद्भूषणालीषु च।
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललना लोकैरिहान्यच्च य-
च्छिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तत्कौतुकिन्यः स्त्रियः।

(बाल रामायण १०, ९०)

यह कन्नौज ५०० वर्षों तक हिन्द की राजधानी रहा। सन् ८०० से ६५० ई० तक प्रतिहार गुर्जरेश्वर सम्राटों ने इस पर राज्य किया। राजशेखर कहता है कि इस वंश के महान् नरेश मिहिरभोज, महेन्द्रपाल और महीपाल को आर्यावर्त के महाराजाधिराज कहा जाता था—

नमितमुरलमौलिः पाकलो मेकलानां, रणकलितकलिङ्गः केलितटकेरलेन्दोः। अजनि जितकुलूतः कुन्तलानां कुठारः हट्टाहृतरमटश्रीः श्रीमहीपालदेवतः।

तेन च रघुवंशमुक्तामणिनाऽऽर्यावर्तमहाराजाधिराजेन श्रीनिर्भयनरेन्द्रनन्दनेनाधिकृतः सभासदः सर्वान्।

(बाल-भारत १, ७--८)

मेवाड़ और गुर्जरत्रा (आज का मारवाड़) इन सम्राटों का उत्पत्ति-स्थान था। बाप्पारावल का वंशज हर्षराज तो सम्राट् मिहिरभोज का सामन्त था। उसका पुत्र गुहिल द्वितीय सम्राट की आज्ञा से बंगाल के राजा देवपाल के घोड़े को पकड़ लाया था।

इस मध्यदेश की साहित्यिक भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। इसकी देशभाषा का साहित्यिक रूप शौरसेनी अपभ्रंश था। पश्चिम देश की भाषा का नाम गुर्जरी अपभ्रंश कहा जा सकता है। मेवाड़ी तथा स्वात और काश्मीर के गूजरों की बोली उस 'गुर्जरी' के आज के अवशेष हैं। इस समय उत्तर पूर्व मध्यदेश में और मथुरा के आसपास शौरसेनी के समान देशभाषा बोली जाती थी। इस शौरसेनी देशभाषा के नमूने मिलते नहीं। पर गुर्जरी 'अउ' कारान्त भाषा थी। शौरसेनी आकारान्त थी। दोनों के बीच अधिक भेद नहीं था।

अपभ्रंश साहित्य की राष्ट्रभाषा थी। प्रान्त-प्रान्त में देशभाषा के छोटे मोटे भेदों से इसमें भेद पड़ने गये, 'सप्तविंशत्यपभ्रंशाः'। गुजरात से आसाम तक यह प्रचलित थी। इसकी साक्षी पूर्व बंगाल के दोहों में मिलती है। छठी सदी के आसपास के 'जोइंदु' के 'परमात्मप्रकाश' के दोहे यहाँ दिये जाते हैं—

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु॥
(जिसका वर्ण न गंधरस जिसका शब्द न स्पर्श।
जिस का जन्म न मरण है नाम निरंजन तस्य॥
जिसको क्रोध न मोह मद जिसको माय न मान।
जिसका स्थान न ध्यान जिव उसे निरंजन जान॥)

हाल ही में मैं काश्मीर के गुर्जरों के लोकगीत ले आया हूँ। ये लोग सन् १००० ई० में राजस्थान से ऊपर की तरफ गये। इनकी बोली में पुराने अंश बचे हैं जिनका एक नमूना यहाँ देता हूँ—

अब पारो पारी ज्याधों पैया
गाल सुणी जा खडो के।

बंदी दुखाँ मारी
गले लगसाँ में रो-के।
चेडियांनी छे माइयाँ
चड मुकेनीं महिने।
खबराँ नहिं आइयाँ
सजणी मोर के भिने॥

—'भैया, जरा खड़े रहकर मेरी बात तो सुनो। मैं दुःखी हूँ। उन्हें गये कितना अधिक समय हो गया है, लेकिन उनके कोई समाचार नहीं। वे जीवित हैं या नहीं यह भी मैं नहीं जानती।'

दसवीं सदी के धनपाल की 'भविष्यकथा' का एक उद्धरण यहाँ दिया जाता—है।

सुहियहि हियउ णाहिं अप्पिवउ।
परिमउ थोड थोड जपिव्वउ।
अत्थु विढप्पइ विविह पयारिहिं
वंचिव करसन्ना संचारिहि।
(सुहृद को हृदय नाहीं आपिये।
परिमित थोडु' थोडु' बोलिये।
अर्थ बधारिये त्रिविध प्रकारे
वंचना से या कर संचार से॥)

बारहवीं सदी में तो राष्ट्रभाषा के अनेक उदाहरण मिलते हैं—

अम्हे थोवा, रिउ बहुअ काअर एम्व भणन्ति।
मुद्धि निहाल हि गयणयलु कइ जण जोण्ह करेन्ति।
(हम थोड़े हैं रिपु बहुत, कायर ऐसा बोलें।
मूढ निहार तू गगन में कइ जन जोत करें।)

(सिद्धहेम ८—४—३१६)

बंगाल व बिहार के सहजियापंथ की एक पुस्तक में ये दोहे हैं—

जहि मण पवण न संचरइ, रवि ससि णाह प्रवेस।
तहि बढ़ चित्त बिसाम करु, सरहे कहिअ उएस।'
लोअह गव्व समुव्वहइ हउ परमन्थे पवीण।
कोडिह मज्झें एक्कु जइ होइ णिरञ्जण लीण॥'
(जहाँ न मन और न पवन रवि ससि का नहीं प्रवेश।
तहाँ चित्त विश्राम कर, सरहा का उपदेश॥
लोगों को तो गर्व है मैं परमार्थ प्रवीण।
कोटि कोटि में एक ही, होय निरंजन लीन॥)

उसी काल के एक अलभ्य ग्रंथ 'मुन्जप्रबंध' के कुछ अवशेष दोहे मैंने एकत्र किये हैं—

मुञ्ज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयुं न झूरि ।
जइ सक्कर सह खंड थिय सो ईस मीट्ठी चूरि ।
बाह विछोडवि जाहि तुहुं हउं तेवंइ को दोसु ।
हि अयट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउं मुञ्ज सरोसु ॥
(मुञ्ज कहे मृणालवती तू मत रो गत जीवन को
जो सक्कर सां खंड हो तो भी चूरा मीठ ।
बाह छुड़ां जो हम जाते, है किसका यह दोष ?
हृदय से जो निसरेगा, तो जानूँ तब रोष ॥)

जब तुर्कों ने दिल्ली में सलतनत स्थापित की तब

(१) समस्त भारत में संस्कार, साहित्य और धर्म की एक-मात्र भाषा संस्कृत थी ।

(२) नर्मदा के उत्तर में भद्र वर्गों की और उसके दक्षिण में विद्वन्मण्डली की राष्ट्रभाषा संस्कृत थी ।

(३) नर्मदा के उत्तर में मथुरा तक गौर्जरी, उत्तर में बनारस तक शौरसेनी, अवधी और बिहारी देशभाषाएं प्रचलित थीं । पूर्व बिहार और उड़ीसा में यही भाषा धीरे-धीरे बंगाली में मिश्रित होती थी ।

(४) तुर्की सलतनत के कारण दिल्ली प्रदेश पूर्व पंजाब और पश्चिम संयुक्तप्रान्त में फारसी बोलने वाले तुर्कों और हिंदियों के बीच व्यवहार की एक नई भाषा प्रकट हुई ।

तुर्कों के आक्रमण के समय नर्मदा के उत्तर में सबके समझने लायक और प्रत्येक प्रान्त के विद्वानों के लिखने लायक राष्ट्रभाषा प्रचलित थी, जो संस्कृत की सतत प्रेरणा से भारत की आत्मा के दर्शन करने का वाहन बनी थी ।

तुर्क आये उन्होंने पंजाब और दिल्ली में पड़ाव डाले और व्यावहारिक भाषा का जन्म हुआ । उस समय अपभ्रंश के मुख्य विभाग में पंजाबी, पश्चिमी पूर्वी (अवधी, बाघली और छत्तीसगढ़ी), बिहारी (भोजपुरिया, मैथिली, मगही, छोटा नागपुरी), राजस्थानी (मारवाड़ी, जयपुरी, मालवी, मेवाड़ी और गुजराती) आदि जिन्हें सब समझ सके ऐसे स्वरूप थे । धीरे-धीरे व्रजभाषा, कन्नौजी, बुन्देली व मेरठ रोहिलखंड और अंबाला में बोली जाने वाली भाषाओं में से तुर्कों और हिंदियों के बीच व्यवहार की भाषा बनाई गई । दिल्ली तुर्कों की मुख्य राजधानी बनी । उसके आसपास इस भाषा का व्यवहार होने लगा । पर दिल्ली की राजभाषा फारसी थी । प्रारम्भिक हिन्दी-मात्र बाजारू थी ।

सलतनत के प्रदेश के बाहर संस्कृत की व्रजभाषा की प्रेरणा से साहित्य की भाषा विकसने लगी और व्यवहार की भाषा जैसी की तैसी एक ही रही । इस प्रकार भारत की एक राष्ट्रभाषा का सिद्धान्त नया है वह भ्रमपूर्ण है ।

आपका कुछ समय लेने के लिए क्षमा माँगते हुए मैं आप लोगों के समक्ष छठी से बीसवीं सदी के साहित्य के उद्धरण रखना चाहता हूँ । इन उद्धरणों से यह सिद्ध हो जायगा कि भारत में जैसे संस्कृत शिष्टों की राष्ट्रभाषा थी, वैसे ही जन-साधारण की एक दूसरी राष्ट्-

भाषा थी, जिसे सब समझते थे और जो भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिबिंबित होती थी।

आंध्र—

नलदमयन्तुलिद्दरु मनःप्रभवानलदह्यमानलै
मलिपिरि दीर्घवासरनिशलविलसन्नवनन्दनम्मुलन।
नलिनदलम्मुलन्, मृदुमृणालन् घनसारपांसुलन
तलिरुशैय्यलन्, सलिलवर्तचन्दनचारुचर्चलन्॥

(ई० स० ११०० के करीब, नन्नयभट्ट, पूर्व चालूक्य सम्राट के राजकवि)

नल व दमयन्ती ने, जिनके हृदय में अग्नि प्रज्वलित हो रही थी, दीर्घ दिन व रात सुन्दर उपवनों में व्यतीत किए, जहाँ सुन्दर कमल, कमल नाल व कर्पूरतुल्य पराग, कोमल पत्तों की शैया व जल-प्रपात है। उन्होंने सुन्दर चंदन का लेप भी किया है।

राजस्थान—

भाद्रवि भरिया सर पिक्खेवि सकरुण ओअइ राजलदेवि।
हा एकलडी मइ निरधार किम ऊवेषिसि करुणासार।
('नेमिनाथचतुष्पादिका', विनयचंद्र सूरी, १३ वीं शताब्दी)

भाद्रपद में भरे हुए सरोवर को देख राजलदेवी रोती है और कहती है—हा! मैं अकेली व निराधार हूँ। हे करुणासार, आप क्यों उपेक्षा करते हैं?

दिल्ली—

वह आवे तब शादी होय।
उस बिन दूजो और न कोय॥
मीठे लागें वाके बोल
ऐ सखि साजन—ना सखि ढोल॥
(मीरखुसरो की पहेली—१४ वीं शताब्दी)

वह जब आता है, तब शादी होती है, उसके बिना दूसरा और कोई नहीं है। उसके शब्द मीठे लगते हैं। हे सखि, वे प्रियतम हैं। सखि, प्रियतम नहीं, ढोल है।

संयुक्तप्रान्त—

संस्कृतहिं पंडित कहै, बहुत करैं अभिमान,
भाषा जानि तरक करैं, ते नर मूढ़ अजान॥
संस्किरत है कूपजल, भाषा बहता नीर
भाषा सतगुरु सहित है, सतमत गहिर गँभीर॥

(कबीर, १५ वीं शताब्दी)

संस्कृत जाननेवाले को पण्डित कहते हैं और बहुत अभिमान करते हैं और देशी भाषा को देख तर्क करने लगते हैं। ऐसे मनुष्य मूर्ख व अज्ञानी हैं। संस्कृत तो कुएँ के जल के समान है, और भाषा बहते पानी के समान है। भाषा सद्गुरु के समान सत्य मत व गाम्भीर्य से युक्त है।

राजस्थान—

मुझ सिरकमल मेच्छपय लग्गइ,
तु गयणङ्गमणि भाण व उग्गइ ।
जां अम्बरपुडतलि तरणि रमइ,
तां कमधजकन्ध न धगड नमइ ।
वरि वडवानल तण झाल समइ
पुण मेच्छ न आपूं चास किमइ ।
(रणमल्लछन्द, श्रीधर, १४ वीं शताब्दी)

—यदि मेरा सिर-कमल म्लेच्छों के पैर लगे तो आकाश में सूर्य भी उदित न होगा । जब तक आकाश में सूर्य चमकता है, तब तक इस राठौर के स्कन्ध व धड़ नम नहीं सकते। वडवानल की ज्वाला भले ही शान्त हो जाय, किन्तु म्लेच्छ को किसी प्रकार जरा-सी भी भूमि न दूँगा ।

विजयनगर—

अटजनि कांच भूमिसुरु अम्बरचुम्बिसिरः सरज्झरि-
पटलमु डुमुं डुम्लुंट अभङ्ग तरङ्ग मृदङ्ग निःस्वन—।
स्फुटनानुकूल परिलुरुकलापिजालमुन्
घटकचरत्करेणुकरचम्पितजालमु शीतशैलमुन् ॥
(ई० स० १५०६, अल्लासापेद, विजयनगर का राजकवि)

गुजरात—

देह राखवा कयुं उपाय ; कोइ दुष्ट मुझ सरखु ? राय ।
श्रांत थकां मि नव हींडाय, विषम वाट; तनु धूलि भराय;
दुःखातुर अति थाका चरण; घणूं इ वांछूं नावि मरण,
आवि अंधारूं लोचनं, धूजि रिदि; न चालि मन;
पीडि पिपासा; वेगलूं वारि; ढली ढली पडूं, श, तिणि ठारि
(कादम्बरी, भालण १४ वीं शताब्दी)

देह रखने के लिए मैंने उपाय किया । हे राजन् मेरे समान दुष्ट कौन है ? मैं थक गया हूँ चल नहीं सकता, रास्ता कठिन है, शरीर में धूलि लग गई है । मैं दुःख से घबराया हूँ, मेरे पैर बहुत थक गये हैं, मैं बहुत चाहता हूँ, लेकिन मेरी मृत्यु नहीं होती; आंखों में अंधेरा आता है, हृदय कांपता है, मन भी निश्चल हो गया है, प्यास सता रही है, पानी दूर है और मैं उसी स्थान पर गिर पड़ता हूं

नाचइं गोपिय वृन्द, वाइं मधुर मृदंगे ।
मोडइ अंग सुरंग, सारंग वाइत महूयरि ऐ,
कुलवण महुयर-ए ॥
(नतर्षि, फागु, १४ वीं शताब्दी)

गोपीवृन्द नाचता है, मधुर मृदङ्ग बजती है, भगवान् अपने अङ्ग मोड़कर बंसरी बजा रहे हैं।

राजस्थान—

जिहां पूजइ शालिग्राम, जिहां जपीइ हरिनु' नाम
जिणि देसि कीनइ जाग, जिहां विप्रनइ दीजइ त्याग
जिहां तुलसी पिपल पूजइ, वेद पुराण धर्म बूझीइ
जिणि देसि महु तीरथ जाइ, स्मृतिपुराण मांहिन गाइ
माधव म्लेच्छ आणीया तहिं।

(पद्मनाभ, 'कान्हडदे प्रबन्ध', १६ वीं शताब्दि)

जहां शालिग्राम पूजे जाते हैं, जहां हरि का नाम जपा जाता है, जिस देश मेय ज्ञ किया जाता है, जहां ब्राह्मणों को त्यागा नहीं जाता, जहां तुलसी और पीपल की पूजा होती है, वेद व पुराण के धर्म को सब समझते हैं, जिस देश में सब तीर्थ यात्रा करते हैं, तथा जो स्मृति व पुराण में गाया गया है, ऐसे देश में माधव म्लेच्छों को ले आया है।

मिथिला—

सखि कि पुछलि अनुभव सोयु
से हो पिमि अनुराग बखानिए तिल-तिल नूतन होय।
जन्म अवधि अमे रूप निहरला नयन मे तिरपित मेल।
सेहो मधुबोल श्रवनहि सूनल श्रुतिपथ परस ने मोल॥

(विद्यापति, सं० १४३०)

हे सखि क्या तू वह अनुभव पूछती है ? उस अनुराग का वर्णन करने मे वह नया ही बनता जाता है। जन्म भर उस रूप को निहारने व उन मीठे शब्दों को सुनने मे भी तृप्ति नहीं होती।

गुजरात—

हार ते मार मृ उरवरि, सहरि शृङ्गार अंगार
चित्त हरइ नवि चन्दन, चन्द नहि मनोहार।

मेरे वक्षस्थल पर जो हार है वह कामदेव के समान है, मेरा शृङ्गार अग्नि के समान है। चन्दन चित्त का हरण नहीं करता व चन्द्र मनोहर नहीं लगता।

(वसन्त विलास, १५ वीं सदी)

राजस्थान—

जो तुम तोडो पिया मय नहीं तोडु'
मेरी तोडी प्रीत कृष्ण कोन संग जोडु'।
तुम भयो तरुवर मैं भइ पंछीयां
तुम भये सरवर मैं तेरी मछीयां।

(मीराबाई, सं० १५००)

हे प्रियतम, यदि तुम प्रीति तोड़ोगे तो भी मैं न तोड़ूंगी। हे कृष्ण, तुम से तोड़ी हुई प्रीति मैं किसके साथ जोड़ूंगी। तुम श्रेष्ठ वृक्ष हो, मैं उस पर पक्षी के समान हूं। तुम श्रेष्ठ सरोवर हो तो मैं उसमें मछली के समान हूँ।

बंगाल—

वधू तुमि सो आमार प्रान
देहमन आरि, तोहारे संपोछि, कुल शील जाति मान
अखिलेर नाथ तुमि हे कलिया, जोगीर अराध्य धन
गोप गोवालिनी हामकुनिदीना ना जाति भजने पूजन
पीरीत सागरे, शलि तनुमन हियाछि तोमार पाय।

(चंडीदास, १४ वीं सदी)

आप हमारे प्राण हैं। देह, मन, कुल, शील, जाति, मान आदि सब के आप स्वामी हैं। आप योगी के आराध्य धन हैं। हम भजन पूजन कुछ नहीं जानते। हम तो तन और मन को प्रेम सागर में धोकर हृदय में आपके चरण धारण करते हैं।

लाट—

कहितु कालिज माहा धरुं राखु हृदय मझारि।
झनिं मूकि माधवा पगलूं रखे पधारि।
आविस माधवउ आंखि माहा आडिं काजल देशि;
पगी लागूं छुऊं पीउ तुझमे म जाइसि परदेशि॥

—'यदि कहो तो तुम्हें हृदय में धर लूं, किन्तु, माधव, मुझे छोड़ एक कदम भी आगे न बढ़ाना। मैं तुम्हें आंखों में रखूंगी। मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूं, परदेश न जाओ।'

(गणपति माधवानल—कमकुण्डला दोग्धक प्रबन्ध)

गुजरात—

जो दीठे तन मन हसे, नयणां धरे सनेह,
ते माणस नवि मूकिये, प्राण त्यजे जो देह.

—'जिसको देखने से तन-मन हंसने लगे, व नयनों में प्रेम का संचार हो, उसे देह से प्राण निकलने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए।'

(नयसुन्दर, १६ वीं शताब्दि)

मारवाड़—

पंथि एक संदेशडो ढोलानौ समजाय
जो तुं ढोला नावीयो, श्रावण पैहली तीज
मैहरां बवेसी बीजली, मुंध मरेसी बीज
जिण दिस तुं सजन वसै तिणदिस मोहि सलाम
जयथी हम तुम वीछडे तबथीनी नयने नींद हराम

(कुशललाभ, मारूढोला चौपाई, १६वीं शताब्दी)

—'हे पथिक एक सन्देश मेरे प्रिय तक पहुंचा दे कि हे प्रिय यदि तुम श्रावण मास की

प्रथम तृतीया को न आये तो मेरा जीवन कठिन हो जायगा। हे प्रियतम, जिस दिशा में तुम बसते हो उस दिशा को मेरा नमस्कार पहुँचे। जब से तुम और हम बिछुड़े हैं, तब से नींद नाम को भी नहीं आई है।'

संयुक्तप्रान्त—

तन चितउर मन राजा कीन्हा।

हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।

गुरु सूआ जो पंथ दिखावा।

बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।

(पद्मावत, मलिक महम्मद जायसी, १६ वीं शताब्दी)

—'उसने तन चित्तौड़ में और मन राजा की ओर किया व हृदय में पद्मिनी का विचार किया। तोते रूपी गुरु ने मार्ग दिखाया; गुरु के बिना जगत् में निर्गुण को कौन प्राप्त कर सकता है।'

अवध—

तू दयालु दीन हौं; तु दानि हौं भिखारी

हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप-पुञ्जहारी।

नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसों

मो समान आरत नहीं आरतिहर तोसों।

(तुलसीदासजी, १६ वीं शताब्दी)

—'तुम दयालु हो मैं दीन हूं, तुम दान करनेवाले हो, मैं भिखारी हूं। मैं पाप करने में प्रसिद्ध हूं, व तुम पापों के समूह का नाश करने वाले हो। तुम अनाथों के लिए स्वामी हो और मेरे समान अनाथ कौन है। मेरे समान कोई दुःखिया नहीं है, व तुम्हारेस मान कोई दुःख का दूर करने वाला नहीं है।'

ब्रज—

हमारे प्रभु अवगुन चित ना धरो।

समदरसी है नाम तिहारो चाहो तो पार करो।

इक नदिया इक नार कहावत मैलोहि नीर भरो।

जब दोअ मिलि एक वरन भये सुरसरि नाम परो।

(सूरदासजी, १६ वीं सदी)

—'हे स्वामी हमारे दुर्गुणों पर विचार न करो। तुम्हारा नाम तो समदर्शी अर्थात् सबको बराबर देखनेवाले हैं। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मुझे भी इस भवसागर से पार कर दो। एक छोटी नदी कहलाती है व दूसरा नाला, जिसमें मैला ही जल भरा है। जब दोनों मिलकर एक रंग हो जाते हैं तब उसका नाम देवताओं की नदी गंगा पड़ जाता है।'

दिल्ली—

जाको जस है जगत में, जगत सराहै जाहि।

ताके जनम सफल है, कहत अकब्बर साहि ॥
पीथल जो मजलिस गै, तानसेन जो राग ।
हंसिवउ खेलवऊ बोलिवउ, गयऊ बीरबल साथ॥
(शाहनशाह अकबर, १७ वीं सदी)

—'जिसका यश जगत में व्याप्त है, जगत् जिसकी सराहना करता है, अकबरशाह कहते हैं कि उसके जन्म सफल हैं। पृथ्वीराज के जाने से राजदर्बार फीका पड़ गया, तानसेन के जाने से राग फीका पड़ गया; और हँसना, खेलना व बोलना सब बीरबल के साथ चला गया।'

पंजाब—

हरिबिनु तेरा कौन सहाई,
काकी मातु पिता सुत बनिता को काहु को भाइ।
धन धरति अरु सम्पति सगरो जो मान्यो अपनाइ।
तन छूटे कछु संग न चालै कहा ताहि लपटाइ।
(गुरुनानक, १७ वीं सदी)

—'हरि के बिना तेरा कौन सहायक है। कौन किसका माता पिता, पुत्र और स्त्री है, किसका भाई है, जो धन, भूमि सम्पत्ति आदि सब वस्तुओं को अपना मानता है। किन्तु इस शरीर के छूटने पर कुछ साथ नहीं आता, इन क्षणभंगुर वस्तुओं को लिपटे रहने से क्या फायदा है ?'

संयुक्तप्रान्त—

बेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत,
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में ॥
(भूषण कवि, १७ वीं शताब्दी)

—'शिवाजी ने प्रसिद्ध वेदों की रक्षा की; सारयुक्त पुराणों की रक्षा की; शुभ मुखों में राम नाम की रक्षा की। उन्होंने हिन्दुओं की चोटी व सिपाहियों की रोटी रखी तथा कंधे पर जनेऊ तथा गले में माला की रक्षा की।'

पंजाब—

पानी परम पुरुष पग लागो,
सोवत कहा मोह निद्रा में कबहुं सुचित हो जागो।
औरन कहँ उपदेशत है पशु तोहि प्रबोध न लागो।
सींचत कहा परे विषयन कहँ कबहुँ विषयरस त्यागो।
केवल कर्म भर्म से चिन्हहु धर्म कर्म अनुरागो॥
(जपजी, १७ वीं शताब्दी)

—'अपने हाथ उस परम पुरुष के चरण में लगाओ। मोहनिद्रा में क्या सोये हो, चेत में

आकर जागो। औरों को क्या उपदेश देते हो, तुम्हें स्वतः को तो अभी कोई बोध नहीं हुआ? पड़े-पड़े विषयों को क्यों सींचते हो? कभी तो विषयरस का त्याग करो। कर्म-मर्म को समझ धर्म-कर्म मे अनुराग करो।'

महाराष्ट्र—

पवित्र ते कुल पावन तो देश,
जेथें हरिचे दास जन्म घेती।
कर्मधर्म त्यांचे जाला नारायण,
त्याचेनि पावन तिन्हीं लोक ॥
(तुकाराम, १७ वीं शताब्दी)

—'वह कुल व देश पवित्र है, जहाँ परमात्मा का भक्त जन्म लेता है। नारायण ही उसके कर्म व धर्म बन जाता है, उसी के कारण तीनों लोक पवित्र होते हैं।'

पंजाब—

तभी गीतमंगल फतहि के सुनाऊँ।
तुमन कउ सिमर दुख सगले मिटाऊँ ॥
यही आस पूरण करहु तुम हमारी।
मिटे कष्ट गऊअन छुटै खेद भारी ॥
फतह सतगुरू की सबन सिऊँ बुलाऊँ।
सबन कउ शबद् वाहि वाहे ढहाऊँ ॥
(गुरु गोविन्दसिंह, १६ वीं शताब्दी)

—'तभी विजय के मंगलगीत सुनाऊँगा, जब आपका स्मरण कर सब दुःखों को मिटा सकूँगा। आप हमारी यही आशा पूरी करें कि गायों के कष्ट दूर हों और सब दुःख भी मिट जाय। सभी से सत् गुरु की फतह बुलवाऊं और "वाहे वाहे" शब्द का उच्चारण भी करवाऊंगा।'

कन्नड—

अन्नदानवनु माडदव होलेय।
होन्नु हणगलिसि कोडदवने होलेय ॥
कन्निकेयनु मारिकों बव होलेय ॥
होरियान बणके सोलुवने होलेय ॥
(विजयदास, १८ वीं शताब्दी)

—'जो अन्नदान नहीं करता वह हीन है। जो सोना और धनका उपार्जन करता है केवल गाडकर रखने के लिए, वह हीन है। जो कन्या को बेचता है, वह हीन है। जो कन्या के रूप से जीता जाता है, वह हीन है।'

गुजरात—

मंगल मंदिर खोलो दयामय, मंगल मंदिर खोलो
जीवनवन अति वेगे वटाव्युं द्वार उभो शिशु भोळो,

तिमिर गयुं ने ज्योति प्रकाश्यो शिशु ने उरमां लोलो
नाम मधुरतम रट्यो निरंतर, शिशु सह प्रेमे बोलो।
(नरसिंहराव, २० वीं शताब्दि)

—'हे दयामय, अपने शुभ मंदिर को जल्दी से खोलो। इस जीवनवन को जल्दी से पार कर भोला बालक आपके द्वार पर खड़ा है। अंधकार चला गया है, अब अपनी ज्योति का प्रकाश करो और इस बालक को अपने हृदय में स्थान दो। मैंने आपके मीठे नाम को निरन्तर रटा है, इस बालक के साथ प्रेमपूर्वक बोलो।'

संयुक्तप्रान्त—

सब देवन के देव प्रभु सब जग के आधार।
दृढ राखो मोहि धर्म में, बिनवौं बारंबार॥
चंद्रा सूरज तुम रचे चे सकल संसार।
दृढ़ राखो मोहि सत्य बिनवौं बारंबार॥
घटघट प्रभु तुम एक अज अविनाशी अविकार।
अभय दान मोहि दीजिये बिनवौं बारंबार॥
(मालवीयजी)

—'हे प्रभु, आप सब देवताओं के देव हैं, सब जगत् के आधार हैं। मैं बार-बार विनती करता हूँ कि मुझे धर्म में दृढ़ रखो। आपने चंद्र, सूर्य्य व सब जगत को बनाया है। मुझे सत्य में दृढ रखिये, मैं बार-बार विनती करता हूँ। हे प्रभु, घट-घट में आप ही एक अजन्म, अविनाशी व अविकार हैं। मुझे अभयदान दीजिये, मैं बार-बार प्रार्थना करता हूँ।'

बंगाल—

तुमि बंधु तुमि नाथ निशिदिन तुमि आमार।
तुमि सुख तुमि शान्ति तुमि हे अमृत पाथार॥
तुमि हो आनंद लोक जुड़ाओ प्राण नाशो शोक।
ताप हरण तोमार चरण, असीम शरण दीनजनार॥
(रवीन्द्रनाथ)

—'आप बन्धु हैं, आप हमारे रात-दिन स्वामी हैं। आप ही सुख, शान्ति व अमृत के आगार हैं। आप ही आनन्द स्वरूप हैं, शोक-को दूर कर सबको शांति दीजिये। आपके चरण ताप को दूर करने वाले हैं व दीन जनों की असीम शरण हैं।'

गुजरात—

एक ज्वाला जले तुज नैनन मां
रसज्योत निहालि नमु हुं नमु।
एक वीज जगे नभमंडलमां
रसज्योत निहालि नमुं हूं नमुं॥
('नानालाल')

—'तुम्हारी आँखों मे एक ज्वाला जलती है, उस रस को ज्योति को देखकर मैं नमन करता हूँ। आकाश में एक बिजली चमकती है उस रस-ज्योति को देखकर मैं नमन करता हूँ।'

केरल—

गीताक्कुमातावाय भूमिये इट मितु
मतिरियोरु कर्मयोगिये प्रसविक्कू
हिमद्विन्ध्याचल मध्यदेशत्तेक्वाणू
शममे शीलिच्चेलुमित्तरम् सिंहत्तिने।
गंगयारोलुकुन्न नाट्टिले शरिक्कित्र
मंगलम् कायकुम् कल्पपादपमुण्टायवरुन्न
नमस्ते गतवर्ष। नमस्ते दुराधर्ष।
नमस्ते सुमहात्मन्। नमस्ते जगद्गुरो।

कविवर 'वल्लत्तोल'

—'इस में सन्देह नहीं कि गीता की मातृभूमि ही ऐसे एक कर्मयोगी को जन्म दे सकती है, हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यप्रदेश में ही ऐसा एक शमशील सिंह दिखाई पड़ सकता है और गंगानदी की प्रवाह-भूमि में ही ऐसा एक मंगल फलदाई कल्पतरु उत्पन्न हो सकता है। हे जगद्गुरो! हे निस्पृह! दुर्द्धर्ष महात्मन्! मैं आप को बार-बार प्रणाम करता हूँ।'

आंध्र—

विपुल निशब्दगर्भन् निर्वेलविजन,
सीम मौन मुद्रांकित चिन्त बदुर,
तारकादुयि तारापथमुन परपु
ओ मनस्वि! भ्रान्ति चेहिन योगमेदि?

(के. अन्नमराजु शर्मा)

—'विपुल निःशब्द मे विजन सीम (प्रदेश) में बैठकर मौन मुद्रांकित चिन्तायुक्त तारक-द्वय (नयनद्वय) को तारापथ को तरफ लगाकर, हे मित्र, किस योग को साधना कर रहे हो।'

आसाम—

शत निराशारे भरा हृदयर
आशार प्रतिमा
प्रिया चारु मोर।
अकालत काडि निला दयामय
करिला ये मोक
छलना थोर॥

—'हे ईश्वर! तूने अकाल में रात-निराशा से भरे हुए मेरे हृदय की, आशा प्रतिमा—स्वरूप चारु को छीनकर मुझसे छल किया।'

उत्कल—

धन्य काठजोरी तो तीरे
नितिए परिचित्र
देखि केऊँ मूड मानसा
न हुअई पवित्र ॥

(गोपबन्धुदास)

—'हे सुन्दरी काठजोरी ! (एक नदी), तू धन्य है। तेरे दैनिक नये-नये शृङ्गार को देखकर ऐसा कौन पाषाणहृदय मूढ़ नर होगा, जो तुझे देखकर अपने को पवित्र न मानेगा ?'

ये दृष्टान्त गत पन्द्रहवीं शताब्दि के साहित्य से लिये हैं। इनके रचयिता हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, सिक्ख हैं। ये सब सरलता से समझे जा सकते हैं। इनकी भाषा तथा साहित्य-विषयक मौलिक तत्त्व एक ही हैं। १३वीं शताब्दि के पहले ये गुण अपभ्रंश में थे, उसके बाद व्रजभाषा में थे, आज हिन्दी में हैं। इस प्रकार से यदि हम अपनी भिन्न-भिन्न भाषा और साहित्य तत्त्वों का लघुत्तम निकालें, तो वह हिन्दी निकलता है।

संक्षेप में—

(१) प्राचीन काल में कृष्णा नदी के उत्तर में, भारत में एक ही भाषा के विविध रूप प्रयुक्त थे, और इन रूपों में मध्यदेश की भाषा सबसे अपूर्व थी !

(२) इतिहासकाल के प्रारंभ से याने ईसा से ७०० वर्ष पूर्व से मध्यदेश भारतीय राजकीय, सामाजिक और सांस्कारिक जीवन में प्रधान बल रहा है।

(३) मध्यदेश की पहली देशभाषा संस्कृत बनी और तब से मध्यदेश की भाषा संस्कृत के साथ निकट संबंध रखती है।

(४) संस्कृत ई० सन्० १३०० तक समस्त भारत में राजसभा और संस्कार-केन्द्रों की भाषा रही और तत्पश्चात् दो सौ वर्षों तक दक्षिण में संस्कार की भाषा थी।

(५) ई० सन्० १००० से १३०० तक कृष्णानदी के उत्तर में अपभ्रंश जनता की स्पष्ट भाषा और उसमें ही साहित्य रचा जाता था। पश्चात् ठीक ई० स० १८५० तक उत्तर भारत में व्रजभाषा साहित्य की श्रेष्ठ भाषा स्वीकारी जाती थी और बिहारी, अवधी, हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी गुजराती, पाली और मराठी इसके सरलता से समझ में आने वाले स्वरूप थे।

(६) जिस भाषा की सांस्कारिक प्रेरणा समस्त देश में सबसे बड़ा स्वाभाविकता का बल देती हो उसे यदि राष्ट्रभाषा कहें तो संस्कृत हमारी राष्ट्रभाषा है।

(७) यदि ई० स० १९३१ की जनगणना को ध्यान में लें तो ३४,९८,८८००० मनुष्य भारत और ब्रह्मदेश में हिन्दी और बर्मी भाषा बोलते थे। उनमें से २५,३७,१२००० संस्कृत-कुल की भाषा का व्यवहार करते थे। ४, ६७, १८००० संस्कृत-प्रधान द्राविड़ी भाषा का व्यवहार करते थे व इस वर्ष की गणना को लें तो सौ भारतवासियों में—

(अ) ९९ भारतीय भाषा बोलते हैं।

(आ) ३५ की मातृभाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी है।

(इ) ३४ हिन्दी हिंदुस्तानी से सम्बद्ध भाषा बोलते हैं।
(ई) १३ संस्कृत-प्रधान भाषा बोलते है।
(उ) ६ संस्कृत-प्रचुर भाषा बोलते हैं।
(ऊ) ३३ की भाषा देवनागरी में लिखी जाती है।
(ए) २७ की भाषा देवनागरी के किसी स्वरूप में लिखी जाती है।
(ऐ) २० की भाषा द्राविडी लिपि में लिखी जाती है।

(८) इन आंकड़ों की हकीकत देखते हुए जो भाषा संस्कृत-प्रधान हो, वही राष्ट्रभाषा हो सकती है।

(६) हिन्द की प्राचीन राष्ट्रभाषाओं की अखंड पीढ़ी में हिन्दी उतर आती है। इसकी शब्द-समृद्धि ८८ प्रतिशत बोलने वालों के लिए थोड़े बहुत अंशों में परिचित है। इसके बोलनेवाले तथा सरलता से बोल सकने वाले ६१ प्रतिशत हैं।

फलतः हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना नहीं है, वह तो राष्ट्रभाषा है ही।

× × × ×

इन सब प्रसिद्ध दृष्टान्तों से क्या सिद्ध होता है? ई० सन् १००० से लेकर अंग्रेजों के यहाँ आने तक एक राष्ट्रभाषा थी, जिसके भिन्न-भिन्न स्वरूप नर्मदा के उत्तर तीर पर साहित्य में प्रयुक्त होते थे और सामान्य जनता के लिए सुगम हो गये थे।

१६ वीं सदी में दक्षिण में उत्तर से आये हुए मुस्लिम कवियों ने फारसी लिपि में साहित्य-रचना शुरू की। इसका मूल तो उत्तर की हिन्दी में ही था, केवल इसमें ब्रजभाषा की समृद्धि न थी। उत्तर भारत के मुसलमानों की भाषा 'शुमाली' उर्दू कहलाई! दक्षिण के मुसलमानों की भाषा 'दक्खिनी' कहलाई। इस प्रकार हिन्दी का 'हिन्दुस्तानी रूप' शुरू हुआ। कवि 'वली' सन् १७२३ ई० के आसपास दिल्ली में आकर बस गया, तब वह उर्दू कविता को अस्तित्व में लाया। हिन्दी भाषा की उर्दू शैली मान्य की गई व उसे 'जावनी' या 'यावनी' नाम दिया जाने लगा। यह 'हिन्दुस्तानी' भी कहलाई। उसके बाद ब्रजभाषा और हिन्दुस्तानी का मिश्रण भी शुरू हुआ यह दिल्ली सल्तनत की भाषा गिनी जाने लगी। जिन्हें राज्याश्रय की ज़रूरत थी, वे हिन्दू भी उसे सीखने लगे।

दिल्ली प्रदेश में यह व्यवहार की भाषा 'खड़ी बोली' कहलाई। ब्रजभाषा, अवधी वगैरह 'पड़ी बोली' हो गई। पड़ी बोलियों को छोड़ १८ वीं सदी के अन्त में मुन्शी सदासुख, लल्लूलालजी और सदलमिश्र 'खड़ी बोली' को समृद्ध करने लगे।

दक्षिण से हिन्दुस्तानी भाषा उत्तर में आई तब तक मुसलिम कवि ब्रजभाषा अथवा हिन्दी में लिखते थे और वही व्यवहार की भाषा थी।

जब मुन्शी सदासुख और लल्लूलाल खड़ी बोली को समृद्ध करने लगे तब वे संस्कृत की मदद लेने लगे। उर्दू केवल दक्षिण के कवियों की शैली थी। पर जिसे राष्ट्रभाषा कह सकें वह न थी उर्दू, न थी हिन्दुस्तानी। वह तो ब्रजभाषा, राजस्थानी, अवधी और बिहारी के वेश में विहरती पुरानी राष्ट्रभाषा थी। वह साहित्य की भाषा थी, वह संस्कार की

भाषा थी। उसी के कारण प्रांत-प्रांत में संस्कार विनिमय होता था। अमरत्वदायिनी संस्कृत उसे पीढ़ी-पीढ़ी में नवजीवन देती थी।

यह ऐतिहासिक घटना भूलनी नहीं चाहिए। उर्दू मुसलमानों द्वारा उपयुक्त हिन्दी की एक शैली थी। हिन्दुस्थानी दिल्ली प्रदेश के आसपास की बाज़ारू बोली थी। हिन्दी तो शौरसेनी अपभ्रंश की दौहित्री, व ब्रज की पुत्री थी। उत्तर भारत की भाषा के साथ एकरूपता इसने साधी। संस्कृत ने इसे सदैव समृद्ध बनाया। यह तो जैसे कन्नौज-काल में अपभ्रंश थी, वैसे उत्तर भारत की राष्ट्रभाषा थी।

हिन्दी राष्ट्रभाषा को आज समस्त भारत स्वीकार कर रहा है। उसका कारण किसी की आज्ञा नहीं है। यह भाषा ही राष्ट्रभाषा होने के लिए ऐतिहासिक कारणों से निर्मित हुई है।

१. इसका बाज़ारू स्वरूप हिन्दुस्तानी समस्त भारत में समझा जा सकता है। इसी स्वरूप द्वारा प्रान्त-प्रान्त में वह जुदे रूप लेती है। इस व्यवहारू भाषा की मूल असली अपभ्रंश में है। इसका निर्माण दिल्ली-प्रदेश में होने के कारण यह हिन्दू-मुसलमानों के व्यवहार का भी साधन है।

२. संस्कृत, शौरसेनी प्राकृति, शौरसेनी अपभ्रंश और ब्रजभाषा में से यह क्रमशः उतरती आई है। इसलिए अपने पूर्वज के अधिकार से यह राष्ट्रभाषा है।

३. उत्तर भारत की समस्त भाषाओं के अन्तर्गत जो एकत्त्व सन् १८०० ई० से पूर्व ब्रजभाषा में प्रतिबिंबित था, वैसा ही आज इसमें प्रतिबिंबित है।

४. इसमें नैसर्गिक लक्षण है। इसमें संस्कृत की समृद्धि होने से भारत की संस्कृत-प्रधान और संस्कृत-प्रचुर भाषाओं का यह मिलन-स्थान हो सकती है। द्राविड़ भाषा बोलने वाले इसका सरलता से स्वीकार कर सकते हैं।

५. नागरी लिपि भारत में प्रतिशत ६० व्यक्तियों के लिए परिचित है। इसलिए इसे राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने में कम से कम प्रयत्न की ज़रूरत पड़ती है।

मैं अपना एक साधारण अनुभव कहता हूँ। मेरा है इसलिए इसे असाधारण नहीं कहा जा सकता। मुझे गुजराती और संस्कृत आती है। जब मैं नानकाना साहब में गया तब मैं पंजाबी समझ सका था। मद्रास मे तेलगू और मलयालम के व्याख्यान मैं समझ सका था। बंगाली और उड़िया भी थोड़ी-बहुत समझी जा सकती है। जब अरबीमय उर्दू सुनता हूँ तब भी अर्थ समझ में आता है। आज का समृद्ध गुजराती जानने वाला पुरुष और तामिल के सिवाय भारत की सभी भाषाओं को समझ सकता है।

दूसरी दृष्टि से हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में मैं सरलता से बोल सकता हूँ। मैंने हिंदी सीखी नहीं, फिर भी सरलता से पढ़ सकता हूँ। मैं अपनी गुजराती के आधार पर हिंदी बोलता रहता हूँ। श्रीनगर से मद्रास तक मैं राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक विषयों पर अपनी टूटी-फूटी हिन्दी बोला हूँ और सबको अपने विचार समझा सका हूँ। मैंने मुसलमानों के साथ भी इस भाषा का व्यवहार किया है, और वे मेरी बात न समझ सके, ऐसी बात

नहीं है।

इसका कारण क्या ? इसका कारण एक ही है कि हिन्दी भारतीय भाषाओं के समान तत्वों से बनी है। खासतौर पर सीखे बिना भी टूटी-फूटी हिन्दी द्वारा सभी भाषाओं के बोलने वालों के साथ बातचीत हो सकती है। इसीलिए यह राष्ट्रभाषा है।

संस्कृतमय हिन्दी कृत्रिम है, हिंदुओं की बनाई हुई है, इसमें साम्प्रदायिक हेतु है, यह सत्य से परे है। सन् १८२५ ई० में गुजराती गद्य बिलकुल ग्राम्य था। इसका विकास होने लगा और स्वाभाविक रूप से इसमें संस्कृत की समृद्धि आने लगी। ई० सन् १८५२ में हिन्दू और पारसी एक ही गुजराती लिखते थे। दोनों इसका विकास करने लगे। पारसियों के लिए संस्कृत सुगम न थी। उन्होंने अंग्रेजी की मदद से गुजराती का विकास किया। हिंदुओं ने स्वाभाविक रूप से संस्कृत की प्रेरणा पाई। इससे गुजराती समृद्ध, सुन्दर और शक्तिशालिनी बनी है। आज अंग्रेजी मिश्रित 'पारसी गुजराती' एक बोली-मात्र है।

राजा राममोहनराय ने बंगाली गद्य की नींव डाली। इसकी अभिवृद्धि हुई। बंकिम और रवीन्द्र ने इसे अपूर्व लालित्य से मढ़ा—संस्कृत की समृद्धि से।

मराठी लो, कन्नड़ लो, तेलुगू लो, मलयालम लो—अरे तामिल भी लो, संस्कृत की शक्ति बिना इनमें समृद्धि और सरसता आई ही नहीं है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यदि मैं विकास प्राप्त करता हूँ तो अपने अन्दर अस्तित्व धराती शक्तियों के प्रताप से ही। उसी प्रकार यदि भारतीय भाषा विकास पाये, तो वह संस्कृत की मदद से ही—दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

हिन्दी संस्कृत के बिना समृद्ध नहीं हो सकती। संस्कृत की प्रेरणा के बिना वह सरसता का वाहन नहीं बन सकती। संस्कृत इसकी जननी है। इस जननी से मुझे लज्जा नहीं आती। मैं अपनी इस मां की प्रेरणा लेता हूँ, इसलिए मैं किसी से माफी नहीं माँगता—माँगूँगा भी नहीं।

भारत एक मात्र योजनाओं का निर्जीव समूह नहीं है। वह ढोरों के रखने का 'पिंजरा पोल' नहीं है। वह तो महासमर्थ, जीवित ज्योतियुक्त प्रचण्ड व्यक्ति है। उसका भू-विस्तार केवल स्थूल देह है। उसके स्त्री-पुरुष उसके अंग हैं। उसका जीव उसके संस्कार हैं। उसके श्वास और प्राण उसके संस्कारों के मूल में रहनेवाली भावना है। वह जीता है, इन भावनाओं से। वह शक्ति चाहता है, इन भावनाओं को सिद्ध करने के लिए। यह स्वातंत्र्य के लिये तपश्चर्या करता है—इन भावनाओं का जगत् में विस्तार करने के लिए।

उसकी भाषा व साहित्य ने, उसके शब्दों ने, संगीत ने इन भावनाओं को पोषित किया है। उसी प्रकार इस भाषा व साहित्य द्वारा ही इन भावनाओं का पुनः सर्जन होता है। भाषा व साहित्य संस्कार व भावना के मूर्त्त स्वरूप हैं, वह इन सबों की प्रेरणा संस्कृत की शक्ति के बिना भाषा व साहित्य पराये हो जाते हैं; विचार, आचार व संस्कार में अपनापन नहीं रहता।

यदि भारत को जीवित रहना हो, यदि भारत को साहित्य व संस्कार विकसित करने हों, तो वह संस्कृत को कदापि छोड़ नहीं सकता। संस्कृत के द्वारा तो आर्यत्व जीवित रहा

है। इसके द्वारा तो युग प्रतियुग में हमें नवचेतन मिला है। इसकी समृद्धि के कारण हम जगत् के संस्कार-समारम्भ का अध्वर्युपद भोग रहे हैं। हिन्दी संस्कृतमय बने इसमें मैं दोष नहीं देखता। यदि हिन्दी संस्कृतमय न बने तो वह भारत के प्राण व्यक्त न कर सकेगी, भारत की सरसता को शब्ददेह न दे सकेगी, शिष्ट साहित्य का साधन न बन सकेगी व हमारे प्रान्तीय साहित्य का समन्वय कर भारतीय साहित्य तथा जीवन की नव घटना न कर सकेगी।

× × ×

अब मैं व्यवहार के प्रश्नों पर आता हूँ। हिन्दी राष्ट्रभाषा हो तो मुसलमानों का क्या? उर्दू का क्या? यह प्रश्न भाषा-विज्ञान का नहीं है। साहित्य के विकास का भी नहीं है। यह तो राजनीतिक प्रश्न है। राष्ट्रीय दृष्टि से या हिन्दू-मुसलिम-विरोध को टालने की दृष्टि से इस प्रश्न की चर्चा होती है। आज के जमाने के सभी प्रश्न राजनीतिक भौंरों के चक्कर में पड़ जाते हैं। मैं इस समय वास्तविक दृष्टि से इस प्रश्न की छानबीन करना चाहता हूँ।

(१) आज राजनैतिक क्षेत्र मे जल्दी हिन्दू-मुस्लिम एकता होना मुश्किल है।

(२) हिन्दू मुसलमानों के समागम में आने का क्षेत्र कम होता जाता है।

(३) हिन्दुओं के लिए फारसी व अरबी की समृद्धि पाना कठिन है; मुसलमानों को संस्कृति की समृद्धि प्राप्त करना मुश्किल है।

(४) अरबीमय उर्दू को हिन्दुओं द्वारा स्वीकार करवाने में मुसलमान अपनी साम्प्रदायिक विजय मानने लगे हैं। इस प्रकार की उर्दू स्वीकार करने में हिन्दुओं को स्वमान भंग प्रतीत होता है।

(५) हिन्दू संस्कृत-विहीन हिन्दुस्तानी को यदि राष्ट्रभाषा मानें तो राष्ट्रीय साहित्य की अभिवृद्धि पीढियों तक कुंठित हो जायगी। मुसलमान और पंजाब के हिन्दू यदि अफारसी हिन्दी लिखने जायें, तो सुन्दर साहित्य का सृजन नहीं कर सकते।

हिन्दी उर्दू का प्रश्न हिन्दू-मुसलमानों का नहीं है। इसमें काश्मीर और पंजाब के उर्दू बोलने वाले हिन्दुओं की दिक्कतों का भी अंश है। पर आज यह प्रश्न हिन्दू-मुसलमानों के विरोध का एक अंग हो गया है। जब तक मुसलिम जनता का आक्रमण-विलासी विभाग हिन्दुओं और उनके संस्कार तथा साहित्य के प्रति मान की वृत्ति धारण करना न सीखे, तब तक मुश्किलें कैसे मिटें यह मेरी समझ में नहीं आता। जिस दिन मुसलमान और हिन्दू स्वातन्त्र्य, संस्कार और साहित्य के विषयों में पारस्परिक स्वमान रखकर भागीदार स्वीकारेंगे उस दिन यह प्रश्न स्वयमेव हल हो जायगा।

पर जरूरत इस बात की है कि हिन्दी-उर्दू का प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र से हटाकर साहित्य-क्षेत्र में ले जाना चाहिए। काँग्रेस की नीति के अनुसार हिन्दी हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा रहे और राजनीति में हिन्दी और उर्दू दोनों को बिना टीका-टिप्पणी, बिना संकोच उपयुक्त करने का स्वातन्त्र्य दिया जाय। ऐसा करने से दो में से एक शैली का उपयोग करना चाहिए, या दोनों का मिश्रण करना चाहिए, यह दुविधा स्वयंमेव मिट जायगी। आज की परिस्थिति में हिन्दी और उर्दू दोनों के विकास को अवकाश है। एक न एक दिन इन दोनों के विकसित शैलियों

का एकीकरण स्वयमेव होगा। आज होना अशक्य है। इनका समन्वय आज हो जाय और हिन्दू-मुसलमान एक भाषा स्वीकारें यह मेरी दृष्टि में शक्य नहीं मालूम पड़ता।

तुलसीदास के राम-राज्य का वर्णन लीजिए—

राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका ॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम-प्रताप विषमता खोई ॥
बरनास्रम निज धरम, निरत वेदपथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग ॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि व्यापा ॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीति ॥
चारिहु चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं ॥
राम-भगति-रत सब नर नारी। सकल परमगति के अधिकारी ॥
(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

इसकी हिन्दुस्तानी कैसे हो सकती है? अगर की भी जाय तो उसका प्रतिशब्द अपनी आत्मा में कैसे सुनाई पड़ेगा? उसके लिए मर मिटने की शक्ति कैसे आयगी? इसमें तो शताब्दियों का हमारा जीवन बुना गया है। इसको एकदम बदलने में जीवन-झरने खारे हो जायँगे।

पर महात्माजी मानते हैं कि आज हिन्दी-उर्दू का समन्वय इष्ट है और शक्य भी है। यदि महात्माजी अशक्य को शक्य बना सकें तो हमें उसका स्वागत करना ही होगा। मेरे जीवन-काल में यदि यह चमत्कार हो तो मैं अपना जीवन धन्य समझूं। इतनी तो मैं आशा रख सकता हूँ कि दोनों प्रवृत्तियों के लिए देश में स्थान है। दोनों के बीच में विरोध या वैमनस्य हो जाय तो जरूर हानि होगी। महात्माजी के इस सिद्धान्त को मानने वाले और सम्मेलन परस्पर सहिष्णुता से अपने-अपने धर्म का अनुसरण करें।

सम्मेलन का मार्ग तो सीधा ही है। नागरी हिन्दी का विकास, विस्तार और प्रचार यही उसका धर्म है। इस स्वधर्म-सिद्धि में ही उसके जीवन का साफल्य है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी एक-मात्र संयुक्तप्रान्त की स्वभाषा नहीं है, राजस्थान की भी है। राजस्थान के बन्द पड़े भण्डारों की समृद्धि अभी इसमें लानी है। जैसे पहले गौर्जरी और शौरसेनी अपभ्रंश एक दूसरे को अधिक सुन्दर बनाती थीं वैसे ही राजस्थानी और हिन्दी का समन्वय प्रथम सिद्ध करना चाहिए। हिन्दी को यदि राष्ट्रभाषा होना है तो राष्ट्र की अन्य भाषाओं की शक्ति और सौन्दर्य इसमें लाना चाहिए।

हिन्दी राष्ट्रभाषा हो यह एक बात है। पर व्यवहार और राजनीति के लिए भी मुझे 'भारती' भाषा चाहिए, जिसे सभी भारतीय सीखें, जिसमें सब बोलें, लिखें, जिसमें समस्त भारत साहित्य का सृजन करे; जैसे इग्लैण्ड की भाषा अंग्रेज़ी, फ्रान्स की फ्रेंच, वैसे ही भारत की भाषा भारती कब बने इसकी मुझे उत्कट इच्छा है। हिन्दी 'भारती' रूप कब ले इसकी मैं बाट जोह रहा हूँ।

जैसे अपभ्रंश के सत्ताईस रूप थे, वैसे ही शुरू में इसके भी सत्ताईस रूप हों। इस 'भारती' भाषा का विकास करने के लिए हिन्दी भाषा-भाषियों को उदारता से दूसरी भाषाओं की विशिष्टतायें अपनानी पड़ेंगी। जो 'भारती' भाषा मेरी नजरों के सामने आती हैं, वह हिन्दी नहीं, पर प्रान्त-प्रान्त की शक्ति से प्रफुल्ल भारत की भाषा—जिसमें प्रत्येक विद्यापीठ में उच्च शिक्षा दी जाती हो, जिसमें अपने विचार और व्यवहार विज्ञान और कल्पनायें संस्कार और सरसता मूर्तिमान् होते हों, जिसमें संस्कृत का प्राधान्य होने पर भी अरबी, फारसी व अंग्रेजी की दौलत हो, जिससे हम अपनी संस्कृति का पाठ जगत् को पढ़ा सकें। आप कहेंगे कि यह स्वप्न है, तो स्वप्नद्रष्टा रहना ही मैंने अपना धर्म माना है। आप कहेंगे कि यह अशक्य है, तो अशक्य यदि शक्य न होता हो तो मानव-प्रयत्न का अर्थ मुझे दिखाई नहीं पड़ता।

यदि भारत जीवित, स्वतन्त्र और सशक्त बने, तो उसे 'भारती' द्वारा ही आत्मसिद्धि प्राप्त होगी। इस भाषा का सृजन भारतीयों का ध्येय होना चाहिए।

इस ध्येयसिद्धि का प्रथम प्रयत्न तो प्रत्येक प्रान्त में, प्रत्येक विद्यापीठ में हिन्दी का सार्वदेशीय अध्ययन ही होना चाहिए। उच्चतम शिक्षा के लिए हमें सामग्री तैयार करनी चाहिए, और एक संस्था ऐसी बनानी चाहिए जो प्रत्येक भाषा का साहित्य हिन्दी में हमेशा प्रकाशित करे। ऐसे ही उद्देश्य से मैंने 'हंस' निकाला था और 'भारतीय साहित्य परिषद्' की स्थापना करने में भाग लिया था। आज इसी उद्देश्य से मैं छोटे से 'सर्व भाषा मन्दिर' की योजना बना रहा हूं।

इसके लिए हिन्दी विद्यापीठ की जरूरत है। आज राजस्थान में अनेक राजा हैं। क्या ऐसा स्थान नहीं मिलेगा जहाँ हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना हो सके? क्या हमारे राजाओं और धनाढ्यों की मनोदशा इतनी संकुचित हो गई है कि ऐसे विद्यापीठ की स्थापना नहीं हो सकती? यदि सम्मेलन पांच वर्षों तक एकाग्र चित्त से प्रयत्न करे, तो ऐसा विद्यापीठ अवश्य स्थापित हो सकता है। श्रद्धा और उत्साह से क्या शक्य नहीं है?

मैं आप सबसे—जिन तक मेरी आवाज पहुँच सकती है उन सबसे—विनती करता हूं कि अन्य सब प्रवृत्तियाँ गौण हैं। भारत को 'भारत विद्यापीठ' की जरूरत है।

राजस्थान, मालवा, मध्यप्रान्त और गुजरात—कनौज के प्रतिहारों का 'जुर्ज' अथवा गुर्जरदेश की तो स्वाभाविक राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है। पर इनकी हिन्दी राजस्थानी अंशों से समृद्ध होगी। इसीलिए विद्यापीठ की योजना राजस्थान अथवा मध्यप्रान्त में हो तो राष्ट्रभाषा का विकास जल्दी हो।

× × × ×

यह सम्मेलन केवल हिन्दी भाषा-सम्मेलन नहीं है, साहित्य-सम्मेलन भी है। यह साहित्य सेवियों का समारम्भ है। आज भारत के प्रान्त-प्रान्त में सुन्दर साहित्य प्रकट हो रहा है। अभी यह सब अन्य प्रान्तों के लिए सुलभ नहीं हुआ है, तथापि इन सब की विकास—रेखायें एक-सी हैं।

पिछले पचहत्तर वर्षों से सांस्कारिक पुनर्घटना का युग चल रहा है। भारतीय साहित्य

और यूरोपीय साहित्य के परस्पर संघर्ष से हम लोगों ने एक नई प्रणाली चलाई है। उपन्यास, गद्य, नाटक, कहानी, जीवन-चरित, आत्मकथा, गीति-काव्य, पद्यनाटक, खण्डकाव्य आदि नये साहित्य-स्वरूपों का सृजन हमने प्रारम्भ किया है।

बंकिम के ऐतिहासिक उपन्यास, रवीन्द्रनाथ और इकबाल के काव्य, नानालाल का गीतिकाव्य, प्रेमचन्द के सामाजिक उपन्यास, गांधीजी की आत्मकथा, भारती के राष्ट्रगीत आज के जगत् के साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पर सरसता की हमारी साधना में अभी बहुत न्यूनता है।

भारत तो साहित्यस्वामियों की भूमि है। जगत की अमर और अपूर्व साहित्य-कृतियों में हमारा भाग सब से बड़ा है। ग्रीस ने होमर का 'ईलीयड' और एस्काईलिस का 'प्रोमिस्थियस : इटली ने वर्जिल की 'ईनीयड', डान्टे की 'डिवाइन कामेडी' इग्लैंड ने शेक्स-पियर का 'हेमलेट' और 'ओथेलो'; जर्मनी ने गेटे का 'फाउस्ट'; फ्रांस ने ह्यूगो का 'ल मिझ-राब्ल' और रशिया ने टॉल्स्टॉय का 'एना केरेनीना' जगत् को दिया है। मध्य एशिया ने अरे-बियन नाइट्स दिया। अकेले भारत ने 'महाभारत' और 'रामायण', कालिदास का 'शाकुन्तल', 'भागवत' और 'रामचरितमानस' दिये हैं। ये शुद्ध साहित्य के गगनचुम्बी गिरिशृंग हैं। ऐसे गिरिशृङ्गों की भव्यता अर्वाचीन भारतीय साहित्य को दुष्प्राप्य है। क्यों? ३५ वर्षों से साहित्य-सेवा करते हुए यही प्रश्न मेरे मन में बार-बार उठता है।

इसका एक कारण तो यह है कि हमने मध्यकालीन प्रणालियों को अब तक छोड़ा नहीं। अभी तक हम भाव-प्रधान साहित्य को सुन्दर मानते हैं। शब्दाडम्बर का हमारा प्रेम छूटता नहीं। साहित्य में सद्बोध होना चाहिए, इसे हम भूल नहीं सके।

शिष्ट साहित्य का प्राण तो केवल सरसता ही हो सकती है। इसकी पंक्ति-पंक्ति से जीवित व्यक्ति, वास्तविक प्रसंग और मानवता की मौलिक शक्तियाँ तथा अशक्तियाँ खड़ी हो जानी चाहिएं। ऐसे साहित्य की सृष्टि के लिए हमें साहित्यकार का यह अधिकार स्वीकार करना ही चाहिए कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक साहित्य में सरसता की सृष्टि कर सके। हिन्दुस्तान में यह मान्यता है कि साहित्यकार समाज का गुलाम है। यूरोप में भी ऐसा मत प्रचलित हुआ है कि साहित्यकार को सामुदायिक धुन के अनुसार साहित्य का सृजन करना चाहिए। स्टालिन ने फरमान निकाला था कि पंचवर्षीय योजना (फाइव इयर प्लैन) के आधार पर ही शुद्ध साहित्य की रचना होनी चाहिए। साहित्यकार मानों मिल-मज़दूर हो, जिससे उसकी भी सोवियट निकाली थी। हमारे यहाँ भी प्रगतिशील साहित्य, ग्राम साहित्य, अधमोद्धारक साहित्य लिखना चाहिए, ऐसी घोषणा से साहित्यकारों की स्वतन्त्रता छीन ली जाती है। 'मेड टू आर्डर' रचनाएं प्रचार हैं, साहित्य नहीं।

मैंने ई० सन् १९१६ में 'कामचलाऊ धर्मपत्नी' कहानी लिखी, तब गुजरात में कितने ही लोगों ने व्याख्यान में कहा कि इसके लिखने की अपेक्षा मेरे हाथ कट जाते तो अच्छा होता। मेरा 'पृथ्वीवल्लभ' नामक उपन्यास जब चित्रपट पर आया, तब कन्नड की एक सभा ने मुझे एक प्रस्ताव भेजकर कहा था कि मैं ऐसा न लिखूं और उनकी बतलाई हुई पद्धति के

अनुसार ही उपन्यास लिखूँ ।

पर मैं साहित्य लिखता हूँ तो किसी दूसरे के लिए नहीं—मैं तो अपना हृदय चीरकर उसमें भरे रत्नों को अपनी आत्म-सिद्धि के लिए बाहर लाता हूँ । जो उसका पारखी हो वह उसे पसन्द करे, जो न हो वह उसे फेंक दे । पर मैं अपनी कल्पनाओं, संस्कारों और भावनाओं से घड़ी हुई सरसता को ही जन्म दूँगा । मैं भाड़े पर लिये छोकरों की मां बनना पसन्द नहीं करता ।

३४ वर्षों की साहित्य-सेवा के पश्चात् मैं उगते हुए साहित्यकारों के लिए यह सूत्र उच्चारता हूँ । साहित्यकार तो स्वतन्त्र स्रष्टा है । नीतिविवेचन, लोकमत, राजमत या नेता मत की शृङ्खलाएं उसे स्पर्श करती नहीं । उसकी कल्पना के पक्षच्छेदन करने का किसी को अधिकार नहीं । उसकी दृष्टि तो अमेय काल पर पड़ती है, उसे संकुचित करने का किसी को अधिकार नहीं । उसके हृदय में बसती सरसता ही पूजा की पात्र है । अपने हृदय को चीरकर देखने और दूसरों के निरीक्षण के लिए उसे मूर्तिमान् कर दिखाने में ही उसका मोक्ष है । जो साहित्य-कार इस आदर्श से च्युत होता है, वह नट, विट व गायक की भूमिका पर है; जो उसे श्वास और प्राण मानता है, उसे ही साहित्य-स्वामियों की प्रेरणा प्राप्त करने का अधिकार है ।

जगत के श्रेष्ठ साहित्य स्वामी तो भगवान् व्यास हैं । उन्होंने नहीं लिखा अपने जमाने के लिए, नहीं लिखा किसी को खुश करने के लिए । ब्रह्मा ने तो क्षणजीवी सृष्टि सरजी । इस 'अचतुर्वदन ब्रह्मा, द्विबाहुरपरोहरिः, अभाललोचन शम्भु' ने सदा से अमर्त्य, सदा से प्रेरणा देनेवाले स्त्री-पुरुषों की सृष्टि रची है ।

भगवान् व्यास की प्रेरणा लेकर भारतीय साहित्यकार अपने साहित्य को गगनचुम्बी बनावें, इसी प्रार्थना के साथ मैं अपने कथन को समाप्त करता हूँ ।

साहित्यिक पुनर्विधान और सौन्दर्यबोध[1]

परिषद् के अध्यक्ष पद से साहित्य के सम्बन्ध में भी मुझे कुछ कहना चाहिए। इस अवसर पर मैं साहित्य की ऐतिहासिक पर्यालोचना करने की अपेक्षा दृष्टिकोण की अभिव्यंजना ही करूंगा। यह मैं अभिमान या आत्मकथन के उद्रेक से नहीं कर रहा हूँ, किन्तु इसलिए कि मेरा साहित्य सम्बन्धी दृष्टिबिन्दु स्पष्ट हो जाय।

मुझे 'मेरी कमला' लिखे अड़तीस वर्ष हो गए। १६११ में 'सरस्वती चन्द्र' का अस्तोन्मुख युग था। अनेक महानुभाव इस पुस्तक में जीवन और समाज के सिद्धान्तों के अन्वेषण में व्यस्त रहते। तब इंगलैंड के विक्टोरिया-युगके साहित्यादर्शों ने हमारे साहित्य-प्रेमियों को मुग्ध किया था। संस्कृत साहित्य का प्रभाव प्रबल था। भारत के सांस्कृतिक पुनर्विधान का आरम्भ हो चुका था।

जब सांस्कृतिक पुनर्विधान होता है, तब जीवन के नव-प्रभात का उदय होता है। नई ज्योतियों की मोहिनी मानवों को विमुग्ध करती है; नये मधुर स्वर उल्लास की प्रेरणा देते हैं, अन्धकार के आवरण का उद्भेदन करने के लिए हृदय मचल उठता है। स्थिर-वारि नये वेग से प्रधावित होता है, संस्कार नये ताल पर नृत्य करने का उपक्रम करते हैं।

पुनर्विधान की कला का आविर्भाव दो संस्कृतियों के संघर्ष से होता है। उसके स्वरूप में शिशु-स्वरूप के सदृश दो संस्कृतियों के बाह्य स्वरूपों की छाया दृष्टिगोचर होती है। उसकी आत्मा में दोनों के तत्वों के एकीकरण से प्रादुर्भूत सजीव अपूर्वता का प्राण प्रतिबिम्बित होता है।

इस प्रकार का पुनर्विधान गुप्तकाल में हुआ था। इसकी कला कालिदास ने, अजन्ता के कलाकारों ने और भागवतकार ने मूर्तिमान की थी। शाकुन्तल में भास का अनुकरण है सही, किन्तु उसकी संवादी सरसता की आत्मा तो सर्वथा नवीन है। यही नवीनता मेघदूत और कुमारसम्भव की शोभा को बढा रही है।

१४ वीं सदी में यूरोप में पुनर्विधान हुआ था। दांते इसका साहित्य-स्वामी था। उसकी 'डिवाइन कामेडी' में वर्जील की छाया है। उसकी आत्मा नई है और 'नोवा विटा' में उसका स्पष्ट दर्शन होता है। लियोनार्डो-द-विंची और शेक्सपियर भी इसी वसन्त के पक्षी हैं;

१ गुजराती-साहित्य परिषद् के १७ वें अधिवेशन (१९४९) में जूनागढ (सौराष्ट्र) में दिये गए गुजराती भाषण का एक अंश।

उन्होंने जीवन के संगीत का नये उल्लास के साथ गायन किया।

उसी शताब्दी में भारत में भारतीय और ईरानी संस्कृतियों का संघर्ष हुआ। उससे भक्ति-युग के साहित्य का प्रस्फुटन हुआ। इसकी आत्मा को चण्डीदास और विद्यापति, नरसिंह और मीरा तथा साहित्य-स्वामी तुलसीदास ने शब्दाकार प्रदान किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में इसी प्रकार का उषाकाल हमारे भारत में उपस्थित हुआ। यूरोपीय और भारतीय संस्कृतियों का संघर्ष हुआ; इसमें से पुनर्विधान प्रकट हुआ। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने उसे सर्जनात्मक साहित्य के रूप में ग्रहण किया। 'विषवृक्ष', 'कृष्णकान्त का विल', 'दुर्गेशनन्दिनी', 'देवी चौधरानी' और 'आनन्दमठ' यह हमारे पुनर्विधान के सीमास्तम्भ बने।

गुजरात में पुनर्विधान लज्जितानन होने लगा। नर्मद ने पुनर्विधान की आत्मा विकृत-रूप में देखी। उनकी प्रारम्भिक स्थूल रस-धारा में हम लुक-छिपकर गोते लगाते रहे। पुनर्विधान-विवेचन-शास्त्र के संस्थापक नृसिंहराव बहारवटिया माने जाते हैं। 'भद्र'भद्र' और 'हृदय त्रिपुटि' का अध्ययन किया जाता है सही; किन्तु शरमाते-शरमाते।

सरस्वतीचन्द्र का प्रथम भाग हमारे पुनर्विधान का नवीन पुष्प है। इसमें नूतनतम अनुभव और सरसता के दर्शन करने की उत्कंठा पंक्ति-पंक्ति में पाई जाती है—लिपिबद्ध है। दूसरे भाग में गोवर्धनराव निरी सरसता के दर्शन करते हैं—गुणसुन्दरी के सृजन में; परन्तु पुनर्विधान की हिलोरें लेते हुए जल से बाहर निकलने के पश्चात्। उधर बंकिम नये जीवन के सुभग चित्रों का आलेखन और 'बन्दे मातरम्' की रचना करते हैं; 'आनन्दमठ' के साधुओं का सृजन कर देशोद्धार की नवीन मन्त्र-दीक्षा देते हैं, तब गोवर्धन राव की कलकलाती आत्मा प्राचीन प्रणालिका को सोने रसे और धम्पटराव का चित्रण कर लोकमान्य तिलक की विडम्बना करती है। नृसिंहराव बालाशंकर, बलवन्तराय, कान्त और कलापी के काव्यों में नये उल्लास के दर्शन होते हैं। ये सभी निर्बन्ध वातावरण की भूमि में उत्पन्न हुए होते—जहां मानवता मुक्त विहार कर सकती है, वहां तो उनकी सरसता का दर्शन अत्यन्त अद्भुत और अलौकिक होता।

पुनर्विधान की सृजनता की दो दृष्टियां होती हैं—एक अधीरता के साथ नये सौन्दर्य का अनुसन्धान करती है, दूसरी मानव-हृदय को विश्व का केन्द्र मानती है। पुनर्विधान का कलाकार प्रगल्भ और आत्मकेन्द्रीय होता है; प्रणालिकाओं का भङ्ग करता है और नई प्रणालिकाओं का सूत्रपात करता है। कबीर के समान 'हाथ में कुण्ढ, बगल में सोंटा' लेकर वह चतुर्दिक् अपना ही आधिपत्य मानकर विहार करता है।

चण्डीदास रजकीणी धोबिन के प्रेम को वेदमन्त्र मानते हैं; मीरा अपने प्रणयोफान से 'गिरिधर नागर' का पूजन करती है। तुलसीदास 'सीताराम' के एकाकार में अन्तर्निहित और पागल दिखाई देते हैं, वाल्मीकीय रामायण से अनुपम झलक सींचकर रमणीयता को नया स्वरूप प्रदान करते हैं।

कालिदास की कला संयमित है। फिर भी कान्ताविरह-व्याकुल यक्ष के भावना-

संगीत में, उमा के अमर संवरण में, पुरूरवा के प्रणयोन्माद में जब स्वानुभव की अभिव्यक्ति की, तब इस प्रगल्भ कलाकार को शिष्टाचारियों ने उद्दण्ड अवश्य माना होगा।

जब रूसो ने आत्मकथा लिखी, गेटे ने 'सारोज आफ वार्टर' की रचना की, बायरन ने 'चाइल्ड हेरल्ड' का सृजन किया, तब इन आत्मकेन्द्रित कलाकारों ने अपने आक्रन्दनों से अनन्त-काल को प्रतिध्वनित किया। इनमें स्पष्टता थी; आत्म-निमग्न आत्मा का अहंभाव था।

इस प्रकार के सृजन हल के समान मानवता के पर्त ऊपर-नीचे करते हैं और उसमें सन्निहित सजीवता को उत्तेजना प्रदान करते हैं तथा सरसता में नया रूप प्रदान करने की शक्ति भरते हैं। गुजराती स्वभाव को धृष्टता का उत्कर्ष करने की भावना आई और आत्म-केन्द्रीयता को किसी भी बहाने डगमगा देने में लाभ प्रतीत हुआ। नानालाल में सौन्दर्य-दर्शन की इच्छा थी, किन्तु वह मात्र वाग्विलास में सीमित रही। सुवर्णमय पात्र में सत्य छिपा हुआ है, यह मानकर वह पात्र को ही सर्वस्व मान बैठे। उनका आदर्शवाद और उपदेश-वृत्ति 'वसन्तोत्सव' के पश्चात् इतनी सबल हुई, कि सरसता का दर्शन उन्हें दुष्प्राप्य हो गया। मेघाणी पुनर्विधानकालीन कवि थे। लोककथा और लोकगीत की सरसता अर्वाचीन साहित्य में उन्होंने ही स्थापित की।

इस सन्धिकाल में मेरे मानस और सृजन का निर्माण हुआ। विभिन्न पुनर्विधानों के उषाकाल में निर्मित उल्लास-तरंगों ने १६०२ से १६१३ तक मेरे राग-रंग को उल्लसित कर दिया। उन्होंने मेरे सृजन को उत्कर्ष प्रदान किया।

जब मैंने लिखना आरम्भ किया, तब गुजराती का तनिक भी अध्ययन नहीं किया था। मैं अपने साहित्य में प्रचलित प्रणालिकाओं से अज्ञात था। मेरे स्वभाव, कल्पना और सृजन में रंगीनी थी, अतः पुनर्विधानकालीन साहित्य-स्वामियों की प्रेरणा मेरे लिए जीवनदायिनी सिद्ध हुई। फलतः भावी जीवन के आदर्शसृजन में निमग्न होते हुए मेरी कल्पना ने सोलंकी काल और वेदकाल के स्वतन्त्र जगत् में भवन निर्माण करना आरम्भ किया। यह भी पुनर्विधान युग के कल्पना-विहार का एक लक्षण है। मेरी कल्पना पर होने वाले संस्मरण, मेरी स्वानुभव-शक्ति, मेरी आकांक्षा, तरंग और भावना—सभी मेरी पुस्तकों में सजीव पात्र बनकर विहार कर रहे हैं। कोई जानकार विवेचक हो, तो कह सकता है कि मेरी कृतियां कितने अंशों तक विस्तृत आत्मकथा हैं।

गत बीस वर्षों में अनेक साहित्यकारों ने गुजरात में सरसता का दर्शन कहानी और कविता में किया है। किन्तु गांधीजी-जैसे विश्ववंद्य उपदेशक के प्रबल प्रभाव ने सारस्य दर्शन कठिन कर दिया। उनके मतानुसार साहित्य उपदेश और अधमोद्धार का साधन है। उनकी प्रचंड शक्ति ने साहित्यसृजन पर अदृश्य मानसिक नियन्त्रण स्थापित किया और साहित्य के प्रवाह को उन्होंने उपदेश, पीड़ितोद्धार और सामयिक विषयों की ओर उन्मुख किया। यह प्रभाव साहित्यकारों पर ही नहीं हुआ, आचार और विचार पर भी हुआ है। कानून और सरकारी आदेशों से जनता के छोटे-बड़े आचार नीतिमान करने का प्रयास होता है। इतिहास में इस प्रकार के अनुभव नवीन नहीं। महाप्रतापी व्यक्ति के अनिवार्य प्रभाव

का यह परिणाम है। सरस साहित्य के अभाव में गुजरात ने अन्य प्रान्तों के साहित्यानुवाद पर जीना सीखा है। यह खेद की बात है। कहां है हास्यरस—दवे के पश्चात् ? कहां है नाटक और काव्य—मेघाणी, चन्द्रवदन, उमाशंकर आदि के पश्चात ? कहां है नवीन शैली का प्रयोग ? कहां है कहानियों का नवोत्थान ? हम अनुभव करते हैं, किन्तु अनुभव को सरस बनाकर शब्दों मे मूर्तिमान नहीं कर सके। यह युग-परिवर्तन की त्वरित गति का परिणाम है।

सच्ची कला स्वानुभव कथन पर ही निर्भर करती है। कलाकार स्वानुभव की सृष्टि के वास्तविक चित्रों का ही अङ्कन कर सकता है। समय के क्षणिक तत्त्व और प्रचारक वृत्ति—दोनों से परे जो सारस्य है, वही शाश्वत है; सनातन मानव हृदय की अमर भावना है। शिष्ट साहित्य का सृजन सनातन हृदय की उत्कण्ठा पर होता है और इसी से युग-युग मे उसी की प्रेरणा मनुष्यों की उत्कण्ठा को छिपाती है। अब से २५ सौ वर्ष पहले यूनान-द्वीप पर विहार करती हुई एक वारांगना के गीत का अवशेष, चौदह सौ वर्ष पहले एक गुप्तकालीन कवि की सौन्दर्य-दृष्टि, चार सौ वर्ष पहले गाये गये चित्तौड़ की क्षत्रिय विधवा के वियोग-गान—यह सब युग-युग की मेरी और आपकी सारस्य-भावना को क्यों घोषित कर रहे हैं ? कारण यही है कि सदियों के प्रवाह में भी मानव हृदय वैसे का वैसा ही बना हुआ है। सौन्दर्य-उत्कण्ठा का प्रकार भी एक ही है। यह उत्कण्ठा जब शब्द-शरीर धारण करती है, तब अनन्त काल तक सुसंकृत हृदय मे उद्वेलन उत्पन्न करती रहती है।

यह सरसता क्या है ? 'नेति-नेति' से तो इसके लिए बहुत कुछ कहा जा सकता है। संवाद सरसता नहीं, सप्रमाणता नहीं, सौन्दर्य भी नहीं। शब्द और अलंकृतियां तो इसके प्रतीक मात्र हैं, अन्य को इसका दर्शन कराने के वाहन हैं। किन्तु कवि दर्शन कराता है—किस वस्तु का ? सरसता क्या है ? एक अनुभव मुझे होता है और स्मृति-पट पर अंकित हो जाता है। मेरी कल्पना उसमें रंगीनी भर देती है। फिर सृजनता का वेग आता है और यह अनुभव शब्द या अन्य किसी वाहन द्वारा मैं व्यक्त करूं और उस वाहन के स्पर्श से श्रोता को उसका अनुभव होता है और उसमे अन्तर्निहित सरसता के दर्शन होते हैं।

निरे अनुभव मे सरसता नहीं होती। सरसता अनुभव मे ही होती, तो सभी कवि बन जाते। सभी माताएं प्यार करती हैं, किन्तु भागवतकार ने ही यशोदा के प्यार को सरस रूप प्रदान किया। अनेक युवक युवतियों को देखकर मुग्ध होते हैं, किन्तु कालिदास ने दुष्यन्त की मुग्धावस्था को सरसता से ओत-प्रोत कर दिया। कवि की कल्पना में जो स्वानुभव का चित्र था, उसी से यह सरसता आई।

स्वानुभव जब प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी होता है, तब वह स्मृति-पट पर अंकित हो जाता है और कल्पना की समृद्धि आकर्षण करती है। जब इस अनुभव के लिए हम पिपासु बनते हैं, तब कल्पना में रह कर यह चिरंजीवी होता है। जब हम उस उत्कण्ठापूर्ण अनुभव-चित्र पर एकाग्र चित्त करते हैं, तब इसमें सरसता का रस भरने लगता है और जब हम इस चित्र में तल्लीन होते हैं और उसके साथ तन्मयता की साधना करते हैं, तब सृजन होता है। यह अनुभव जब शब्द या अन्य प्रतीक द्वारा मूर्तिमान होता है, तब यह प्रतीक समीपवर्ती कल्पना

को उत्तेजित करता है और उसी प्रकार का सरस अनुभव उसे कराता है।

इस प्रकार सृजन के चार अंग हैं—संवेग या लालसा, कल्पना-समृद्धि, मानसिक चित्र पर एकाग्रता और तन्मयता। इस सृजनता का नियम मात्र साहित्य पर लागू नहीं होता। जब शब्दों द्वारा सारस्य का सृजन होता है,तब शिष्ट साहित्य का प्रादुर्भाव होता है। जब कलाकृति द्वारा सृजन होता है, तब सुन्दर स्थापत्य, शिल्पाकृति या चित्र प्रकट होता है। नाद द्वारा मोहक संगीत की सृष्टि होती है। इन सबका सारस्य तो कलाकार की कल्पना में ही निहित रहता है।

संवेग या लालसा कल्पना में खलबली उत्पन्न करती है। उसमें से जिस प्रकार जल से लक्ष्मी की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार सृजन का आकार मूर्त्त बनता है उसके साथ सृजक तन्मय होता है अतः सृजन होता है। इस प्रकार कल्पना द्वारा सर्जन करते हुए सरसता बाहर आती है। यह सरसता-चित्तवृत्ति—जिसे हम अव्यक्त मनोदशा कह सकते हैं—से उद्भूत होती है। इस प्रकार सृजन की व्याख्या दी जा सकती है—अव्यक्त मनोदशा में निहित अपूर्वता जब कल्पना में मूर्त्त होती है और सृजन चित्तवृत्तियों को उसमें लीन कर सकता है, तब इस अपूर्वता की अभिव्यक्ति वाहन द्वारा की जाती है, तब सृजन होता है।

किन्तु यह सत्य नहीं कि सरसता का सृजन मात्र साहित्य या कला में होता है। जब आचार द्वारा होता है, तब हम इसे संस्कार कहते हैं। स्वर्गीय आनन्दशङ्कर ध्रुव आचार द्वारा सरसता को मूर्तिमान करते थे। हैदराबाद के कितने ही प्राचीन मुस्लिम कुटुम्बों के स्त्री-पुरुषों के आचार को देखते हुए हम जंगली या असभ्य दिखाई देते हैं। ऐसे अनेक वयोवृद्ध मैंने देखे हैं, जिनके नमस्कार से, जिनको समाचार पूछने की रीति से सरसता का निर्झरण होता है।

सुन्दरतम प्रणय-व्यवहार में और दाम्पत्य-जीवन में हम सरसता का अवलोकन करते हैं। चक्रवाक का सहचार सरसता की प्रेरणा करता है। किन्तु एक युगल की मानसिक तन्मयता—यह सब प्रणय-सरसता का मूल है—ऐसा साहित्यकारों को कहना पड़ता है। इस सम्बन्ध में उत्कण्ठा, एकाग्रता, तन्मयता—तीनों सहज रूप से मिलते हैं। रसार्द्रता सरल हो जाती है, सर्जकता का झरना झरता है, एतदर्थ जगत प्रणय-व्यवहार में सरसता को सरलतापूर्वक देख सकता है।

सरसता लोक-व्यवहार द्वारा भी समझी जाती है। लोक-व्यवहार का आधार भगवान् पतञ्जलि ने प्रदान किया है। जहां सुख हो; वहां मैत्री का विकास किया जाना चाहिए। जहां दुःख हो, वहां कारुण्य-भावना का प्रदर्शन आवश्यक है, जहां पुण्य हो; वहां आनन्द अनुभव करना चाहिए। जहां अपुण्य हो, वहां तटस्थ बन जाना चाहिए। इस प्रकार के व्यवहार में सेवा की सरसता के दर्शन उसी प्रकार होते हैं, जैसे ठक्कर बापा के सेवाभाव में। इस व्यवहार की सरसता का प्रस्फुटन तभी होता है जब 'अपने को सब में और सबको अपने में' देखने की प्रतीति का साक्षात्कार हो।

इस प्रकार सरसता का सृजन विविध वाहनों द्वारा होता है। किन्तु ऐसे एक पक्षी वाहन के बदले समग्र व्यक्तित्व को भी सरसता का वाहन बनाने वाले कलाविद भी हो गए हैं,

जिनका समस्त मानस सरसता से ओत-प्रोत होकर परिवर्तन प्राप्त करता है। शब्द, आचार-व्यवहार यह समग्र सरसता के अंगमात्र बनते हैं। रामकृष्ण परमहंस के वार्तालाप की पुस्तिका प्रकाशित हुई है। प्लेटो ने सोक्रटीस की बातचीत का भी उल्लेख किया है। दोनों पुस्तकों में समग्र व्यक्तित्व की सरसता के दर्शन प्राप्त होते हैं। भले ही हम इसे कैवल्य, संसिद्धि या मोक्ष के नाम से अभिहित करें।

यह सरसता समग्र व्यक्तित्व से नितरित होने के कारण बिना प्रयास, बिना शब्द के मात्र परम शांति के साथ वह समीपवर्ती व्यक्ति को सरसता का अनुभव कराती है। कलाकार का यह मौनमात्र वाणी का अभाव नहीं, बल्कि सरसतानुभूति का प्रचण्ड बल बनता है। श्रीअरविन्द और रमण महर्षि के मौन का प्रभाव जिन्होंने अनुभव किया होगा, उनकी समझ में यह बात भली-भांति आ जायगी। मौन मात्र निःशब्दत्व को नहीं कहा जाता, वह व्यक्तित्व की सरसता का वाहन बन जाता है।

इस प्रकार सृजकता की एक ही प्रणाली है—संवेग, एकाग्रता और तन्मयता। सरसता भी एक ही है। मात्र वाहन भिन्न हैं। इसके शत्रु भी वही—चंचल अनुभवों की भूख या तृप्ति, स्थूल आवश्यकताएं और नग्न वास्तविकता की प्रशंसा और पूजा तथा इन सबका जनक चार्वाकवाद—भौतिकवाद तो मानस और कल्पना से परे अव्यक्त मनोदशा के गर्भ में रहता है। मार्क्स ओलियर के कथनानुसार 'विचारों पर जीवन-विधान निर्भर करता है।' श्रीकृष्ण ने कहा भी है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' आन्तरिक सृजन ही बाह्य सृजन का मूल और कारण है। सच पूछा जाय तो बाह्य सृजन आन्तरिक सृजन का ही वास्तविक प्रतिबिम्ब है। यदि सरसता की सिद्धि करनी है तो शिष्ट साहित्य और सरस वस्तुओं का मनन-अनुशीलन करना चाहिए, सरस जीवनचरित्रों का निरन्तर अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार सरसता के मनन और निदिध्यासन से ही मनुष्य शाश्वत सरसता के साक्षात्कार का अधिकारी बनता है।

शुद्ध साहित्य की भक्ति की अवहेलना करने वाला सृजन के इस व्यापक नियम को नहीं समझता। किसी भी समय या स्थल में साहित्यकार और साहित्यप्रेमी का एक ही धर्म है—सरसता का साक्षात्कार, और साहित्यसेवियों का एक ही धर्म या गुण है। उनमें ऊँच-नीच या देश-धर्म का भेद नहीं। उनके द्वारा ही मानव समूह की एकता सिद्ध होती है और होती जायगी। समग्र जीवन की एकता और अपूर्वता का अनुसन्धान करते हुए अपनी न्यूनाधिक शक्ति के अनुसार एक ही पथ पर चल रहे हैं। व्यास, वाल्मीकि, होमर सेफो, कालिदास, दांते, भागवतकार, तुलसीदास और मीरा, शेक्सपियर, गेटे और ह्यूगो, गीता और बाइबिल—इन सबकी प्रेरणा से हम प्रोत्साहन, प्राप्त करते हैं। यह सारस्व धर्म-गुण, जैसी मेरी आशा थी, गुजरात सरलता से स्वीकार कर सका। किन्तु निमित्त-कारण निर्बल होने से कहीं ईश्वर की महत्ता न्यून हो सकती है?

वर्तमान समय में सामाजिक नियन्त्रण की शक्तियां समस्त जीवन को जकड़े हुए हैं। ऐसे समय साहित्यकार भी समाज-शक्तियों का चारण या प्रचारक बने तो इसमें कोई आश्चर्य

नहीं। गुलाम गुलामी छोड़ना पसन्द न करे, काली टोपी कारागार से मुक्त होना न चाहे, यह स्वाभाविक है। किन्तु एक सत्य मैं जानता हूँ। मैंने देखा है, उसका मुझे साक्षात्कार हुआ है—सनातन सारस्य के प्रति श्रद्धा-भक्ति न रखने वाला मानव-जीवन दानव जीवन से भी भयंकर और कुरूप है।

मुन्शीजी का जीवन-क्रम

१८८७

३० दिसम्बर, सन् १८८७ को भड़ौंच के एक भार्गव ब्राह्मण-परिवार में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी का जन्म हुआ।

१८९७

इस वर्ष मुन्शीजी का यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ।

१९०९

सप्तवर्षीय अतिलक्ष्मी पाठक के साथ पाणि-ग्रहण हुआ।

१९०१

इस वर्ष दिसम्बर में दलाल हाईस्कूल भड़ौंच से हाईस्कूल की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

१९०२—३

जनवरी १९०२ में बड़ौदा कालिज में विद्यार्थी के रूप में प्रवेश किया। अगले वर्ष बम्बई विश्वविद्यालय की प्राथमिक परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

१९०४—५

बड़ौदा कालेज के प्रोफेसर श्री अरविन्द घोष का विशेष प्रभाव पड़ा और उनके नवीन राष्ट्रीयता के आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुए। भड़ौंच में नवीन राष्ट्र आन्दोलन के केन्द्र-स्वरूप एक स्वतन्त्र पुस्तकालय की स्थापना की, जो अब दादाभाई नौरोजी पुस्तकालय के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १९०५ में वकालत की प्रथम परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और बड़ौदा कालेज से प्रदत्त दीवान बहादुर अम्बालाल साकरलाल पुरस्कार प्राप्त किया।

१९०६

बी० ए० परीक्षा में द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए तथा बड़ौदा कालेज का इलियट

मैमोरियल पुरस्कार प्राप्त किया।

१६०७

कुछ मित्रों के सहित सूरत कांग्रेस में भाग लिया।

१६१०—११

एल-एल० बी० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इसी वर्ष अक्तूबर में एडवोकेट की परीक्षा देने के लिए बम्बई में रहने लगे। यहां वे गुजराती नवयुवकों द्वारा संगठित गुर्जर-सभा में सम्मिलित हो गए और अगले वर्ष इसके प्रधान-मन्त्री बने। समाज-सेवा के 'स्टूडेंट ब्रदरहुड मोती' पुरस्कार प्राप्त किया।

१६१२

'भार्गव' पत्रिका को उन्नतिशील बनाया तथा उसके सम्पादन का भार ग्रहण किया।

इसी वर्ष प्रथम कहानी 'मारी कमला' गुजराती में घनश्याम व्यास के नामसे प्रकाशित हुई।

१६१३

इस वर्ष १४ मार्च को बम्बई हाईकोर्ट के ओरिजनल साइड के एडवोकेट बनकर भर्ती हुए और जून में श्री भूलाभाई जीवनजी देसाई के चेम्बर में सम्मिलित हो गये।

इसी वर्ष प्रथम सामाजिक उपन्यास 'वेरनी वसुलात' अज्ञात नाम से 'गुजराती' साप्ताहिक के कई अंकों में प्रकाशित हुआ।

१६१५

श्री जमनादास द्वारकादास के सम्मिलित प्रयत्न से 'यंग इंडिया' का सम्पादन प्रारम्भ किया। थोड़े दिनों के पश्चात् ही त्याग-पत्र दे दिया। श्रीमती एनी बेसेण्ट द्वारा चलाई गई होमरूल लीग में भाग लिया और इसके कार्यशील सदस्य बने रहे।

इसी वर्ष दूसरा सामाजिक उपन्यास 'कोनो वांक' धारावाही रूप में 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित हुआ।

१६१६

प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'पाटन नी प्रभुता' प्रकाशित हुआ।

१६१७

'मारी कमला अने बीजी वातो' कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ।

अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विषय समिति के सदस्य बन गये तथा बम्बई प्रेजीडेंसी एसोसिएशन के मन्त्री चुने गए जो उस समय पश्चिमी भारत की प्रमुख राजनीतिक संस्था थी।

'पाटण नी प्रभुता' का उपसंहार 'गुजारत नो नाथ' ऐतिहासिक उपन्यास क्रमशः गुजराती मासिक पत्रिका 'बीसवीं सदी' में प्रकाशित हुआ।

१९१९

बम्बई होमरूल लीग के मन्त्री चुने गये।

१९२०

होमरूल लीग से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। शीघ्र ही अखिल भारतीय नेशनल कांग्रेस से भी पृथक् हो गये।

इसी वर्ष सर्वप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'पृथ्वी वल्लभ' क्रमशः 'बीसवीं सदी' मे धारावाही रूप से प्रकाशित हुआ।

सन् १९१५ से १९१९ के बीच प्रकाशित छोटी कहानियों का एक संकलन भी इसी वर्ष साहित्य-परिषद् द्वारा प्रकाशित हुआ।

१९२१

'बाबा शेठुनु' स्वातंत्र्य' सामाजिक नाटक प्रकाशित हुआ। नाटक लिखने का यह प्रथम प्रयत्न था।

१९२२

बम्बई में 'साहित्य-संसद्' की स्थापना की, और इसके सभापति चुने गए। इसी वर्ष गुजराती मासिक पत्रिका 'गुजरात' चलाई और उसका सम्पादन किया।

ऐतिहासिक उपन्यास 'राजाधिराज' जो 'गुजरातनो नाथ' का उपसंहार था 'गुजरात' में क्रमशः प्रकाशित हुआ। "पुरन्दर-पराजय" नामक प्रथम पौराणिक नाटक भी इसी वर्ष पाठकों के सम्मुख आया।

अक्तूबर में बम्बई बार में प्रमुख जूनियर वकील और प्रसिद्ध गुजराती साहित्यकार गिने जाने लगे।

इसी वर्ष श्रीमती लीलावती सेठ (अब श्रीमती मुन्शी) से साहित्यिक सहयोग स्थापित किया।

१९२३

यूरोप गये। इसी वर्ष 'भगवान् कौटिल्य' उपन्यास 'गुजरात' में क्रमशः प्रकाशित हुआ, जिसमें मौर्यवंश के पूर्व नन्दवंश के समय का वर्णन है।

पौराणिक नाटक 'अविभक्त आत्मा' भी इसी वर्ष प्रकाशित हुआ।

१६२४

धर्म-पत्नी श्रीमती अतिलक्ष्मी का निधन हो गया।

बंग-भंग एवं सूरत-कांग्रेस के दो दलों में विभक्त होने की घटनाओं का परिचायक सामाजिक उपन्यास 'स्वप्नद्रष्टा' प्रकाशित हुआ।

'गुजरात साहित्य परिषद्' के विधान-निर्माण का कार्य-भार अपने ऊपर लिया। पंचगनी हिन्दू शिक्षा-समिति के सभापति भी चुने गये।

सर हरकिशनदास एच० हौस्पीटल के चेयरमैन चुने गए और आज तक यह पद प्राप्त है।

इसी वर्ष सामाजिक प्रहसन 'वे खराब जन' तथा पौराणिक नाटक 'तर्पण' प्रकाशित हुए।

ऐतिहासिक उपन्यास 'भगवान् कौटिल्य' क्रमशः 'गुजरात' में प्रकाशित होता रहा।

१६२६

बम्बई विश्वविद्यालय के फैलो चुने गए। फिर इसी वर्ष विश्वविद्यालय की सिंडीकेट के सदस्य भी चुने गए।

१४ मार्च को प्रसिद्ध गुजराती-लेखिका श्रीमती लीलावती सेठ के साथ विवाह किया जो 'गुजरात' के सम्पादन में कुछ समय तक सम्पर्क में आ चुकी थीं।

'गुजरात साहित्य परिषद्' के उपसभापति चुने गये।

विविध लेखों का एक संग्रह "केटलाक लेखो" दो भागों में प्रकाशित हुआ।

इसी वर्ष बड़ौदा यूनीवर्सिटी कमीशन के सदस्य भी बन गये।

१६२७

बम्बई विश्वविद्यालय की गुजराती बोर्ड आफ् स्टडीज के चेयरमैन चुने गए।

इसी वर्ष 'आज्ञांकित' समाजिक नाटक प्रकाशित हुआ।

१६२८

बम्बई सरकार की ओर से फ़िज़िकल कल्चर कमेटी के चेयरमैन तथा सेकेंडरी एजुकेशन कमेटी के सदस्य नियुक्त किये गये।

बारदोली सत्याग्रह के अवसर पर व्यवस्थापिका-सभा से पृथक् हो गये।

सरदार वल्लभभाई पटेल तथा बम्बई सरकार के बीच सन्धि-चर्चा में भाग लिया। बारदोली में सरकार द्वारा किये गए अत्याचारों की सत्यता का अनुसन्धान करने के लिए

व्यवस्थापिका-सभा के सदस्यों द्वारा नियुक्त समिति के चेयरमैन बने।

इसी वर्ष सामाजिक नाटक 'काकानी शशी' प्रकाशित हुआ।

१६२६

बम्बई विश्वविद्यालय की एकेडेमिक कौंसिल तथा बोर्ड आफ् पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज़ के सदस्य चुने गये।

पौराणिक नाटक 'पुत्र समोवड़ी' और गुप्तकालीन ऐतिहासिक नाटक 'ध्रुव स्वामिनी देवी' प्रकाशित हुए।

इसी वर्ष अव्यवसायी नाटक प्रेमियों के सहयोग से 'काकानी शशी' रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेला गया।

१६३०

नमक सत्याग्रह के अवसर पर फिर से कांग्रेस में सम्मिलित हो गये और गांधीजी से सम्पर्क प्रारम्भ होगया।

२१ अप्रैल को विक्टोरिया टर्मिनस के सामने भाटियावाडी मे नमक सत्याग्रह करने के कारण बम्बई के चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट ने छः मास की साधारण जेल का दंड दिया।

जेल से छूटने के पश्चात् शैडो केबिनेट (छाया मन्त्रिमंडल) के सदस्य हो गये और बम्बई में सत्याग्रह आन्दोलन चलाते रहे।

पण्डित मोतीलाल नेहरू द्वारा कांग्रेस-कार्यकारिणी-समिति के स्थानापन्न सदस्य नियुक्त किये गये।

१६३१

गांधीजी तथा लार्ड इरविन में कुछ काल के लिए समझौता हो जाने के पश्चात् इन्होंने पुनः वकालत प्रारम्भ कर दी!

१६३२

इस वर्ष सामाजिक नाटक 'स्नेह सम्भ्रम' प्रकाशित हुआ।

४ जनवरी को लार्ड विलिंगडन द्वारा चलाये गए कांग्रेस दमन-चक्र में पकड़ लिये गए और भायखला जेल में भेज दिये गये। कुछ दिनों के पश्चात् ये बीजापुर ले जाए गए, जहां प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट ने दो वर्ष के कठिन कारावास का दंड सुनाया और बीजापुर जेल मे रखे गये।

इसी वर्ष गद्य-काव्य 'शिशु अने सखी' प्रकाशित हुआ।

१९३३

कारावास में कई पुस्तकें लिखी ; जो बम्बई सरकार की आज्ञा से प्रकाशित हुईं। उनमें 'लोपामुद्रा' (प्रथम भाग), वैदिक उपन्यास, सामाजिक नाटक 'ब्रह्मचर्याश्रम' साहित्यिक अध्ययन, 'थोडांक रस दर्शनो' 'आदि वचनो', प्रारम्भिक भाषण, 'नरसैयो', नरसी मेहता का जीवन वृत्त, तथा वैदिक नाटक 'लोपामुद्रा' के दूसरे, तीसरे एवं चौथे भाग हैं।

१६ दिसम्बर को कारागृह से मुक्त हुए और श्री रंगास्वामी आयंगर के सहयोग से कांग्रेस को पार्लियामेंटरी स्वरूप देने की चर्चा चलाई जिसके फल-स्वरूप स्वराज्य-पार्टी की स्थापना हुई।

१९३४

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने पार्लियामेंटरी कार्यों की स्वीकृति दे दी और मुन्शीजी कांग्रेस पार्लियामेंटरी बोर्ड के मंत्री हो गए।

१९३५

नवीन नाट्य प्रयोग 'नृत्य नाटक' का आविष्कार किया तथा प्रथम नृत्य नाटक 'नरसैया' का गुजरात रंगमंच पर प्रयोग किया।

अंग्रेज़ी में 'गुजरात एण्ड इट्स लिट्रेचर' (गुजरात और उसका साहित्य) प्रकाशित हुआ।

'वेरनी वसूलात', 'डाक्टर मधुरिका', 'बे खराब जन' और 'कुलवधू' नामक कृतियों के सागर मोवीटोन द्वारा बोलचित्र बनाये गये।

१९३६

स्व० प्रेमचन्द के सहयोग से 'हंस' को 'भारतीय साहित्य परिषद्' की मुख्य पत्रिका के रूप में अपनाया और बम्बई में 'दि हंस लिमिटेड' की स्थापना की और 'हंस' को सर्वप्रथम अन्तर्प्रान्तीय साहित्य के अग्रदूत का स्थान दिया। प्रेमचन्द तथा मुन्शीजी हंस के सम्पादक बने।

१९३७

गवर्नमेंट आफ् इंडिया एक्ट १९३५ के अनुसार रजिस्टर्ड ग्रेजुएट निर्वाचन-क्षेत्र से बम्बई लेजिस्लेटिव असेम्बली के सदस्य चुने गये।

१९ जुलाई को नये विधान के अनुसार बम्बई-सरकार में गृह-मंत्री नियुक्त किये गये।

दिसम्बर में 'गुजराती साहित्य परिषद्' के कराची अधिवेशन के सभापति चुने गये।

१९३८

सेठ मूंगामल गोयनका चैरिटेबुल ट्रस्ट के ट्रस्टी नियुक्त किये गये। अपने पद के

कारण 'चिल्ड्रन्सएण्ड सोसायटी' के उपसभापति चुने गये जो निर्धन एवं दोषी बालकों की देख-रेख करती थी। इसे पुनः व्यवस्थित स्वरूप देना प्रारम्भ कर दिया। पश्चिमी भारत के बालकों की रक्षा-समिति के भी सभापति चुने गये।

सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ आनन्द में 'इन्स्टीट्यूट आफ् एग्रीकल्चर' की स्थापना की और इसके वायस चैयरमैन चुने गये।

बम्बई विश्वविद्यालय में गुजरात के आरम्भिक आर्यों के विषय में 'ठाकुर बिशनजी मावजी' व्याख्यान दिया।

इसी वर्ष बम्बई में 'भारतीय विद्या-भवन' की स्थापना की।

१६३६

'चिल्ड्रन्सएण्ड सोसायटी' को पुनः सुसंगठित किया और चेम्बूर में चिल्ड्रन होम की स्थापना की।

बाई कबी बाई चैरिटेबल ट्रस्ट के अन्य ट्रस्टियों के साथ अंधेरी में हंसराज मोरार जी पब्लिक स्कूल की स्थापना की।

३ नवम्बर को अपने अन्य कांग्रेस मंत्रीमंडल के सदस्यों के साथ गृह-मन्त्री पद से त्याग-पत्र दे दिया। इसके पश्चात् बम्बई-सरकार के द्वारा नये विधान के अनुसार चिल्ड्रन्स सोसायटी के उपसभापति बनाये गये।

इसी वर्ष 'कवि नर्मद'तथा 'गुजरात नी अस्मिता' लेख प्रकाशित हुए।

१६४०

ऐतिहासिक उपन्यास 'जय सोमनाथ' प्रकाशित हुआ।

इसी वर्ष अंग्रेज़ी मे 'आई फ़ालो दी महात्मा' (मैं महात्मा का अनुसरण करता हूँ) प्रकाशित हुआ।

अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'सोशल वैलफेयर' का सम्पादन और प्रकाशन आरम्भ किया।

दिसम्बर में 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' में पकड़े गये। यरवदा जेल में सरदार पटेल तथा अन्य लोगों के साथ रखे गये। इसी जेल से श्रीमती मुन्शी भी व्यक्तिगत सत्याग्रह करने के कारण रखी गईं।

१६४१

मार्च में जेल से छूटकर आये। 'आदि वचन' दूसरा भाग इसी बीच प्रकाशित हुआ।

जून में आत्मरक्षा के लिए हिंसा के प्रयोग करने के प्रश्न पर कांग्रेस से पृथक् हो गये, तथा समस्त भारत में घूम-घूमकर स्थान-स्थान पर 'अखंड भारत' आन्दोलन का नेतृत्व किया।

१६४२

जनवरी में व्याख्यानों एवं भारत की एकता के विषय के लेखों का संग्रह 'अखण्ड हिन्दुस्तान' प्रकाशित हुआ।

१६४३

मिनर्वा मोवीटोन द्वारा 'पृथ्वीवल्लभ' उपन्यास का चल-चित्र प्रस्तुत किया गया।

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य एवं अन्य साथियों के साथ दिल्ली में गांधीजी तथा अन्य नेताओं के छोड़े जाने के लिए नेताओं का एक सम्मेलन करने की व्यवस्था की।

मूलराज सोलंकी के राज्य की सहस्राब्दी के स्मारक स्वरूप भारतीय विद्या-भवन द्वारा निर्धारित गुजरात के इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थमाला 'ग्लोरी दैट वाज़ गुजरात' के सम्पादक बने।

१६४४

'इम्पीरियल गुर्जर्स' (५५०—१३०० ई०) का तृतीय खंड प्रकाशित हुआ।

भारतीयों द्वारा भारतवर्ष का इतिहास तैयार कराने के लिए 'भारतीय इतिहास समिति' की स्थापना की और इसके चेयरमैन चुने गये।

१६४५

आगरा में अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन का उद्घाटन किया।

इसी वर्ष 'इंडियन डैडलाक' प्रकाशित हुआ।

'लोपामुद्रा' के उपसंहार स्वरूप वैदिक उपन्यास 'लोमहर्षिणी' प्रकाशित हुआ।

'भारतीय विद्या-भवन' में भगवद्गीता तथा आधुनिक जीवन के सम्बन्ध में व्याख्यान दिये।

पुनः गुजराती साहित्य परिषद् के उपसभापति चुने गये।

सन् १६४३ तथा ४५ के मध्य 'भारत छोड़ो' आन्दोलन से सम्बन्धित कई आवश्यक अभियोगों का भारत के भिन्न-भिन्न भागों में जाकर संचालन किया।

१६४६

'भारतीय विद्या-भवन' के सभापति के नाते श्री मेघजी मथुरादास आर्ट्स कालिज एवं नारायनदास मनोरदास इन्स्टीट्यूट आफ् साइन्स की स्थापना की।

गांधीजी के कहने से पुनः कांग्रेस में सम्मिलित हो गये।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन के सभापति चुने गए।

इसी वर्ष विधान-परिषद् के सदस्य भी चुने गये तथा भारत के विधान का प्रारूप तैयार करने के लिए कुशल समिति के सदस्य नियुक्त हुए।

'दि रुइन दैट ब्रिटेन रॉट', 'दि क्रिएटिव आर्ट आफ् लाइफ्' और 'दि चैंजिग शेप आफ् इण्डियन पोलिटिक्स" प्रकाशित हुए।

वैदिककालीन उपन्यास "भगवान् परशुराम" प्रकाशित हुआ।

अखिल भारत प्रिंटर्स लिमिटेड के बोर्ड आफ् डायरेक्टर्स के चेयरमैन, और देवकरण नानजी बैंकिंग कम्पनी लिमिटेड तथा नवभारत पब्लिशर्स लिमिटेड के डायरेक्टर चुने गये।

१६४७—४६

७ जनवरी १६४७ को बम्बई और गुजरात के अन्य स्थानों में मुन्शीजी की हीरक-जयन्ती मनाई गई। बम्बई में सेठ प्राणलाल देवकरण नानजी के सभापतित्व में एक विशाल सार्वजनिक सभा हुई जिसमें थैली और मानपत्र भेंट किये गए।

इस अवसर पर अंग्रेज़ी में एक मुन्शी अभिनन्दन ग्रन्थ 'मुन्शी : हिज़ आर्ट एण्ड वर्क' प्रकाशित हुआ जिसके सम्पादन-मण्डल में श्री नानालाल चमनलाल मेहता तथा बलवन्त भट्ट के नाम उल्लेखनीय हैं।

उदयपुर में प्रताप-विश्वविद्यालय स्थापित करने की योजना बनाई, मुन्शीजी इसके उपकुलपति नियुक्त हुए।

'गुजरात साहित्य परिषद्' के दूसरी बार सभापति चुने गये।

'अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' ने मेरठ अधिवेशन में 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि प्रदान की।

नवम्बर १६४७ में मुन्शीजी हैदराबाद में भारत सरकार के एजेंट जनरल नियुक्त हुए।

१५ नवम्बर १६४८ को मुन्शीजी इस कार्य-भार से मुक्त हुए। इस अवसर पर भारत-सरकार के रियासती सचिवालय ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की।

"श्री के० एम० मुन्शी ने हैदराबाद में भारत-सरकार के एजेंट जनरल के पद से त्याग-पत्र दे दिया है, और परिवर्तित परिस्थितियों में भारत सरकार ने १५ नवम्बर १६४८ से उनका त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया है। श्री मुन्शी ने यह पद उस समय स्वीकार किया था जब हैदराबाद और भारत के सम्बन्ध में काफ़ी तनाव आ चुका था। उन्होंने अनथक परिश्रम किया तथा एकमन होकर अपने कर्तव्य को निभाया। अपने महान व्यक्तित्व द्वारा वे हैदराबाद की समस्या को सुलझाने में सफल हुए। श्री मुन्शी ने लोक-सेवा की जिस भावना से प्रेरित होकर यह पद स्वीकार किया था तथा जिस योग्यता से उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया, भारत-सरकार इस पर अपनी हार्दिक-श्लाघा प्रकट करती है।"

इन्हीं वर्षों में विधान निर्मात्री समिति के सदस्य की हैसियत से मुन्शीजी स्वतन्त्र भारत के प्रथम विधान का प्रारूप तैयार करने में व्यस्त रहे।

मुन्शी-आयंगर फ़ार्मूला तैयार किया जिसके कारण हमारे विधान में हिन्दी राष्ट्रभाषा

मान ली गई ।

श्रीमती लीलावती मुन्शी के निरीक्षण में बम्बई में 'भारतीय विद्या भवन' का सुविशाल एवं भव्य भवन बनकर तैयार हो गया । इस पर अठारह लाख रुपया व्यय हुआ । ८ अगस्त १९४९ को भारत के गवर्नर जनरल महामाननीय श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने इसका उद्घाटन किया ।

२० नवम्बर १९४९ को बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की आनरेरी डिग्री प्रदान की ।

मन्शी-साहित्य

गुजराती—

सामाजिक-उपन्यास

१. वेरनी वसुलात (१९१३-१४)
२. कोनो वांक (१९१४-१६)
३. स्वप्न द्रष्टा (१९२४-२५)
४. स्नेह सम्भ्रम (१९३१-३२)

कथा (गद्य-काव्य)

५. शिशु अने सखि (१९३२)

ऐतिहासिक उपन्यास

६. पृथ्वीवल्लभ (१९२०-२१)
७. जय सोमनाथ (१९४०)
८. पाटणनी प्रभुता (१९१६)
९. गुजरातनो नाथ (१९१८-१९)
१०. राजाधिराज (१९२२-२३)
११. भगवान् कौटिल्य (१९२४-२५)

गल्प

१२. म्हारी कमला अने बीजी वातो (१९१७)

आर्यावर्त की महागाथा : पौराणिक नाटक और उपन्यास

१३. पुत्र समोवड़ी (१९२९) नाटक
१४. पुरन्दर पराजय (१९२२) नाटक
१५. अविभक्त आत्मा (१९२३) नाटक
१६. तर्पण (१९२४) नाटक
१७-२०. लोपामुद्रा ४ भाग (१९३३)
प्रथम भाग विश्वरथ—उपन्यास
द्वितीय भाग शम्बर कन्या—नाटक
तृतीय भाग देवेर्दीधेली—नाटक
चतुर्थ भाग विश्वामित्र ऋषि—नाटक
२१. लोमहर्षिणी (१९४५) उपन्यास
२२. भगवान् परशुराम (१९४६) उपन्यास

जीवन कथाएं

२३. नरसैयो भक्त हरिनो (१९३३)
२४. नर्मद (१९३९)

आत्मकथाएँ

२५. अड़धे रस्ते
२६-२७. सीधांचढाण प्रथम भाग (१९४३)
द्वितीय भाग (१९४३)
२८. म्हारी बिनजवाबदार कहानी (१९४३)

सामाजिक नाटक

२९. वावा सेठनूं स्वातन्त्र्य (१९१५)
३०. बे खराब जन (१९२४)
३१. आज्ञान्कित (१९२७)
३२. पीड़ाग्रस्त प्रोफेसर (१९३३)
३३. काकानी शशि (१९२८)
३४. ब्रह्मचर्याश्रम (१९३१)
३५. छीये तेज ठीक (१९४६)
३६. डाक्टर मधुरिका (१९३५)

ऐतिहासिक नाटक

३७. ध्रुवस्वामिनी देवी (१९२८)

प्रकीर्ण

३८. केटलाक लेखो प्रथम भाग (१९२५-२६)
३९. केटलाक लेखो द्वितीय भाग (१९२५-२६)
४०. गुजरातना ज्योतिर्धरो (१९२५-२६)
४१. थोडांक रसदर्शनो (१९३३)
४२. आदि वचनो प्रथम भाग (१९३३)
४३. आदि वचनो द्वितीय भाग (१९४१)
४८. गुजरातनी अस्मिता (१९३९)

प्रेस में

४५. केटलाक विभूतिओ
४६. सुवर्ण युग

अंगरेजी--

४७. गुजरात एंड इट्स लिटरेचर (१९३५)
४८. आई फ़ालो दि महात्मा (१९४०)
४९. अर्ली एरियन्स इन गुजरात (१९४०)
५०. अखंड हिन्दुस्तान (१९४२)
५१. दि इंडियन डेड लाक (१९४५)
५२-५३. दि चेंजिंग शेप आफ इंडियन पालिटिक्स (१९४६)
५४. दि एरियन्स आफ् दि वेस्ट-कोस्ट, दि ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जर देश पार्ट १ (१९४३)
५५. दि इम्पीरियल गुर्जर्स (१९४४)
५६. भगवद्गीता (१९४६)
५७. दि भगवद्गीता एंड माडर्न लाइफ (१९४७)
५८. दि रून दैट ब्रिटेन रॉट (१९४६)
५९. दि क्रीएटिव आर्ट आफ् लाइफ (१९४६)
६०. गांधी दि मास्टर (१९४८)
६१. लिंग्विस्टिक प्राविंसिज़ एंड फ्यूचर आफ बाम्बे (१९४८-४९)

प्रेस में

६२. स्पार्क फ्राम दि एनविल
६३. लाइफ़ एंड कलचर अएडर मोलकीज़

हिन्दी रूपान्तर

पृथ्वीवल्लभ १९४७
ध्रुवस्वामिनी १९४७
गुजरात के नाथ
पाटण का प्रभुत्व
किसका अपराध १९४७
जय सोमनाथ १९४८-४९
लोमहर्षिणी १९४८

लोपामुद्रा	१. विश्वरथ २. शम्बर कन्या	१९४९
	३. देवेदीधलो ४. विश्वामित्र	१९४९
भगवान परशुराम		१९४९
राजाधिराज		१९४९
भगवान् कौटिल्य		

प्रेस में

जीवन की सृजनात्मक कला
अड़धे रस्ते
सीधांचढाण
मार्गी कमला अने बीजी वातो
स्नेह संभ्रम
पीड़ाग्रस्त प्रोफेसर
अखंड हिन्दुस्तान
शिशु अने सखी